विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत भारत सरकार (शिक्षा तथा समाजकल्याण-मन्त्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रन्थ-संख्या . ४३

प्रथम संस्करण जनवरी १९७३
३०००

मूल्य :

पुस्तकालय संस्करण : २४.००
छात्र संस्करण . १७ ५०

प्रकाशक
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
सम्मेलनभवन, पटना-३

मुद्रक :
रचना प्रेस,
पटना-६

समर्पण :—

माँ और बाबूजी

को

सादर

—अनन्त चौधरी

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप मे विश्वविद्यालयों मे उच्चतम स्तरो तक भारतीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओ मे विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थो के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे है। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारो के माध्यम से तथा अशतः केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिन्दी-भाषी राज्यो मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायो की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्त्वावधान मे हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रन्थो मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओ मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नागरी लिपि और हिन्दी-वर्तनी' डॉ० अनन्त चौधरी की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रन्थ विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रन्थो के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष

बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

पटना

दिनाक ४ जनवरी १९७३

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नागरी लिपि और हिन्दी-वर्तनी' पटना कॉलेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डॉ० अनन्त चौधरी की मौलिक कृति है। डॉ० चौधरी भाषाविज्ञान के अधीत विद्वान और एक अनुभवी लेखक हैं तथा पटना विश्वविद्यालय में अनेक वर्षों से स्नातकोत्तर वर्गों में भाषाविज्ञान का अध्यापन कर रहे हैं। अतः आशा है, उनका यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ का मुद्रणकार्य रचना प्रेस, पटना-६ ने किया है। इसके आवरण-शिल्पी श्री वी० के० सेन तथा प्रूफ-संशोधक श्री हिमांशु श्रीवास्तव हैं। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना
दिनांक ४-१-१९७३

निदेशक
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

लेखकीय वक्तव्य

हिन्दी मे अभीतक भाषा, लिपि एव वर्तनी विषयक चिन्तन साहित्य-चिन्तन की तुलना मे बहुत कम हो पाया है। यह स्थिति हिन्दी भाषा एवं साहित्य दोनो ही के लिए अस्वास्थ्यकर सिद्ध हो रही है, क्योकि, साहित्य का भाषा से और भाषा का लिपि एवं वर्तनी से समवाय सम्बन्ध होता है। लिपि भाषा के दृश्य प्रत्यक्षीकरण का माध्यम होती है और वर्तनी भाषा के लिप्यन्तरण का विधान। अत· माध्यम एव विधान को निर्दोष एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किये बिना न तो साहित्य का स्वस्थ विकास सम्भव हो सकता है और न भाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार ही। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा मे विद्वानो के द्वारा किये गये चिन्तन को यथा साध्य आगे बढाने के मेरे प्रयास का प्रतिफल है।

पुस्तक मे जिन अनेकानेक विद्वानो के ग्रन्थो एवं विचारो से सहायता ली गयी है, मैं उन सब के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनमे भी खासकर गुरुवर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा जी का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनके विचार मेरे लिए सदा प्रेरणा दायक सिद्ध होते रहे हैं।

इस पुस्तक के लेखन की मूल प्रेरणा मुझे गुरुवर डॉ० शिवनन्दन प्रसाद जी से मिली थी। उनका स्नेह विद्यार्थी-जीवन से ही मेरी सारस्वत-साधना का सम्बल रहा है। वस्तुत इस पुस्तक को मुझसे लिखवा लेने से लेकर इसके प्रकाशन की व्यवस्था तक कर देने का सारा श्रेय उन्ही को है। मैं मानता हूँ कि इस गुरुऋण से मैं कभी मुक्त नही हो सकता।

खेद है कि लाख सावधानी बरतने पर भी, प्रेस मे कुछ असामान्य एवं अप्रचलित मुद्रणाक्षरो (टाइप) के अभाव के कारण तथा कतिपय अन्यान्य कारणो से भी, ग्रन्थ मे यत्र-तत्र कुछ भ्रान्तियाँ रह ही गयी है, जो ऐसे ग्रन्थो मे नही रहनी चाहिए।

ग्रन्थ की वर्तनी, उद्धरणो को छोडकर, प्राय मेरे सिद्धान्तानुकूल है, जिसकी छूट देकर अकादमी के अधिकारियो ने विद्वज्जनोचित सदाशयता का परिचय दिया है। एतदर्थ मै उन सब का आभारी हूँ।

मित्रो मे डॉ० शोभाकान्त मिश्र, डॉ० काशीनाथ मिश्र, प्रो० पद्मनारायण, श्री हिमाशु श्रीवास्तव तथा श्रीमती उर्मिला चौधरी से मुझे जो अनेकविध सहायता मिली है, उसके लिए उन सब के प्रति आभार प्रदर्शन मैं आवश्यक नही मानता, क्योकि उन सब पर मेरा सहज अधिकार है।

हिन्दी विभाग,
पटना कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय —अनन्त चौधरी
२ मार्च, १९७३ ई०

विषय-सूची

अध्याय—४

अध्याय—५

अध्याय—६

अध्याय—१३

अध्याय—१४

अध्याय—१५

अध्याय—१६

—० ०—

नागरी लिपि और हिन्दी-वर्तनी



अध्याय

: १ :

लिपि का स्वरूप एवं विकास-क्रम

लिपि का स्वरूप :

भाषा[1] को दृश्य रूप मे स्थायित्व प्रदान करने वाले यादृच्छिक वर्ण-प्रतीको की परम्परागत व्यवस्था लिपि कहलाती है ।

उपर्युक्त परिभाषा से प्रायः स्पष्ट है कि जिस प्रकार भाषा ध्वनियो की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार लिपि वर्णों की । जिस प्रकार भाषा मे ध्वनि और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नही, प्रत्युत यादृच्छिक एव प्रतीकात्मक होता है, उसी प्रकार लिपि मे वर्ण और ध्वनि का सम्बन्ध भी । जिस प्रकार भाषागत ध्वनि-व्यवस्था परम्परागत होती है, उसी प्रकार लिपिगत वर्ण-व्यवस्था भी । भाषा मे जो स्थान ध्वनि का होता है, वही स्थान लिपि में वर्ण का है । लिपि भाषा को मूर्त्त स्थायित्व देती है और बदले मे उससे सार्थकता पाती है । किन्तु, इतनी घनिष्ठता होने पर भी दोनो मे प्रकृत या निर्वैकल्पिक सम्बन्ध नही होता । यो, व्यावहारिक दृष्टि से दोनो एक दूसरे के लिए नितान्त आवश्यक है, फिर भी लिपि के लिए जैसी अनिवार्यता भाषा की है, वैसी भाषा के लिए लिपि की नही । तात्पर्य यह कि भाषा लिपि के बिना भी रह सकती है, किन्तु, भाषा के बिना लिपि निरर्थक रेखाओ और बिन्दुओ के अतिरिक्त और कुछ भी नही । फिर भी, यह नहीं भूलना होगा कि भाषा का समुचित विकास तभी सम्भव हुआ, जब उसे नाद-स्वरूप के साथ-साथ दृश्य-स्वरूप भी प्राप्त हुआ । वाणी का वह दृश्य-रूप ही लिपि है । लिपिगत

---

१. Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group cooperates. B Bloch & G L Trager, Outline of Linguistic Analysis.

स्वरूप प्राप्त कर भाषा को सूक्ष्म विकास के साथ-साथ व्यापकता का भी वरदान मिल गया। वह देश-काल की सीमा से मुक्त हो गयी।

मनुष्य ने भाषा पहले और लिपि बाद मे अर्जित की। फिर भी, सभ्यता के विकास मे लिपि की देन भाषा की देन से कम गौरवपूर्ण नही मानी जायगी। यह सच है कि मनुष्य ने सहस्राब्दियो तक अपने ज्ञान एवं चिन्तनादि की उपलब्धियो को मौखिक परम्परा मे ही सुरक्षित रक्खा, किन्तु उस सामर्थ्य की एक सीमा थी।[1] भाषा के आविष्कार ने यदि मानव जाति के लिए बर्बरता मे सभ्यता की ओर जाने वाले मार्ग का उद्घाटन किया, तो लिपि के आविष्कार ने दूसरी ओर उसके निरन्तर विकास की असीम सम्भावनाओ के द्वार को सदा-सदा के लिए उन्मुक्त कर दिया।[2] इस प्रकार लिपि का आविष्कार मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट आविष्कारो मे से एक माना जा सकता है।

विद्वानो के अनुसार, चूँकि लेखन-कला की उत्पत्ति भाषा की उत्पत्ति के बहुत बाद हुई इस कारण, सहस्राब्दियो तक मनुष्य भाषा के माध्यम से अपने भावो एवं विचारो की अभिव्यक्ति तो करता रहा, किन्तु, उनके संरक्षण का उसके पास कोई साधन नहीं था। इसका एक व्यापक दुष्परिणाम यह हुआ कि उस अन्धकार-युग मे न जाने कितनी ऐसी जातियाँ अपनी भाषाओ के साथ विश्व के रङ्गमञ्च पर आयी और विलीन हो गयी, जिनका हम आज नाम तक नहीं जानते, और दूसरा यह कि उस प्रागैतिहासिक युग की मानव-सभ्यता के इतिहास-ज्ञान के लिए आज हमारे पास पृथ्वी के गर्भ मे यत्र-तत्र पाये जाने वाले ध्वस्त महलो, भग्न मृत्तिका-पात्रो तथा शिलीभूत अस्थि-पञ्जरो आदि पर आधारित अटकलो एवं अनुमानो के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष मार्ग या साधन नहीं।

जिस दिन मनुष्य ने भाषा को लिपिबद्ध कर उसे दृश्य-रूप प्रदान करने की

---

1. "It is true that much of the intellctual record of man's past was long preserved in the form of oral tradition but to the volume af such record there is a limit, while time and caprice alike work havoc in it"—Edward Clodd, 'The Hitory of Alphabet', P 11

2 "The invention of writing alone made possible the passage from barbarism to civilisation and secured the continuous progress of the human race"—Ibid, P. 13

कला का ज्ञान अर्जित किया, उस दिन से उसके जीवन मे एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। उसी दिन से मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान के सञ्चय और सरक्षण मे यथार्थ रूप से प्रवृत्त हुआ, जिससे सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास सम्भव हुआ। वास्तव मे भाषा और लिखने की कला, ये दो ऐसी वस्तुएँ है, जो मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से पशु से पृथक् करती हैं और, जिनके सहारे वह निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।[१] यदि लिपि का आविष्कार नही हुआ होता तो मनुष्य अपनी सभ्यता तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास मे आज कितने पीछे पडा होता, इसका अन्दाज लगाना मुश्किल है।

लिपि की सामर्थ्य-सीमा

भाषा की तरह ही लिपि का अभिव्यक्ति-क्षमता की भी एक सीमा होती है। जिस प्रकार उच्चरित भाषा के द्वारा भावो और विचारो की, उनकी सम्पूर्णता मे तथा तदनुरूप तीव्रता के साथ, अभिव्यक्ति सम्भव नही होती, उसी प्रकार लिपि के द्वारा भी उच्चरित भाषा की—उसकी समस्त ध्वनि-भङ्गिमाओ के साथ—पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो सकती। इस प्रकार, यदि उच्चरित भाषा की सीमाएँ है, तो लिखित भाषा की भी सीमाएँ कम नही है, वल्कि उच्चरित भाषा की अपेक्षा कुछ वढकर ही है। लिखित भाषा उच्चरित भाषा का स्थूल साङ्केतिक रूप है। स्थूल इसलिए कि भाषा के उच्चरित रूप मे वल, तान, स्वर आदि के द्वारा अर्थ-सम्वन्धी जो विशेषताएँ लायी जाती हैं, वे लिखित भाषा मे नही लायी जा सकती। कहाँ जोर से वोले, कहाँ धीरे से, कहाँ किस प्रकार के काकु का प्रयोग करे, कहाँ स्वर ऊँचा करे, कहाँ नीचा करे, यह सब लिखित भाषा मे वताना असम्भवप्राय है। पाठक को अपनी ओर से ध्वनि-सम्वन्धी इन गुणो की कल्पना करनी पडती है। दूसरी बात इस प्रसङ्ग मे स्मरण रखने की यह है कि जिस प्रकार ध्वनि और विचार का, या यो कहे कि शव्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ है, उनमे कोई यौक्तिक और निश्चित सम्बन्ध नही है, उसी प्रकार ध्वनि और उनके लिखित सङ्केत यानी वर्ण का सम्वन्ध भी रूढ एव पारम्परिक ही है। यही कारण है कि जिस प्रकार विभिन्न भाषाओ मे एक ही वस्तु के लिए विभिन्न शव्द है, उसी प्रकार एक ही ध्वनि के लिए विभिन्न लिपियो मे विभिन्न लिपि-सङ्केत या वर्ण पाये जाते है।[२] यदि ध्वनि और वर्ण का सम्बन्ध नित्य या नैसर्गिक होता, तो एक ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न लिपियो मे असमान वर्ण नही

१ डॉ० उदय नारायण तिवारी, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५४६।

२ देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० ३२८-२९।

होते, बल्कि उस स्थिति मे संसार मे केवल एक ही लिपि होती, अनेक लिपियो का प्रश्न ही नही उठता ।

लिपि का उद्‌भव और विकास-क्रम

भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न की तरह ही लिपि की उत्पत्ति का प्रश्न भी अभी तक कोई निश्चित एव सर्वमान्य उत्तर नही पा सका है । जिस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो ने अनेक प्रकार के अनुमान किये है, जिनमे कोई भी पूर्णत. सर्वग्राह्य नही है, लगभग वही स्थिति लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी है ।

डॉ० सक्सेना ने लिपि की उत्पत्ति की परिस्थितियो तथा प्रक्रियाओ की चर्चा करते हुए लिखा है कि "मनुष्य अपने समय की विशेष घटनाओ की स्मृति छोड जाना चाहता है । उनका उल्लेख वह अपने पुत्र-पौत्रो से कर दे और वे अपने नाती-पोतो से, तो परम्परा से स्मृति बाकी रह सकती है । पर, सदा यह सम्भव नही कि उसके ये निकटस्थ सम्बन्धी उसके पास हो । यदि उसने कोई बात अन्तस्तल मे छिपा रक्खी है और उसके बच्चे छोटे-छोटे है, तो वह अपनी बात की स्थिति किस पर छोड जाय ? यदि वह उनको भी अपनी बात का भेद न बताकर दूरस्थ प्रेमी-जन के पास भेजना चाहता है, तो वह किस उपाय का अवलम्बन करे ? आज जब लेख, पत्र, तार, टेलीफोन आदि साधन सभ्य मनुष्य को सुलभ हैं, तब इस प्रकार के प्रश्नो पर विचार करना अनर्गल-सा मालूम होता है । पर, जब ये साधन नही मौजूद रहे होगे, तब क्या होता होगा ?

लिपि आदि साधनो के रहने पर भी स्मृति आदि के लिए अन्य साधनो का भी उपयोग चल सकता है । हनुमान जी रामचन्द्र जी की मुद्रिका दिखाकर ही सीता जी को यह विश्वास दिला सके कि वह उनके स्वामी के दूत थे । दुष्यन्त ने अपने नाम की अङ्कित अँगूठी अभिज्ञानस्वरूप शकुन्तला के पास छोड दी थी, ऐसा कालिदास का प्रतिपादन है । आज भी शादी-ब्याह के न्योते के रूप मे सुपारी भेजने का देश मे रिवाज है । किसी की मृत्यु की सूचना जिस चिट्ठी द्वारा दी जाती हैं, उसका एक कोना फाड दिया जाता है । यदि किसी बात को याद रखना जरूरी है और उसे भूल जाने का अन्देशा है, तो गाँठ बाँध ली जाती है । अपने देश मे वर्षगाँठ भी निश्चय ही स्मृति के साधन-स्वरूप है । बच्चा कितने साल का हुआ, यह बात डोरी मे डाली हुई गाँठो की सख्या से मालूम हो जाती थी । कुछ देशो मे, विचित्र रेखाओ से खचित छडी को देखकर उन विभिन्न रेखाओ द्वारा स्मृति मे आयी हुई बातो को दूत बता सकते थे ।

इस प्रकार, श्रोत्र-ग्राह्य शब्द का प्रतिरूप या उसकी सहायक कोई ऐसी चीज हुई, जो नेत्र-ग्राह्य हो। इस विषय मे कुछ जातियो के प्रयत्न उल्लेखनीय है। पेरू मे कुइपु नाम की डोरियाँ होती थी। ये दो फुट से अधिक लम्बी होती थी। इनमें रग-विरगे धागे बँधे रहते थे। इन रगो और धागो मे पडी हुई गाँठो से विविध अर्थों का सकेत हो जाता था, सफेद भाग से 'चाँदी' या 'शान्ति' का अर्थ निकाला जाता था, लाल से 'सोना' या 'युद्ध' का। इसी तरह मृगचर्म मे रग-विरगे मोती-मूँगे आदि चीजे बाँधकर विविध अर्थो का बोध कराया जाता था। यह तरकीब उत्तरी अमरीका की कुछ जातियो मे प्रचलित थी। ये तरकीबे सकेत-स्वरूप समझनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे एक विशेष आकृति के अक्षरो से एक विशेष शब्द द्वारा किसी विशेष भाव का उद्‌बोध हो जाता है। भाव के ज्ञान के लिए, सकेत के पूर्वज्ञान की अपेक्षा अनिवार्य है। इस प्रकार के सकेतो के लिए किसी विशेष माध्यम की जरूरत नहीं।"[१]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् डॉ० सक्सेना ने स्मृति-चिह्नो से चित्र-सङ्केत, फिर भाव-सङ्केत और तदनन्तर वर्ण एव अक्षर-सङ्केत का विकास-क्रम निर्धारित करते हुए लिखा कि "प्रथम सम्पूर्ण वात या वाक्य का वोध कराने वाले चित्र, फिर इन चित्रो से विकसित हुए उनके उद्‌बोधक सङ्केत, और इनसे अक्षर, लिपि के विकास मे यह क्रम रहा।"[२]

विवेच्य विषय पर डॉ० उदयनारायण तिवारी के मत भी प्राय वे ही है, जो डॉ० सक्सेना के है। उन्होने लिखा है कि "लिपि के सम्वन्ध मे अनुसन्धान करने वाले विद्वानो का अनुमान हैं कि भाषा की भाँति लिखने की कला की उत्पत्ति भी विचारो की अभिव्यक्ति के लिए ही हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओ अथवा तथ्यो के सरक्षण की अपेक्षा अपने निकट की वस्तुओ से सहानुभूति प्रकट करने के लिए ही गुहामानव ने सर्वप्रथम चित्रो का अङ्कन किया था। उत्तरपाषाण-काल के ऐसे अनेक चित्र विभिन्न देशो की कन्दराओ की भित्तियो पर मिले है। प्रतीको द्वारा सन्देश भेजने की प्रथा भी अति प्राचीन काल से विभिन्न देशो मे प्रचलित है। तिव्वती-चीनी सीमा पर जव किसी के पास मुर्गी का कलेजा उसकी चर्बी के तीन टुकडो एव एक मिर्च के साथ लाल कागज मे लपेटकर भेजा जाता है तो उसका अर्थ होता है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। यह प्रसिद्ध है कि महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ने आशीर्वाद रूप मे उनके पास घोडे की थोडी लीद तथा प्रस्तर के टुकडे भेजे थे। इससे तात्पर्य यह था कि तुम्हारे घोडे तथा

---

१ डॉ० वाबूराम सक्सेना, सा० भा०, पृ० २४४–२४५।
२ उपरिवत्, पृ०–२४७।

दुर्ग सुरक्षित रहे, जिससे तुम युद्ध मे विजय प्राप्त करते रहो ।"[१] इस विवेचन के पश्चात् डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी 'लिखने की कला का आद्यरूप' चित्र-लिपि को माना है और फिर उससे क्रमश भावलिपि तथा ध्वन्यात्मक अर्थात् अक्षरात्मक एव वर्णात्मक लिपि का विकास प्रदर्शित किया है ।

लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अन्यान्य आधुनिक विद्वानो ने भी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्राय उपर्युक्त विकासवादी सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध मे दूसरा सिद्धान्त लिपि की दिव्योत्पत्ति का है, जिसे हम दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त का समर्थन मुख्यत भारत के प्राचीन आचार्यो के कथन से होता है।

भारत की परम्परागत मान्यता के अनुसार लिपि के आदि आविष्कर्त्ता ब्रह्मा थे। नारदस्मृति के अनुसार यदि ब्रह्मा ने लेखन-कला का आविष्कार नही किया होता, तो यह ससार अभी तक आज की जैसी सुस्थिति मे नहीं पहुँच सका होता।[२] ब्रह्मा ने लेखन-कला का निर्माण क्यो किया, इसके सम्बन्ध मे बृहस्पति का वचन है कि किसी बात को यदि मात्र छह महीने तक भी स्मरण रखने का प्रयास किया जाय, तो उस अल्पावधि मे ही उसमे भ्रान्ति की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए ब्रह्मा ने पुराकाल मे ही पत्रो पर रेखाङ्कित किये जा सकने वाले अक्षरो का निर्माण किया।[३] बदामी मे ब्रह्मा की एक ऐसी मूर्त्ति भी उपलब्ध है, जिसमे उनके हाथो मे पत्रो का एक गट्ठर दिखाया गया है।[४] इसके अतिरिक्त वीणा-पुस्तकधारिणी वाग्देवी सरस्वती के स्वरूप की जो भारतीय कल्पना है, उससे भी लिपि की दिव्यो-त्पत्ति के विश्वास को बल मिलता है। सरस्वती की वीणा भाषा के ध्वनिमय स्वरूप की ओर सङ्केत करती है और पुस्तक लिपि के वर्णमय स्वरूप की ओर।

किन्तु, वर्त्तमान युग के बुद्धिवादी विद्वानो के लिए लिपि या भाषा की दिव्योत्पत्ति के सिद्धान्त पर विश्वास करना सम्भव नही है। वे भाषा की तरह

---

१ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५४६-४९।

२ नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखित चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभा गतिः ॥—नारदस्मृति।

३ पाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः सञ्जायते यतः।
धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढाण्यतः पुरा ॥—आह्निकतत्त्व एव ज्योतिस्तत्त्व में बृहस्पति का वचन।

४ 'दे० लि०, स्व० वि० और स०' में रा० ना० दाण्डेकर का लेख, पृ० ६४।

ही लिपि को भी मानव-बुद्धि द्वारा अर्जित कला मानते है और उसकी व्याख्या विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर करते है ।

विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार लिपि के विकास की चार अवस्थाएँ मानी गयी है—(१) चित्रलिपि (पिक्टोग्रैफिक स्क्रिप्ट), (२) भाव-सङ्केत-लिपि (आइडिओग्रैफिक स्क्रिप्ट), (३) वर्णात्मक लिपि (अलफावेटिक स्क्रिप्ट) तथा (४) अक्षरात्मक लिपि (सिलेबिक स्क्रिप्ट) । इनमे से प्रथम दो अवस्थाओ की लिपियो का सम्बन्ध भाषा से नही था,[1] इसलिए लिपि की निर्धारित परिभाषा के अनुसार उन्हे लिपि की वास्तविक श्रेणी मे परिगणित करना समीचीन नही । किन्तु, विद्वानो ने उन्ही से अन्तिम दो अवस्थाओ की लिपियो के क्रमिक विकास की कल्पना की है और इसलिए उन्हे भी लिपि की श्रेणी मे परिगणित कर लिया है ।

चित्रलिपि —ससार के विभिन्न स्थानो से प्राप्त होने वाले अत्यन्त प्राचीन शिलाखण्ड काष्ठपट्टिका, पशु-चर्म, अस्थि तथा भोजपत्र पर अनेक कथाएं चित्रो के रूप मे उत्कीर्ण एव चित्रित मिली हैं । उन्ही के आधार पर विद्वानो ने यह अनुमान लगाया है कि 'लिखने की कला का आद्यरूप वास्तव मे चित्रलिपि ही है''[2] पुरातन युग का आदिमानव सुनिश्चित लिपि के अभाव मे अपने किसी भाव या कथा की अभिव्यक्ति के लिए सङ्केत के रूप मे चित्रो की रचना तत्कालीन उपलब्ध उपादानो पर किया करता था । अमेरिका के लेक सुपीरियर के समीप की पर्वत-कन्दरा मे प्राप्त एक शिलाखण्ड पर किङ्गफिशर की कथा ऐसी ही चित्रलिपि मे उत्कीण है ।[3] इसी प्रकार अजमेर मे सरक्षित एक शिलाखण्ड पर किसी गोपाल की कहानी तथा सारनाथ के पत्थरो पर जातक-कथाओ का चित्रण एव बुद्ध के उपदेश के सङ्केत चित्रलिपि मे ही उत्कीर्ण है । अजन्ता के भित्तिचित्र भी इसी लिपि के नमूने है ।

चित्रलिपि के स्वरूप तथा उनके गुण-दोषो का विवेचन करते हुए आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि "लिपि का प्राचीनतम और प्रारम्भिक रूप चित्रात्मक था अर्थात् मनुष्य जिस वस्तु को लिपिबद्ध करना चाहता था, उसका चित्र बना देता था । यदि पहाड को लिपिवद्ध करना हुआ, तो ऊँची-नीची रेखाएँ खीच दी, यदि 'मनुष्य' लिखना हुआ तो, रेखाओ की सहायता से उसकी आकृति अकित कर

---

१ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५४८ ।

२ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५४७ ।

३ प० के० प्र० मि०, ना० अ० अ०, पृ० ३२ ।

दी। इसी तरह वृक्षों, पशुओं, पक्षिओं आदि के भी चित्र खींच दिए जाते थे। स्थायित्व देने की भावना की तृप्ति तो चित्रलिपि में अवश्य हो जाती थी, किन्तु इसकी अनेक त्रुटियाँ थीं :

(क) चित्रों की सहायता से वस्तुओं को अंकित करने में सांकेतिक अनन्तता सबसे प्रमुख त्रुटि थी। जितनी वस्तुएँ अंकित करनी होती थीं, उतने प्रकार के चित्र बनाने पड़ते थे। घोड़े के चित्र से हाथी का बोध नहीं हो सकता था और न पर्वत के चित्र से नदी का।

(ख) दूसरी त्रुटि यह थी कि प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक् संकेत बनाने पड़ते थे। संकेतों की अनन्तता के साथ संकेतों का पार्थक्य अनिवार्य रूप से मिला हुआ था।

(ग) चित्रलिपि का यह भी एक बड़ा दोष था कि इसमें स्थान बहुत घिरता था। 'वह मनुष्य है' यह लिखने की अपेक्षा मनुष्य का चित्र बनाना, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, सदा अधिक स्थान लेगा।

(घ) चित्रलिपि समयसाध्य भी थी। किसी वस्तु का चित्र बनाना बहुत जल्दी में सम्भव नहीं हो सकता। एक-दो चित्र बनाने हों तो किसी प्रकार काम चल भी सकता है, लेकिन जहाँ सब कुछ चित्रों की सहायता से ही अभिव्यक्त करना हो, वहाँ समय के अपव्यय की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

(ङ) समय-साध्यता का प्रभाव लेखन की गति पर पड़ना अनिवार्य है। चित्र बनाने में यदि समय अधिक लगता है, तो अनुपातत लिखने की गति में मन्दता रहेगी ही। जितनी तेजी से आज हम ध्वन्यात्मक लिपि में लिख सकते हैं, उतनी तेजी से चित्रलिपि में नहीं लिख सकते।

(च) चित्रलिपि की एक और बहुत बड़ी त्रुटि यह थी कि इसमें केवल स्थूल वस्तुओं का ही उल्लेख हो सकता था, सूक्ष्म अथवा अमूर्त्त वस्तुओं का नहीं। पर्वत, नदी, वृक्ष और पशु आदि का चित्र बना देना तो सम्भव है, किन्तु प्रेम, दया, करुणा और उत्साह आदि का नहीं।

चित्रलिपि में दोष तो अनेक थे, जैसा अभी हमने देखा, किन्तु एक गुण भी था और वह थी उसकी सर्वबोध्यता। आज भी ध्वन्यात्मक लिपियों में कोई शब्द लिखने पर उसे वही समझ सकता है, जो उस भाषा और लिपि से परिचित हो। उदाहरणार्थ, देवनागरी लिपि में 'हाथी' शब्द लिखा देखकर इसका अर्थ वही समझ सकता है, जो देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा से परिचित हो। किन्तु, हाथी का

चित्र देखकर कोई भी हाथी का अर्थ समझ सकता है, चाहे वह रूसी बोलने वाला हो, चाहे फ्रासीसी, चाहे अंग्रेजी। कहने की आवश्यकता नही कि दोषो की तुलना मे यह एक गुण नितान्त नगण्य था। स्वभावत मनुष्य की बुद्धि किसी ऐसी लिपि के अनुसन्धान मे अग्रसर हुई, जिसमे उपर्युक्त त्रुटियाँ कम-से-कम रहे।"[1]

चित्रलिपि का प्रयोग प्राय: प्रत्येक देश मे पाया जाता है। मिस्र, मैसोपोटामिया, फोनेशिया, क्रीट, स्पेन, दक्षिणी फ्रास, मध्य अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, चीन तथा भारत, सर्वत्र इसके प्राचीन अवशेष उपलब्ध है। "यदि चित्रो द्वारा ही भावो का व्यक्तीकरण होता रहता, तो भाषा-विभेद के रहते हुए भी एक जाति या देश के चित्रो से दूसरी जाति या देशवाले भी उन भावो का बोध कर लेते।"[2] किन्तु, चित्रलिपि सूक्ष्म भावो तथा विचारो की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त थी, उसमे लाघव तथा स्पष्टता का अभाव था। इन्ही कारणो से मनुष्य दूसरे प्रकार की लिपि का अनुसन्धान करने को बाध्य हुआ।[3] यह कहा जा चुका है कि चित्रलिपि का सम्बन्ध भाषा के श्रव्यरूप से बिल्कुल नही था, इस कारण वास्तविक अर्थ मे इसे लिपि कहना भी युक्तिसङ्गत नही प्रतीत होता। यद्यपि विद्वानो ने एक स्वर से इसे सभी लिपियो का आदिरूप घोषित किया है, किन्तु, आधुनिक या प्राचीन किसी भी ध्वन्यात्मक लिपि से इसका वैज्ञानिक सामञ्जस्य स्थापित करना असम्भव है। अस्तु यह प्रश्न अभी भी विद्वानो के गम्भीर चिन्तन एव शोध की अपेक्षा रखता है।

भाव-सङ्केत-लिपि —यह लिपि-विकास की दूसरी अवस्था मानी जाती है। इसका विकास चित्रलिपि से ही हुआ। डॉ० सक्सेना के अनुसार 'चित्रो का खीचना आसान काम न था, समय भी काफी लगता था। धीरे-धीरे खराब खिचे हुए चित्रो से भी काम चलता रहा। होते-होते ये चित्र अपने मूलरूप से बहुत दूर हट आये। अब इन सङ्केतो को देखकर ही मूल चित्रो का उद्बोध होता था और उनके द्वारा उनके भावो का। चित्रो की स्थिति तक, चाहे वे कितने भी बुरे खिंचे हुए हो, भावो का उद्बोध अन्य भाषा-भाषियो को भी हो जाता था। पर, अब सङ्केतो के कारण व्यक्तीकरण उन्ही तक सीमित रह गया, जो उन सङ्केतो से अभिज्ञ थे।

---

१ देवेन्द्रनाथ शर्मा, भा० मू०, पृ० ३२९-३०।

२ डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० १६१।

३ न० चि० जो०, 'लिपियों का शास्त्रीय विवेचन व विकास-क्रम,' दे० ना० लि०, स्व० वि० और स०, पृ० १५६।

चित्र तक तो भाव और चित्र-सङ्केत मे, देखने वालो को एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध मालूम देता था, किन्तु अब तो केवल ऐसा सम्बन्ध रह गया, जो रुढि पर आश्रित था।'[1] इस प्रकार भाव-सङ्केत-लिपि चित्रलिपि की अपेक्षा एकदेशीय बन गयी। इसके सङ्केत चित्रलिपि की तरह वस्तुओ का प्रतिनिधित्व नही कर भावो का प्रतिनिधित्व करते थे।[2] इसीलिए, इसे भाव-सङ्केत-लिपि कहा गया है।

इस लिपि के प्रयोग के लिए मिस्र आदि कतिपय देशो मे कीलो का उपयोग किया जाता था, इस कारण कुछ विद्वानो ने इसे कीललिपि भी कहा है। यह लिपि चित्रलिपि के समान ही श्रमसाध्य तथा सूक्ष्म भावो एव विचारो के व्यक्तीकरण मे अक्षम थी। इसमे स्पष्टता की मात्रा चित्रलिपि से भी कम थी। इस कारण मनुष्य पुन किसी नवीन लिपि के अनुसन्धान की ओर अग्रसर हुआ। डॉ० सक्सेना तथा अन्य कतिपय विद्वानो के अनुसार भाव-सङ्केत-लिपि से ही परवर्ती ध्वन्यात्मक लिपियो का विकास हुआ। उन्होने लिखा है कि "जब रुढि द्वारा स्थापित इस प्रकार के सङ्केत विशिष्ट भाषा-भाषी जाति या देश तक सीमित रह गये, तब इन सङ्केतो से विशिष्ट शब्दो (ध्वनि-समूहो) का ही उद्बोध होना स्वाभाविक था। इस प्रकार ये विशिष्ट सङ्केत, चित्र से इतनी दूर हट आये कि केवल विशिष्ट ध्वनि-समूहो (ध्वन्यात्मक शब्दो) का बोध कराने लगे।"[3]

डॉ० सक्सेना की उक्त स्थापना को स्वीकार करने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि भाव-सङ्केत मूलत चित्रो के अवशिष्ट थे, जिनका सम्बन्ध स्थूल वस्तुओं तथा भावो से था। इस कारण वे सङ्केत, चित्रो से चाहे कितनी भी दूर क्यो न चले गये हो तथा चित्रो से कितने भी भिन्न क्यो न दीखने लगे हो, मूलत स्थूल वस्तुओ तथा स्थूल भावो के ही प्रतीक थे। उनका सम्बन्ध शब्दो या शब्द की ध्वनियो से जोडना तर्कसङ्गत नही प्रतीत होता। जिस प्रकार भाषा का सीधा सम्बन्ध भाव से होता है, उसी प्रकार भाव-सङ्केत-लिपि का भी सीधा सम्बन्ध भाव से था। इन दोनो (अर्थात् भाव-सङ्केत लिपि और भाव) के बीच भाषा के शब्दो या ध्वनियो की मध्यस्थता की कल्पना निराधार है। यदि ऐसा होता तो जिस प्रकार ध्वन्यात्मक लिपि मे व्यक्त भावार्थ को बिना समझे भी हम उसे अबाध रूप से पढ सकते है, उसी प्रकार भाव-सङ्केत-लिपि को भी बिना उसके भावो को समझे, अबाध

---

१ डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० १६१-१६२।
२ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ० ५४७।
३ डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० १६२।

रूप से पढा जा सकता था। किन्तु, भाव-सङ्केत लिपि मे व्यक्त भाव को ध्वन्यात्मक लिपि की तरह पढकर नही, केवल देखकर ही समझा जाता है। अत उसके लिए 'पढना' शब्द का प्रयोग भी उसी प्रकार भ्रामक है, जिस प्रकार 'लिपि' शब्द का प्रयोग। वास्तविक अर्थ मे भाव-सङ्केत-लिपि 'लिपि' नहीं थी, क्योकि इसका भी सम्बन्ध, चित्रलिपि के समान ही, भाषा के श्रव्यरूप से नही था। अत. लिपि-विकास के इस सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन है कि "प्रथम सम्पूर्ण बात या वाक्य का बोध कराने वाला एक चित्र, फिर वाक्य के विभिन्न स्थूल भावो के अलग-अलग चित्र, फिर इन चित्रो से विकसित हुए उनके उद्‌बोधक सङ्केत और इनसे अक्षर।"[1]

विशुद्ध भाव-लिपि के नमूने उत्तरी अमेरिका के आदिवासियो तथा मध्य-अफ्रीका के हब्शी लोगो से प्राप्त हुए है।[2] कीललिपि या कीलाक्षर के सर्वाधिक प्राचीन नमूने मिस्र मे उपलब्ध हुए हैं।

वर्णात्मक लिपि —यद्यपि विद्वानो ने इसे लिपि-विकास की तीसरी अवस्था और किसी-किसी ने चौथी और अन्तिम अवस्था मे परिगणित किया है, किन्तु लिपि के वास्तविक और आधुनिक अर्थ मे यह लिपि की प्रथम अवस्था थी। इसका निर्माण भाषा की ध्वनियो के आधार पर हुआ था। इस कारण इसे ध्वन्यात्मक लिपि या ध्वनिलिपि भी कहा जा सकता है। इसमे भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग-अलग वर्ण प्रतीक निश्चित किये गये।[3] यहाँ आकर लिपि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाषा के श्रव्य रूप अर्थात् ध्वनियो मे जुड गया। इस कारण लिपि के यथार्थ स्वरूप का प्रारम्भ वास्तव मे वर्णलिपि से ही माना जाना चाहिए।

लिपि के इतिहास मे ध्वन्यात्मक लिपि का स्थान सबसे ऊँचा है। वास्तव मे आज ध्वन्यात्मक लिपि ही भाषा की प्रतिरूपा है और लिखने की इस प्रणाली मे, प्रत्येक वर्ण, भाषा की विशेष ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिपि के चिह्न वस्तुत, वस्तु अथवा भाव को नही द्योतित करते, अपितु ये ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहो को प्रकट करते है। सक्षेप मे इस प्रणाली मे लिखित रूप, बोलने वाली भाषा का ही दूसरा रूप होता है। इस प्रणाली की सबसे बडी विशेषता यह है कि

---

१ डॉ० बाबूराम सक्सेना, (सा० भा० वि०, पृ० १६२-१६३)।

२ डॉ० उदय नारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ० ५४८।

३ न० चि० जोगलेकर, लिपियों का शास्त्रीय विवेचन विकास-क्रम, दे० ना० लि० स्व० वि० और स०, पृ० १५८।

इसमे लिपि तथा भाषा एक दूसरे का अङ्ग बन जाती है और लिपि ही भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगती है।[१]

कुछ विद्वानो ने ध्वन्यात्मक लिपि को अक्षरात्मक और वर्णात्मक दो वर्गो मे बाँटकर वर्णात्मक को अक्षरात्मक से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया है।[२] किन्तु, यथार्थ सत्य इसके विपरीत है। अक्षरात्मक लिपि, वास्तव मे, वर्णात्मक लिपि का अधिक परिष्कृत एव पूर्ण रूप है। वर्णात्मक लिपि का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन आधुनिक रोमन लिपि मे तथा अक्षरात्मक का देवनागरी लिपि मे प्राप्त होता है।

वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक लिपियो मे अधिकाशत समानता होने पर भी एक प्रमुख भिन्नता यह होती है कि वर्णात्मक लिपि का स्वरूप केवल ध्वनि-विश्लेषणात्मक होता है, सयोगात्मक नही, जबकि अक्षरात्मक लिपि मे दोनो विशेषताएँ होती है। वर्णात्मक लिपि मे स्वर और व्यञ्जन एक-दूसरे से अलग रहकर ही अपना सम्बन्ध व्यक्त करते है। इसमे दोनो के युक्त रूप को एकीकृत करने की क्षमता नही होती। अक्षरात्मक लिपि इसी दृष्टि से वर्णात्मक से श्रेष्ठ होती है। जब वर्णात्मक लिपि मे सभी स्वर वर्णो के लिए अलग से मात्रा-चिह्न या भिन्न प्रतीक निश्चित कर लिये गये तो वर्णात्मक लिपि का स्वरूप अक्षरात्मक हो गया।

अक्षरात्मक लिपि —लिपि के अद्यतन विकास-क्रम मे अक्षरात्मक लिपि का का स्थान सर्वोपरि है। यह वर्णात्मक लिपि का ही अधिक वैज्ञानिक एव पूर्ण विकसित रूप है। वर्णात्मक लिपि के समान इसमे भी प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र वर्ण तथा स्वर एव व्यञ्जन के अलग-अलग वर्ग होते हैं। किन्तु वर्णात्मक लिपि मे व्यञ्जन के साथ स्वर के सयुक्त रूप को एकीकृत कर स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे नहीं दिखलाया जा सकता। अक्षरात्मक लिपि की यह अपनी विशेषता होती है कि उनमे प्रत्येक स्वर की मात्रा तथा उसे सूचित करने वाले स्वतन्त्र चिह्न निश्चित होते है, जिनके उपयोग से व्यञ्जन तथा स्वर के युक्त रूपो को एकीकृत कर स्वतन्त्र वर्णो के रूप मे दिखाया जाता है। इस प्रकार, आक्षरिक लिपि, ध्वनियो की स्वतन्त्र सत्ता का पृथक् सङ्केत देती हुई, उन्हे परस्पर युक्त दिखलाने मे भी समर्थ होती है, जो गुण वर्णात्मक लिपि मे नहीं होता। कुछ विद्वानो ने आक्षरिक लिपि पर यह आक्षेप लगाया है कि 'इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तनिक कठिनाई से होता

१ डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ॰ ५४८।
२ उपरिवत्।

है।''[1] किन्तु, यह मान्यता नितान्त भ्रमपूर्ण है। आक्षरिक लिपि विश्लेषण तथा सयोग दोनो ही मे सरलतम वैज्ञानिक पद्धति का परिचय देती है। देवनागरी इसी कोटि की लिपि है। अक्षरात्मक लिपि की विशेषताओ का विस्तृत परिचय देवनागरी की विशेषताओ के विवेचन के रूप मे आगे दिया जायगा। यहाँ हम अति सक्षेप मे इसकी कुछेक विशेषताओ का उल्लेख मात्र कर देना आवश्यक समझते है।

अक्षरात्मक लिपि मे प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र वर्ण होते हैं। इसमे प्रत्येक स्वर-वर्ण के लिए पृथक् से मात्रा-चिह्न निश्चित होते है, जिनके प्रयोग के द्वारा स्वरयुक्त व्यन्जनो अर्थात् अक्षरो (सिलेबुल्स) को उच्चारणानुरूप लिपिबद्ध किया जा सकता है। उक्त गुण के कारण इसमे कम स्थान मे अधिक शब्द लिखे जा सकते है। यह लिपि लेखन एव वाचन दोनो ही दृष्टियो से सरल होती है। यह ध्वन्यात्मक तथा स्वनिमात्मक प्रतिलेखन एव लिप्यन्तरण के उपयुक्त होती है। यह त्वरा-लेखन के अनुकूल होती है। निष्कर्षत. यह कहा जा सकता है कि इसमे वर्णनात्मक लिपि की सारी विशेषताएँ तो होती ही हैं, साथ ही कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती है, जो उसमे नहीं पायी जाती।

---

1. डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ॰ ५४६)।

अध्याय

: २ :

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता

भारत मे लेखन-कला का प्रारम्भ कब से हुआ, यह प्रश्न पिछले सौ वर्षो से अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय इतिहास-लेखको एव भाषाशास्त्रियो के लिए गम्भीर शोध एव विवाद का विषय रहा है। फलत इस सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण एव रोचक तथ्य सामने आये हैं, किन्तु मूल प्रश्न का प्रमाण-पुष्ट एव सर्वमान्य उत्तर दिया जाना अद्यापि शेष ही है। अत, यह प्रश्न अभी भी गहनतर शोध एव पूर्वाग्रहरहित विवेचन की अपेक्षा रखता है।

१९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ऐसे विषयो की ओर किसी विद्वान का ध्यान नही गया था। सर्वप्रथम, १८७४ ई० मे विलियम जोन्स के प्रयत्न से जब एसिया के इतिहास, शिल्प, भाषा, साहित्य आदि के शोध के लिए बङ्गाल मे 'एसियाटिक सोसाइटी', नामक संस्था की स्थापना हुई, तब से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और साहित्यादि के अनुसन्धान के साथ भारतीय लिपियो के सम्बन्ध मे भी अध्ययन एव चिन्तन का कार्य प्रारम्भ हुआ। १९वी शताब्दी के अन्त तक भारतीय भाषा, साहित्य एव इतिहास के अधिकाश विदेशी अध्येताओ एव पुरातत्त्ववेत्ताओ के द्वारा भारतीय लेखन-कला के सम्बन्ध मे दो प्रकार की भ्रामक मान्यताओ का प्रचार होता रहा। प्रथम यह कि तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० से पहले भारतवर्ष मे लेखन-कला अज्ञात थी और उस समय तक का समस्त भारतीय वाङ्मय मौखिक परम्परा मे ही सुरक्षित था, तथा द्वितीय यह कि भारत की प्राचीनतम लिपि अशोक के शिलालेखो मे प्राप्त होने वाली ब्राह्मी लिपि है, जो किसी विदेशी लिपि से उत्पन्न हुई, अर्थात् भारतीयो ने विदेशियो से लेखन-कला का ज्ञान अर्जित किया।

उपर्युक्त भ्रामक मान्यताओ को जन्म देने वाले तथा उसका पोषण एवं प्रचार करने वाले विद्वानो मे बूलर, मैक्समूलर, अल्फ्रेड मूलर, प्रिन्सेप, सेनार्ट,

विलसन, हलवे, कस्ट, विलियम जोन्स, कॉप्प, लेप्सिअस, वेबर, वेनफी, पॉट, वेस्टर गार्ड, सायस, ह्विटनी, स्टिवेन्सन, पॉलगोल्ड स्मिथ, बर्नेल, लेनोर्मट, डीके, आइजक टेलर, एडवर्ड क्लॉड, राइस डेविड्स, वार्नेट, रप्सन और डेविड डेरिङ्गर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरी ओर विदेशी विद्वानो मे कुछ ऐसे भी थे, जिन्होने उपर्युक्त मान्यताओं को भ्रामक बताते हुए उनके प्रति अपनी असहमति प्रकट की थी। ऐसे विद्वानो मे डॉ० हुल्श, डॉ० फ्लीट, एडवर्ड थॉमस, प्रो० डउसन जेनरल कनिङ्घम और प्रो० लासन आदि के नाम विशेष महत्त्व के अधिकारी है।

भारतीय विद्वानो मे सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने एतद्विषयक अपना अद्वितीय पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' १८९४ ई० मे प्रकाशित किया, जिसका दूसरा सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण १९१८ ई० मे प्रकाशित हुआ। अपने ग्रन्थ के द्वारा ओझा जी ने भारतीय लेखन-कला के सम्बन्ध मे विदेशी पण्डितो की भ्रामक स्थापनाओ का सप्रमाण खण्डन किया, भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता सिद्ध की तथा पाँचवी शताब्दी ई० पू० से लेकर आधुनिक युग तक की समस्त भारतीय लिपियो का चित्र देते हुए, उनका पारस्परिक सम्बन्ध एव क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ आज भी अपनी पद्धति और प्रकार का अकेला ग्रन्थ है तथा हिन्दी के अन्यतम गौरवग्रन्थो मे परिगणनीय है। इस ग्रन्थ (द्वितीय सस्करण, १९१८ ई०) के प्रकाशन के पश्चात् भारतीय लेखन-कला के सम्बन्ध मे अनर्गल कल्पनाओ का युग समाप्त हो गया तथा ब्यूलर आदि कतिपय विपक्षी विद्वानो को भी अपनी पूर्वमान्यताओ मे सशोधन करने को विवश होना पडा।

उपर्युक्त प्रशस्ति का यह आशय कदापि नही है कि ओझा जी ने भारतीय लेखन-कला से सम्बद्ध सभी प्रश्नो के अन्तिम उत्तर दे दिये। वस्तुत उनका अध्ययन इस दिशा मे प्रामाणिक होते हुए भी प्रारम्भिक ही माना जायगा, क्योकि इस विषय से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर उनसे भी न बन पडा। उदाहरणार्थ, उन्होने भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता तो सिद्ध की, किन्तु वे यह नही बता सके कि उसका ठीक-ठीक प्रारम्भ कब से माना जाय। इसी प्रकार उन्होने ब्राह्मी को 'भारतीय आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार' तो कहा, किन्तु, ई० पू० पाँचवी शताब्दी के पहले उसका क्या रूप था तथा प्रारम्भ मे उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध मे वे कुछ भी बताने मे असमर्थ रहे। इस प्रकार के और भी कई प्रश्न उठते है, जिनका पूर्ण समाधान उनके ग्रन्थ से नही होता। किन्तु, ओझा जी के अध्ययन की ये

सीमाएँ वस्तुत उनकी अपनी न होकर उनके युग की सीमाएँ थी। उन्होने उस समय तक उपलब्ध एतद्विषयक सभी प्राचीन सामग्रियो का समुचित उपयोग किया था और उसी के आधार पर अपने निष्कर्ष दिये थे। उस समय जिन प्रश्नो से सम्बद्ध सामग्री तथा प्रमाणो का सर्वथा अभाव था, उनके सम्बन्ध मे भला वे कोई निश्चित उत्तर दे भी कैसे सकते थे?

ओझा जी के समय मे आज तक, विभिन्न खुदाइयो एव शोधो ने एतद्-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुओ, विचारो और साक्ष्यो को प्रकाश मे लाया है; जिनके सहारे पूर्वापेक्षया अधिक निश्चित निष्कर्षो पर पहुँचा जा सकता है। किन्तु, विद्वानो के द्वारा उपलब्ध सामग्री का समुचित उपयोग नही होने के कारण, इस विषय के अध्ययन की दिशा मे अभी तक कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई है। वास्तव मे इस विषय का अध्ययन आज भी ओझा जी के अध्ययन से बहुत आगे नही बढ सका है। यहाँ हम प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे, प्रारम्भ से लेकर आज तक के विद्वानो के अध्ययन का सार-सक्षेप उपस्थित करते हुए, अपने निष्कर्षों को यथासाध्य स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

१९वी शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर वर्त्तमान शताब्दी के प्रथम दशक तक के अधिकाश यूरोपीय विद्वानो ने ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी से पहले भारत मे लेखन-कला के अस्तित्व का अभाव सिद्ध करने के लिए तरह-तरह की मिथ्या कल्पनाएँ की थी। उन विद्वानो मे अधिकाश का तर्क यह था कि चूँकि भारत मे अशोक के शिलालेखो के पहले की लेखन-कला का कोई भी चिह्न या प्रमाण नही मिलता, इस कारण तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० के पहले, भारतीय लेखन-कला का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। उनकी मान्यता थी कि उसके पूर्व का समस्त भारतीय वाङ्मय मौखिक परम्परा मे ही सुरक्षित रहता आया होगा। मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध मे प्रमाण देते हुए लिखा था—"मै निश्चय के साथ कहता हूँ कि पाणिनि की परिभाषा मे एक भी शब्द ऐसा नही है, जो यह सूचित करे कि लिखने की प्रणाली उसके पहले से थी।"[१] बर्नेल की कल्पना थी कि "फिनीशियन लोगो से भारतवासियो ने लिखना सीखा और फिनीशियन अक्षरो का, जिनसे दक्षिणी अशोक लिपि (ब्राह्मी) बनी, भारतवर्ष मे सम्भवत ई० पू० ४०० से पहले प्रवेश नहीं हुआ।"[२] डॉ० अलफ्रेड मूलर के अनुसार "सिकन्दर के

---

१ मैक्समूलर, हि० ए० स० लि०, पृ० २६२, इलाहाबाद से प्रकाशित।
२ बर्नेल, सा० इ० पे०, पृ० ६।

आक्रमण के समय यूनानी लोग जब भारत मे आये तो यहाँ वालो ने उन्ही से लिपि-ज्ञान अर्जित किया।" इसी प्रकार अन्य विद्वानो ने भी अपनी-अपनी भ्रामक धारणाओ का प्रचार किया था, जिनका खण्डन बाद के भारतीय तथा कतिपय यूरोपीय विद्वानो ने भी किया।

जहाँ तक मैक्समूलर की उपर्युक्त मान्यता का प्रश्न है, यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि उन्होने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन नही किया था। यदि किया होता, तो उन्हे उसमे लेखन-कला से सम्बन्ध रखने वाले अनेक शब्द और सङ्केत मिले होते। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ मे लिपि, लिवि, लिपिकर तथा यवनानी शब्द का प्रयोग किया है।[१] यवनानी का अर्थ कात्यायन[२] और पतञ्जलि[३] ने 'यवनो की लिपि' किया है। पाणिनि ने 'स्वरित' के चिह्न तथा ग्रन्थ शब्द का भी उल्लेख किया है।[४] इतना ही नही, अष्टाध्यायी मे चौपायो के कानो पर स्रुव, स्वस्तिक आदि के अतिरिक्त पाँच तथा आठ के चिह्न बनाये जाने का भी उल्लेख है।[५] 'इससे स्पष्ट है कि भारत मे पाणिनि के बहुत पूर्व से लेखन-कला का प्रचार था, जिसके और भी अनेक प्रमाण मिलते है।

पाणिनि से बहुत पूर्व यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी, जिसमे औदुम्बरायण, क्रौष्टुकी, शतबलाक्ष, मौद्गल्य, शाकपूणि, शाकटायन, स्थौलाष्ठीवी, आग्रायण, औपमन्यव, और्णनाभ, कात्थक्य, कौत्स, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैटिकि, वार्ष्यायणि और शाकल्य नामक वैयाकरणो तथा निरुक्तकारो के नामो एव मतो के उल्लेख मिलते है। इनमे से केवल गार्ग्य, शाकटायन, गालव और शाकल्य के नाम 'अष्टाध्यायी' मे मिलते है। इससे स्पष्ट अनुमान होता है कि पाणिनि और यास्क के पूर्व व्याकरण और निरुक्त के बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध रहे होगे। यह सम्भव नही कि यास्क अथवा पाणिनि ने इतने आचार्यों के ग्रन्थो को कण्ठस्थ करने के पश्चात् उनका तारतम्य विचार कर अपने नये निरुक्त तथा व्याकरण की रचना की हो। यदि उस समय लेखन-कला न थी और न लिखित ग्रन्थ ही थे, तो क्या यास्क और पाणिनि ने इन सब आचार्यो के ग्रन्थो को वेद के सूक्तो की तरह कण्ठस्थ करने वाले विद्वानो को अपने सामने बिठाकर, उनके मतो को सुनने के पश्चात्,

---

१ पाणिनि, अ० ३, २, २१, (दिवा विभा निशा) ४, १, ४९, (इन्द्र वरुण)।

२ उपरिवत्, ४, १, ४९, पर वार्तिक—३ (यवनाल्लिप्याम्)।

३ उपरिवत्, पर प० भाष्य।

४ उपरिवत्, १, ३, ११, (स्वरितेनाधिकार॰) १, ३, ७५, ४, ३, ८७, आदि।

५ उपरिवत्, ६, २, ११२,।

अपने ग्रन्थो की रचना की होगी और तव फिर स्वय उन्हे रटते और शिष्यो को रटाते गये होगे ? इस तरह की कल्पना निश्चय ही मिथ्या कल्पना होगी ।

'छान्दोग्य उपनिपद्' मे 'अक्षर' शव्द का प्रयोग मिलता है । उसमे ई, ऊ और ए स्वर क्रमश ईकार, ऊकार और एकार शव्दो से सूचित किये गये हैं । उसमे स्वरो का सम्वन्ध इन्द्र से, ऊष्मन् का प्रजापति से और स्पर्श वर्णो का मृत्यु से वतलाया गया है ।[१] 'ऐतरेय आरण्यक' मे ऊष्मन् और स्पर्श का, स्वर और अन्त स्थ का, व्यञ्जन और घोप का तथा णकार और षकार का क्रमश नकार और सकार से भेद स्पष्ट किया गया है ।[२] इसके अतिरिक्त उसमे सन्धि का भी विवेचन है ।[३] ये सारी वाते 'शाङ्खायन आरण्यक' मे भी हैं । इसी प्रकार 'तैत्तिरीय उपनिपद्' मे वर्ण और मात्रा का विवेचन[४] है तथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे ऊँ अक्षर को अकार, उकार और मकार वर्णो के सयोग से वना हुआ वतलाया गया है ।[५]

'तैत्तिरीय सहिता' मे इन्द्र और वायु को एक ही सोमपात्र दिये जाने के कारण का उल्लेख करते हुए वताया गया है कि पहले वाणी अस्पष्ट और अनियमित अर्थात् विना व्याकरण के थी । देवताओ ने इन्द्र से कहा कि तुम हमारे लिए इसका व्याकरण (नियम-वन्धन) कर दो । इन्द्र ने कहा कि इस कार्य के लिए मेरी यह शर्त है कि मेरे तथा वायु के लिए एक ही सोमपात्र नियत हो । देवताओ ने इसे स्वीकार कर लिया । तव इन्द्र ने वाणी' को वीच से पकड कर व्याकृत (व्याकरण-युक्त, नियमवद्ध) किया ।[६] यही कथा 'शतपथ ब्राह्मण' मे भी मिलती है, किन्तु उसमे वि+आ+कृ धातु के स्थान पर निर्+वच् धातु से वने हुए 'निर्वचन' तथा 'निरुक्त' शव्द प्रयोग मे लाये गये है ।[७] इसके अतिरिक्त उसमे वचन[८] तथा लिङ्गो के भेद[९] का भी विवेचन है ।

---

१ छान्दोग्य उपनिपद्, ३, २, १० । १, १३ । २, २२, ३ ।
२ ऐतरेय आरण्यक, ३, २, १ । ?, ?, ८, । ३, २, ६ ।
३ उपरिवत् ३, १, ५ ।
४ तैत्तिरीय उपनिपद्, ३, १, १ ।
५ ऐतरेय ब्राह्मण, ५ ३? ।
६ तैत्तिरीय सहिता. ६, ४, ७ ।
७ शतपथ ब्राह्मण ८, १, १, १?, १५, १६ ।
८ उपरिवत् १३, ५, १, १८ ।
९ उपरिवत् १०, ५, १, २, १०, ५, १, ।

ये सभी ग्रन्थ यास्क और पाणिनि के पूर्व के माने जाते है[१]। उपर्युक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि उन दिनो यदि लेखन-कला का अभाव होता, तो व्याकरण के पारिभाषिक शब्द की चर्चा नही होती, क्योकि जो जाति लिखना नही जानती, उमे व्याकरण के पारिभाषिक शब्दो का ज्ञान भी नही होता। व्याकरण की रचना तथा उसकी चर्चा लेखन-कला की उन्नत दशा मे ही होती है। उसके लिए भाषा का समस्त साहित्य टटोलना पडता है तथा अनेक पारिभाषिक शब्दो की रचना करनी पडती है।[२] लिखना न जानने वाला जनसमुदाय अपनी भाषा के व्याकरण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार कर ले, यह कभी सम्भव नही हो सकता।[३]

ऋग्वेद मे गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ, बृहती, विराज, त्रिष्टुभ, जगती आदि छन्दो के नाम मिलते हैं।[४] वाजसनेयी सहिता मे इनके अतिरिक्त पङ्क्ति छन्द का भी नाम मिलता है तथा द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, षट्पदा, कुकुभ आदि छन्दो के भेद भी मिलते हैं।[५] अथर्ववेद मे एक स्थान पर छन्दो की सख्या ११ लिखी है।[६] शतपथ ब्राह्मण मे मुख्य छन्दो की सख्या ८ बतलायी गयी है।[७] इनके अतिरिक्त तैत्तिरीय सहिता[८], मैत्रायणी सहिता[९], काठक सहिता[१०] तथा शतपथ ब्राह्मण[११] मे कई छन्दो के पादो तथा उनके अक्षरो की सख्या तक गिनायी गयी है। उपर्युक्त ग्रन्थो मे छन्दो का सूक्ष्म विवेचन भी अति प्राचीन काल मे भारतीय लेखन-कला के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है, क्योकि लेखन-कला के अभाव मे छन्दो का ऐसा वर्गीकरण, विश्लेषण एवं वर्णन कभी सम्भव नही माना जा सकता।

डॉ० सक्सेना ने लिखा है कि 'भारतीय आर्य अंको को लिखना जानते थे, इस बात के तो और भी जोरदार सबूत हैं। ऋग्वेद मे हजार 'अष्टकर्णी' गायो के

---

१ डॉ० बा० रा० स०, सा० भा० वि०, पृ० १६८।
२ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि० मा०, पृ० १०।
३ डॉ० बा० रा० स०, सा० भा० वि०, पृ० १६९।
४ ऋ० स०, १०, १४, १६, १०, १३२, ३४।
५ वा० स०, ११, ८, १४, १९, २३, ३३, २८, १४, आदि।
६ अथ० स०, ८, ९, १९।
७ शतपथ० ब्रा०, ८, ३, ३, ६।
८ तैति० स०, ६, १, १, ६—७।
९ मै० स०, १, ११, १०।
१० का० स०, १४, ४।
११ शत० ब्रा०, ८, ३, ३।

दान का उल्लेख मिलता है'।[१] ऋषि नाभानेदिष्ठ हजार अष्टकर्णी गौएँ दान करने के कारण राजा सावर्णि की स्तुति करते है।[२] वहाँ 'अष्टकर्णी' शब्द का अर्थ यही है कि जिसके कानपर आठ के अङ्क का चिह्न हो।

वैदिक काल मे जूआ खेलने का प्रचार बहुत था, जिसमे चार पासे होते थे। उनके नाम कृत, त्रेता, द्वापर और कलि थे[३]। उनपर क्रमश ४, ३, २, और १ अङ्क या उनके चिह्न लिखे या खुदे होते थे। चार के चिह्न वाला 'कृत' नामक पासा जिताने वाला होता था।[४] ऋग्वेद मे एक पूरा सूक्त जुआरी (कितव) के विलाप का है,[५] जिसमे वह कहता है कि 'एकपर' पासे के कारण मैंने अपनी पतिव्रता स्त्री खो दी। वहाँ 'एकपर' का अर्थ यही है कि जिस पर एक का चिह्न बना हो[६], अर्थात् हराने वाला 'कलि' नामक पासा। अथर्व वेद मे जूए मे जीत की प्रार्थना करने का एक सूक्त है[७], जिसमे लिखा है कि मैंने तुमसे 'सलिखित' अर्थात् जूए मे जीत के हिसाब का लिखा हुआ धन और 'ससव' अर्थात् बाजी पर लगाया गया धन जीत लिया। इससे स्पष्ट है कि उस समय जूए मे जीत की राशि भी लिखी जाती थी। इसी प्रकार यजुर्वेद की वाजसनेयी सहिता के पुरुषमेध के प्रकरण मे जहाँ भिन्न-भिन्न पेशेवाले बहुत से पुरुष गिनाये गये हैं, वहाँ 'गणक' का भी उल्लेख है[८]। 'गणक' का अर्थ गणित करने वाला अर्थात् ज्योतिषी होता है। उसी मे एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (१००००), नियुत (१०००००), प्रयुत (१००००००), अर्बुद (१०००००००), न्यर्बुद (१००००००००), समुद्र (१०००००००००), मध्य (१००००००००००), अन्त (१०००००००००००) तथा परार्ध (१००००००००००००) तक की सख्या दी गयी है।[९] ठीक ये ही सख्याएँ तैत्तिरीय सहिता मे भी मिलती है।[१०] शतपथ ब्राह्मण मे समय-विभाग के विषय मे लिखा है कि रात-दिन के ३० मुहूर्त, १ मुहूर्त के १५ क्षिप्र, एक क्षिप्र के १५ एतर्हि, एक एतर्हि के १५

---

१ डॉ० वा० रा० स० सा० भा० वि०, पृ० १६६।
२ ऋ० स०, १०, ६२, ७।
३ ऐत० ब्रा०, ७, १५।
४ छान्दो० उ०, ४, १, ४, ६।
५ ऋ० स०, १०, ३४।
६ पाणिनि, अ०, २, १, १०।
७ अथ०, स०, ७, ५०, (५२), ७, ५०, (५२) ५।
८ यजु० वाज० स०, २०, ३०।
९ उपरिवत, १७, २।
१० तै० स०, ४, ४०, ११, ४, ७, २, २०, १।

इदानी और १ इदानी के १५ प्राण होते हैं।[1] लेखन-कला के अभाव मे सख्याओ की ऐसी सूक्ष्म गणना की कल्पना भी सम्भव नही है।

उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त महाभारत[2], स्मृति[3] (धर्मशास्त्र), कौटिल्य के अर्थशास्त्र[4] तथा वात्सायन के कामसूत्र[5] मे भी लेखन-कला की प्राचीनता के साक्ष्य मिलते है।

बौद्धो के 'शील' (सुतन्त के प्रथम खण्ड का प्रथम अध्याय) ग्रन्थ मे बौद्ध साधुओ के लिए अनेक निषेधो मे 'अक्खरिका' खेल का भी निषेध है। इस खेल मे खेलने वालो को अपनी पीठ पर या आकाश मे उँगली से लिखा हुआ अक्षर बूझना पडता था। डॉ० राइस डेविड्स ने इस ग्रन्थ के सङ्ग्रह का समय ई० पू० ४५० के आस-पास माना है[6], किन्तु बौद्ध विद्वान 'शील' को स्वय बुद्ध का वचन मानते है। 'विनयपिटक' मे लेखन-कला की प्रशसा की गयी है तथा उसमे बौद्ध आर्याओ के लिए सासारिक कलाओ के सीखने का निषेध होने पर भी लेखन-कला सीखने की आज्ञा दी गयी है।[7] 'जातक' मे व्यक्तिगत तथा राजकीय पत्रो, ऋण लेने वालो की तहरीरो, पुस्तक तथा कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यकीय विषयो, राजकीय आदेशो तथा धर्म के नियमो को अन्य उपकरणो के अतिरिक्त स्वर्ण-पत्र पर खुदवाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। जातक मे वर्णित समाज ई० पू० छठी शताब्दी से भी पहले का है। 'महावग्ग' ('विनयपिटक' का एक ग्रन्थ) मे लेखा (लिखना), गणना (पहाडा) और रूप (हिसाब) की पढाई का, ललित विस्तर[8] मे बुद्ध का लिपिशाला मे जाकर अध्यापक विश्वामित्र से चन्दन की पाटी पर सोने के वणक (कलम) से लिखना सीखने के वृत्तान्त का वर्णन है।

ओझा जी ने उपर्युक्त बौद्ध ग्रन्थो का उल्लेख करने के पश्चात् लिखा है कि "उपर्युक्त उल्लेख ई० पू० छठी शताब्दी के आसपास की दशा के बोधक है और उनसे पाया जाता है कि उस समय लिखने का प्रचार एक साधारण बात थी।

---

१ शत० ब्रा०, १२, ३, २, १।

२ महाभारत, आदि पर्व, १, ११२।

३ वशिष्ठ धर्मसूत्र, १६, १०, १४-१५, मनुस्मृति, ८, १६८।

४ कौ० अर्थशास्त्र, १, ५, २, १, १२, ८, १, १९, ६, २, ९, २८।

५ वा० कामसूत्र, पृ० ३३, ४५, २३८।

६ डे०, बु० इ०, पृ० १०७।

७ उपरिवत्, पृ० १०८।

८ ललित विस्तर, अ० १०, पृ० १८१-८५, (अँगरेजी अनुवाद)।

स्त्रियाँ और बच्चे भी लिखना जानते थे और पढाई ठीक वैसी ही थी जैसी कि अवतक हमारे यहाँ की देहाती पाठशालाओ की है, जिनमे लिखना, पट्टी-पहाडा और हिसाब पढाये जाते हैं। जब हमारे यहाँ की प्रारम्भिक पढाई का ढङ्ग ई० पू० छठी शताब्दी से अवतक विना किसी विशेष परिवर्तन के ज्यो का त्यो चला आया है, तब क्या आश्चर्य है कि बुद्ध के समय भी बहुत पूर्ववर्ती काल से वैसा ही चला आ रहा हो।''[1]

भारतीय लेखन-कला की अति प्राचीनता के उपर्युक्त प्रागैतिहासिक कालीन प्रमाणो के अतिरिक्त ऐतिहासिक प्रमाणो का भी अभाव नही है। ई० पू० ३२६ मे जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उसके साथ उसका एक सेनापति 'निआर्कस' नामक व्यक्ति भी था। 'निआर्कस' ने 'इण्डिका' नामक अपने विवरण-ग्रन्थ मे भारतीयो के द्वारा रुई से कागज बनाने का उल्लेख किया है[2]। इसी प्रकार ई० पू० ३०६ के आसपास सीरियाके बादशाह सेल्युकस ने मेगास्थनीज को अपना दूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार मे पाटलिपुत्र भेजा था। मेगास्थनीज ने अपने 'भारत-वर्णन' मे लिखा है—''यहाँ दस-दस स्टेडिआ[3] पर पाषाण लगे हैं[4], जिनसे धर्मशालाओ का तथा दूरी का पता चलता है। नये वर्ष के दिन भावी फल (पञ्चाङ्ग) सुनाया जाता है[5]। जन्मपत्र बनाने के लिए जन्म-समय लिखा जाता है[6] और न्याय 'स्मृति' के अनुसार होता है[7]।'' ये समस्त प्रमाण सूचित करते है कि भारतीय लेखन-कला अत्यन्त प्राचीन काल मे ही पूर्ण विकास की अवस्था मे पहुँच चुकी थी।

अब हम 'मौखिक परम्परा के द्वारा प्राचीन साहित्य के संरक्षण' सम्बन्धी यूरोपीय विद्वानो की भ्रामक धारणा पर सक्षेप मे विचार करे। यह सत्य है कि वेद मौखिक पद्धति मे एक पीढी के बाद दूसरी पीढी को प्राप्त होते गये। किन्तु उनके मौखिक पठन-पाठन का कारण यह नही था कि उनकी लिखित प्रतियाँ उपलब्ध नही थी, बल्कि उसके पीछे आर्य ऋषियो की यह वैज्ञानिक धारणा थी कि

---

१ गौ० ही० च० ओ० भा० प्रा० लि० भा०, पृ० ६।
२ मैक्समूलर, हि० ए० स० लि०, पृ० ३६७। बूलर, इ० पे०, पृ० ६।
३ एक स्टेडियम ६०६ फीट ६ इच का होता है, स्टेडिआ स्टेडिअम का बहुवचन है।
४ इ० मे०, पृ० १२५-२६।
५ उपरिवत् पृ० ६१।
६ उपरिवत पृ० १२६।
७ बू०, इ० पे०, पृ० ६।

गुरु-मुख से उन्हे सीखे बिना उच्चारण या पाठ की शुद्धता तथा ऋचाओ की वैधिक शक्ति का रक्षण नही हो सकता[१]। यज्ञ मे वेद के मन्त्रो के शुद्ध प्रयोग की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए उनका शुद्ध उच्चारण गुरु के मुख से ही सीखा जाता था जिससे कि पाठ मे उच्चारण की अशुद्धि न हो, जो यजमान के नाश के लिए वज्र की तरह समर्थ मानी जाती थी।[२] वैदिक लोग, इसी कारण, न केवल मन्त्रो को, अपितु उनके पदपाठ, दो-दो पद मिलाकर क्रमपाठ तथा पदो के उलट-फेर से घन, जटा आदि पाठो को भी स्वरसहित कण्ठस्थ करते थे। लिखित पुस्तक से पढना निषिद्ध था।[३] लिखित पुस्तक से पढने वाला अधम पाठक माना जाता था। किन्तु वेद की लिखित प्रतियाँ विस्मृति मे सहायता के लिए अवश्य रहती थी और व्याख्यान, टीका, व्याकरण, निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि मे सुभीते के लिए उनका उपयोग होता था। आज भी जो विद्या मुखस्थ हो, वही विद्या विद्या मानी जाती है।[४] इन्हीं कारणो से आर्यो मे मस्तिष्क और स्मृति को भी पुस्तकालय समझने की परिपाटी हो गयी तथा अनेक विषयो के ग्रन्थ सूत्रबद्ध शैली मे लिखे गये, ताकि वे कण्ठस्थ किये जा सके। यहाँ तक कि अङ्कगणित एव बीजगणित के नियम और उदाहरण भी श्लोको मे लिखे गये।[५]

इस सम्बन्ध मे डॉ० सक्सेना ने अपना निष्कर्ष देते हुए लिखा है कि "श्रुति को मौखिक सम्प्रदाय से स्थिर रखने के उपाय के कारण यह समझ लेना कि लिखने की कला का अज्ञान था, ठीक नही। आज भी कितनी ही चीजो को याद कर रखने का चलन है, यद्यपि लिखना भी साथ-साथ मालूम है। इस विवरण से यही एक निष्कर्ष सम्भव है कि भारतीय आर्य लोगो को लिखने की कला काफी प्राचीन काल से मालूम थी। यदि ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल के सूक्तो को ई० पू० १२०० का भी मान लिया जाय, तो उस समय भी यह कला भारतीयो को ज्ञात थी।"[६] 7

---

१ रा० ना० दाण्डेकर, दे० लि० स्व० वि० स०, पृ० ६५।

२ दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थ माह।
सवाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्र शत्रु: स्वरतोऽपराधात्॥-पत०, महा०, प्र० आ०

३ कुमारिल का तन्त्रवार्तिक, १, ३।

४ पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्त गत धनम्।
कार्यकाले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद्धनम्।—चाणक्य।

५ गौ० ही० च० ओ०, भा० प्रा० लि० मा०, पृ० २३-२५।

६ डॉ० बा० रा० स०, सा० भा० वि० पृ० १६८-६६।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि भारत मे लेखन-कला का प्रचार वैदिक युग मे भी था और भारत का प्राचीन वाङ्मय न केवल मौखिक परम्परा, अपितु लिखित परम्परा मे भी सुरक्षित रहता आया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि अनेक यूरोपीय पण्डितो के कथन से भी होती है। रॉथ ने लिखा है कि "लिखने का प्रचार भारतवर्ष मे प्राचीन समय से ही होना चाहिए, क्योकि यदि वेदो के लिखित ग्रन्थ विद्यमान न होते तो कोई पुरुष प्रातिशाख्य न बना सकता।"[१] बॉथलिङ्क के अनुसार "मेरे मत मे साहित्य के प्रचार मे लिखने का उपयोग नही होता था, परन्तु नये ग्रन्थो के बनाने मे इसको काम मे लेते थे। ग्रन्थकार अपना ग्रन्थ लिखकर बनाता, परन्तु फिर उसे या तो स्वय कण्ठस्थ कर लेता या औरो को कण्ठस्थ करा देता।"[२] इसी प्रकार बूलर ने, जो पहले भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता तथा भारतीयता का विरोधी था, लिखा है "इस अनुमान को रोकने के लिए कोई कारण नही है कि वैदिक समय मे भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा और दूसरे अवसरो पर सहायता के लिए काम मे ली जाती थी।[३] अभी-अभी मिले हुए प्रमाणो से मुझे स्वीकार करना पडता है कि भारतवर्ष मे लिपि के प्रवेश का समय ई० पू० की दसवी शताब्दी या उससे भी पूर्व स्थिर करना होगा।'[४]

यहाँ जिज्ञासुओ के मन मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि भारतवर्ष मे लेखन-कला का प्रचार वैदिक युग मे भी था, तो हमे उस प्राचीन युग के ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियाँ कही मिलती क्यो नही? इस प्रश्न का उत्तर ओझा जी के अनुसार यह है कि "भोजपत्र, ताडपत्र या कागज पर लिखी हुई पुस्तके हजारो वर्ष तक नही रह सकती, विशेषत भारतवर्ष की जलवायु मे। परन्तु पत्थर या धातु पर खुदे हुए अक्षर बहुत समय तक बच सकते है।"[५] यह कथन नितान्त सत्य है। हमारे देश मे भोजपत्र, ताडपत्र तथा कागज आदि पर प्राचीन लेखन-कला के प्रमाण चाहे भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु धातु तथा पत्थरो पर खुदे ससार के प्राचीनतम लिपि-चिह्नो के नमूने उपलब्ध हो चुके है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हडप्पा और मोहन्जोदडो की खुदाइयो से प्राप्त होने वाले, ई० पू० लगभग ४००० वर्ष पहले की 'सिन्धु घाटी

१ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० १५।
२ गोल्डस्टूकर के 'मानव कल्पसूत्र' के अँगरेजी स० की भूमिका, पृ० ६६।
३ बू० इ० पे०, पृ० ८।
४ उपरिवत् पृ० १७।
५. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० २।

सभ्यता' के अवशिष्ट लिपि-चिह्न हैं। ये लिपि-चिह्न ससार के समस्त उपलब्ध लिपि-चिह्नो से प्राचीन हैं। इनके प्राप्त होने के पूर्व, भारत मे ई० पू० पाँचवी शताब्दी तक की ही लेखन-कला के नमूने उपलब्ध थे, जिनके आधार पर यूरोपीय विद्वानो ने तरह-तरह की भ्रान्त स्थापनाएँ दी थी। किन्तु, इसके उपलब्ध होने के बाद से भारत, लिपि-ज्ञान की प्राचीनता की दृष्टि से भी, ससार के अन्य सभी राष्ट्रो मे असन्दिग्ध रूप से अग्रणी स्वीकार किया जाने लगा है।

अध्याय

: ३ :

भारतीय लिपियों का उद्भव और विकास

सैन्धव लिपि

भारत मे उपलब्ध प्राचीन लिपियो मे सर्वाधिक प्राचीन लिपि सिन्धु-घाटी की लिपि है, जिसे हम सैन्धव लिपि की संज्ञा से भी अभिहित कर सकते है। विद्वानो के अनुसार उक्त लिपि आज से लगभग चार हजार वर्ष पहले की है। उस लिपि का पता सिन्धु-घाटी के हड़प्पा, मोहन्जोदड़ो आदि भिन्न-भिन्न स्थानो की खुदाई के परिणामस्वरूप प्राप्त विभिन्न सामग्रियो के ऊपर अङ्कित लेखो से चला। उसके पूर्व तक भारत की प्राचीनतम लिपि के रूप मे ब्राह्मी एवं खरोष्ठी की गणना होती थी, क्योंकि इन लिपियो के लेखो का पता विद्वानो को सैन्धव लिपि के लेखो के प्राप्त होने के पहले ही लग चुका था। किन्तु जब सैन्धव लिपि के लेख प्रकाश मे आये, तो ब्राह्मी एवं खरोष्ठी से भारत की प्राचीनतम लिपि होने का गौरव छिन गया। अब लोग, निर्विवाद रूप से, सैन्धव लिपि को भारत मे प्राप्त होनेवाली लिपियो मे प्राचीनतम मानते है।

सिन्धु-घाटी के हड़प्पा तथा मोहन्जोदड़ो नामक विभिन्न स्थानो की खुदाई से ई० पू० लगभग चार हजार वर्ष पहले की भारतीय सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए है, उनसे इतिहास-जगत मे क्रान्ति मच गयी है।[१] विदेशी विद्वान अबतक भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य और लिपि आदि के इतिहास के सम्बन्ध मे जिन भ्रान्त धारणाओ का प्रचार करते रहे है, उन सब की सन्दिग्धता स्पष्ट हो गयी है तथा उनके सम्बन्ध मे पुनर्मूल्याङ्कन के द्वारा नये प्रामाणिक निष्कर्षों पर पहुँचना अनिवार्य हो गया है।

---

१ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५६।

हड़प्पा पञ्जाव के मॉण्टगोमरी जिले मे तथा मोहन्जोदडो सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले मे है। हडप्पा की सर्वप्रथम खोज मैसन ने १८२० ई० मे की थी। १८५३ ई० मे कनिङ्घम ने इस स्थान का अध्ययन किया तथा १८७५ ई० मे यहाँ की कतिपय सीलो का प्रकाशन हुआ। १९२० ई० मे राखालदास वनर्जी ने इसके सम्वन्ध मे शोधकार्य किया। वाद मे सर जॉन मार्शल के तत्त्वावधान मे १९२१ ई० से दयाराम साहनी ने खुदाई का कार्य प्रारम्भ कराया तथा १९२६ ई० से १९३१ ई० तक माधवस्वरूप वत्स की देखरेख मे यहाँ महत्त्वपूर्ण खुदाई हुई। इसी वीच मार्शल, एस० लैग्डन, एस० स्मिथ तथा सी० जे० गैड ने १९३१ ई० मे मोहन्जोदडो तथा सिन्धु-घाटी-सभ्यता के सम्वन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया तथा १९३७-३८ ई० मे जे० एच० मैकी ने, १९२७ ई० से १९३१ ई० के बीच तक की खुदाई का परिणाम प्रकाशित किया।[1]

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार—"एक से अधिक मजिल वाले और भूगर्भ के अन्दर से पानी आदि जाने के लिए वनी नालियो वाले, ईट के वने घरो वाले सुयोजित नगर, विस्तृत रूप से प्रचारित लेखन-कला, विभिन्न रूपो मे चित्रित और अलकृत मृत्तिकापात्र, मृतदेहो के सस्कार की विचित्र प्रणालियाँ सुसस्कृत जीवन के लिए आवश्यक (वच्चो की गुडियो तक) तमाम साज-सामग्री वाली एक अत्यन्त उच्च एव विकसित सभ्यता का सिन्ध के मोहन्जोदडो तथा अन्य स्थानो मे, तथा दक्षिण पजाव के हडप्पा मे पता चला, जिसने समस्त विश्व के विद्वज्जनो को अत्यन्त आश्चर्यचकित कर डाला। और जव यह कहा गया कि प्रकाश मे आयी हुई यह सभ्यता वैदिक आर्यों से सम्वन्धित न होकर आर्यो के आगमन से पहले के किन्ही अनार्यजनो से सम्वन्ध रखती थी, तव तो भारतीय विद्वानो के विस्मयपूर्ण अचम्भे का ठिकाना न रहा।"[2]

उपर्युक्त स्थानो से प्राप्त महत्त्वपूर्ण वस्तुओ मे अनेक ऐसी मुद्राएँ भी है, जिनपर वृषभ, महिप तथा वारहसिङ्घा-जैसे जानवरो के अत्यन्त सुन्दर चित्र अङ्कित है तथा तत्कालीन लिपि मे अङ्कित लेख भी हैं। इन मुद्राओ पर अङ्कित लिपि अभी तक विद्वानो के लिए एक पहेली है। सुमेरीय सभ्यता तथा लिपि के विशेषज्ञ लैग्डन, स्मिथ तथा गैड आदि विद्वानो ने इसे पढने मे पर्याप्त समय लगाया, किन्तु, फिर भी उन्हे सफलता नही मिल सकी। गैड तथा स्मिथ के अनुसार

---

१ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० का ज० और वि०, पृ० ५५०-५१।

२ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५६।

यहाँ की लिपि के प्रतीको की सख्या ३९६ है, किन्तु लैंग्डन तथा हण्टर के अनुसार यह सख्या २८८ तथा २५३ है।[१]

डॉ० चटर्जी के अनुसार 'इस लिपि मे विकास की विभिन्न कक्षाएँ द्रष्टव्य है, यथा चित्र, चित्रलिपि और अक्षरलिपि।[२] डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार 'लगभग ३०० प्रतीको सहित सिन्धु-घाटी की लिपि न तो वर्णात्मक प्रतीत होती है और न अक्षरात्मक ही, यह विशुद्ध भावात्मक लिपि भी नही है, क्योकि इसमे प्रतीको की सख्या अत्यल्प है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अशो मे यह ध्वन्यात्मक (सम्भवत अक्षरात्मक) है और इसमे निर्णायक चिह्न भी है।[३] डेविड डिरिङ्गर के अनुसार यह भाव-ध्वनि-सन्धि (ट्रान्जिशनल) लिपि है।[४] इसी प्रकार अन्य विद्वानो ने भी इसे भाव-सङ्केतात्मक एव ध्वनि-सङ्केतात्मक लिपियो की मध्य अवस्था की लिपि कहा है। किन्तु ध्वन्यात्मक या ध्वनि-सङ्केत-मूलक (वर्णात्मक, अक्षरात्मक) लिपियो का विकास क्रमश चित्र और भाव-सङ्केत-लिपि से हुआ या स्वतन्त्र रूप से हुआ, यह प्रश्न स्वय विवादग्रस्त है। ऐसी स्थिति मे सिन्धु-घाटी-लिपि को भावमूलक और अक्षरात्मक लिपि के बीच की कडी कहना उचित नहीं है। वह सम्भवत अक्षरात्मक लिपि का आदि रूप है, जिसमे ब्राह्मी के रूप का पूर्वाभास सा दृष्टिगोचर होता है।

सिन्धुघाटी सभ्यता के सम्बन्ध मे सबसे बडा दुर्भाग्य यह है कि अभी तक इतिहासज्ञ, पुरातत्त्ववेत्ता एव तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा लिपिशास्त्र के पण्डित इसका सम्बन्ध किसी जातिविशेष से स्थापित करने मे सफल नही हुए है।[५] कोई इसका सम्बन्ध द्रविडो से जोडता है[६] तो कोई सुमेरी जातियो से।[७] आर्यों के

---

१ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५५०-५१।

२ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५६।

३ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५५१।

४ डेविड डेरिङ्गर, अल्फावेट।

५ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५६।—"मोहञ्जोदड़ों तथा अन्य स्थानों के शोध, एव हडप्पा की खुदाई और वहाँ से प्राप्त उपकरणों का नये सिरे से प्रागैतिहासिक अध्ययन के कारण भारत के सांस्कृतिक तथा भाषाविषयक इतिहास का नया ही मार्ग हमारे सामने खुल गया।"

६ हेरॉस, मार्शल आदि अनेक विद्वान।

७ एल० ए० वैडल, डॉ० प्राणनाथ आदि विद्वान।

मूल निवास के प्रश्न की तरह इस प्रश्न को भी विद्वानो ने भ्रामक अटकलो का अखाडा वना दिया है, क्योकि दोनो प्रश्न किसी एक ही विन्दु पर परस्पर आवद्ध है। इस सम्वन्ध मे अधिकाश विद्वान केवल एक वात सुनिश्चित विश्वास के साथ कहते पाये जाते है कि यह (सिन्धुघाटी की) सभ्यता और चाहे जिसकी भी रही हो, आर्यो की नही थी।[१] उन विद्वानो के लिए इस प्रसङ्ग मे 'विधि' से अधिक 'निपेध' का ही महत्त्व है। इसका प्रत्यक्ष कारण यह प्रतीत होता है कि यदि वे इसे स्वीकार लेते है कि वह सभ्यता आर्यो की थी तो आर्यो के मूलनिवास, भापा, साहित्य, लिपि, सभ्यता, सस्कृति आदि के इतिहास से सम्वन्धित, उनकी तथा उनके गुरुजनो की आजतक की समस्त स्थापनाओ का हवामहल क्षणमात्र मे भूमिसात् हो जायगा।

एच० हेरॉस, जॉन मार्शल आदि कतिपय विद्वानो ने सम्भवत अपनी भेद-नीति के आधार पर द्रविडो को सिन्धुघाटी-सभ्यता का जनक वताकर आर्य-द्रविड एकता तथा भारतीय राष्ट्रीयता के मूल पर ही गहरा आघात किया है, जिसके भया--वह परिणाम सभी ओर प्रत्यक्ष होने लगे है। हेरॉस की मान्यता के सम्वन्ध मे डॉ० चटर्जी का कहना है कि "यह अनुमान सही है या गलत, इसका अन्तिम निर्णय तो तभी हो सकेगा, जव हम मोहन्जोदडो की लिपि को पढ सकेंगे और जव वहाँ की भाषा आधुनिक द्रविड भाषाओ की जननी या उनका एक आद्यरूप सिद्ध हो जायगी, परन्तु इसी अनुमान के सहारे मोहन्जोदडो के लेखो मे सीधे प्राचीन तमिल पढने लगना, जैसे पादरी हेरॉस साहव कर रहे हैं, विल्कुल युक्तिसगत न होगा।"[२] किन्तु उसी पुस्तक मे अन्यत्र स्वय डॉ० चटर्जी ने, स्वतोव्याघात पूर्ण कथन की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार, उत्तरी भारत के मैदानो मे द्रविडो का प्राचीन निवास स्वीकार कर[३] हेरॉस की मान्यता का ही प्रकारान्तर से समर्थन किया है।

भारतीय इतिहास साक्षी है कि उत्तरी भारत आर्यो का और दक्षिण भारत द्रविडो का आदिकाल से ही निवास-स्थान रहा है। सर्वप्रथम, सम्भवत, अगस्त्य ऋषि और फिर राम के सत्प्रयत्नो से दोनो जातियाँ एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे

---

१ डॉ० वा० रा० स०, सा० भा० वि०, ० १६७। "विद्वानों का वहुमत इस पक्ष का है कि यह सारी सामग्री ऐसी सभ्यता की द्योतक है जिसका वैदिक आर्य सभ्यतासे कोई सम्वन्ध नहीं।"

२ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५९।

३ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० हि०, पृ० ५९। "जव आर्य आये, तव उत्तरी भारत के मैदानों में द्रविड और निषादजन निवास करते थे।"

आयी और तबसे भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ ।[1] ऐसा कही भी कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिसमे दोनो के बीच शत्रुता या सङ्घर्ष की कल्पना की जा सके। आर्यों के द्वारा सिन्धु-घाटी से द्रविडो को पराजित कर भगाये जाने की कल्पना निराधार, भ्रान्तिमूलक तथा दोनो जातियो के बीच फूट डालने वाली है, जिस पर विश्वास करना सत्य का गला घोटने के समान अनुचित है ।

प० किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार "देव और द्रविड 'सह अस्तित्व' के सिद्धान्त के आधार पर मजे से रहते थे । देवो मे वर्णव्यवस्था थी, द्रविड़ो में नही । द्रविड सब एक थे और है । ब्राह्मण कुछ इधर से उधर गये, जिनके अगुआ अगस्त्य ऋषि थे । दुर्लंघ्य विन्ध्याटवी पार करके इधर से उधर पहुँच कर बस जाना जीवट का कार्य था । अगस्त्य ने तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण बनाया और चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा दी । दक्षिण मे आयुर्वेद का 'अगस्त्य सम्प्रदाय' आज भी प्रसिद्ध है । उधर की समृद्धि इधर आती थी, यानी परस्पर सहयोग था । 'पञ्चजना.' शब्द का ऋग्वेद मे अस्तित्व उसी समय की हमारी राष्ट्रीय एकता का सूचक है । 'पञ्चजना मे आर्यो के चार वर्णो के प्रतिनिधियो के अतिरिक्त पाँचवाँ स्थान द्रविडो के प्रतिनिधि का ही था, जिसका परिचय यास्क ने अपने 'निरुक्त' मे 'चत्वारो वर्णा, पञ्चयो निषाद' कहकर दिया है। विदेशी इतिहासकारो ने 'वेकनाट', 'पणि' और 'शिश्नदेवा' आदि शब्दो का द्रविड़ पडक गलत अर्थ लगाकर आर्य-द्रविड सङ्घर्ष को मनगढन्त कहानी का प्रचार किया है। इतिहासकारो की उस कल्पित आग मे आज सचमुच लोग झुलस रहे है। इसका इलाज है, सही स्थिति प्रकट करना ।"[2]

कुछ दूसरे विद्वानो ने, जिनमे एल० ए० वैडेल आदि के नाम आते है, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिन्धु-घाटी मे ई० पू० ४००० वर्ष पहले सुमेरी लोग रहते थे और उन्ही की भाषा तथा लिपि वहाँ प्रचलित थी । अत. सिन्धु घाटी की लिपि सुमेरी लिपि से विकसित हुई होगी । यह कल्पना भी हेरॉस की कल्पना की तरह ही निराधार है।

वस्तुत. सिन्धु घाटी की सभ्यता भारतीय आर्यो की ही वह समन्वयवादी तथा सहअस्तित्ववादी सभ्यता थी, जिसमे द्रविड तत्त्व के अतिरिक्त अन्यान्य विदेशी

---

१ प० लक्ष्मीधर, द होम ऑफ द आर्यं, पृ० १०० ।

२ पं० कि० दा० वा०, माध्यम, जनवरी १९६५, पृ० ६५ ।

एव विजातीय सभ्यतागत एव सास्कृतिक तत्त्वो का समाहार था। तत्कालीन आर्यो मे उन दिनो सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा वैचारिक, किसी भी प्रकार की सङ्कीर्ण कट्टरता नही आयी थी। उनके भाव, विचार तथा कार्य सभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के व्यापक सिद्धान्त पर आधारित थे। इसीलिए हमे सिन्धु-घाटी-सभ्यता के भग्नावशेषो मे आर्य-सभ्यता के अतिरिक्त विदेशी एव विजातीय सभ्यता के तत्त्व भी वर्त्तमान मिलते है।

(भारतीय विद्वानो मे प्रो० दीक्षित, डॉ० राजवली पाण्डेय, डॉ० चटर्जी, डॉ० उदयनारायण तिवारी और डॉ० भोलानाथ तिवारी आदि अनेक व्यक्तियो ने सिन्धुघाटी-लिपि से ब्राह्मी का सादृश्य स्वीकार करते हुए इस बात की सम्भावना व्यक्त की है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति उसी से हुई होगी।) 'दीक्षित जी के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिस्री लिपि से इस लिपि का साम्य इस कारण है कि इन तीनो ही देशो मे लिपि भारत से ही गयी है।'[1] डॉ० राजवली पाण्डेय ने भी यही बात कही है[2]। डॉ० चटर्जी ने लिखा है—"सिन्ध-पजाब-लिपि के बहुत से वर्ण, मौर्यकालीन ब्राह्मी के चतुर्थ और तृतीय शताब्दी ई० पू० के प्राचीन रूपो से मिलते-जुलते है, तथा यह सादृश्य प्रचुर एव आश्चर्यजनक है। इस प्रकार सिन्धपजाब-लिपि का उद्भव चाहे कही से भी हुआ हो, यह बात बहुत सम्भव प्रतीत होती है कि इसी लिपि से भारत की राष्ट्रीय लिपि तथा आधुनिक भारतीय लिपियो की जननी ब्राह्मी का उद्भव हुआ।"[3] डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार 'यह तर्क ठीक नही है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिन्धुघाटी-लिपि से नही हो सकती।"[4] डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि "१९५६ ई० मे इन पक्तियो के लेखक (डॉ० भो० ना० ति०) ने सिन्धुघाटी की लिपि के साथ ब्राह्मी का तुलनात्मक अध्ययन किया था और निष्कर्षत यह मत व्यक्त किया था कि ब्राह्मी लिपि सिन्धुघाटी की लिपि से सम्बद्ध है।"[5]

उपर्युक्त विद्वानो के साक्ष्य पर हम यह बात विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यदि ब्राह्मी लिपि आर्यो की थी, तो उसको जन्म देने वाली सिन्धुघाटी की लिपि भी निश्चय ही आर्यों की लिपि रही होगी, जो ससार की सभी उपलब्ध प्राचीन

---

१ दीक्षित, प्रो० हि० श्रि० ऑफ इ० वै०, पृ० ४६
२ डॉ० रा० व० पा०, इ० पै०, पृ० ३८, ३९।
३ डॉ० सु० कु० च०, भा० आ० और हि०, पृ० ५८।
४ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५६१।
५. डॉ० भा० ना० ति०, दे० ना० लि०, उ० वि० और स०, पृ० २४०

लिपियो से प्राचीनतर है। 'थेरा द्वीप मे प्राप्त ग्रीक लिपि के प्राचीनतम लेख ई० पू० नवी शताब्दी के है। अरमीनी के प्राचीनतम लेख ई० पू० ८०० के हैं। इसी प्रकार अरबी और ब्राह्मी के प्राचीनतम लेख ई० पू० पाँचवी शताब्दी के और खरोष्ठी के ई० पू० तीसरी शताब्दी के है।'' इन सब से प्राचीन सिन्धु घाटी लिपि के लेख विद्वानो के अनुसार ई० पू० ३५०० से ४००० वर्ष तक के माने गये हैं।

इस प्रकार सैन्धव लिपि की उपलब्धि ने, अन्य क्षेत्रो के समान लेखन-कला के क्षेत्र मे भी विश्व मे भारतीय ज्ञान की सर्वाधिक प्राचीनता पर मुहर लगा दी है। अगर कभी इस लिपि का सफल वाचन सम्भव हुआ, तो यह भी सम्भव है कि यह लिपि न केवल ब्राह्मी का, अपितु ससार की कतिपय अन्य प्राचीन लिपियो का भी उद्गमस्रोत प्रमाणित हो।

ब्राह्मी लिपि

सामान्य परिचय —ई० पू० पाँचवी शताब्दी से लगभग ३५० ई० तक प्राप्त होने वाले भारतीय शिलालेखो की उस लिपि का नाम ब्राह्मी है, जो बाँयी ओर से दाँयी ओर लिखी (या खोदी) गयी है। हमारे देश मे मिलने वाले अधिकाश प्राचीन शिलालेख मौर्यवशी सम्राट् अशोक के समय के, अर्थात् ई० पू० तीसरी शताब्दी के आसपास के है। इसके पूर्व के (सिन्धुघाटी से प्राप्त लेखो के अतिरिक्त) केवल दो लेख अभी तक उपलब्ध हो सके हैं। उनमे से एक अजमेर जिले के बडली नामक गाँव से प्राप्त हुआ, जो स्तम्भ पर खुदे हुए लेख का टुकडा है। इसका समय विद्वानो ने ४८३ वर्ष ई० पू० निश्चित किया है।[2] दूसरा लेख नेपाल के पिप्रावा नामक स्थान से प्राप्त हुआ, जो एक स्तूप के भीतर से मिले हुए पात्र पर खुदा हुआ है। इसका समय विद्वानो के अनुसार बुद्ध के निर्वाणकाल के कुछ पश्चात् अर्थात् ४८७ वर्ष ई० पू० के कुछ बाद का होना चाहिए।[3] अभी तक ब्राह्मी लिपि के ये ही दो प्राचीनतम नमूने उपलब्ध है। अशोककालीन लेखो से इन दोनो लेखो के अक्षरो मे कोई विशेष अन्तर नही है।

ई० पू० तीसरी शताब्दी से लेकर लगभग ३०० ई० तक के शिलालेखो को देखने से यह पता चलता है कि उस समय भारत मे दो प्रकार की लिपियाँ

१ डॉ० वा० रा० स०, सा० भा० वि०, पृ० २६४-६५।
२ गौ० श० ही० ओ०, भा० प्रा० लि० मा०, पृ० २।
३ उपरिवत्।

प्रचलित थी। एक बायी ओर से दायी ओर लिखी जाती थी, जिसका नाम ब्राह्मी था और दूसरी दायी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी, जिसे लोग खरोष्ठी कहते थे। खरोष्ठी का प्रचार मुख्य रूप से केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश मे था, किन्तु ब्राह्मी सम्पूर्ण देश मे प्रचलित होने के कारण, एक प्रकार से तत्कालीन भारतवर्ष की राष्ट्रीय लिपि थी।[१]

खरोष्ठी के सम्बन्ध मे विद्वानो की निश्चित धारणा है कि वह विदेशी लिपि थी और उसका विकास सेमिटिक अरमइक् लिपि से हुआ था।[२] ओझाजी के अनुसार "सम्भव है कि ईरानियो के राजत्व काल मे उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाको मे उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो, जैसे कि मुसलमानो के राज्य के समय फारसी का, जो उनकी राजकीय लिपि थी, इस देश मे प्रवेश हुआ और उसमे कुछ वर्ण बढाने मे उर्दू लिपि बनी।"[३] इसका प्रचार ई० पू० तीसरी शताब्दी से लेकर लगभग ३०० ई० तक भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे रहा। उसके पश्चात् इस प्रदेश मे भी ब्राह्मी से विकसित लिपियो का प्रचार हो गया।[४]

यूरोपीय विद्वानो ने ब्राह्मी के लिए 'पाली', 'इण्डियन पाली', 'साउथ अशोक' और 'लाट्लिपि' आदि अनेक नामो का प्रयोग किया है, किन्तु ब्राह्मी का 'ब्राह्मी' नाम अत्यन्त प्राचीन है। इसके अनेक प्रमाण प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थो मे उपलब्ध है। जैनो के 'पन्नवणासूत्र' और 'समवायाङ्गसूत्र' मे १८ लिपियो के नाम मिलते है, जिनमे सबसे पहला नाम 'बभी' (ब्राह्मी) का है। 'भगवतीसूत्र' मे सर्वप्रथम 'बभी' (ब्राह्मी) लिपि को नमस्कार[५] करके सूत्र का आरम्भ किया गया है। बौद्धो के सस्कृत ग्रन्थ 'ललितविस्तर'[६] मे ६४ लिपियो के नामो की सूची दी गयी है, जिनमे सबसे पहला नाम ब्राह्मी का है। चीन मे रचे गये बौद्ध विश्वकोष 'फा युअन चु लिन्' मे, जिसका रचना-काल ६६८ ई० माना जाता है[७] भिन्न-भिन्न

---

१ डॉ० धी० ब०, हि० भा० का इ०, पृ० ८४।
२ उपरिवत्।
३ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ३५।
४ डॉ० धी० ब०, हि० भा० का इ०, पृ० ८४-८५।
५ 'नमो बभीए लिविए'।
६ 'ललितविस्तर' में बुद्ध का चरित्र वर्णित है। यह ग्रन्थ कब रचा गया, यह निश्चित नहीं है, किन्तु इसका चीनी अनुवाद ३०८ ई० में हुआ। —ओझा।
७ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० १८।

लिपियो के वर्णन-प्रसङ्ग मे लिखा है कि "लिखने की कला का शोध तीन दैवी शक्ति वाले आचार्यों ने किया, उनमे से सबसे प्रसिद्ध ब्रह्मा है, जिसकी लिपि (ब्राह्मी) बाई ओर से दाहिनी ओर पढी जाती है। उसके बाद किअ-लु (अर्थात् खरोष्ठ) है, जिसकी लिपि दाहिनी ओर से बाई ओर पढी जाती है और सबसे कम महत्त्व का त्सकी है, जिसकी लिपि (चीनी) ऊपर से नीचे की तरफ पढी जाती है। ब्रह्मा और खरोष्ठ भारतवर्ष मे हुए और त्सकी चीन मे। ब्रह्मा और खरोष्ठ ने अपनी लिपियाँ देवलोक से पाई और त्सकी ने अपनी लिपि पक्षी आदि के पैरो के चिह्नों पर से बनाई।"[१] उपर्युक्त प्रमाणो से ब्राह्मी के नाम की प्राचीनता स्वत. सिद्ध हो जाती है।

ब्राह्मी के नामकरण के आधार के सम्बन्ध मे कई प्रकार के अनुमान मिलते है। भारत तथा चीन की प्राचीन मान्यता के अनुसार ब्राह्मी के आदि निर्माता आचार्य ब्रह्मा थे, अत उन्ही के नाम के आधार पर इसका नाम 'ब्राह्मी' पडा। दूसरे अनुमान के अनुसार ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध साक्षर ब्राह्मणो से होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी पडा। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार आर्यों ने ब्रह्मज्ञान (वेद) की रक्षा के लिए इसका निर्माण किया था, इसीलिए इसका नाम ब्राह्मी पडा। इन विभिन्न अनुमानो मे कौन-सा अनुमान सही है, यह कहना कठिन है।

ब्राह्मी का उद्भव-स्रोत

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवी शताब्दी की प्रारम्भिक कई दशाब्दियो तक ब्राह्मी लिपि का उद्भव-स्रोत यूरोपीय एव भारतीय विद्वानो के लिए एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न बना हुआ था। आज हम जिस सहजता एवं विश्वास के साथ ब्राह्मी लिपि को भारतीय आर्यों का स्वतन्त्र एव मौलिक आविष्कार कहने की स्थिति मे है, यह स्थिति पहले नही थी। प्रारम्भ में यूरोपीय विद्वानो की यह निश्चित धारणा थी कि प्राचीन काल मे (ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी तक) भारतीयो को लेखन-कला का ज्ञान नही था।[२] इस धारणा को प्रमाणसिद्ध करने के लिए किसी विदेशी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति प्रमाणित करना उनके लिए अनिवार्य था। इस कारण ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनलोगो ने तरह तरह की अटकलें लगायी तथा अनेक विदेशी लिपियो से उसका सम्बन्ध जोडने का प्रयास किया।

---

१ इ० ऐ०, जिल्द ३४, पृ० २१।

२ इस प्रसङ्ग की चर्चा पहले की जा चुकी है।

प्रिन्सेप, सेनार्ट तथा विल्सन ने यूनानी और फिनीशियन से ब्राह्मी के उद्भव की कल्पना की।[१] हेलवे ने लिखा कि ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके आठ व्यञ्जन तो ई० पू० चौथी शताब्दी की अरमइक् से, छह व्यञ्जन, दो प्राथमिक स्वर, सभी मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार 'आरिअनोपाली' (अर्थात् खरोष्ठी) से तथा पाँच व्यञ्जन और तीन प्राथमिक स्वर यूनानी से लिये गये है। यह मिश्रण ई० पू० ३२५ के आसपास अर्थात् सिकन्दर के आक्रमण के वाद हुआ।[२] कस्ट के अनुसार एशिया के पश्चिम मे रहने वाले फिनीशियन लोग ई० पू० की आठवी शताब्दी मे लिखना जानते थे। उनका वाणिज्य-सम्वन्ध भारत के साथ रहने तथा उन्ही के अक्षरो से ग्रीक, रोमन तथा सेमिटिक भापाओ के अक्षर वनने से अनुमान होता है कि ब्राह्मी लिपि भी फिनीशियन से बनी होगी।[३]

इसी प्रकार सर विलियम जोन्स ने जव सेमिटिक से ब्राह्मी की उत्पत्ति का अनुमान किया, तो काप्प और लेप्सिअस ने तुरत उसका अनुमोदन किया।[४] फिर वेवर ने सेमिटिक और ब्राह्मी अक्षरो के वीच कुछ समानता की स्थापना कर जोन्स के अनुमान को प्रमाणपुष्ट घोषित किया,[५] जिसका समर्थन वेनफी, पॉट, वेस्टरगार्ड, मैक्समूलर, फेडरिक मूलर, सायस एव ह्विटनी आदि अनेक विद्वानो ने थोडे-बहुत सन्देह के साथ किया।[६]

स्टिवेन्सन का अनुमान था कि ब्राह्मी लिपि या तो फिनीशियन से वनी है या मिश्र के अक्षरो से।[७] पॉल गोल्डस्मिथ का अनुमान इन सबमे निराला था। उसके अनुसार फिनीशियन अक्षरो से पहले सिलोन की लिपि वनी और तब उससे ब्राह्मी उद्भूत हुई।[८] किन्तु, इसका खण्डन करते हुए मूलर ने लिखा कि सिलोन मे लिखने का प्रचार भारत के वाद हुआ।[९] इसी प्रकार जन वर्नेल ने फिनीशियन से निकले अरमइक् अक्षरो से ब्राह्मी की उत्पत्ति का अनुमान किया[१०] तो आइ जक

१ इ० एँ०, जिल्द ३५, पृ० २५३।
२ ज० ए०, १८८५ ई०, पृ० २६८।
३ ज० रॉ० ए० सो०, जिल्द १६, पृ० ३२६, ३५९।
४ इ० एँ, जि० ३५, पृ० २५३।
५ Indische skizzen पृ० १२५-१५०।
६ इ० ए०, जि० ३५, पृ० २५३।
७ ज० वॉ० व० रॉ० ए० सो०, जि० ३, पृ० ७५।
८ एकेडमी, ९ जनवरी, १८७७ ई०।
९ मू०, रि० ए० इ० सी०, पृ० २४।
१० ब०, सा० इ० पे०, पृ० ९।

टेलर ने अरमइक् से ब्राह्मी को नितान्त भिन्न बताते हुए बर्नेल की स्थापना की असत्यता घोषित की ।[1]

लेनोर्मण्ट की कल्पना थी कि फिनीशियन अक्षरो से अरब के हिमिअरेटिक अक्षर बने और फिर उन्ही अक्षरो से ब्राह्मी के अक्षरो का विकास हुआ ।[2] डीके की कल्पना थी कि असीरिया की कील लिपि (क्युनिफॉर्म) से प्राचीन दक्षिणी सेमेटिक-लिपि का विकास हुआ, फिर दक्षिणी सेमिटिक लिपि के ही किसी रूप से ब्राह्मी तथा हिमिअरेटिक दोनो का जन्म हुआ ।[3] आइजक टेलर ने डीके का समर्थन करते हुए लिखा है कि "ब्राह्मी लिपि किसी अज्ञात दक्षिणी सेमिटिक लिपि से निकली होगी। वह वास्तव मे किस लिपि से निकली, यह अबतक मालूम नही हुआ, पर 'ओमन', 'हड्रमाण्ट' या 'ओर्मज'[4] आदि के खँडहरो मे उस मूल लिपि का पता एक न एक दिन अवश्य लगेगा ।"[5]

एडवर्ड क्लॉड के अनुसार फिनीशियन से सेबियन का और सेबियन से ब्राह्मी का उद्भव हुआ ।[6] प्रो० रप्सन ने भी फिनीशियन से ही ब्राह्मी का विकास सम्भव माना ।[7] इस प्रकार अधिकाश विद्वानो की धारणा यही थी कि ब्राह्मी की उत्पत्ति फिनीशियन से हुई ।

उपर्युक्त विद्वानो के अतिरिक्त ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सबसे अधिक भ्रान्त मान्यताओ का प्रचार करने वालो मे बूलर का नाम आता है। बूलर का एतद्विषयक 'ऑरिजिन ऑफ द ब्राह्म अल्फावेट' नामक ग्रन्थ १८९५ ई० मे प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक मे उसने वेबर की मान्यता का अनुसरण करते हुए यह कहा कि ब्राह्मी के बाइस अक्षर उत्तरी सेमिटिक से और शेष प्राचीन फिनीशियन से लिये गये है। किन्तु सेमिटिक, फिनीशियन तथा ब्राह्मी मे साम्य की स्थापना करने मे असफल होने पर बूलर को तरह-तरह के निराधार अनुमान करने पड़े । उदाहरणार्थ-

१. टे० आ०, जि० २, पृ० ३१३ ।

२. एसे ऑन फिनीशियन अल्फावेट, जि० १, पृ० १५० ।

३ Zeits chrift der Deuschen Morgen landischen Gessells chaft BandXXXI 398 ff

४ ये अरब और ईरान के विभिन्न स्थानों के नाम हैं ।

५. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० १९ ।

६. ए० क्लॉ०, स्टोरी ऑफ दी अल्फावेट, पृ० २०७ ।

७ ए० इ०, पृ० १७-१८ ।

उसने लिखा कि "हिन्दुओ ने सेमिटिक अक्षरो को उलट दिया है अर्थात् ऊपर का हिस्सा नीचे और नीचे का ऊपर कर दिया है, कही आडा कर दिया है और कोणो को खोल दिया है।"[१] किन्तु बूलर का काम जब इतने से भी नही चला, तो उसने यह भी कल्पना कर ली कि "ब्राह्मी पहले दायी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी, बाद मे उसे लोग बायी ओर से दायी ओर लिखने लगे। इसके कारण सेमिटिक अक्षरो का ब्राह्मी मे रुख ही बदल गया।"[२] इस प्रकार बूलर ने और भी इस तरह की अनेक बेतुकी अटकले लगायी, जिनके सम्बन्ध मे ओझा जी ने लिखा है कि ऐसी अटकलो से तो दुनिया की किसी भी लिपि की उत्पत्ति किसी दूसरी लिपि से सिद्ध हो सकती है[३]। किन्तु इतना होने पर भी मैकडॉनेल्ड[४] तथा बार्नेट[५] आदि विद्वानो ने बूलर का समर्थन किया।

डॉ० राइस डेविड्स ने उपर्युक्त सभी मतो को अस्वीकार करते हुए अपनी निराली स्थापना दी कि "मैं यह मानने का साहस करता हूँ कि इन भिन्न-भिन्न शोधो के एकीकरण के लिए केवल यही कल्पना हो सकती है कि ब्राह्मी लिपि के अक्षर न तो उत्तरी और न दक्षिणी सेमिटिक अक्षरो से बने हैं, किन्तु उन अक्षरो से, जिनसे उत्तरी और दक्षिणी सेमिटिक अक्षर स्वय बने हैं, अर्थात् युफ्रेटिस नदी की वादी की सेमिटिक से पूर्व की किसी लिपि से।"[६]

उपर्युक्त सभी यूरोपीय विद्वानो की अनर्गल मान्यताओ का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने लिखा है—"इस प्रकार यूरोपियन विद्वान ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए हिअरेटिक, क्युनिफार्म, फिनीशियन, हिमिअरेटिक, अरमइक् एव खरोष्ठी आदि मे से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी की शरण लेते हैं। आइजक टेलर इनमे से किसी मे भी ब्राह्मी से समानता न देखकर 'ओमन', 'हड्रमाउ' या 'ओर्मज' के खँडहरो मे से किसी नयी लिपि के मिलने की राह देखते हैं और डॉ० राइस डेविड्स युफ्रेटिस नदी की वादी मे से सेमिटिक लिपियो से पूर्व की किसी अज्ञात

१. बू०, इ० पे०, पृ० ११।

२. वही।

३. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० २५।

४ मै०, हि० स० लि०, पृ० १६।

५. बा०, एँ० इ०, पृ० २२५।

६. डे० बु० इ०, पृ० ११४।

लिपि का पता लगाकर उपर्युक्त भिन्न-भिन्न मतो का एकीकरण करने की आशा करते हैं। यदि उपर्युक्त लिपियो मे से किसी एक की भी ब्राह्मी के साथ कुछ वास्तविक समानता होती, तो सर्वथा इतने भिन्न मत नही होते। जिस लिपि से समानता पायी जाती, उसी को सब स्वीकार कर लेते। परन्तु ऐसा न होना ही उपर्युक्त भिन्न-भिन्न कल्पनाओ का मूल हुआ, जो साथ ही साथ उन कल्पनाओ मे हठधर्मी का होना प्रकट करता है।"[१]

अन्त मे ओझा जी ने अपना निष्कर्ष व्यक्त करते हुए लिखा है—"ब्राह्मी लिपि के अक्षर न तो फिनीशियन या किसी अन्य लिपि मे निकले हैं और न उसकी बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदल कर बनायी गयी है। यह भारतवर्ष के आर्यो का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता के कारण, चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पडा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणो की लिपि होने के कारण यह ब्राह्मी कहलायी हो, पर इसमे सन्देह नही कि इसका फिनीशियन आदि से कुछ भी सम्बन्ध नही है।"[२]

ओझा जी के अतिरिक्त अनेक यूरोपीय विद्वानो ने भी ब्राह्मी के भारतीय उद्गम-स्रोत के प्रति अपनी दृढ आस्था व्यक्त की है तथा अपने सजातीय विद्वानो के मत का खण्डन किया है। 'एनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका' मे ब्राह्मी का परिचय देने वाले विद्वान लेखक ने बूलर की आलोचना करते हुए लिखा है—"बूलर का कथन यद्यपि पाण्डित्यपूर्ण और चतुराई से भरा हुआ है, तो भी यह मानना पडता है कि वह अधिक निश्चय नहीं दिलाता। इस लिपि का उद्भव कहाँ से हुआ, इसका निर्णय निश्चित रूप से करने के पहले इसके प्राचीन इतिहास के और भी प्रमाणो को ढूँढना आवश्यक है और ऐसे प्रमाण मिल सकेंगे, इसमे कोई सन्देह नही।"[३] इसी प्रकार डॉ० हुल्श[४] और डॉ० फ्लीट[५] ने भी बूलर के मत को निराधार प्रमाणित किया है।

एडवर्ड थॉमस ने स्पष्ट शब्दो मे यह स्वीकार किया है कि "ब्राह्मी अक्षर भारतवासियो के ही बनाये हुए हैं और उनकी सरलता से उनके बनाने वालो की

१ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० २०।
२ उपरिवत् पृ० २८-२९।
३. ए० बि०, जिल्द २३, पृ० ६०३।
४. इ० एँ०, जिल्द २६, पृ० ३३६।
५. बू०, इ० पे० के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० ३-४।

बड़ी बुद्धिमानी प्रकट होती है।"[१] प्रो० डासन के अनुसार ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ सब तरह से विदेशी उत्पत्ति से उसकी स्वतन्त्रता प्रकट करती है और विश्वास के साथ आग्रहपूर्वक यह कहा जा सकता है कि सब तर्क और अनुमान उसके स्वतन्त्र आविष्कार ही होने के पक्ष मे है।"[२] जेनरल कनिङ्घम ने अपना विश्वास व्यक्त करते हुए लिखा है—कि "ब्राह्मी लिपि भारतवासियो की निर्माण की हुई स्वतन्त्र लिपि है।"[३] प्रो० लासन का भी मत इसी प्रकार का है।[४]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का अन्तिम निष्कर्ष सक्षेप मे यही है कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार भारतवर्ष मे भारतीय आर्यों के ही द्वारा हुआ। किन्तु उसका आविष्कार कब हुआ, उसका प्रारम्भिक रूप कैसा था तथा ई० पू० पॉचवी शताब्दी के पहले तक उसके विकास-क्रम के कितने और कौन-कौन से सोपान थे, इन सारे प्रश्नो पर उपर्युक्त विवेचन से कोई भी प्रकाश नही पडता।

डॉ० राधे श्याम शास्त्री ने देवनागरी वर्णो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो कल्पना की है, उसे यदि हम ब्राह्मी वर्णों के लिए ही मान लें, तो उनके अनुसार "देवताओ की मूर्तियाँ बनाने के पूर्व उनकी उपासना साकेतिक चिह्नो के द्वारा होती थी, जो कई त्रिकोण या चक्रो आदि से बने हुए यन्त्रो के, जो 'देवनगर' कहलाते थे, मध्य मे लिखे जाते थे। 'देवनगर' के मध्य मे लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के साकेतिक चिह्न कालान्तर मे उन-उन नामो के पहले अक्षर माने जाने लगे और 'देव-नगर' के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।[५] इस मत के सम्बन्ध मे ओझा जी ने लिखा है कि "यह लेख बडी गवेषणा से लिखा गया है और युक्तियुक्त अवश्य है, परन्तु जब तक यह सिद्ध न हो कि जिन-जिन तान्त्रिक पुस्तको से अवतरण उद्धृत किये गये है, वे वैदिक साहित्य के समय के पहले के या कम से कम मौर्यकाल के पहले के है, तबतक उनका मत स्वीकार नही किया जा सकता।"[६]

इसी प्रकार बाबू जगन्मोहन वर्मा ने एक लेख[७] मे यह बताने का प्रयास किया है कि वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली साङ्केतिक लिपि से ब्राह्मी का विकास

---

१ न्यू० क्रॉ०, १८८३ ई०, नवम्बर ३।
२ ज० रॉ० ए० सो०, १८८१ ई०, पृ० १०२ और इं० ए०, जि० ३५, पृ० २५३।
३ क०, क्वा० ए० इ, जि० १, पृ० ५२।
४ इ० अ०, द्वि० स०, पृ० १००६, १८६७ ई०।
५ इ० एं०, जिल्द ३५, पृ० २५३-६७, २७०-६०, ३११ से २४।
६ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ३०।
७. सरस्वती, १९१६ ई० से १९१५ ई० तक के कई अङ्कों मे यह लेख पूरा हुआ है।

हुआ। उन्होंने यह भी लिखा है कि वैदिक आर्यों की भाषा तथा लिपि मे मूर्धन्य ध्वनि एव वर्ण नही थे। वे अनार्यों से लिये गये।[१] इन स्थापनाओ के सम्बन्ध में ओझा जी ने लिखा है कि "इस लेख मे कल्पित वैदिक चित्रलिपि के अनेक मनमाने चित्रो का अनुमान कर उनमे भिन्न-भिन्न अक्षरो के विकास की जो कल्पना की गयी है, उसमे एक भी अक्षर की उत्पत्ति के लिए कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नही दिया गया। ऐसी दशा मे उनकी कल्पना रोचक होने पर भी स्वीकार करने योग्य नही। इसी प्रकार अपने दूसरे मत के प्रमाण मे वर्मा जी ने लिखा है कि "पारसी आर्यो की वर्णमाला मे मूर्धन्य वर्णो का सर्वथा अभाव है।"[२] ...किन्तु पारसी आर्यों के यहाँ केवल मूर्धन्य वर्ण का ही नही, अपितु छ, भ, ल, वर्ण भी नही है और वैदिक या सस्कृत मे ञ से प्रारम्भ होनेवाला कोई धातु या शब्द भी नही है, तो क्या छ भ ल और ञ वर्ण भी अनार्यो से लिये गये? इसके अतिरिक्त वैदिक या सस्कृत मे ट, ड, ढ और ण से प्रारम्भ होनेवाले अनेक धातु है तथा ऐसे हजारहो शब्द है, जिनमे मूर्धन्य वर्णो का प्रयोग हुआ है, जैसे, ट से टक्, टल्, टिक्, टिप्, टीक और ट्वल, ड से डन्, डप्, डम्, डभ्, डिप्, डिम् और डी तथा ढ से ढौक् आदि। पाणिनि ने भी धातुपाठ मे बहुत से धातु ण से आरम्भ होने वाले माने है।"[२] ग्रीक आर्यो की भाषा मे ट और ड है, त और द नही। सेमिटिक अनार्यों की लिपियो मे मूर्धन्य वर्णो का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसी से ग्रीको ने फिनीशियन अक्षर ताव (त) से टाओ (ट) और दालेथ (द) से डेल्टा (ड) बनाया। ऐसी दशा मे जगन्मोहन वर्मा की स्थापना मान्य नही हो सकती।"[३] इस प्रकार ओझा जी ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय सस्करण के काल (१९१८ ई०) तक उपलब्ध सभी प्रमाणो और मतो का सम्यक् विवेचन किया है।

ओझा जी के समय तक ब्राह्मी के पूर्वरूप के निर्धारण के उपर्युक्त कोई भी सामग्री प्रकाश मे नहीं आयी थी। इस कारण उसके सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना उनके लिए कठिन था। उन्होंने इस सम्बन्ध मे अपनी विवशता व्यक्त करते हुए लिखा है—"हिन्दुस्तान का प्राचीन इतिहास अभी तक घने अधकार मे छिपा हुआ है। प्राचीन इतिहास का शोध अभी हमारे यहाँ आरम्भिक अवस्था मे है। तो भी उसमे जितना कुछ मालूम हुआ है, वह बडे महत्त्व का है, परन्तु अधिक प्राचीन

---

१ उपरिवत्।

२ पा०, अ० ६, १, ६५, (णो न.)। ८, ४, १४, (उपसर्गादसमासेऽपि णोप देशस्य:।)

३. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ३०-३१।

काल के अवशेषो तक वह नही पहुच सका है। जितने प्रमाण मिले है, चाहे प्राचीन शिलालेखो के अक्षरो की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते है कि लेखन-कला अपनी प्रौढावस्था मे थी। उसके आरम्भिक विकास के समय का पता नही चलता। ऐसी दशा मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और जिस परिपक्व रूप मे हम उसे पाते है, उस रूप मे वह किन-किन परिवर्तनो के बाद पहुँची। मिस्र आदि मे जैसे भावो के सकेत रूप चित्र हुए और वे शब्दो के सकेत होकर उनसे अक्षरो के सकेत बने, इस तरह यहा भी किसी चित्रलिपि से ब्राह्मी लिपि बनी, या प्रारम्भ से ही ध्वनि के सूचक चिह्न बना लिये गये, यह कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहाँ तक मिलते हैं, वहाँ तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढावस्था मे पूर्ण व्यवहार मे आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत या प्रभाव से निकलना सिद्ध नही होता।"[१]

ब्राह्मी के पूर्व स्रोत पर प्रकाश डालने वाला जो एकमात्र साधन, ओझा जी के ग्रन्थ 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' (द्वि० स० १९१८ ई०) के पश्चात् उपलब्ध हुआ है, वह है सिन्धुघाटी-सभ्यता-काल की लिपि, जिसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।[२] यद्यपि इस लिपि का वाचन अभी सम्भव नही हो सका है, किन्तु अनेक भारतीय विद्वानो ने ब्राह्मी के कतिपय अक्षरो से साम्य रखने वाले इसके अक्षरो को देखकर यह अनुमान व्यक्त किया है कि ब्राह्मी का उद्भव सिन्धुघाटी-लिपि से ही हुआ होगा।[३] किन्तु इस अनुमान को सर्वमान्य सत्य का रूप देने के लिए भारत को किसी दूसरे प्रिन्सेप[४] के जन्म की प्रतीक्षा है।

सिन्धुघाटी लिपि के काल से ई० पू० पाँचवी शताब्दी के ब्राह्मी काल तक के लगभग तीन हजार वर्षो की अवधि को भारतीय लेखन-कला के इतिहास की दृष्टि से 'अन्धकार युग' कहा जा सकता है। इस अवधि मे सिन्धुघाटी-लिपि मे कैसे-कैसे परिवर्तन हुए और किस प्रकार वह लिपि ब्राह्मी की स्थिति मे पहुँची, यह बताने का हमारे पास आज कोई भी साधन उपलब्ध नही है। इसका अन्तिम उत्तर भविष्य की

---

१ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ३२-३३

२ देखिए पृ० २६

३ प्रिन्सेप नामक विद्वान ने ब्राह्मी लिपि के शिलालेखों का सफल वाचन किया था तथा ब्राह्मी के सभी अक्षरों को पहले-पहल पहचाना था। इस सम्बन्ध मे विशेष वर्णन के लिए देखिए अध्याय-५।

४. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० २९

खोजो और खुदाइयों की उपलब्धि पर निर्भर करता है। किन्तु ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक ब्राह्मी का विकास जिन-जिन रूपो मे हुआ, उन सबका प्रामाणिक इतिहास विद्वानो ने प्रस्तुत किया है। इस कारण इस अढाई हजार वर्षो की अवधि को भारतीय लेखन-कला के इतिहास का 'प्रकाश-युग कहा जा सकता है।

ब्राह्मी की विशेषताए

ब्राह्मी अपने युग की सर्वाधिक वैज्ञानिक एव आदर्श लिपि थी। यही कारण था कि खरोष्ठी आदि अनेक लिपियो के वर्त्तमान रहने पर भी बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रचारको एव विद्वानो ने इसे ही अपने धर्मों के प्रचार एव ग्रन्थो के निर्माण का माध्यम बनाया था तथा लिपियो की सूची मे इसके नाम को प्रथम स्थान दिया था। यह तथ्य निश्चय ही चकित कर देने वाला है कि उपर्युक्त दोनो धार्मिक सम्प्रदायों ने, जहाँ हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो की भाषा सस्कृत से सर्वथा परहेज रखने का प्रयास किया, वही हिन्दुओं की लिपि ब्राह्मी को उन्होंने सहर्ष गले लगाया। यह ब्राह्मी की लोकप्रियता और सफलता का सबसे बडा प्रमाण है।

विद्वानो के अनुसार आदर्श लिपि मे यह गुण होना चाहिए कि उसमे प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के लिए असन्दिग्ध सङ्केत हो, जिससे जो बोला जाय, वह ठीक वैसा ही लिखा जाय और जो लिखा जाय, वह ठीक वैसा ही पढा जाय। उच्चरित ध्वनि एव लिखित वर्ण के इस सम्बन्ध-निर्वाह की दृष्टि से, विद्वानो के मतानुसार ब्राह्मी अत्यन्त पूर्ण एव आदर्श लिपि थी। ओझा जी ने इसकी विशेषताओ की चर्चा करते हुए लिखा है कि "इसमे स्वर एव व्यञ्जन पूरे है और स्वरो मे ह्रस्व-दीर्घ के लिए तथा अनुस्वार एव विसर्ग के लिए उपयुक्त सकेत न्यारे-न्यारे हैं। व्यञ्जन भी उच्चारण के स्थानो के अनुसार वैज्ञानिक क्रम से जमाये गये है। इसमे किसी प्रकार की त्रुटि नही है और आर्य-भाषा की ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए इसमे किसी प्रकार के सशोधन या परिवर्तन की अपेक्षा नही है। व्यञ्जनो-के-साथ स्वरो के सयोग को मात्रा के चिह्नो से प्रकट करने की इसमे ऐसी विशेषता है, जो किसी और लिपि मे नही है। साहित्य और सभ्यता की अति उच्च अवस्था मे ही ऐसी लिपि का विकास हो सकता है।"[1]

---

१. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० २६।

ब्राह्मी लिपि का परिचय देते हुए महामहोपाध्याय प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि "मनुष्य की बुद्धि के सबसे बडे महत्त्व के दो कार्य, भारतीय ब्राह्मी लिपि और वर्त्तमान शैली के अंको की कल्पना है। इस बीसवी शताब्दी मे भी हम ससार की बडी उन्नतिशील जातियो की लिपियो की तरफ देखते है, तो उनमे उन्नति की गंध भी नही पायी जाती। कही तो ध्वनि और उनके सूचक चिह्नो (अक्षरो) मे साम्य नही है, जिससे एक ही चिह्न से एक से अधिक ध्वनियाँ प्रकट होती हैं और कही एक ही ध्वनि के लिए एक से अधिक चिह्नो का व्यवहार होता है और अक्षरो के लिए कोई शास्त्रीय क्रम ही नही। कही लिपि वर्णात्मक नही, किन्तु चित्रात्मक ही है। ये लिपियाँ मनुष्य जाति के ज्ञान की प्रारम्भिक दशा की निर्माण-स्थिति से अबतक कुछ भी आगे नही बढ सकी, परन्तु भारतवर्ष की लिपि हजारो वर्ष पहले भी इतनी उच्चकोटि को पहुँच गयी थी कि उसकी उत्तमता की कुछ भी समानता ससार भर की कोई दूसरी लिपि अबतक नही कर सकती।

इसमे प्रत्येक आर्यध्वनि के लिए अलग-अलग चिह्न होने से जैसा बोला जावे, वैसा ही लिखा जाता है और जैसा लिखा जावे, वैसा ही पढा जाता है तथा वर्णक्रम वैज्ञानिक रीति से स्थिर किया गया है। यह उत्तमता किसी अन्य लिपि मे नही है।"[1]

ब्राह्मी लिपि बायी ओर से दायी ओर लिखी जाती थी। इसके अक्षर प्राय सीधे होते थे। अधिकाश अक्षरो के अन्त मे तथा कुछ के प्रारम्भ और अन्त दोनो स्थानो मे सीधी रेखाएँ जुडी होती थी। किन्तु, केवल प्रारम्भ मे सीधी रेखा से युक्त अक्षरो का उसमे नितान्त अभाव था। इस प्रकार उसमे नियमित रेखाओं से वर्ण-रचना की प्रवृत्ति एव प्रक्रिया के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

ब्राह्मी लिपि सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ के लिए लगभग ३५० ई० पू० से लेकर लगभग ३५० ई० तक केवल भारतवर्ष मे ही नही, अपितु कतिपय अन्य पडोसी देशो मे भी व्यवहृत होती थी। इससे उसके सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

ब्राह्मी की वर्ण-सख्या

वैदिक काल मे ब्राह्मी लिपि मे निम्नलिखित ध्वनियो या अक्षरो के लिए वर्ण थे—

---

१ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ७।

ह्रस्व-	अ	इ	उ	ऋ	ऌ
दीर्घ-	आ	ई	ऊ	ॠ	(ॡ ?)
प्लुत-	आ३	ई३	ऊ३	ॠ३	(ऌ३ ?)
सन्ध्यक्षर- दीर्घ	ए	ऐ	ओ	औ	
सन्ध्यक्षर प्लुत-	ए३	ऐ३	ओ३	औ३	

अयोगवाह—अनुस्वार— ं (ग्वम् या गु)

विसर्ग—

जिह्वामूलीय[1]— ≍ क ≍ ख

उपध्मानीय[2]— ≍ प ≍ फ

व्यञ्जन—

स्पर्श—	क	ख	ग	घ	ङ
	च	छ	ज	झ	ञ
	ट	ठ	ड	ढ	ण
				ळ[3]	ळ्ह[4]
	त	थ	द	ध	न
	प	फ	ब	भ	म
अन्तःस्थ—	य	र	ल	व	
ऊष्मन—	श	ष	स	ह	
यम[5]—	कुं	खुं	गुं	घुं	

इस प्रकार वैदिक ध्वनियों के लिए ब्राह्मी में अधिक से अधिक ६४ वर्ण थे। आगे चलकर प्राकृत ध्वनियों के लिए ब्राह्मी में केवल ४६-४७ वर्ण व्यवहार में रह गये। ओझा जी के अनुसार क्ष और ज्ञ का विकास बाद में हुआ, जिन्हें बौद्धों ने सिद्ध मातृकाओं में परिगणित कर लिया। त्र का विकास आधुनिक है।

---

१. क और ख के पहले विसर्ग का विलक्षण उच्चारण होता था, जिसे जिह्वामूलीय कहते थे।

२. प और फ के पहले विसर्ग का विलक्षण उच्चारण होता था, जिसे उपध्मानीय कहते थे।

३. दो स्वरों के बीच ड का उच्चारण ळ होता था।

४. दो स्वरों के बीच ढ का उच्चारण ळ्ह होता था।

५. वर्गों के पहले चार वर्णों का जब किसी वर्ग के पाँचवें वर्ण से संयोग होता है, तब उन अनुनासिक वर्ण के पहले वैदिक काल में एक विलक्षण ध्वनि होती थी, जिसे यम कहा जाता था।

खरोष्ठी लिपि

भारत की प्राचीन लिपियो मे ब्राह्मी के साथ खरोष्ठी का भी नाम आता है। पाश्चात्य विद्वानो ने इसे बैक्ट्रिअन, पाली, अरिअनोपाली, उत्तरी अशोक, काबुलिअन और गान्धार आदि अनेक भिन्न-भिन्न नामो से भी अभिहित किया है। खरोष्ठी ई० पू० तीसरी शताब्दी मे भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के आसपास पञ्जाब के गान्धार प्रदेश मे प्रचलित थी, जो मौर्यवशी राजा अशोक के शाहबाजगढी और मानसेरा के लेखो से सिद्ध है। अशोक के पूर्व का कोई शिला-लेख इस लिपि मे उपलब्ध नही है, किन्तु, ईरानियो के अनेक चाँदी के मोटे सिक्को पर ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी के एक-एक अक्षर का ठप्पा लगा मिलता है, जिसमे अनुमान किया जाता है कि पञ्जाब की तरफ चलने वाले ये ईरानी सिक्के सम्भवत. सिकन्दर के पूर्व के अर्थात् ई० पू० चौथी शताब्दी के हो।

अशोक के शासन-काल के पश्चात् इस लिपि का प्रचार अधिकाशत विदेशी राजाओ के सिक्को तथा शिलालेखो आदि मे मिलता है। सिक्को मे यूनानी, शक क्षत्रप, पार्थिअन, कतिपय कुशानवशी राजा तथा औदुम्बर आदि एतद्देशीय वशो के राजाओ के सिक्को पर के दूसरी तरफ के प्राकृत-लेख इस लिपि मे मिलते है।

खरोष्ठी के शिलालेख तथा ताम्रलेखादि ब्राह्मी की अपेक्षा बहुत ही थोडे और बहुधा बहुत छोटे-छोटे मिले है, जो शक, क्षत्रप, पार्थिअन तथा कुशानवशी राजाओ के समय के हैं। उनमे से अनेक लेखो मे तो राजाओ के नाम मिलते हैं, किन्तु अनेक मे साधारण पुरुषो के ही नाम है। वे अधिकाशत बौद्ध स्तूपो मे रक्खे हुए पत्थर आदि के पात्रो और सोने, चाँदी या ताँबे के पत्रो पर अथवा चट्टानो, शिलाओ या मूर्तियो के आसन पर खुदे हुए मिले हैं। उनमे से अधिकाश गान्धार प्रदेश मे और वहाँ भी विशेषकर तक्षशिला और चारसड्डा (पुष्कलावती) से मिले हैं। पञ्जाब के बाहर अफगानिस्तान मे वर्डक तथा हिड्डा आदि स्थानो से।

खरोष्ठी फारसी की तरह दाहिनी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी और इसके ग्यारह वर्ण—क, ज, , द, न, ब, य, र, व, ष, स और ह समान उच्चारणवाले अरमइक् अक्षरो से मिलते-जुलते है।

खरोष्ठी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ओझाजी ने अनुमान किया है कि "सम्भव है कि ईरानियो के राजत्वकाल मे उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाको मे उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव इस देश मे हुआ हो, जैसे कि मुसलमानो के राज्य के समय फारसी लिपि का, जो

उनकी राजकीय लिपि थी, इस देश मे प्रवेश हुआ और उसमे कुछ वर्ण बढाने से उर्दू लिपि बनी।"

खरोष्ठी लिपि के जितने लेख मिले है, उनसे पाया जाता है कि उसमे स्वरो तथा उनकी मात्राओ मे ह्रस्व-दीर्घ का भेद न था। सयुक्ताक्षर बहुत कम होते थे, जिनका रूप अस्पष्ट और भ्रमोत्पादक होता था।

खरोष्ठी लिपि का प्रचार लगभग तीसरी शताब्दी तक पञ्जाब के आसपास था, किन्तु बाद मे उसका स्थान, उन स्थानो मे भी, ब्राह्मी ने ही ले लिया। तदनन्तर खरोष्ठी का अस्तित्व इस देश मे समाप्त हो गया।

अध्याय

: ४ :

ब्राह्मी से उद्भूत परवर्ती लिपियाँ

भाषा के समान ही लिपि मे भी निरन्तर कुछ न कुछ परिवर्त्तन, चाहे वह प्रारम्भ मे अत्यन्त सूक्ष्म या नगण्य ही क्यो न प्रतीत हो, होते ही रहते है, जो शताब्दियो के बाद स्पष्ट होते हैं। ब्राह्मी भी एक व्यापक जन-समाज की लिपि थी, इस कारण, वह भी परिवर्तनो से मुक्त नही रह सकी। ई० पू० पाँचवी शताब्दी से लेकर लगभग ३५० ई० तक के ब्राह्मी वर्णों मे कोई विशेष अन्तर नही प्रतीत होता। किन्तु, उसके बाद के लेखो मे ब्राह्मी के वर्णों मे पूर्वापेक्षया स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होने लगता है। ओझाजी ने लिखा है कि "हस्तलिखित लिपियो मे सर्वत्र ही समय के साथ और लेखक की रुचि के अनुसार परिवर्तन हुआ करता है। ब्राह्मी मे भी समय के साथ बहुत परिवर्तन हुआ और उससे कई लिपियाँ निकली, जिनके अक्षर मूल अक्षरो मे बिल्कुल बदल गये। जिनको प्राचीन लिपियो का परिचय नही है, वे सहसा यह स्वीकार न करेगे कि हमारे देश की नागरी, शारदा, गुरुमुखी, बगला, उडिया, तेलगू, कन्नडी, ग्रन्थ, तमिल आदि समस्त वर्त्तमान लिपियाँ एक ही मूललिपि ब्राह्मी से निकली है।"[१]

चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ब्राह्मी दो प्रमुख शैलियो मे विभक्त हो गयी, जिन्हे विद्वानो ने उत्तरी शैली और **दक्षिणी शैली** कहकर पुकारा है। उत्तरी-शैली का प्रचार प्राय विन्ध्य पर्वत के उत्तर मे तथा दक्षिणी शैली का प्रचार मुख्य रूप से उसके दक्षिण मे हुआ। यो कही-कही उत्तर मे दक्षिणी तथा दक्षिण मे उत्तरी-शैली के लेख भी मिलते हैं। उत्तर भारत की सभी परवर्ती लिपियाँ ब्राह्मी की उत्तरी शैली से तथा दक्षिण भारत की सभी परवर्ती लिपियाँ दक्षिणी शैली से विकसित हुई है। कालक्रम मे इन दोनो शैलियो से विकसित होनेवाली भिन्न-

---

१. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ४२।

भिन्न लिपियो मे परस्पर इतना अन्तर हो गया है कि आज बिना सीखे, न तो उत्तर वाले दक्षिण की किसी लिपि को पढ सकते हैं और न दक्षिण वाले उत्तर की किसी लिपि को।

ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित लिपियाँ

गुप्तलिपि —चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ब्राह्मी की उत्तरी शैली मे जिस नवीन लिपि का जन्म हुआ, उसका नाम 'गुप्तलिपि' रक्खा गया है। गुप्तलिपि (अर्थात् गुप्तकालीन ब्राह्मी) का स्वरूप प्राचीन ब्राह्मी से स्पष्टत भिन्न है। उसमे मात्राओ के चिह्न नये रूपो मे परिवर्तित हो चुके है। उसके अनेक वर्णो की आकृति नागरी के वर्णो से मिलती-जुलती दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, अ, क, ग, च, ड ढ, त, द, प, भ, ल, तथा प के रूपो मे दोनो मे पर्याप्त समता है। गुप्तलिपि मे वर्णो की शिरोरेखा का प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलता है।

इस लिपि का प्रचार चौथी से पाँचवी शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारतवर्ष मे था। उस समय, चूँकि भारत मे गुप्तवशी सम्राटो का राज्य था, इस कारणवश उस युग की लिपि का नामकरण भी उन्ही के वश के नाम के आधार पर किया गया है। इस लिपि के नमूने गुप्तवशी राजाओ के शिलालेखो तथा दानपत्रादि मे मिलते है। तत्कालीन धर्मप्रचारको एव व्यापारियो के द्वारा इस लिपि का प्रचार मध्य एशिया तक हुआ, जिससे प्राचीन खोतानी, ईरानी तथा तोखारी आदि लिपियाँ विकसित हुई।[२] छठी शताब्दी मे इसी की पश्चिमी उपशाखा से 'सिद्ध-मात्रिका' लिपि का विकास हुआ, जिसके अक्षर न्यूनकोण के आकार के थे। बूलर ने इसी कारण उसे 'न्यूनकोणीयलिपि' की सज्ञा दी है। बोधगया मे प्राप्त ५८८-८९ ई० का प्रसिद्ध लेख इसी 'सिद्धमातृका' लिपि मे है।

ओझा जी के अनुसार "गुप्तो के समय मे कई अक्षरो की आकृतियाँ नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगी। सिरो के चिह्न, जो पहले बहुत छोटे थे, बढकर कुछ लम्बे बनने लगे और स्वरो की मात्राओ के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नये रूपो मे परिणत हो गये है।"[३] डॉ० उदयनारायण तिवारी ने सम्भवत ओझाजी के इसी कथन के आधार पर भ्रम मे यह समझ लिया है कि नागरी लिपि तथा

---

१. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ६०।
२. डॉ० उ०, ना० ति०, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५६३।
३. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ६०।

शारदा लिपि का जन्म गुप्त लिपि से ही हुआ,[१] जो वास्तव मे सही नही है। गुप्त लिपि से कुटिल लिपि या 'कुटिलाक्षर' का विकास हुआ और तब उसी कुटिल लिपि से नागरी तथा शारदा विकसित हुई ।[२]

कुटिल लिपि .—छठी शताब्दी तक आते-आते गुप्तलिपि भी बहुत अधिक परिवर्तित हो गयी, इस कारण उसके परिवर्तित रूप का ही दूसरा नाम 'कुटिल लिपि' पडा। ओझाजी के अनुसार "कुटिल लिपि मे अक्षरो की खडी रेखाएँ नीचे की तरफ बायी ओर मुडी हुई होती है और स्वरो की मात्राएँ अधिक टेढी-मेढी तथा लम्बी होती हैं, इसी से उसका नाम कुटिल लिपि पडा।"[३] इस लिपि के लिए देवल गाँव से मिली हुई ९९२ ई० की प्रशस्ति[४] मे 'कुटिलाक्षर' शब्द का (कुटिलक्षाराणि विदुषा तक्षादिव्याभिधानेन), 'विक्रमाङ्कदेवचरित' मे 'कुटिल लिपि' शब्द का (नो कायस्थै कुटिललिपिभिर्नोविटैश्चाटुदक्षै)[५] तथा मेवाड के गुहिलवंशी राजा अपराजित की ६६१ ई० की प्रशस्ति मे 'विकटाक्षर' शब्द का (यशोभटेन पूर्णे यमुत्कीर्णा विकटाक्षरा)[६] प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इसका नाम पर्याप्त प्राचीन है। इस लिपि के नमूने यशोधर्मन, हर्ष, अशुवर्मन, शिलादित्य, आदित्य सेन आदि अनेक राजाओ के शिलालेखो तथा दानपत्रादि मे मिलते हे।[७] इस लिपि का प्रचार छठी शताब्दी से लगभग नवी शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत मे था।

इसी कुटिल लिपि से देवनागरी या नागरी तथा शारदा लिपि का विकास हुआ। शारदा से कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी, और लँहदा आदि अनेक वर्त्तमान लिपियो का तथा प्राचीन नागरी से बङ्गला, गुजराती, कैथी, महाजनी, उडिया, नेपाली तथा वर्त्तमान नागरी (देवनागरी) आदि उत्तर भारत की सभी आधुनिक लिपियो का जन्म हुआ।[८]

नागरी लिपि :—नागरी लिपि का उद्‌भव आठवी-नवी शताब्दी के आसपास कुटिल लिपि से हुआ। उत्तर मे इसका प्रचार नवी शताब्दी के अन्त से मिलता है,

---

१. डॉ० उ०, ना० ति०, हि० भा० का उ०, और वि०, पृ० ५६४।
२ डॉ० धी० व०, हि० भा० का इ०, पृ० ८६।
३. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ६२।
४ ए० इ०, जिल्द १ पृ० ८१।
५. ए० इ०, जिल्द ४, पृ० ३२।
६. उपरिवत्।
७ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ६२-६३।
८ डॉ० धी० व० हि० भा० का० इ०, पृ० ८६।

किन्तु दक्षिण मे इसका प्रचार आठवी शताब्दी के आसपास से ही होना पाया जाता है। दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौड़) वशी राजा दन्तिदुर्ग के सामनगढ से मिले हुए ७५४ ई० के दानपत्र की लिपि नागरी ही है। दक्षिण मे इसको नन्दि नागरी कहते है।

प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से वङ्गला लिपि निकली। नागरी से विकसित अन्य लिपियो मे कैथी, महाजनी, राजस्थानी तथा गुजराती विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान काल मे भारतवर्ष की आर्य लिपियो मे नागरी का प्रचार सबसे अधिक है। इसी प्रकार दसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतवर्ष के अधिकाश प्रदेशो मे इसका प्रचार रहा है। वङ्गाल मे भी दसवी शताब्दी तक तो यही लिपि रही, बाद मे इसी के परिवर्तित रूप से वहाँ वङ्गला लिपि का विकास हुआ। पञ्जाब और कश्मीर मे इसकी बहन शारदा का प्रचार दसवी शताब्दी के आसपास से हुआ। नागरी से विकसित अन्य लिपियो मे कैथी, तिरहुता, गुजराती, महाजनी, मालवी तथा मोडी विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण के भिन्न-भिन्न विभागो मे, जहाँ तेलुगू, कन्नडी, ग्रन्थ तथा तमिल का प्रचार था, वहाँ भी इन सबके साथ इसका आदर बना रहा। विजयनगर के राजाओ के दानपत्रो की नागरी लिपि 'नन्दि नागरी' कहलाती है और अबतक दक्षिण मे सस्कृत-पुस्तको के लिखने मे इसका प्रचार है।[१]

नागरी लिपि का विस्तृत विवेचन आगे स्वतन्त्र अध्याय मे किया जायगा।

शारदा लिपि:—इसका उद्भव और प्रचार भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी हिस्सो अर्थात् कश्मीर और पञ्जाब मे आठवी शताब्दी के आसपास हुआ था। आठवी शताब्दी के राजा मेरु वर्मा के लेखो से पता चलता है कि उस समय तक पञ्जाब मे कुटिल लिपि का ही प्रचार था। आगे चलकर उसी से शारदा लिपि का उद्भव हुआ। शारदा लिपि के अब तक जितने लेख मिले है, उनमे सर्वाधिक प्राचीन लेख सराहाँ (चम्बा राज्य) की प्रशस्ति है, जो दसवी शताब्दी के आसपास की है। आगे चलकर शारदा लिपि से ही कश्टवारी सिरमौरी, कोछी, वर्तमान कश्मीरी, टक्करी या टाकरी, चम्बा, मण्डेआली, जौनसारी, कुल्लुई, लण्डा तथा डोगरी, आदि लिपियो का विकास हुआ।

---

१. ओझा, प्रा० भा० लि० पृ० ६६।

"पहले शारदा लिपि के लेख बहुत कम प्रसिद्धि मे आये थे। १९०४ ई० तक तो एक भी लेख की प्रतिकृति प्रसिद्ध नही हुई थी, परन्तु सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० फोजल ने १९११ ई० मे बडे श्रम के साथ चम्बा राज्य के शिलालेख और दानपत्रो का बडा सङ्ग्रह करके 'एण्टिक्विटीज ऑफ चम्बा स्टेट' नामक अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमे प्राचीन लिपियो के अभ्यासियो के लिए शारदा लिपि की अमूल्य सामग्री है।"[1]

बङ्गला लिपि—बङ्गला लिपि का विकास नागरी की पूर्वी शाखा से दसवी शताब्दी के आसपास हुआ। बदाल के स्तम्भ पर खुदे हुए नारायण पाल के समय के लेख मे, जो दसवी शताब्दी का है, बङ्गला की ओर स्पष्ट झुकाव दीखता है। उसी से नेपाल की ११ वी शताब्दी के बाद की लिपि असमिया, मनीपुरी, वर्तमान बङ्गला, मैथिली तथा उडिया आदि लिपियो का विकास हुआ।

नारायण पाल के लेखो मे पुरानी नागरी के केवल 'ए', 'ख' आदि कुछ अक्षरो मे बङ्गला की ओर झुकाव नजर आता है। ग्यारहवी शताब्दी के पालवशी राजा विजयपाल के देवपारा के लेख मे ए, ख, ञ, त, म, र, ल और स मे नागरी से थोडी सी भिन्नता है और कामरूप के वैद्यदेव के दानपत्र, आसाम से मिले हुए वल्लभेन्द्र के दानपत्र और हस्ताकोल के लेख की लिपियो मे से प्रत्येक को नागरी से मिलाया जाय तो अ, इ, ई, ऋ, ए, ऐ, ख, घ, ञ, ञ, ट, थ, प, फ, र, श और ष मे अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार नागरी की लेखन-शैली मे क्रमशः परिवर्तन होते-होते वर्तमान बङ्गला लिपि बनी।[2]

ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से उद्भूत लिपियाँ

दक्षिण भारत की लिपियाँ प्राचीन ब्राह्मी की उस दक्षिणी शैली से विकसित हुई है, जो क्षत्रप और आन्ध्रवशी राजाओ के समय के लेखो मे तथा उनके कुछ पीछे के दक्षिण की नासिक, कार्ली आदि गुफाओ के लेखो मे पाया जाता है।

दक्षिणी शैली की लिपियो मे (१) पश्चिमी, (२) मध्यप्रदेशी, (३) तेलुगू-कन्नडी, (४) ग्रन्थ लिपि, (५) कलिङ्ग लिपि तथा (६) तमिल लिपि प्रधान हैं।

दक्षिणी शैली की लिपियो मे घ, प, फ, ष और स उनके पुराने रूपो के अनुसार ऊपर से खुले हुए होते हैं। ल की खड़ी लकीर प्रायः ऊपर की ओर

---

१. ओझा, प्रा० भा० लि०, पृ० ७४।
२ ओझा, प्रा० भा० लि०, पृ० ७७।

से बायी ओर मुडकर नीचे झुकी हुई रहती है और अ, आ, ई, क, ञ और र अक्षरो की खडी लकीरो तथा उ, ऊ और ऋ की मात्राओ के नीचे के अग्र बायी तरफ मुडकर घुमाव के साथ ऊपर बढे हुए रहते है। यही ऊपर की ओर बढा हुआ अग्र समय के साथ और ऊपर बढ कर सिर तक पहुँचने लगा, जिससे तेलुगू-कन्नडी तथा ग्रन्थ आदि लिपियो मे अ, आ, ई, क, ञ और र की आकृतियाँ मूल अक्षरो से बिलकुल विलक्षण हो गयी। इसके अतिरिक्त दक्षिण के लेखक अपने अक्षरो मे सुन्दरता लाने के विचार से खडी और आडी लकीरो को वक्र या खमदार बनाने लगे तथा उनके प्रारम्भ, मध्य और अन्त मे कही-कही ग्रन्थियाँ भी बनायी जाने लगी। इन्ही कारणो से दक्षिण की लिपियो के वर्त्तमान अक्षर उनके मूल ब्राह्मी अक्षरो से बहुत ही विलक्षण बन गये।

दक्षिणी शैली से विकसित प्रमुख लिपियो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) पश्चिमी लिपि

पश्चिमी लिपि पाँचवी से नवी शताब्दी तक गुजरात, काठियावाड, पश्चिमी महाराष्ट्र, कोकण और हैदराबाद के कुछ भागो मे प्रचलित थी। उस पर उत्तरी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव था। उसके लेख भडौंच के गुर्जरवशियो तथा गुजरात के चालुक्यो और कलचुरियो के शिलालेखो एव दानपत्रो मे उपलब्ध है।

(२) मध्यप्रदेशी लिपि

मध्यप्रदेशी लिपि का प्रचार बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तरी भाग तथा मैसूर के कुछ भागो मे पाँचवी शताब्दी से नवी शताब्दी तक रहा। उसके अक्षरो की आकृति प्राय समकोण की तरह हुआ करती थी और उनके सिर के ऊपर चौकोर जैसे आकार होते थे। उक्त लिपि के लेखो के नमूने वाकाटकवशी राजाओ तथा महाकोशल के सोमवशी राजाओ के शिलालेखो एव दानपत्रो मे मिलते है।

३ तेलुगू कन्नड़ी लिपि

तेलुगू-कन्नडी लिपि का प्रचार बम्बई, हैदराबाद के दक्षिणी भाग, मैसूर और मद्रास के पूर्वोत्तरी भाग मे पाँचवी से दसवीं शताब्दी तक था। आगे चलकर उसी

लिपि से लगभग चौदहवी शताब्दी के आसपास आधुनिक तेलुगू और कन्नडी लिपियो का विकास हुआ। उक्त लिपि के प्राचीन नमूने चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटो के शिलालेखो एव दानपत्रो मे उपलब्ध है।

(४) ग्रन्थ लिपि

ग्रन्थ लिपि का विकास सातवी शताब्दी के आसपास ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से मद्रास तथा ट्रावनकोर मे हुआ। उक्त राज्यो मे यह लिपि मुख्यत सस्कृत-ग्रन्थो के लेखन-कार्य मे प्रयुक्त होती रही है। सम्भव है कि सस्कृत-ग्रन्थो मे प्रयुक्त होने के कारण ही इसका नाम ग्रन्थ लिपि पडा हो। इसके प्राचीन नमूने पल्लव, पाण्ड्य तथा चोल राजाओ के लेखो तथा दानपत्रो मे उपलब्ध है। लगभग तेरहवी शताब्दी के आस पास प्राचीन ग्रन्थ लिपि से आधुनिक ग्रन्थ लिपि का विकास हुआ। फिर पन्द्रहवी शताब्दी तक आते-आते इसका विकास दो स्रोतो मे विभक्त हो गया, जिनमे से एक को ब्राह्मनिक तथा दूसरे को जैन लिपि की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। ग्रन्थ लिपि से विकसित अन्य लिपियो मे तुलु तथा मलयालम लिपि विशेष उल्लेखनीय हैं।

(५) कलिङ्ग लिपि

कलिङ्ग लिपि मद्रास के चिकाकोल और गञ्जाम के मध्य भाग मे लगभग सातवी से ग्यारहवी शताब्दी तक प्रचलित थी। उस लिपि पर मध्य प्रदेशी लिपि तथा तेलुगू-कन्नडी लिपि का पर्याप्त प्रभाव था। उसके अक्षरो के शीर्ष भाग मे भरे हुए चौकोर चित्र होते थे तथा अक्षरो का आकार समकोणात्मक होता था। कलिङ्ग-लिपि के नमूने पूर्वी गङ्गवशी राजाओ के लेखो मे उपलब्ध है। उक्त लिपि का प्रचार सम्भवत ग्यारहवी शताब्दी के बाद समाप्त हो गया। उससे किसी ऐसी नयी लिपि का भी विकास नही हुआ, जिसमे उसकी कुछ विशेषताएँ निहित होती।

(६) तमिल लिपि

तमिल लिपि का उद्भव लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी मे ब्राह्मी की द
शैली से हुआ। उसका प्रचार-क्षेत्र मुख्यत: मद्रास प्रदेश रहा है, जहाँ वह ग्र
के साथ-साथ प्रचलित रही है। तमिल लिपि मे द्वितीय, तृतीय और चत
का अभाव होने के कारण सस्कृत का लेखन उसमे सम्भव नही था।

भाषा के ग्रन्थों, लेखों आदि के लिए तो तमिल लिपि का प्रयोग होता था, किन्तु केवल संस्कृत-ग्रन्थों के लेखन में ग्रन्थ लिपि का ही प्रयोग होता था। इस प्रकार, साथ-साथ प्रचलन होने के कारण तमिल लिपि पर ग्रन्थ लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा।

लगभग चौदहवीं शताब्दी के आसपास प्राचीन तमिल लिपि से आधुनिक तमिल लिपि का विकास हुआ। आधुनिक तमिल लिपि का व्यवहार मद्रास प्रदेश में तमिल भाषा के लेखन-कार्य में होता है। उसमें अन्य स्वर वर्णों के अतिरिक्त ह्रस्व ए तथा ओ के लिए भी स्वतन्त्र वर्ण है। व्यञ्जन वर्ण केवल अट्ठारह हैं।

प्राचीन तमिल लिपि से सातवीं शताब्दी के आसपास एक अन्य लिपि भी विकसित हुई, जिसे वट्टेलुत्तु लिपि कहते हैं। बर्नेल के अनुसार वट्टेलुत्तु लिपि तमिल लिपि का पूर्वरूप थी, किन्तु, पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के अनुसार वट्टेलुत्तु तमिल से कोई भिन्न लिपि नहीं, अपितु उसी का घसीट रूप है। कुछ विद्वान वट्टेलुत्तु को तमिल से भिन्न लिपि मानते हैं।

अध्याय के अन्त में ब्राह्मी से उद्भूत भारतीय लिपियों की सारणी दी गयी है।

ब्राह्मी से उद्भूत विदेशी लिपियाँ

ब्राह्मी से उद्भूत उन मुख्य लिपियों का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है, जिनका प्रचार-क्षेत्र भारतवर्ष रहा है। उनके अतिरिक्त ब्राह्मी से विकसित अनेक लिपियाँ बौद्ध धर्म तथा उसके प्रचारकों के साथ-साथ भारतवर्ष की सीमा के बाहर के देशों में भी गयीं, जहाँ आजतक उनका तथा उनसे विकसित अन्यान्य आधुनिक लिपियों का प्रचार है। ब्राह्मी से उद्भूत उन विदेशी लिपियों में १. सिंहली लिपि, २. माल्दिवी लिपि, ३. सीरो-मालाबारी लिपि, ४. हिन्देसियाई लिपियाँ, ५. चम्पा लिपि, ६. ख्मेर लिपि, ७. बर्मी लिपि, ८. शान लिपि, ९. स्यामी लिपि तथा १०. फिलीपाइनी लिपि विशेष उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मी से उद्भूत उपर्युक्त विदेशी लिपियों तथा उनसे विकसित प्रमुख वर्त्तमान लिपियों का अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) सिंहली लिपि

विद्वानों के अनुसार लङ्का में ब्राह्मी लिपि का प्रवेश ई० पू० चौथी शताब्दी के पहले ही हो चुका था। आगे चलकर ई० पू० तीसरी शताब्दी में उसी से सिंहली लिपि विकसित हुई। डिरिङ्गर के अनुसार वहाँ सिंहली के विकास की चार अवस्थाएँ

रही है। ई० पू० तीसरी शताब्दी से ई० सन् चौथी शताब्दी तक की सिंहली को उन्होने पालि-प्राकृत-सिंहली कहा है। फिर उसी से पूर्वी सिंहली का विकास हुआ, जिसका प्रचारकाल पाँचवी से आठवी शताब्दी तक माना गया है। पूर्वी सिंहली से आगे चलकर मध्य सिंहली का विकास हुआ, जो नवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक प्रचलित रही और फिर तेरहवी शताब्दी के आसपास उसी से आधुनिक सिंहली का विकास हुआ, जो आज तक प्रचलित है।

आधुनिक सिंहली पर ग्रन्थ लिपि का प्रचुर प्रभाव है। उसमे कुल मिलाकर ५४ वर्ण है। आधुनिक सिंहली लिपि दो प्रकार की है, जिनमे एक इलु लिपि तथा दूसरी मिश्र लिपि कहलाती है। इलु लिपि प्राय कविता लिखने मे ही प्रयुक्त होती हैं। उसमे प्राचीन ध्वनियो के लिए तो वर्ण है, किन्तु कतिपय आधुनिक ध्वनियो के लिए स्वतन्त्र वर्णो का अभाव है। दूसरी ओर मिश्र लिपि मे आधुनिक ध्वनियो के लिए भी स्वतन्त्र वर्ण हैं, इसलिए उसका उपयोग सिंहली भाषा के गद्य तथा पद्य दोनो के लिए होता है। उसमे प्राचीन तथा नवीन दोनो प्रकार के वर्ण है, इसीलिए उसे मिश्र लिपि कहा जाता हैं।

(२) माल्दिवी लिपि

इस लिपि का प्रचार भारत महासागर के माल्दिव द्वीप मे है। इसके प्राचीनतम नमूने ग्यारहवी शताब्दी तक के प्राप्त हुए है। इसके प्राचीनतम रूप का नाम 'एवेला अकुरु' था, जो तेरहवी-चौदहवी शताब्दी तक प्रचलित था। फिर उसी से 'दिवेश अकुरु' नामक लिपि विकसित हुई, जिसका प्रचार लगभग अट्ठारहवी शताब्दी तक रहा। उसके दो रूप थे, जिनमे से एक के अक्षर अलग-अलग लिखे जाते थे और दूसरे के मिलाकर। अट्ठारहवी शताब्दी के आसपास 'दिवेश अकुरु' से 'गाबुली ताना' लिपि का विकास हुआ, जो वर्त्तमान समय मे उक्त सम्पूर्ण द्वीप की लिपि हैं। उस पर अरबी तथा सिंहली लिपि का भी प्रभाव है। उसके कई स्थानीय भेद भी है।

(३) सीरो-मालाबारी लिपि

सीरो-मालाबारी लिपि का प्रचार सीरिया तथा मालाबार मे है। उसके प्राचीनतम नमूने दसवी शताब्दी तक के उपलब्ध है, जिनको देखने से यह अनुमान होता है कि उसका विकास गुप्तकालीन ब्राह्मी से हुआ होगा, क्योकि दोनो के कतिपय वर्णो के आकार मे स्पष्ट साम्य दीखता है। किन्तु, बर्नर के अनुसार सीरो-

मालाबारी लिपि का विकास वट्टेलुत्तु से हुआ। सीरो-मालाबारी लिपि का वर्त्तमान रूप उसके प्राचीन रूप से पर्याप्त भिन्न हो चुका है, जो वहाँ के निवासियों के द्वारा उक्त लिपि के आधुनिकीकरण का परिणाम है।

(८) हिन्देसियाई लिपियाँ

वर्तमान समय मे हिन्देसिया मे यो तो मुख्यत अरबी तथा रोमन लिपि का प्रचार है, किन्तु वहाँ के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अभी भी कुछ ऐसी लिपियाँ प्रचलित है, जो निश्चित रूप से ब्राह्मी के वश की कही जा सकती है। उन लिपियो मे (क) माङ्‌ग्यान लिपि, (ख) कावि लिपि, (ग) बटक लिपि, (घ) लाम्पाङ्ग—रेज्जाङ्ग लिपि, (ङ) मेलेब्रिज लिपि तथा (च) बुगी लिपि विशेष उल्लेखनीय है।

(क) माङ्‌ग्यान लिपि का प्रचार कुछ शताब्दी पूर्व बोर्नियो मे था। वहाँ से उपलब्ध प्राचीन शिलालेखो की भाषा संस्कृत तथा लिपि माङ्‌ग्यान है, जिसे देखने से ऐसा प्रतिभासित होता है कि उसका विकास निश्चित रूप से ब्राह्मी की किसी भारतीय शाखा से हुआ होगा। वर्त्तमान समय मे बोर्नियो मे 'दयाक्स लिपि' का प्रचलन है।

(ख) कावि लिपि का प्रयोग जावा मे, वहाँ की भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के लिए होता है। उसके प्राचीनतम लेख आठवी शताब्दी तक के उपलब्ध हुए है। अधिकाश विद्वानो के अनुसार कावि लिपि का विकास प्राचीन ग्रन्थ लिपि से हुआ। किन्तु डॉ० ब्राण्ड्स का मत है कि उक्त लिपि का विकास लगभग आठवी शताब्दी मे गुजरातियो के जावा जाने के परिणामस्वरूप उन्ही की लिपि से हुआ। कावि के प्राचीन रूप के उदाहरण पन्द्रहवी शताब्दी तक के मिलते है। तदनन्तर सोलहवी शताब्दी मे प्राचीन कावि से मध्य कावि या जावेनीज लिपि का विकास हुआ और फिर अट्ठारहवी शताब्दी के आसपास मध्य कावि से आधुनिक कावि या जावेनीज लिपि विकसित हुई। वर्त्तमान समय में आधुनिक कावि से कई क्षेत्रीय लिपियाँ भी विकसित हुई है, जिनमें कामाङ्गल, वासाकेदातन तथा ङ्‌गोको उल्लेखनीय है।

(ग) बटक लिपि का प्रचार सुमात्रा में, वहाँ के मूलनिवासियो के बीच है, जो बटक जाति के है। विद्वानो के अनुसार बटक लिपि कावि लिपि से ही विकसित है, किन्तु अब दोनो मे पर्याप्त भिन्नता आ गयी है। उक्त लिपि पृष्ठ के नीचे से प्रारम्भ करके ऊपरी सिरे तक बायी ओर से दायी ओर लिखी जाती है।

(घ) लाम्पाङ्ग-रेज्जाङ्ग लिपि सुमात्रा के दक्षिणी-पश्चिमी भाग मे वहाँ के

हिन्दुओ के बीच प्रचलित है। विद्वानो के अनुसार उक्त लिपि भी प्राचीन कावि से ही विकसित है।

(ङ) सेलिब्निज लिपि का प्रचार सेलिब्निज द्वीप मे है। वह बुगी भाषा की एक क्षेत्रीय बोली के लिखने के लिए प्रयुक्त होती है। विद्वानो के अनुसार उसका विकास कावि लिपि से बटक लिपि के माध्यम से हुआ है।

(च) बुगी लिपि का व्यवहार सेलिब्निज मे बुगी भाषा के लेखन के लिए होता है। यह लिपि भी कावि लिपि से ही विकसित है तथा आधुनिक हिन्देसियाई लिपियो मे अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है।

(५) चम्पा लिपि

इसका प्रकार चम्पाद्वीप तथा कम्बोडिया मे है। यह लिपि आठवी शताब्दी मे ही पूर्णत विकसित हो चुकी थी, यो इसके प्राचीनतम लेख तीसरी शताब्दी तक के उपलब्ध है। इस लिपि पर दक्षिण भारत की लिपियो, मुख्यत मध्यप्रदेशी लिपि का पर्याप्त प्रभाव है। पहले यह लिपि बायी से दायी ओर लिखी जाती थी, किन्तु वर्तमान समय मे मुसलिम प्रभाव के कारण कुछ लोगो के द्वारा यह दायी से बायी ओर भी लिखी जाती है। आजकल यह लिपि अखरस्राह के नाम से अभिहित की जाती है। इसके दो मुख्य रूप प्रचलित है, जिनमे से एक का प्रचलन अन्नाम मे और दूसरे का कम्बोडिया मे है। चम्पा लिपि के अन्य भेदो मे 'अखररिक', 'अखर अतुओ' तथा 'अखर योक' विशेष उल्लेखनीय है।

(६) ख्मेर लिपि

इस लिपि का प्रचार-क्षेत्र भी कम्बोडिया ही है। इसका ग्रन्थ लिपि से बहुत अधिक साम्य है। इसके प्राचीनतम नमूने सातवी शताब्दी तक के उपलब्ध है। यह अपने आधुनिक रूप मे 'अखर स्रीङ्ग' के नाम से ख्यात है। ख्मेर लिपि के एक दूसरे रूप का नाम 'अखर मूल' है।

(७) बर्मी लिपियाँ

बर्मा मे अनेक जातियो एव भाषाओ के लोगो का निवास होने के कारण, यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ भी प्रचलित हैं। उनमे (क) बर्मी लिपि, (ख) मानलिपि, (ग) प्यू लिपि तथा (घ) करेन लिपि विशेष प्रसिद्ध है।

(क) वर्मी लिपि का प्रचार-क्षेत्र वर्मा है, जो इसके नाम से ही स्पष्ट है। वहाँ के अधिकांश निवासी प्राय इसी लिपि का व्यवहार करते हैं। इस लिपि के वर्ण पालि के हैं। वर्त्तमान समय मे इस लिपि के दो रूप प्रचलन मे हैं, जिनमे से एक का उपयोग केवल प्रस्तर-खण्डो पर लिखने के लिए होता है, जिसका नाम 'किउमा लिपि' है और दूसरे का प्रयोग बौद्ध धर्म के ग्रन्थो के लेखन मे होता है, जिसका नाम 'पालि लिपि' है। 'किउसा लिपि' से ही विकसित एक अन्य लिपि का नाम 'चाल्टो लिपि' है, जिसका व्यवहार मुद्रण के लिए भी होता है।

(ख) मानलिपि भी वर्मा की ही लिपि है। इस पर ग्रन्थ लिपि का प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसके प्राचीनतम नमूने बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के उपलब्ध हैं। वर्मा मे इस लिपि का प्रयोग प्राय उन्ही लोगो के द्वारा किया जाता है, जो चम्पा या कम्बोडिया से वहाँ जाकर बसे हैं।

(ग) प्यू लिपि वर्मा की प्यू जाति की लिपि है। इसका प्रयोग प्रायः तिब्बती-बर्मी शाखा की एक भाषा को लिखने के लिए होता रहा है। वर्त्तमान समय मे इसका प्रचलन प्राय. नही के बराबर रह गया है।

(घ) करेन लिपि वर्मा की करेन जाति के लोगो की लिपि रही है। इसका आविष्कार १८३२ ई० के आसपास मिशनरियो के द्वारा हुआ। करेन जाति की एक और लिपि थी, जो चम्पा लिपि पर आधारित थी। किन्तु, अब वह प्राय लुप्त हो गयी है।

वर्मा की अन्य लिपियो मे 'ताङ्थू' तथा 'येन्नो' उल्लेखनीय हैं।

(८) शान लिपियाँ

स्याम की 'थाई' भाषा तथा उसकी बोलियो के लिए 'लाओ' लिपि, 'लू' लिपि', 'कुन लिपि', 'अहामी' लिपि, 'खाम्ती' लिपि तथा 'एतोनिया' लिपि का व्यवहार होता है।

उपर्युक्त लिपियो मे 'लाओ' लिपि 'शान' शाखा की प्राचीनतम लिपि है, जिसका विकास ग्यारहवी शताब्दी मे 'मान' लिपि से हुआ था। आधुनिक 'लाओ' पर 'वर्मी' लिपि का कुछ प्रभाव है। दक्षिणी चीन की 'मीक्याङ्ग' नदी की पहाडी घाटियो मे रहनेवाले 'मोमो' जाति के लोग भी प्राय 'लाओ' लिपि को ही प्रयोग मे लाते हैं।

ब्रिटिश शान स्टेट मे थाई लोगो के अतिरिक्त जो लोग रहते है, वे 'लू' तथा 'कुन' बोलियाँ बोलते है और उन बोलियो के लिए 'लू' एव 'कू' नामक लिपियो का व्यवहार करते हैं। ये लिपियाँ 'लाओ' से साम्य रखती हैं।

अहामी लिपि का प्रयोग शान की एक बोली के लिए होता था, जो अब लुप्त हो चुकी है। परन्तु, बर्मा के पश्चिमी तट पर आज भी कुछ लोग इस लिपि का व्यवहार करते है। इसी प्रकार खाम्ती लिपि का प्रयोग बर्मा के ऊपरी भागो मे होता है। आसाम के शिवसागर जिले का जो भाग बर्मा मे है, वहाँ 'एतोनिया' लिपि का प्रयोग होता है। ये सभी लिपियाँ ब्राह्मी की वश-परम्परा की ही है।

(९) स्यामी लिपि

स्यामी लिपि का विकास तेरहवी शताब्दी के अन्त मे 'ख्मेर' लिपि के आधार पर 'सिंहली पालि' मे हुआ। इस पर ग्रन्थ लिपि का भी प्रभाव है। इस लिपि मे स्वर-वर्णो की सख्या तीस है। यह स्याम की सर्वाधिक लोकप्रिय लिपि है। इसका प्रयोग मुद्रण, टङ्कन तथा लेखन सब मे होता है।

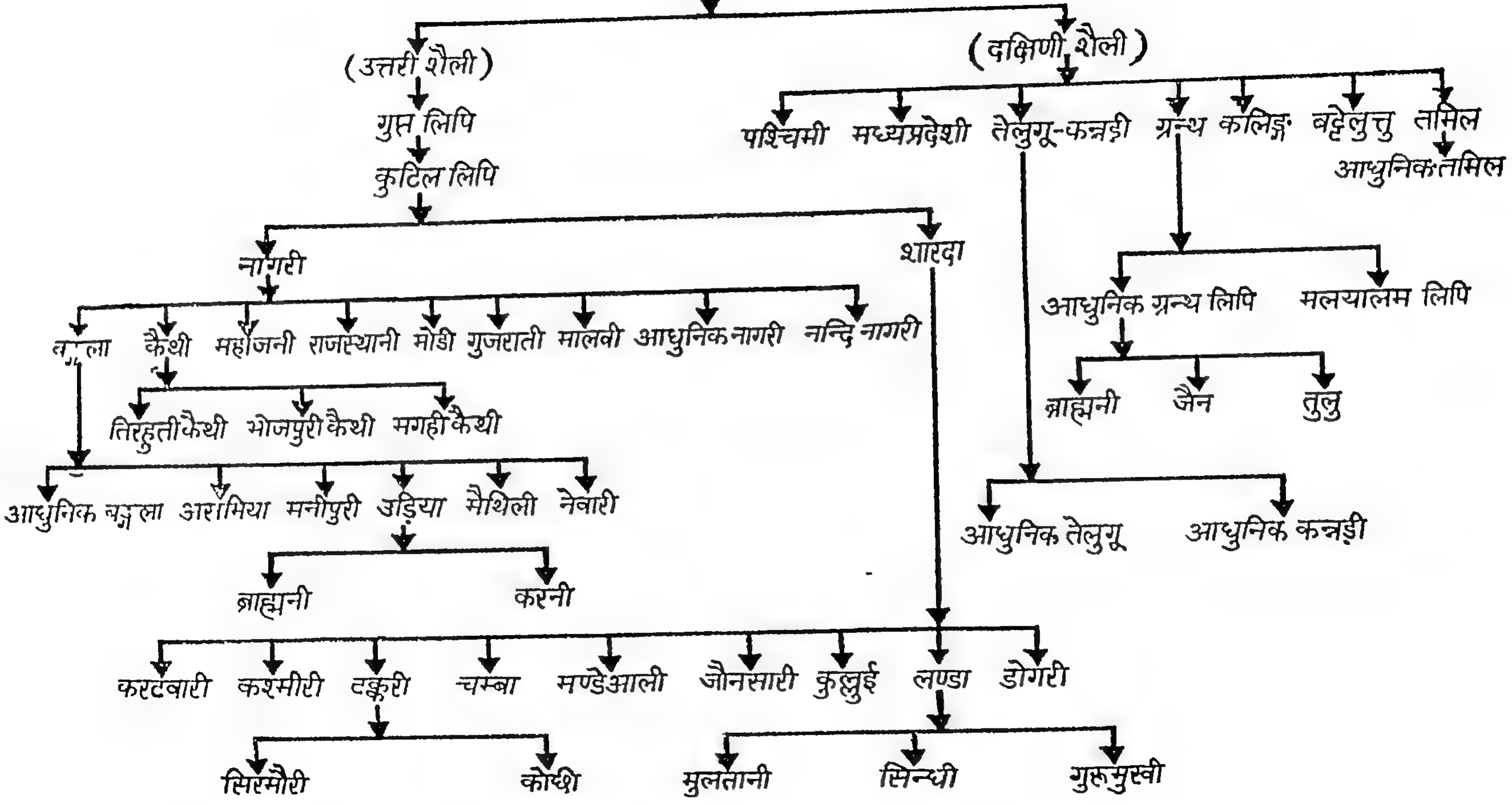
(१०) फिलीपाइनी लिपि

फिलीपाइन की लिपियो मे 'तोगालाग' तथा 'तागबानुआ' विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु अब धीरे-धीरे इन लिपियो के स्थान पर रोमन लिपि का प्रचार बढता जा रहा है।

ब्राह्मी-वश-परम्परा की विदेशी लिपियो मे उपर्युक्त लिपियो के अतिरिक्त और भी अनेक लिपियाँ आती है। किन्तु, उनके सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है, उदाहरणार्थ—'कोरियाई' और 'बोलीई' आदि ऐसी ही लिपियाँ है। सम्भव है, आधुनिक अनुसन्धानो के फलस्वरूप और भी ऐसी विदेशी लिपियाँ निकल आयें, जिनका ब्राह्मी के साथ सम्बन्ध जोडा जा सके। आगे ब्राह्मी से उद्‌भूत भारतीय तथा विदेशी लिपियो की सारिणी दी जा रही है।

*

ब्राह्मी से उद्भूत प्रमुख भारतीय लिपियाँ



ब्राह्मी-वंश की विदेशी लिपियाँ

- सिंहली
  - पालि-प्राकृत सिंहली
    - पूर्वी सिंहली
      - मध्य सिंहली
        - आधुनिक सिंहली
          - इलु
          - मिश्र
- माल्दिवी
  - एवेला अकुरू
    - दिवेश अकुरू
      - गाबुली ताना
- सीरोमालावारी
- हिन्देसियाई
  - माङ्ग्यान
    - दयाक्स
  - कावि
    - बुगी
    - मध्य कावि
      - आधुनिक कावि
        - क्रामाइङ्गल
        - वासाकेवातन
        - इङ्गोको
  - बटक
  - लाम्पाङ्ग-रेज़ाङ्ग
- चम्पा
  - अरवर रिक
  - अरवर अतुओ
  - अरवर योक
- ख्मेर
  - अरवर स्त्रीङ्ग
  - अरवर मूल
- बर्मी
  - मानलिपि
  - प्यूलिपि
  - करेन लिपि
  - बर्मी लिपि
    - किउसा
      - चाल्को
    - पालि
- शान
  - लाओ
  - लू और कुन
  - आहोमी
  - खामती
  - फ्लोनिया
- स्यामी
- फिलीपाइनी
  - तोगालाग
  - ताग्बानुआ
- कोरियाई, बोलीई आदि

अध्याय

: ५ :

भारत की प्राचीन लिपियों का वाचन

गुप्त एवं कुटिल लिपि के लेखों का वाचन

आधुनिक युग के यूरोपीय विद्वानों के द्वारा प्राचीन भारतीय लिपियों के अभिलेखों के वाचन का इतिहास जितना रोचक है, उतना ही शिक्षाप्रद भी है। यह आश्चर्य से अधिक लज्जा की बात है कि भारतीय पण्डितों को अपने पूर्वजों की लिपि तक विस्मृत हो गयी थी। इस बात के कई प्रमाण हैं कि १४वीं शताब्दी के पहले ही भारतीय लोग ब्राह्मी, गुप्त तथा कुटिल लिपियों को भूल चुके थे।

१३५६ ई० में दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह तुगलक ने बड़े उत्साह के साथ टोपरा (पञ्जाब) तथा मेरठ से अशोक के लेखों वाले दो विशाल स्तम्भ उठवा कर असाधारण श्रम से दिल्ली मँगवाया। उनमें से एक को उसने फिरोजशाह के कटरे में तथा दूसरे को कुश्क शिकार (शिकारमहल) के पास खड़ा करवाया, जो आज भी रिज नामक पहाड़ी पर गदर की यादगार के पास वर्त्तमान है। उसने उन स्तम्भों के लेखों का आशय जानने के लिए देश के बहुत सारे विद्वानों को एकत्र किया, किन्तु किसी को उन लेखों के पढ़ने में सफलता नहीं मिली।[१] कहा जाता है कि बादशाह अकबर ने भी उक्त लेखों का आशय जानने की उत्कट इच्छा प्रकट की थी। परन्तु उस समय एक भी विद्वान ऐसा न निकला, जो उन लेखों को पढ़कर बादशाह की इच्छा की पूर्ति करता।

आधुनिक युग में, १५ जनवरी, १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से एशिया के प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी शोध के निमित्त जब 'एसिएटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई, तो भारतीय शिलालेखों की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया।

---

१ क०, आ० स० रि०, जिल्द १, पृ० १६३।

१७८५ ई० मे चार्ल्स विल्किन्स ने दिनाजपुर जिले के बदाल नामक स्थान के पास मिले हुए एक स्तम्भ का लेख पढा[१]। यह लेख बङ्गाल के राजा नारायण पाल के समय का था। उसी वर्ष प० राधाकान्त शर्मा ने टोपरावाले अशोककालीन स्तम्भ के ऊपर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अन्नल्लदेव के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चौथे) के तीन लेख पढे,[२] जिनमे से एक सवत् १२२०, वैशाख शुदि १५ का है। उसी वर्ष जे० एच० हैरिङ्गटन ने बोध गया के पास वाली 'नागार्जुनी' और 'बराबर' की गुफाओ मे उपर्युक्त लेखो से अधिक पुराने मौखरी वंश के राजा अनन्त वर्मन के तीन लेख पाये, जिनकी लिपि गुप्तो के समय के लेखो की लिपि से मिलती-जुलती थी। चार्ल्स विल्किन्स ने १७८५ ई० से १७८९ ई० तक कठोर श्रम एव साधना के पश्चात् उन तीनो लेखो को पढ लिया, जिसके फलस्वरूप गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला की पहचान लोगो को हो गयी।

१८१८ ई० से १८२३ ई० तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपुताना तथा काठियावाड मे कई प्राचीन लेखो का पता लगाया। उनमे से सातवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक के कई लेखो को टॉड के गुरु यतिज्ञानचन्द्र ने पढे, जिनका साराश टॉड के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राजस्थान' मे प्रकाशित हुआ। १८२८ ई० मे बी० जी० बेबिङ्गटन ने मामल्लपुर के कई सस्कृत एव तमिल भाषा के प्राचीन लेखो को पढकर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार १८३३ ई० मे वाल्टर इलियट ने प्राचीन कन्नडी के कई लेखो को पढ कर उसकी वर्णमाला बनायी।

१८३४ ई० मे कप्तान ट्रायर ने प्रयाग के अशोककालीन स्तम्भ पर खुदे हुए गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त के लेख का कुछ अश पढा[३]। फिर उसी वर्ष डॉ० मिल ने उसे पूरा पढ कर, १८३७ ई० मे भिटारी के स्तम्भ पर का स्कन्दगुप्त का लेख भी पढ लिया[४]। १८३५ ई० मे डब्लू० एच० वॉथन ने वल्लभी के कई दानपत्र पढे।[५] १८३७ मे जेम्स प्रिन्सेप ने दिल्ली, कहाऊँ तथा एरण के स्तम्भो और साँची तथा अमरावती के स्तूपो, साथ ही गिरनार की चट्टान वाले गुप्त लिपि के सभी लेखो को पढने मे सफलता पायी।[६]

---

१ ए० रि०, जिल्द २, पृ० १६१-६४।
२ इ० एँ०, जिल्द १९, पृ० २१८।
३ ज० ए० सो० ब०, जिल्द ३, पृ० ११८।
४ उपरिवत्, जिल्द ६, पृ० १।
५ उपरिवत्, जिल्द ४, पृ० ४७७।
६. उपरिवत्. जिल्द ६, पृ० २१८, २४५।

इस प्रकार कप्तान ट्रायर, डॉ० मिल तथा जेम्स प्रिन्सेप के कठोर अध्यवसाय से चार्ल्स विल्किन्स की गुप्त लिपि की अधूरी वर्णमाला पूरी हो गयी, जिसके फलस्वरूप गुप्तवंशी राजाओं के समय के सभी शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्कों को पढ़ने में सुगमता हो गयी। किन्तु अभी गुप्त लिपि से प्राचीनतर ब्राह्मी लिपि के लेखों का अध्ययन बाकी था।

ब्राह्मी लिपि के लेखों का वाचन

ब्राह्मी लिपि गुप्त लिपि से अधिक प्राचीन थी, इस कारण ब्राह्मी लिपि के लेखों का पढ़ा जाना अपेक्षया अधिक दुस्तर कार्य था। १७९५ ई० में सर चार्ल्स मैलेट ने एलोरा की गुफाओं के अनेक छोटे-छोटे लेखों की छापें तैयार कर सर विलियम जोन्स के पास भेजीं। जोन्स ने उन्हें विल्फर्ड के पास पढ़ने के लिए भेज दिया। विल्फर्ड ने एक भारतीय पण्डित से उन लेखों को पढ़ने में सहायता ली, किन्तु वह पण्डित स्वयं उस लिपि से अनभिज्ञ था। इस कारण, उसने विल्फर्ड को धोखा देकर धूर्तता से उन लेखों का मनमाना पाठ तैयार कर दे दिया। विल्फर्ड ने उसे ही सही समझकर उसका अँगरेजी अनुवाद जोन्स के पास भेज दिया। कई वर्षों तक लोग उसे ही सही समझते रहे, किन्तु बाद में उसकी पोल खुल गया।

१८३४-३५ ई० में जेम्स प्रिन्सेप ने इलाहाबाद, रधिया और मथिआ के स्तम्भों पर के लेखों की छापें मँगवायीं और उनको दिल्ली के लेखों से मिलाकर यह देखना चाहा कि उनमें कोई शब्द एक समान है कि नहीं। किन्तु, मिलाने पर वे चारों लेख एक ही प्रमाणित हुए। इससे प्रिन्सेप का उत्साह बढ़ा। उसने गुप्त लिपि के अक्षरों से मिला-मिला कर जब उन लेखों के अक्षरों को पहचानना प्रारम्भ किया, तो उसने पाया कि गुप्त लिपि के समान ही उनमें भी मात्राओं के पृथक्-पृथक् पाँच चिह्न हैं। इसके बाद उसने अक्षरों को पहचान-पहचान कर लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें कई अक्षर पहचान में आ गये। प्रिन्सेप की तरह जेम्स स्टिवेन्सन ने भी प्रयत्नपूर्वक क, ज, व और प अक्षरों को पहचानने में सफलता पायी।

प्रिन्सेप और स्टिवेन्सन के समान ही लासन भी इस कार्य में जुटा हुआ था। १८३६ ई० में उसने एक बैक्ट्रियन ग्रीक सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में 'अगथॉक्लिस' नामक इण्डोबैक्ट्रियन राजा का नाम पढ़ा। बैक्ट्रिया के ग्रीक राजकर्ताओं ने अपने सिक्कों पर ग्रीक दन्तकथाएँ छापी थीं, साथ ही सिक्के की दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में उसका आशय भी छापा था। दो लिपियों के ये सिक्के ब्राह्मी लिपि का रहस्य खोलने की विलक्षण कुञ्जियाँ सिद्ध हुए। उनके आधार पर लासेन ने ब्राह्मी के

कई अक्षरो को पहचानने मे सफलता पायी। किन्तु, तब भी उसके कतिपय अक्षर अभी पहचानने को शेष थे।

अन्त मे, १८३७ ई० मे प्रिन्सेप ने साँची के स्तूपो से सम्बन्ध रखने वाले स्तम्भो आदि पर खुदे हुए लेखो की छापो को एकत्र कर बडे परिश्रम एव लगन के साथ ब्राह्मी के सभी अक्षरो की वर्णमाला तैयार की। उसके आधार पर दिल्ली, एलाहाबाद, साँची, मथिआ, रधिआ, गिरनार और धौली आदि सभी स्थानो के लेख सुगमतापूर्वक पढ लिये गये। इससे यह भी प्रमाणित हो गया कि उक्त ब्राह्मी लेखो की भाषा सस्कृत न होकर अलग-अलग स्थानो की तत्कालीन प्रचलित प्राकृत थी। इस प्रकार प्रिन्सेप आदि विद्वानो के कठोर श्रम एव सच्ची लगन से लगभग दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व की भारतीय लिपि ब्राह्मी का लुप्त स्वरूप प्रकाश मे आया तथा उस लिपि के प्राचीन लेखो का वाचन सम्भव हुआ। इन विद्वानो के नाम भारतीयो के द्वारा चिरकाल तक आदर के साथ स्मरण किये जायँगे।

सैन्धव लिपि का वाचन

सिन्धुघाटी के विभिन्न स्थानो की खुदाई का प्रारम्भ यो तो १८२० ई० मे ही, मैसन के द्वारा हुआ, किन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण खुदाई १९२० ई० मे १९३४ ई० के बीच हुई। उस अवधि मे वहाँ के दो स्थानो, मोहन्जोदडो तथा हडप्पा मे अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ मिली, जिनमे वे सिक्के भी है, जिनपर उस काल की लिपि के लेख हैं। उन लेखो को पढने का प्रयास अनेक विद्वानो के द्वारा किया जा चुका है, किन्तु अभी तक किसी को सफलता नही मिल सकी है। उन विद्वानो मे गैड, स्मिथ, लैड्गडन और हण्टर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। हेरॉस नामक पादरी ने उस लिपि को तमिल लिपि से सम्बद्ध बताकर मनमाने ढङ्ग से उसके वाचन का हास्यास्पद प्रयास किया था, किन्तु उसका प्रयत्न भी निष्फल रहा। हेरॉस के प्रसङ्ग मे अचानक उस भारतीय पण्डित का स्मरण हो आता है, जिसने ब्राह्मी के वाचन के क्रम मे विल्फर्ड को धोखा दिया था। अभी लोग सिन्धुघाटी की लिपि के सम्बन्ध मे तरह-तरह की अटकल लगाने मे ही व्यस्त है। उसपर जितना जमकर कार्य होना चाहिए, नही हो सका है।

अध्याय

: ६ :

नागरी : नाम, स्वरूप और विशेषताएँ

नागरी के नामकरण का आधार

'देवनागरी' अथवा 'नागरी' नाम की सार्थकता तथा आधार के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत पाये जाते हैं। ओझा जी के मतानुसार 'नागरी' नाम कब से प्रसिद्धि मे आया, यह निश्चित नही, परन्तु तान्त्रिक-काल मे 'नागर' नाम प्रचलित था। 'नित्याषोडशिकार्णव' की 'सेतुबन्ध' नामक टीका का कर्त्ता भास्करानन्द एकार का त्रिकोण रूप 'नागर' (नागरी) लिपि मे होना बताता है—'कोणत्रयवदुद्भवो लेखो यस्य तत्। नागरलिप्या साम्प्रदायिकैरेकारस्य त्रिकोणकार तयैव लेखनात्।'[1] 'वातुलागम' की टीका मे लिखा है कि शिवमन्त्र (ह्रीं) के अक्षरो से शिव की मूर्ति केवल नागर (नागरी) लिपि से बन सकती है, दूसरी लिपियो से नही बन सकती[2]—'शिवमन्त्रान्मूर्त्युद्धारकृति : नागरलिपिरुद्धारयित यज्यते। व्यतिरिक्त-लिपिभिर्नोद्धारयित यज्यते।''[3] इसमे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन तान्त्रिक युग मे 'देवनागरी' के लिए 'नागर' नाम प्रचलित था। किन्तु यह नाम क्यो पडा, इस पर कोई प्रकाश नही पडता।

इस सम्बन्ध मे राधेश्याम शास्त्री का मत है कि ''देवताओ की मूर्तियाँ बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नो द्वारा होती थी, जो कई त्रिकोण तथा चक्रो आदि से बने हुए यन्त्र के, जो 'देवनगर' कहलाता था—मध्य मे लिखे जाते थे। 'देवनगर' के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर मे

---

१ इ० एँ०, जिल्द ३५, पृ० २८३

२ इ० एँ०, जिल्द ३५, पृ० २७६।

३. गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० १८।

उन-उन नामो के पहले अक्षर माने जाने लगे और 'देवनगर' के मध्य उनका स्थान होने के कारण उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।"[१] इस मत के सम्बन्ध मे ओझा जी ने लिखा है कि 'वह लेख बडी गवेषणा के साथ लिखा गया है और युक्तियुक्त अवश्य है, परन्तु जबतक यह सिद्ध न हो कि जिन-जिन तान्त्रिक पुस्तकों से अवतरण उद्धृत किये गये है, वे वैदिक साहित्य के समय के पहले के, या कम-से-कम मौर्यकाल से पहले के है, तवतक हम उनका मत स्वीकार नही कर सकते।"[२]

कुछ विद्वानो के अनुसार नागरी लिपि का सर्वप्रथम सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों से था, इस कारण यह लिपि नागरी कहलायी। किन्तु, इस मान्यता का कोई भी ऐतिहासिक आधार या प्रमाण नही है। ऐसी स्थिति मे इसे स्वीकार करना उचित नही प्रतीत होता।

कतिपय विद्वानो ने बौद्धो के ग्रन्थ 'ललितविस्तर' मे उल्लिखित नागलिपि को नागरी से अभिन्न मानकर यह अनुमान प्रकट किया है कि 'नागलिपि' शब्द से ही 'नागरीलिपि' शब्द बना होगा। किन्तु, डॉ० एल० डी० वार्नेट के अनुसार उक्त दोनो लिपियो मे कोई सम्बन्ध नही।[३] इसके अतिरिक्त, 'नागलिपि' शब्द से 'नागरी लिपि' शब्द की रचना के समर्थन मे कोई तर्क भी नही दीखता।

इस सम्बन्ध मे एक मत यह है कि प्रारम्भ मे नागरी लिपि का प्रयोग नगरों मे ही होता था, इस कारण नगर की लिपि 'नागरी' कहलाने लगी।[४] यह मत कुछ तर्कसङ्गत तो अवश्य है, किन्तु, इसे भी पूर्णत प्रामाणिक नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कुछ विद्वानो का यह भी अनुमान है कि जबसे देववाणी संस्कृत इस लिपि मे लिखी जाने लगी, तभी से इसका नाम 'देवनागरी' पडा। इस मान्यता से 'देव' शब्द की सार्थकता पर तो कुछ प्रकाश पडता है, किन्तु 'नागरी' शब्द की सार्थकता स्पष्ट नही होती।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार इस लिपि के लिए देवनागरी या नागरी नाम पडने के कारण वास्तव मे अनिश्चित है।[५] इसी प्रकार डॉ० बाबूराम सक्सेना ने

---

१. इ० एँ०, जिल्द ३५, पृ० २५३—६७, २७०-९०, ३११-२४।

२ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ३० में उद्धृत।

३ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० का उ० और वि०, पृ० ५६६।

४ डॉ० धी० व०, हि० भा० का इ०, पृ० ८६।

५ उपरिवत्।

लिखा है कि नागरी नाम की व्युत्पत्ति का अभी तक निश्चय नही हो सका है।[१] इस सम्बन्ध मे अन्य विद्वानो के मत भी लगभग इसी प्रकार के है।

इस सम्बन्ध मे मेरा अनुमान यह है कि आठवी-नवी शताब्दी मे कुटिल लिपि का सर्वप्रथम परिष्कार पाटलिपुत्र नगर के नागरो अर्थात् चतुर पण्डितो के द्वारा हुआ होगा। उस युग मे 'नगर' शब्द पाटलिपुत्र के लिए पर्याय बन गया था, इस कारण 'नगर' कहने से लोग पाटलिपुत्र का ही अर्थ ग्रहण करते थे। इस प्रकार पाटलिपुत्र नगर के नागरो अर्थात् चतुर पण्डितो ने कुटिल लिपि का जो परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया होगा, उसे कुटिल लिपि के विपरीत सब प्रकार से सुन्दर, पूर्ण एव लेखन के उपयुक्त समझकर जनसमाज ने 'नागरी' (अर्थात 'नगर' के नागरो की सर्वगुण आगरी लिपि) कहकर सम्मानित किया होगा। फिर जब पण्डितो ने देववाणी के आर्षग्रन्थो को प्राचीन लिपि से हटाकर, इस नवीन लिपि मे ढाला होगा, तो 'देववाणी' के साम्य पर इस लिपि को भी 'देवनागरी' कहा जाने लगा होगा। इस अनुमान के अनुसार प्रारम्भ से इस लिपि का नाम 'नागरी' ही रहा होगा और बाद मे 'देवनागरी' पडा होगा।

नागरी के अन्य नाम

नागरी को प्राय. देवनागरी, नागर, देवनागर, लोकनागरी तथा हिन्दी लिपि भी कहा जाता है। इन नामो के अतिरिक्त नागरी की एक विशेष शैली का नाम नन्दिनागरी भी है, जिसका प्रयोग भारत के दक्षिणी प्रान्तो मे मुख्यत संस्कृत लिखने के लिए प्राय आठवी-नवी शताब्दी से ही होता आया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

नागरी के उपर्युक्त विभिन्न नामो मे 'नागरी' नाम ही सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध है। यह 'देवनागरी' का पूर्वरूप या सक्षिप्त रूप है, जो छोटा और सुन्दर होने के कारण लोगों को विशेष प्रिय रहा है। सम्भव है 'देवनागरी' का मूल नाम 'नागरी' ही रहा हो और जब इसमे देववाणी सस्कृत का वाङ्मय लिप्यन्तरित किया गया हो, तो विशिष्टता की सूचना देने के लिए पण्डितो ने इसके पूर्व 'देव' शब्द जोड दिया हो।

नागरी के लिए 'नागर' और 'देवनागर' नामो का प्रयोग प्राचीन तन्त्र-साहित्य मे मिलता है। किन्तु तान्त्रिकाचार्यों ने 'नागरी' और 'देवनागरी' जैसे

१ डॉ० बा० रा० स०, सा० भा०, वि० पृ० १७५।

स्त्रीलिङ्ग नामो को पुलिङ्ग मे बदल कर 'नागर' और 'देवनागर' क्यो कर दिया, यह अभी तक अज्ञात है। कुछ विद्वान अभी भी विशिष्टता-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होकर इन नामो का प्रयोग करते पाये जाते हैं, किन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम है।

नागरी को 'लोकनागरी' नाम देने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। इस नवीन नाम के द्वारा उन्होने यह सङ्केत देने का प्रयास किया है कि आज देवनागरी किसी जाति, वर्ग, भाषा या प्रान्त विशेष की लिपि नही, अपितु वह सम्पूर्ण राष्ट्र या लोक की जनसामान्य लिपि बन चुकी है। यह नाम उपयुक्त तो है, किन्तु 'नागरी' एव 'देवनागरी' का प्रचलन इतना प्राचीन हो चुका है कि अब उनके स्थान पर किसी अन्य नाम का लोकग्राह्य बन पाना सम्भव नही प्रतीत होता।

नागरी को इधर कुछ वर्षो से कुछ लोग 'हिन्दी-लिपि' भी कहने लगे हैं, किन्तु यह नाम भ्रामक है। नागरी मे हिन्दी ही नहीं, अन्य भाषाएँ भी लिखी जाती है। इसलिए, उसे हिन्दी-लिपि कहना अनुचित है। इसके अतिरिक्त हिन्दी, भाषा का नाम है, लिपि का नही, अत भाषा के नाम को लिपि का नाम समझ बैठना अज्ञान का सूचक कहा जायगा। किसी भाषाविशेष का किसी लिपिविशेष से परम्परागत सम्बन्ध होने पर भी नित्य या प्रकृत सम्बन्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे भाषा के नाम के आधार पर लिपि का नामकरण बुद्धि-दारिद्र्य का सूचक है। भारतीय आर्यो ने ऐसी भूल कभी नही की। अत जो लोग 'नागरी' के लिए 'हिन्दी लिपि' शब्द का प्रयोग चलाना चाहते है, उन्हे इस तथ्य का समुचित ज्ञान होना चाहिए।

नागरी का प्रारम्भिक स्वरूप

नागरी के प्रारम्भिक स्वरूप का उद्भव आठवी-नवी शताब्दी के बीच कुटिल लिपि से हुआ। इसका उद्भव उत्तरी भारत मे हुआ, किन्तु इसके प्राचीनतम लेख भारत के दक्षिणी प्रान्तो मे मिले है। इससे स्पष्ट है कि देवनागरी जन्म के साथ ही उत्तर से दक्षिण तक फैल गयी थी। यह इसकी लोकप्रियता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। उत्तरी भारत मे देवनागरी का कोई भी लेख दसवी शताब्दी के पूर्व का नही मिलता, किन्तु दक्षिणी भारत मे आठवी शताब्दी के लेख भी उपलब्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ, देवनागरी के प्राचीनतम लेख सर्वप्रथम राष्ट्रकूट वंश के राजा दन्तिदुर्ग के सामनगढ[1] से मिले हुए ७५४ ई० के दानपत्र मे, उसके बाद राष्ट्रकूट के

१ इ० एँ०, जिल्द ११, पृ० ११० ११३।
२ उपरिवत्, जिल्द ८, पृ० १८६-१८७।

राजा गोविन्द राज द्वितीय के धुलिया से मिले ७८० ई० के दानपत्र मे, फिर पैठण[१] और वणीगाँव[२] से मिले हुए राष्ट्रकूट के राजा गोविन्द तृतीय के ७९४ ई० एवं ८०८ ई० के दानपत्रो मे और तदन्तर राष्ट्रकूट के राजा ध्रुवराज[३], अमोघवर्ष[४] और उसके शिलारवंशी सामन्त पुल्लशक्ति[५] के क्रमश ८३५ ई०, ८४२ ई० तथा ८५१ ई० के दानपत्रो मे उपलब्ध है। ओझा जी के अनुसार "इस प्रकार नागरी लिपि आठवी शताब्दी के उत्तरार्ध से विस्तृत रूप मे लिखी हुई मिलती है। परन्तु उसमे पहले भी उसका व्यवहार होना चाहिए, क्योकि गुजरात के गुर्जरवंशी राजा जयभट तृतीय के ७०६ ई० के दानपत्र[६] मे, जो दक्षिणी शैली की पश्चिमी लिपि मे है, उक्त राजा के हस्ताक्षर 'स्वहस्तो मम श्रीजयभटस्य' नागरी लिपि मे ही है।"[७] इसी प्रकार देवगिरि के यादवो[८] एव विजयनगर के राजाओ[९] के दानपत्रो मे भी इस लिपि का प्रयोग मिलता है। दक्षिण की नागरी लिपि 'नन्दिनागरी' के नाम से प्रसिद्ध है और अवतक दक्षिण मे सस्कृत पुस्तको के लिखने मे उसका प्रचार है।[१०]

उत्तर भारत मे प्राचीन नागरी का सबसे प्राचीन रूप कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल प्रथम के दिघवा दवोली के ८९८ ई० के दानपत्र[११] मे प्राप्त होता है। उसके बाद के अनेक शिलालेखो एव दानपत्रादि मे उसके नमूने उपलब्ध हैं।[१२] प्राचीन देवनागरी का परिचय देते हुए ओझा जी ने लिखा है कि "दसवी शताब्दी की, उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि मे कुटिल लिपि की नाँई अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अशो से विभक्त मिलते है, परन्तु ग्यारहवी शताब्दी मे ये दोनो अश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौडाई होती है। ग्यारहवी शताब्दी की नागरी लिपि वर्त्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और

१ वही, जि० ३, पृ० १०६-१०७।
२ वही, जि० ११, पृ० १५८-१६१।
३ वही, जि० १४, पृ० २००-२०१।
४ वही, जि० १३, पृ० १३४-१३६।
५ वही, जि० २, पृ० २५८।
६ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ७०।
७ इ० ए०, जि० १, पृ० ३४१-३४४।
८ वही, जि० ३, पृ० ३७-३९।
९ डॉ० धी० व०, हि० भा० का इ०, पृ० ८६।
१० इ० ए०, जि० २५ पृ० ११२ के पास का प्लेट।
११ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ६९।

बारहवी शताब्दी से वर्त्तमान नागरी बन गयी है। केवल इ और घ मे ही कही पुरानापन नजर आता है। बारहवी शताब्दी से लगाकर अबतक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप मे चली आती है, तो भी लेखन-शैली और देश-भेद से कुछ अन्तर रह ही जाता है।"[1]

दसवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी के बीच, इसी प्राचीन नागरी से उत्तर भारत की अधिकाश आधुनिक लिपियो का जन्म हुआ, जिनमे से एक लिपि वर्त्तमान देवनागरी या नागरी भी है, जो अपने व्यापक प्रचार एव अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक विशेषताओ के कारण वर्तमान युग मे भारत की राष्ट्रलिपि बनी हुई है।

नागरी का आधुनिक स्वरूप

आधुनिक नागरी दसवो शताब्दी ई० की प्राचीन नागरी का ही विकसित रूप है।[2] इसे वर्त्तमान रूप बारहवी शताब्दी मे प्राप्त हुआ। जिस प्रकार सस्कृत से हिन्दी के विकास के मध्य प्राकृत और अपभ्र श के दो मुख्य सोपान हैं, उसी प्रकार ब्राह्मी से नागरी के विकास के मध्य भी गुप्त लिपि एव कुटिल लिपि के दो मुख्य सोपान है। ऐसा प्रतीत होता है मानो भारतीय आर्यभाषा और भारतीय आर्य लिपि, दोनो का विकास साथ-साथ होता आया हो।

नागरी का वर्त्तमान स्वरूप शताब्दियो के प्रयोग पर आधारित क्रमिक विकास का प्रतिफल है। यह अपने जन्म के साथ ही सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श के अतिरिक्त आधुनिक मराठी तथा हिन्दी-जैसी समृद्ध भाषाओ की सवाहिका बन गयी। यह भारतीय मनीषा का अपूर्व शोध एव समस्त भारतीय चिन्तन-परम्परा की प्रधान सरक्षिका है। आठवी-नवी शताब्दी से लेकर आजतक दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक इसका व्यापक प्रचार, इसकी अनुपम जनप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। १०१७ ई० मे महमूदपुर (लाहौर) से महमूद गजनवी ने एक चाँदी का ऐसा सिक्का चलाया था, जिसकी एक पीठ पर नागरी लिपि मे "अव्यक्तमेक मुहम्मद अवतार नृपति महमूद" और दूसरी ओर "अयम् टकम् महमदपुर घटिले हिजरियेन सवति ४१८", छपा था। स्पष्ट है कि महमूद गजनवी ने इसकी लोक-प्रियता देखकर ही इसे अपने सिक्के पर स्थान दिया होगा।

---

१ उपरिवत्, पृ० ६९-७०।

२ इ० ए०, जि० ३५, प० २८३।

नागरी की विशेषताएँ

यो तो अपनी सन्तान के ही समान प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही भाषा और लिपि सर्वाधिक सुन्दर और प्रिय प्रतीत होती है, किन्तु तटस्थ, पूर्वाग्रह रहित एव उदार दृष्टि वाले व्यक्ति इस स्वाभाविक किन्तु परिहार्य मोह से ऊपर उठकर वास्तविक सत्य का वरण करते है। विश्व के ऐसे अधिकाश विद्वानो की यही मान्यता है कि नागरी ससार की समस्त वर्तमान लिपियो से अधिक वैज्ञानिक है। आइजक पिटमैन, जिन्होने शीघ्रलिपि (फोनोग्राफी) का अनुसन्धान किया था, का कथन है कि "ससार की कोई लिपि यदि सर्वाधिक पूर्ण है तो वह एक मात्र देवनागरी ही।"[1] इसी प्रकार मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि "देवनागरी मे यद्यपि Z और F (ज और फ) के लिए वर्ण नही हैं, फिर भी यह सभी ज्ञात लिपियो से अधिक पूर्ण एव सन्तुलित है।"[2] यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि ज और फ के नीचे बिन्दी (नुक्ता) के प्रयोग के द्वारा देवनागरी के उपर्युक्त तथाकथित अभाव तथा इस प्रकार के अन्य कतिपय वर्णों के अभाव की भी पूर्ति कर दी गयी है।

जिन गुणो ने नागरी को विश्व की सर्वाधिक पूर्ण और सन्तुलित लिपि होने की योग्यता और गौरव प्रदान किया है, वे सक्षेप मे निम्नलिखित हैं :—

(१) यह भाषान्तर्गत आनेवाले अधिक से अधिक ध्वनि-चिह्नो (वर्णों) मे सम्पन्न है।

(२) इसकी वर्णमाला मे स्वर एव व्यञ्जन का वर्गीकरण ध्वनि वैज्ञानिक पद्धति से उच्चारण-स्थान एव प्रयत्नो के आधार पर किया गया है।

---

1 If in the world we have any alphabet, the most perfect it is those Hindi ones—Pitman दे० लि० स्व० वि० स०—पृ० ४९० (पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा लोकसभा मे दिये गये भाषण से सङ्कलित)।

2. This although deficient in two important symbols (represented in the Roman Z and F), is on the whole the most perfect and symmetrical of known alphabets The Hindus hold that it came directly from the gods (whence its name), and truly its wonderful adaptation to the symmetry of the Sacred sanskrit seems almost to raise it above the level of human inventions — Monier Williams. उपरिवत्।

(३) इसमे प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग-अलग ऐसे स्वतन्त्र वर्ण है, जिनमे परस्पर भ्रम की कोई सम्भावना नही।

(४) इसका वर्त्तमान स्वरूप युगो के प्रयोग पर आधारित है, इस कारण इसे दीर्घ परम्परा का बल प्राप्त है।

(५) इसकी वर्णमाला और वर्तनी को सीख लेने पर शब्दो का हिज्जे (स्पेलिंग) अर्थात् वर्तनी रटने की आवश्यकता नही पडती, केवल शब्दो का शुद्ध उच्चारण जानने ही से उन्हे शुद्ध-शुद्ध लिखा जा सकता है।

(६) ब्राह्मी की उत्तराधिकारिणी होने के कारण समस्त आधुनिक भारतीय लिपियो से इसका यत्किञ्चित् साम्य है।

(७) इसमे जो लिखा जाता है, वही पढा जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है।

(८) इसमे प्रत्येक स्वर वर्ण के लिए अलग से स्वतन्त्र मात्रा-चिह्न निश्चित हैं, जिनके प्रयोग के द्वारा स्वरयुक्त व्यञ्जनो अर्थात् अक्षरो (सिलेबुल्स) को उच्चारण के अनुरूप ही स्वतन्त्र अक्षरो मे लिपिबद्ध किया जा सकता है।

(९) उपर्युक्त आठवे गुण के कारण इसमे कम स्थान मे अधिक शब्द लिखे जा सकते हैं।

(१०) इस लिपि मे लिखित शब्दो के प्रत्येक वर्ण का उच्चारण अनिवार्य होता है।

(११) यह लेखन एव वाचन दोनो ही दृष्टियो से सरल एव सहज है।

(१२) इसका रूप अत्यन्त नेत्राकर्षक है।

(१३) यह त्वरा-लेखन के अनुकूल है।

(१४) राष्ट्र का प्राचीनतम वैभवशाली वाङ्मय इसी मे लिपिबद्ध है।

(१५) यह वेदवाणी से सम्बद्ध होने के कारण शास्त्रपूत है।

(१६) यह वैज्ञानिक पद्धति से निर्मित होने के कारण सरलता से सीखने योग्य है।

(१७) यत्किञ्चित् अपेक्षित परिवर्धन कर देने पर ससार कोई भी भाषा इसके माध्यम से सफलतापूर्वक लिखी जा सकती है।

(१८) यह भारत की अन्तर्देशीय लिपि तो है ही, साथ ही उपर्युक्त सत्रहवे गुण के कारण अन्तरराष्ट्रीय लिपि बनाये जाने के भी योग्य है।

(१९) इस पर किसी भाषाविशेष का एकाधिपत्य नही है। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, महाराष्ट्री, नेपाली आदि अनेक भाषाओ की लिपि है और अन्य किसी भी भाषा की लिपि हो सकती है।

(२०) यह अक्षरात्मक लिपि है और लिपि के अद्यतन विकास की अन्तिम कड़ी है।

(२१) इसके प्रत्येक वर्ण का सर्वत्र एक ही उच्चारण होता है।

(२२) इसमे विभिन्न स्थानीय अनुनासिक ध्वनियो के लिए तो अलग-अलग स्वतन्त्र वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्,) है ही, जो इतनी संख्या मे संसार की किसी भी अन्य लिपि मे नही है, साथ ही विभिन्न मात्रा मे स्वरो के नासिक्यीकरण (नेजेलाइ-जेशन) के लिए, अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु जैसे अयोगवाहो की उपस्थिति इसकी ध्वनि वैज्ञानिक पूर्णता को पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है।

(२३) इसमे संयुक्त वर्ण-रचना की विलक्षण क्षमता है, जो इसके वैज्ञानिक सन्तुलन एवं पूर्णता का ज्वलन्त प्रमाण है।

(२४) यह ध्वन्यात्मक तथा स्वनिमात्मक प्रतिलेखन एवं लिप्यन्तरण (फोनेटिक एण्ड फोनेमिक ट्रान्सक्रिप्शन और ट्रान्सलिट्रेशन) के पर्याप्त अनुकूल है।

(२५) इस लिपि मे लिखे शब्दो को पढने के लिए अनुमान या अटकल से कहीं भी सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पडती।

(२६) इसके वर्णो मे रोमन वर्णो के समान छोटे-बडे (कैपिटल और स्मौल) वर्णो के अलग-अलग रूप की उलझन नहीं है। इस कारण लेखन, मुद्रण एवं टङ्कन, सबमे इसके वर्ण सर्वत्र (आदि-मध्य-अन्त मे) एक समान रहते हैं।

(२७) भारतीय साहित्य मे कुछ ऐसे रूप विकसित हुए है, जो केवल देव-नागरी मे ही लिखे जा सकते है। उदाहरणार्थ, चित्रालङ्कारो के पद्मबन्ध, खड्ग-बन्ध, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध आदि किसी अन्य लिपि मे नही लिखे जा सकते। इसी प्रकार गतागत छन्द का विन्यास भी देवनागरी मे ही सम्भव है।[१] उदाहरणार्थ केशव दास का निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य है, जो किसी भी ओर से (अर्थात् बायें से दायें या दाये से बायें) पढा जा सकता है—

मा मम मोह मजै वन बीन नवीन बजै सह मोम समा।
मार लतानि बनावति सारि रिसाति बनावनि ताल रमा॥

---

१. दे० ना० श०, रा० हि० स० स०, पृ० १३१

मानव ही रहि मोरद मोद दमोदर मोहि रही वनमा।
माल वनी वल केसवदास सदा वसकेल वनी वलमा॥

(२८) अक्षरो के समान देवनागरी अङ्को को लेकर भी अनेक चमत्कारपूर्ण कविताएँ लिखी गयी है, जो अन्य अङ्को मे सम्भव नही है।[1] उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पक्तियो का स्वारस्य अन्य अङ्को मे नही रह सकता—

दम्पति के रस-रीति मे तनिक भयो रस-रीस।
अब ही रह्यो तिरेसठ छन मे भयो छत्तीस॥
घट्यो मान तेंतिस भयो पय पिय मानो नाहिं।
ह्वै छतीस छाछठ भयो पुनि तिरसठ छन माहि॥

(२९) भारतीय वाङ्मय की एक अति महत्त्वपूर्ण शाखा तन्त्र है, जिसकी बहुत सारी बातें देवनागरी के ही वर्ण-विन्यास पर निर्भर है। अन्य कोई भी लिपि तन्त्र के उस क्षेत्र मे देवनागरी का स्थान नही ले सकती।[2]

(३०) प्राविधिक और वैज्ञानिक उपयोग की दृष्टि से भी देवनागरी सर्वथा उपयुक्त लिपि है। यह दूसरी बात है कि इन क्षेत्रो मे इसके लिए अभी अपेक्षित प्रयत्न नही हुए है, जिसका प्रमुख कारण सरकार की उपेक्षा-नीति एव तटस्थता के साथ-ही-साथ अँगरेजी-समर्थक हिन्दी-विरोधियो का सामूहिक षड्यन्त्र भी है।

उपर्युक्त विशेषताओ के अतिरिक्त देवनागरी मे और भी अनेकानेक छोटी-मोटी विशेषताएँ ढूँढी जा सकती हैं।

---

१ दे० ना० श०, रा० हि०; स० स०, पृ० १३२।
२ उपरिवत्।

अध्याय

७.

नागरी-अक्षरों एवं अङ्कों का विकास

नागरी-अक्षरो का विकास-क्रम[1]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नागरी का मूल स्रोत ब्राह्मी से सम्बद्ध है अर्थात् नागरी ब्राह्मी-वर्ग-परम्परा की लिपि है। फलत, ब्राह्मी-अक्षरो से नागरी-अक्षरो के वर्त्तमान स्वरूप के विकास की एक सुदीर्घ अविच्छिन्न परम्परा रही है। यहाँ हमारा उद्देश्य यही स्पष्ट करना है कि आधुनिक नागरी-अक्षर प्राचीन ब्राह्मी-अक्षरो से किन-किन रूपो मे विकसित होकर वर्त्तमान अवस्था तक पहुँचे है।

उपर्युक्त विषय का विवेचन करते हुए, प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि मनुष्य अपनी रचना मे सदा परिवर्तनशील होता है, इसी से मनुष्य की निर्माण की हुई समस्त वस्तुओ मे समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। ससार की समस्त लिपियो मे मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार के पूर्व समय के साथ बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है और यही दशा हमारी नागरी लिपि की भी हुई है। मध्य एशिया, जापान आदि से मिले हुए नागरी लिपि के थोडे से प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो एव हमारे यहाँ से मिले हुए असख्य प्राचीन शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा सिक्को की नागरी लिपि मे और वर्त्तमान नागरी लिपि मे बडा अन्तर है, जो समय के साथ

---

१. प्रस्तुत विवेचन प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के 'नागरी अङ्क और अक्षर' शीर्षक निबन्ध का साराश है।

क्रमश होता गया है। जिन्हे प्राचीन नागरी लिपि का वोध न हो, ऐसे विद्वानो के सम्मुख यदि अशोक के लेख का फोटो रख दिया जाय, तो वे उसकी लिपि को कभी नागरी न कहेगे। इतना ही नही, अपितु वे इस बात को भी स्वीकार न करेंगे कि उसी विलक्षण लिपि मे परिवर्तन होते-होते हमारी वर्त्तमान नागरी बनी है।

आधुनिक नागरी का मूल अर्थात् प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखो की लिपि मे मिलता है, जो विक्रम सम्वत् से लगभग २०० वर्प पूर्व के है और काठियावाड से उडीसा तक तथा नेपाल की तराई से मैसूर तक के अनेक स्थानो मे मिले है। अशोक के ममय वह लिपि सम्पूर्ण भारतवर्ष मे उसी प्रकार प्रचलित थी, जिस प्रकार इस समय नागरी लिपि एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई है। अशोक के पूर्व नागरी का क्या रूप था और उसमे कैसे-कैसे परिवर्तन होने के पश्चात् वह उस स्थिति तक पहुँची, यह जानने का अवतक कोई निश्चित साधन उपलब्ध नही हो सका है। अशोक के पूर्व का अवतक एक ही लेख मिल सका है, जो नेपाल की तराई के पिप्रावा नामक स्थान मे शाक्य जाति के लोगो के वनाये हुए वौद्ध-स्तूप के भीतर रक्खे हुए छोटे से पत्थर के पात्र पर एक ही पक्ति मे खुदा है। उसमे नागरी लिपि के केवल १४ अक्षरो के प्राचीन रूप मिलते हैं। उसमे और अशोक के लेखो की लिपि मे केवल इतना अन्तर है कि उक्त लेख मे दीर्घ स्वर-चिह्नो का अभाव है। इस कारण, अभी हमे अशोक के समय की लिपि को ही नागरी के उद्भव का मूल मानना होगा।

नागरी-अक्षरो के विकास-क्रम की तालिका को तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान-पूर्वक देखने पर, यह स्पप्ट परिलक्षित होता है कि अशोक के लेखो की लिपि के अक्षर, वर्त्तमान नागरी-अक्षरो की तुलना मे अधिक सरल थे। उनमे शोर्ष-रेखा का अभाव था। किन्तु, आगे चलकर त्वरापूर्ण ,धारावाहिक लेखन तथा अक्षरो को नेत्राकर्पक वनाने के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप लेखको के हाथ से उन मूल अक्षरो की आकृति मे शनै -शनै अनेकविध रूपान्तर होते गये, जिसके फलस्वरूप उस एक ही मूल लिपि के अक्षरो से अनेकानेक आधुनिक लिपियो के अक्षरो का विकास हुआ, जिनमे नागरी के अक्षर भी है।

अशोककालीन लिपि मे जिन रूपान्तरो के पश्चात् वर्त्तमान नागरी लिपि के स्वरूप का निर्माण हुआ है, उसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ नागरी-अक्षरो के विकास-क्रम की एक तालिका दी जा रही है, जिसमे नागरी के प्रत्येक अक्षर का अशोक-कालीन रूप तथा उसके समस्त रूपान्तर, जो समय-समय पर हुए, दिये गये है। तदन्तर उन रूपान्तरो का सक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया है।

नागरी-अक्षरों के विकास-क्रम की तालिका

अ =
अ =
इ =
उ =
ए =
क =
ख =
ग =
घ =
ङ =
च =
छ =
ज =
झ =
झ =
ञ =
ट =
ठ =
ड =
ड =
ढ =
ण =
ण =
त =
थ =
द =
ध =
न =
प =
फ =
ब =
भ =
म =
य =
र =
ल =
व =
श =
ष =
स =
ह =
ळ =
क्ष =
ज्ञ =
का =
कि =
की =
कु =
कू =
के =

नागरी के स्वराक्षरों का विकास-क्रम

अ—नागरी-अक्षरों के विकास-क्रम की तालिका में उपस्थित प्रत्येक अक्षर का पहला रूप अशोक के शिला-लेखों से गृहीत है। अ का पहला रूप काठियावाड़ में स्थित गिरनार पर्वत के निकट की एक चट्टान पर खुदे हुए अशोककालीन लेख से लिया गया है। दूसरा रूप कुशनवंशी राजाओं के दूसरी शताब्दी के आसपास के लेखों में, उच्छकल्प के महाराज शर्वनाग के छठी शताब्दी के ताम्रपत्र में तथा मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अपराजित के सातवीं-शताब्दी के लेखों में उपलब्ध है। इसमें सिर अर्थात् शीर्ष रेखा देने का प्रयत्न स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रारम्भ में अक्षरों के सिर बहुत छोटे बनते थे, परन्तु आगे चलकर पूरे अक्षर पर बनने लगे। अनुमान है कि प्रारम्भ में अक्षरों पर शीर्षरेखा देने का प्रयत्न उन्हें सुन्दर बनाने के उद्देश्य से किया गया होगा। तीसरे रूप का दूसरे रूप से बहुत कुछ साम्य है। दोनों में भिन्नता केवल इतनी है कि दूसरे रूप की बायीं ओर के अंग में सुन्दरता लाने की दृष्टि से जो घुमाव डाला गया है, उसका सम्बन्ध मूल अक्षर से टूट गया है। चौथे

और पॉचवे रूप मे श्र की दाहिनी तरफ की खडी लकीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा दीखती है, जिसके परिणामस्वरूप अक्षर की आकृति मे पहले की अपेक्षा अधिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। ये रूप लगभग नवी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक के लेखो तथा हस्तलिखित ग्रन्थो मे मिलते है। कतिपय जैन लेखक तो अभी तक, प्रत्येक खडी पाई के अन्त मे, सुन्दरता लाने के उद्देश्य से हलन्त-चिह्न जैसा चिह्न लगा देते है।

अ—अ के इस रूप का प्रचार पहले केवल दक्षिण मे अधिक था, किन्तु लेखन मे अधिक सुगम होने के कारण अब प्राय इसी रूप का पूरे देश मे प्रचलन है। इसका विकास श्र के तीसरे रूप को उसकी वास्तविक स्थिति मे रखते हुए उसे अधिक सुन्दर बनाने के प्रयत्न का परिणाम है। इसके चौथे और पाँचवें रूपो की उपस्थिति अनेक प्राचीन शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा हस्तलिखित पुस्तकों मे पायी जाती है।[१]

इ—इसका पहला रूप अशोककालीन शिलालेखो का है। दूसरा रूप गुप्त वशी राजा समुद्रगुप्त के एलाहाबाद के चौथी शताब्दी के लेख मे तथा तीसरा स्कन्दगुप्त के समय के छठी शताब्दी के कुमाऊँ वाले लेख मे मिलता है। इस रूप मे इ की बिन्दियो पर सिर बनाने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। चौथा रूप हैहय वशी राजा जाजल्यदेव के बारहवी शताब्दी के लेख मे तथा कई हस्तलिखित प्राचीन पुस्तको मे पाया जाता है। पाँचवाँ रूप तेरहवी शताब्दी के आसपास के शिलालेखो तथा हस्तलिखित पुस्तको मे मिलता है। यह रूप वर्तमान इ से बहुत कुछ मिलता-जुलता हुआ सा है।

उ—इसका पहला रूप अशोककालीन शिलालेखो से गृहीत है। दूसरा रूप कुशनवशी राजाओ के लेखो मे मिलता है। इस रूप मे सिर बनाने का प्रयत्न स्पष्ट दीखता है तथा नीचे की आडी लकीर के अन्तिम अश को सुन्दर बनाने के प्रयत्न मे कुछ नीचे झुकाया गया है। उसी झुकाव को कुछ और बढा देने से चौथे रूप का विकास हुआ है, जिसकी उपस्थिति अनेक प्राचीन लेखो तथा हस्तलिखित पुस्तको मे है।[२]

ए—इसका पहला रूप अशोककालीन शिलालेखो मे उपलब्ध है। दूसरे रूप मे त्रिकोण को इस प्रकार उलटा गया गया है कि उसके ऊपर की ओर सिर

---

१ प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र—५, १२, १६, १७, १८।

२. उपरिवत्, लिपिपत्र—५, १२, १३।

(अर्थात् शिरोरेखा) जैसा दिखाई पड़ता है। यह रूप समुद्रगुप्त के लेख मे तथा कई अन्य लेखो मे भी मिलता है।[१] तीसरे और चौथे रूप में त्रिकोण की आकृति इस प्रकार की हो गयी है कि वह वर्तमान श जैसा प्रतीत होता है। उक्त रूप मन्दसौर मे प्राप्त राजा यशोवर्म के छठी शताब्दी के लेख मे, मारवाड के पडिहार राजा कक्कुक के नवी शताब्दी के लेख मे तथा कई अन्य लेखो मे मिलते है। पाँचवाँ रूप जिसका वर्तमान ए मे बहुत अधिक साम्य है, राठौड राजा गोविन्दराज तृतीय के नवी शताब्दी के, परमार राजा वाक्पति राज मुञ्ज के दसवी शताब्दी के तथा कलचुरी राजा कर्णदेव के ग्यारहवी शताब्दी के ताम्रपत्रो तथा लेखो मे मिलता है।

नागरी के व्यञ्जनाक्षरों का विकास-क्रम

क—इसका पहला रूप अशोककालीन शिलालेखो से गृहीत है। दूसरे रूप मे शिरोरेखा बनाने का प्रयास है तथा बीच की आडी लकीर को झुका दिया गया गया है।[२] तीसरे रूप मे बीच की लकीर को कुछ और अधिक झुका दिया गया है। यह रूप कलचुरी राजा कर्णदेव के ताम्रपत्र मे मिलता है। चौथा तथा पाँचवाँ रूप अनेक शिलालेखो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे पाया जाता है।[३]

ख—इसका पहला रूप अशोककालीन शिलालेखो का है। दूसरा रूप कुशनवंशी राजाओ के लेखो मे तथा गिरनार पर्वत के पास चट्टान पर खुदे हुए क्षत्रवंश के राजा रुद्रदामा के दूसरी शताब्दी के लेख मे मिलता है।[४] तीसरे रूप मे शिरोरेखा बनाने के कारण अक्षर दो खण्डो मे बँट गया है, जिनमे से प्रथम खण्ड सुन्दर बनाने के प्रयास मे 'र' के समान तथा दूसरा खण्ड 'व' के समान बन गया है।[५]

ग—इसका प्रथम रूप अशोककालीन है। दूसरा रूप मथुरा के क्षत्रप राजा सुदास और राजा नहपान के दामाद शक उषवदात के लेखो मे तथा कई अन्य लेखो में भी मिलता है। इस रूप मे ऊपर के कोण के स्थान मे वक्रता पायी जाती है। इसी रूप के ऊपर शिरोरेखा देने तथा पहली खडी पाई को बायी तरफ मोड देने

१ उपरिवत्, लिपिपत्र—३, १२, १३।
२ उपरिवत्, लिपिपत्र—३, ५, ६।
३ उपरिवत्, लिपिपत्र—१३ १६, १७।
४. उपरिवत्, लिपिपत्र—२।
५ उपरिवत्, लिपिपत्र—१२, १३, १६।

से तीसरे रूप की उत्पत्ति हुई है, जो वर्त्तमान ग से मिलता-जुलता दृष्टिगोचर होता है।[1] इस प्रकार ख की तरह ग के रूपान्तरो का मुख्य कारण भी शिरोरेखा देने का प्रयत्न ही है।

घ—इसका पहला रूप अशोक के शिलालेखो मे उपलब्ध है। दूसरा रूप मालवा के राजा यशोवर्म के मन्दसोर के लेख मे मिलता है। दूसरे रूप मे शिरोरेखा देने का प्रयत्न स्पष्ट है तथा दायी ओर की दोनो ऊर्ध्व रेखाओ की उँचाई भी बढायी गयी है।[2] इसी रूप मे शिरोरेखा को पूर्ण करने तथा त्वरापूर्ण लेखन के योग्य बनाने के प्रयास मे अक्षर को कुछ टेढा लिखने के परिणामस्वरूप तीसरे रूप का विकास हुआ, जिससे क्रमश चौथा तथा पाँचवाँ रूप बना, जो वर्त्तमान घ के प्राय समान है।

ङ—यह अक्षर अशोक के किसी लेख मे उपलब्ध नही है। यह पहले-पहल कुशनवशी राजाओ के लेखो मे केवल सयुक्ताक्षरो मे मिलता है। इसका प्रथम रूप समुद्रगुप्त के एक लेख के सयुक्ताक्षर से गृहीत है। परवर्ती काल मे इसके नीचे के हिस्से की गोलाई मे वृद्धि होती गयी और इसकी आकृति ड से मिलने लगी। तब इसको उससे भिन्न बनाने के लिए इसके सिर के अन्त मे गाँठ लगायी जाने लगी, जो कही चतुरस्र, कही गोल और कही त्रिकोण से साम्य रखती है।[3] इस गाँठ का प्रादुर्भाव आठवी शताब्दी के आसपास होना माना जाता है। आगे चलकर वही गाँठ बिन्दी के रूप मे अक्षर के मध्यभाग मे लगायी जाने लगी, जिसके परिणामस्वरूप इसके वर्तमान स्वरूप का विकास हुआ।

च—इसका पहला रूप अशोककालीन शिला-लेखो मे मिलता है। दूसरे रूप मे सिर के अतिरिक्त बायी ओर के नीचे के हिस्से मे नोक सी बन गयी है। तीसरे रूप मे वर्तमान च की आकृति झलकती सी है, जो चौथे रूप मे आकर पूर्णत स्पष्ट हो गयी है।[4]

छ—इसका पहला रूप अशोककालीन शिला-लेखो मे मिलता है। दूसरे रूप मे खडी पाई वृत्त को पार कर बाहर निकल गयी है।[5] इस रूप मे शिरोरेखा का प्रयास स्पष्ट है। तीसरा रूप कन्नौज के गहरवार (राठौर) वशी प्रसिद्ध

---

१ प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र—६, १२।
२ उपरिवत्, लिपिपत्र—५,।
३ उपरिवत्, लिपिपत्र—६, १३, २१, २३, २४।
४ उपरिवत्, लिपिपत्र—२, ४, ८, ६, १६, १७, १६, २०।
५ उपरिवत्, लिपिपत्र—१६।

राजा जयचन्द के बारहवीं शताब्दी के लेख मे तथा मालवा के परमार वंशी महाकुमार उदयवर्मा के १२०० ई० के ताम्रपत्र मे मिलता है। आगे के रूप इसी रूप से विकसित हैं।

ज—इसका प्रथम रूप अशोक-कालीन शिला-लेखो से लिया गया है। दूसरे रूप मे शिरोरेखा बनाने का प्रयत्न है तथा नीचे के हिस्से को सुन्दर बनाने के लिए कुछ आगे बढाकर नीचे झुकाया गया है।[1] उसी हिस्से को बायी ओर मोडने से तीसरे रूप की उत्पत्ति हुई है।[2] चौथा तथा पाँचवाँ रूप आधुनिक ज से बिल्कुल मिलता-जुलता सा है।[3] ये सारे रूप अनेक प्राचीन लेखो तथा हस्तलिखित पोथियो मे उपलब्ध हैं।

झ—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है। यह अक्षर प्राचीन लेखादि मे बहुत कम मिलता है। इसका दूसरा रूप ब्राह्मण राजा शिवगण के कनसवाँ (कोटा से कुछ दूर) के ७३८ ई० के लेख मे और तीसरा राठौर राजा गोविन्दराज तृतीय के ८०७ ई० के ताम्रपत्र मे मिलता है। दूसरे तथा तीसरे रूप मे शिरोरेखा बनाने की चेष्टा दीखती है। चौथा रूप झ से मिलता हुआ है। जैनियो की पुस्तको मे प्राय इसी रूप का प्रयोग मिलता है, तथा राजपुताने मे प्राय यही रूप लिखा जाता है।

झ — यह झ विशेषकर दक्षिण मे प्रचलित है। इसके प्रारम्भिक तीन रूप पूर्वविवेचित झ के पहले दो रूपो के समान हैं। तीसरे रूप के निचले हिस्से मे गाँठ लगाने से चौथा रूप बना है, जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियो मे कहीं-कहीं मिलता है।

वर्तमान नागरी मे झ का जो रूप प्रचलित है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका निश्चित पता नहीं है, क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे उसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

ञ—यह वर्ण संस्कृत के लेखो मे प्राय संयुक्ताक्षरो मे ही पाया जाता है। इसका पूरा रूप प्राकृत लेखो मे मिलता है। इसका प्रथम रूप अशोककालीन है। दूसरा रूप मेवाड के गुहिलवंशी राजा अपराजित के समय के ५३१ ई० के लेख मे[4]

---

१. पं० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र—५, ६।
२ उपरिवत्, लिपिपत्र—११, १२।
३. उपरिवत्, लिपिपत्र—१३।
४. उपरिवत्, लिपिपत्र—११।

तथा तीसरा कुमारगुप्त के समय के मन्दसौर के लेख मे[1] मिलता है। तीसरे रूप की दायी ओर की खडी पाई को ऊपर की ओर उठाने से चौथा रूप बना है, जिसका वर्त्तमान ञ से बहुत कुछ साम्य है।

ट—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो से लिया गया है। दूसरा रूप पहले से साम्य रखता है। उसमे शिरोरेखा बनाने के प्रयत्न के कारण ऊपर के हिस्से मे कुछ परिवर्तन मालूम होता है।[2] तीसरा और चौथा रूप, जो वर्तमान ट से विल्कुल मिलता-जुलता सा है,[3] अनेक प्राचीन लेखो मे उपलब्ध है।

ठ—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है। दूसरे रूप की उत्पत्ति केवल शिरोरेखा देने के प्रयत्न के फलस्वरूप हुई है, यो सामान्यत पहले तथा दूसरे रूप मे कोई अन्तर नही है।[4] तीसरे रूप मे ऊपर शिरोरेखा के प्रयोग के कारण तथा नीचे वृत्ताकार हिस्से के बीच मे छोटी सी खडी पाई देने के कारण वर्तमान ठ का विकास हुआ है।[5]

ड़—ड का यह रूप मुख्यत. प्राचीन जैन पुस्तको मे मिलता है। राजपुताने मे अभी भी ड के इस रूप का प्रचलन है। इसका पहला रूप अशोक के शिललेखो मे मिलता है। दूसरे रूप मे नीचे का हिस्सा कुछ दाहिनी ओर वढाया गया है, जिसका कारण त्वरापूर्ण लेखन का प्रभाव माना जा सकता है। इससे मिलता-जुलता रूप उडीसा की हाथी गुफा मे, जो कटक से कुछ दूर पर स्थित है, खुदे हुए जैन राजा खारवेल के लेख मे पाया जाता है, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० के आसपास का है। दूसरे रूप को सुन्दर वनाने या त्वरा से लिखने के प्रयत्न-स्वरूप तीसरे और चौथे रूपो का विकास हुआ है।[6] पाँचवे रूप का विवेच्य ड से बहुत कुछ साम्य है।[7]

ड—इसके प्रारम्भिक चार रूप तो पूर्व विवेचित ड के समान ही हैं। पाँचवे

---

१ प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र—४।
२. उपरिवत्, लिपिपत्र—३,४,७,८।
३ उपरिवत्, लिपिपत्र—१।
४. उपरिवत्, लिपिपत्र-७।
५. उपरिवत्, लिपिपत्र-१३, १७, १६।
६. उपरिवत्, लिपिपत्र—८।
७ उपरिवत्, लिपिपत्र—११।

रूप मे मध्य का घुमाव बढा देने के कारण उसकी आकृति वर्तमान ड के समान बन गयी है।[१]

ट—वर्तमान नागरी लिपि की वर्णमाला मे एकमात्र ढ ही ऐसा वर्ण है, जो अपने प्राचीन रूप मे अबतक बना हुआ है। इसपर केवल शिरोरेखा का अंश बाद का है। इसका पहला रूप अशोक-कालीन है तथा परवर्ती रूप अनेक लेखो तथा हस्तलिखित पोथियो मे मिलते है।

ण—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो में मिलता है। दूसरा तथा तीसरा रूप कुशनवंशी राजाओ के लेखो मे मिलता है। चौथे से छठे तक के रूप अनेक लेखो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे उपलब्ध है।[२] छठे रूप के ऊपर शिरोरेखा बढा देने से वर्तमान रा का रूप बना है।

ण—ण का यह रूप दक्षिण मे पहले ही से विशेप प्रचलित रहा है, किन्तु अब इसका प्रचलन पूरे देश मे हो चुका है। इसके पाँचवे रूप तक का विकास पूर्व-विवेचित रा के समान ही है और इसका वर्तमान रूप पाँचवे रूप मे शिरोरेखा जोड देने तथा दाहिनी ओर के घुमाव को नीचे तक बढा देने से बना है।

त—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो मे मिलता है। दूसरे रूप मे शिरोरेखा की उपस्थिति स्पष्ट है। यह रूप अनेक लेखो मे उपलब्ध है। इसी दूसरे रूप से तीसरा रूप विकसित है, जो वर्तमान त के बिल्कुल समान है।[३]

थ—इसका प्रारम्भिक रूप अशोक-कालीन लेखो मे उपलब्ध है। दूसरा रूप समुद्रगुप्त के लेख मे मिलता है। तीसरे से पाँचवें तक के रूप अनेक लेखो मे मिलते है।[४] पाँचवे रूप से वर्तमान थ का विकास हुआ है।

द—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है और दूसरा रूप भी अशोक के ही, मद्रास हाते के गन्जाम जिले मे स्थित, जोगड के लेख मे तथा एलाहाबाद से ३२ मील दूर यमुना-तट पर स्थित पभोसा के लेख मे मिलता है, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० का है। तीसरा रूप कुशनवंशी राजाओ के लेखो मे तथा चौथा रूप अनेक

१. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—२८, १६।
२ उपरिवत्, लिपिपत्र–३, ४, ६, १०, ११, १२, १३, १६, १८।
३ उपरिवत् लिपिपत्र–११।
४ उपरिवत्, लिपिपत्र—४, ५, ६, १२, १३, १६, १८, १६, २०।

लेखा एव प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे मिलता है।[१] पाँचवाँ रूप वर्तमान द के प्रायः समान ही है।

ध—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो मे मिलता है। दूसरा रूप कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव के ग्वालियर वाले लेख मे मिलता है, जिसका समय ८७६ ई० है। यह रूप पीलीभीत से २० मील पर स्थित देवलगाँव की ९९२ ई० की प्रशस्ति मे भी उपलब्ध है। तीसरा रूप कन्नौज के राठौर राजा जयचन्द के ११७५ ई० के ताम्र-पत्र मे मिलता है। चौथा रूप वर्तमान ध जैसा ही है।[२]

न—इसका पहला रूप अशोक-कालीन शिला-लेखो मे मिलता है। दूसरा रूप क्षत्रप राजा रुद्रदामा के लेख से गृहीत है।[३] तीसरा रूप राजानक लक्ष्मण चन्द्र के समय के वैद्यनाथ के लेख मे मिलता है, जो ८०४ ई० का है। चौथा रूप तीसरे से विकसित है, जो वर्तमान न के समान ही है।

प—इसका प्रारम्भिक रूप अशोक के शिला-लेखो मे उपलब्ध है। दूसरे रूप मे शिरोरेखा देने का प्रयत्न है। तीसरा रूप अनेक लेखो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे पाया जाता है।[४] इसी से वर्तमान प का रूप विकसित हुआ है।

फ—इसका पहला रूप अशोककालीन है। दूसरा रूप प्राय पहले के ही समान है, केवल उसमे शिरोरेखा देने का प्रयास दीखता है। तीसरा रूप समुद्रगुप्त के लेख से लिया गया है। चौथा रूप त्वरा-लेखन के परिणामस्वरूप तीसरे रूप से ही विकसित है। यह रूप अनेक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे उपलब्ध है। पाँचवाँ रूप चौथे के ही समान है और उसी से वर्तमान रूप का विकास हुआ है।

व—इसका प्रारम्भिक रूप अशोक के लेखो मे मिलता है। दूसरा रूप राजा यशोधर्म के लेख[५] तथा कई अन्य लेखो मे भी मिलता है।[६] तीसरा रूप कुछ लेखो मे प के समान[७] और कुछ मे व के समान पाया जाता है। इसको उक्त वर्णों से भिन्न बनाने के लिए इसके वीच मे विन्दी का प्रयोग होने लगा, जिससे चौथा रूप

---

१ प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—३, ६, १३।
२ उपरिवत्, लिपि-पत्र—३, ६, १३।
३. उपरिवत्, लिपि-पत्र—२।
४. उपरिवत्, लिपि-पत्र—३, ११. १२, १७, १८।
५ उपरिवत्, लिपि-पत्र—५।
६. उपरिवत्, लिपि-पत्र—११, १३।
७ उपरिवत्, लिपि-पत्र—१८।

बना। पाँचवाँ रूप चौथे के प्राय समान ही है, जो गुजरात के सोलङ्की राजा भीमदेव के १०२९ ई० के एक ताम्रपत्र मे मिलता है।

भ—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो से लिया गया है। दूसरा रूप कुशनवशी राजाओ के लेखो मे मिलता है। तीसरा रूप गुप्तवश के राजा स्कन्दगुप्त के इन्दौर से मिले हुए ताम्रपत्र मे मिलता है, जो ४६५ ई० का है। चौथा रूप तीसरे के प्राय समान ही है। इसी से वर्तमान भ का विकास हुआ है।

म—इसका प्रारम्भिक रूप अशोक के शिलालेखो मे उपलब्ध है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे रूपो का विकास शिरोरेखा देने के प्रयत्न के फलस्वरूप हुआ है। चौथा रूप वर्तमान म के प्राय. समान ही है।

य—इसके प्रारम्भिक दो रूप अशोक के शिला-लेखो मे मिलते हैं। दूसरे रूप को कलम उठाये बिना लिखने के प्रयत्न के फलस्वरूप तीसरे रूप का विकास हुआ है। चौथा रूप वर्तमान य के प्राय समान ही है।

र—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है। दूसरे रूप का विकास पहले रूप की खडी पाई के अन्त को सुन्दर बनाने के उद्देश्य से, दाहिनी ओर कुछ नीचे की तरफ झुकाने से हुआ हैं। यह रुप बौद्ध श्रमण महानामन् के ५०८ ई० के लेख मे पाया जाता है। तीसरा रूप वर्तमान र के समान ही है।

ल—इसका प्रारम्भिक रूप अशोक के लेखो मे मिलता है। दूसरा रूप हूण-वशी राजा तोरमाण के लेख मे उपलब्ध है, जो ५०० ई० के आसपास का है। तीसरा रूप कई लेखो मे पाया जाता है।[1] इसी को अधिक सुन्दर बनाने के प्रयत्न के फलस्वरूप चौथे रूप का उद्भव हुआ। पाँचवाँ रूप वर्तमान ल के समान ही है।

व—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है। उसी को बिना कलम उठाये लिखने के प्रयास से दूसरे रूप की उत्पत्ति हुई।[2] फिर दूसरे के नीचे के हिस्से मे सुन्दरता लाने के प्रयत्न से परवर्ती रूपो का विकास हुआ।[3]

श—इसका पहला रूप अशोक-कालीन है। इसी से दूसरे रूप का विकास हुआ। दूसरे रूप से ही क्रमश तीसरा और चौथा रूप विकसित है। ये रूप अनेक

१. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—६, ११, १२।
२. उपरिवत, लिपि-पत्र—४।
३. उपरिवत, लिपि-पत्र—११, १२, १३, १६।

लेखो मे मिलते है ।[१] पाँचवाँ रूप भी कई लेखो तथा हस्तलिखित पुस्तको मे उपलब्ध है । इसी से छठे रूप का विकास हुआ है ।[२] इसके विभिन्न रूपो के विकास मे शिरोरेखा का प्रयोग तथा वर्ण को सुन्दर वनाने के प्रयत्न ही मुख्य कारण रहे है ।

प—यह वर्ण अशोक के लेखो मे नही मिलता । इसका पहला रूप मेवाड मे स्थित घोसुण्डा के शिला-लेखो से लिया गया है, जो ई० पू० दूसरी शताब्दी का है । दूसरा रूप पहले से विकसित है और तीसरा कई लेखो मे मिलता है ।[३]

स—इसका पहला रूप अशोक के शिला-लेखो मे मिलता है । दूसरा रूप पहले के समान ही है । तीसरा रूप समुद्रगुप्त के लेखो से लिया गया है[४] और चौथा रूप कई अन्य लेखो मे मिलता है ।[५] इसके विभिन्न रूपो के विकास मे शिरोरेखा का प्रयोग तथा सुन्दर वनाने के प्रयास ही मुख्य कारण रहे है ।

ह—इसका पहला रूप अशोककालीन शिला-लेखो से गृहीत है । दूसरा रूप पहले के समान ही है । तीसरा रूप उच्छकल्प के महाराज शर्वनाथ के ताम्रपत्र से लिया गया है, जिसका समय ४६३ ई० है । चौथा रूप तीसरे रूप से विकसित है ।[६] पाँचवाँ और छठा रूप अनेक लेखो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे पाया जाता है ।

ळ—इसका पहला रूप रुद्रदामा के लेख से लिया गया है ।[७] दूसरा रूप दक्षिण के सोलङ्कियो के नवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक के लेखो मे पाया जाता है । तीसरा रूप दूसरे से मिलता-जुलता हुआ ही है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस अक्षर का प्रयोग वेदो के अतिरिक्त सस्कृत साहित्य मे अन्यत्र नही मिलता । किन्तु सस्कृत के शिलालेखो मे इसका प्रयोग ल या ड के स्थानो मे यत्र-तत्र मिलता है । दक्षिण के शिला-लेखो मे इसका प्रयोग अधिक मिलता है । आज भी गुजरात से लगातार कन्याकुमारी तक इस अक्षर का प्रयोग भाषण तथा लेखन, दोनो मे, सर्वत्र होता है । राजपुताने मे यह वोला तो जाता है, किन्तु लिखा नही

---

१. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—३ ।
२ उपरिवत्, लिपि-पत्र—१३, १५ ।
३ उपरिवत्, लिपि-पत्र—१६, १७, १८, १९ ।
४ उपरिवत्, लिपि-पत्र—३० ।
५. उपरिवत्, लिपि-पत्र—५, ६, १२, १३ ।
६ उपरिवत्, लिपि-पत्र—४, ५, ६, २३, १६ ।
७ उपरिवत्, लिपि-पत्र–२ ।

जाता। वहाँ इसके स्थान पर लेखन मे ल का प्रयोग किया जाता है, जो सर्वथा अनुपयुक्त है।

क्ष—यह सन्ध्यक्षर है, जो क् और ष की सन्धि से बना है। दसवी शताब्दी तक के शिला-लेखो, ताम्रपत्रो, सिक्को तथा पुस्तको मे इसके दोनो वर्ण अन्यान्य सयुक्ताक्षरो की तरह ही मिलाकर लिखे जाते थे। परन्तु पीछे के लेखको के द्वारा इसका रूप ऐसा विलक्षण बना दिया गया कि इसमे इसके सयोगियो के रूप का कही लेश भी नही बचा। इसका पहला रूप क्षत्रप राजा सोडास (सुदास) के मथुरा के लेख से लिया गया है। दूसरा रूप पहले से मिलता-जुलता है तथा तीसरा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे सर्वत्र मिलता है।

ज्ञ—यह भी क्ष की तरह ही एक सन्ध्यक्षर है, जो ज् और ञ की सन्धि से बना है। इसका पहला रूप रुद्रदामा के लेख मे मिलता है।[1] दूसरा रूप पहले से मिलता-जुलता है तथा अन्तिम दो रूप प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे सर्वत्र मिलते है।

उपस्थित तालिका से प्राय यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यञ्जनो के साथ जुडने वाले मात्रा-चिह्नो अर्थात् स्वर-चिह्नो की उत्पत्ति कैसे हुई।

देवनागरी अङ्को का विकास

देवनागरी लिपि के समान देवनागरी अङ्क भी ब्राह्मी के प्राचीन अङ्को के विकसित रूप है। प्राचीन शिलालेखो, दानपत्रो, सिक्को तथा हस्तलिखित ग्रन्थो को देखने से पता चलता है कि लिपियो के समान ही प्राचीन एव अर्वाचीन अङ्को मे भी अन्तर है। यह अन्तर केवल आकृतिगत नही है, अपितु उनके लिखने की पद्धति मे भी है। वर्तमान समय मे जैसे १ से ९ तक अङ्क और शून्य, इन दस चिह्नो से अङ्कविद्या का सम्पूर्ण कार्य चलता है, ऐसा प्राचीन काल मे नही था। उस समय शून्य का व्यवहार नही होता था और दहाँई, सैकडा, हजार आदि के लिए अलग-अलग चिह्न निश्चित थे। अङ्को की इस शैली को विद्वानो ने प्राचीन शैली तथा जिसमे शून्य का व्यवहार होता है, उसे नवीन शैली की सज्ञा दी है।[2]

प्राचीन शैली —प्राचीन शैली मे १ से ९ तक के अङ्को के लिए नौ चिह्न, १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८० और ९० के लिए अलग-अलग नौ चिह्न

१. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र-२।
२. उपरिवत्, पृ० १०३।

और १०० तथा १००० के लिए दो चिह्न, कुल मिला कर बीस स्वतन्त्र चिह्न नियत थे। इन बीस चिह्नो से ९९९९९ तक की सख्या लिखी जा सकती थी। लाख, करोड, अरब आदि के लिए जो चिह्न थे, उनका पता अबतक नही लग सका है।

डा० बर्नेल ने भारतवर्ष की प्राचीन शैली के अङ्को की उत्पत्ति मिश्र के डिमोटिक अङ्को से मानी है।[1] बेले ने उन अङ्को के क्रम को मिश्र के हिएरोग्लिफिक अङ्को से प्रभावित माना है तथा अधिकाश अङ्कों की उत्पत्ति फिनीशियन, बैक्ट्रियन तथा अक्केडियन अङ्को से मानी है।[2] बूलर का अनुमान है कि वे अङ्क मिश्र के हिएरेटिक अङ्को से उत्पन्न हुए।[3]

प० गौ० ही० ओझा ने उपर्युक्त विद्वानो की मान्यताओ का सप्रमाण खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि 'प्राचीन शैली के भारतीय अङ्क भारतीय आर्यों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्माण किये हुए हैं'।[4]

नवीन शैली —नवीन शैली के अङ्क-क्रम मे १ से ९ तक के लिए नौ अङ्क और एक शून्य (०) है। इन्ही दस चिह्नो से अङ्क-विद्या का समस्त व्यापार चलता है। इस शैली मे प्राचीन शैली के समान प्रत्येक अङ्क केवल नियत सख्या का ही सूचक नही है, अपितु प्रत्येक अङ्क इकाई, दहाँई, सैकडा, हजार आदि प्रत्येक स्थान पर आ सकता है और स्थान के अनुसार दाहिनी ओर से बॉयी ओर हटने पर प्रत्येक अङ्क का स्थानीय मूल्य दसगुना बढता जाता है। इसी कारण इस सख्या-सूचक क्रम को दशगुणोत्तर सख्या कहते है। इस समय सम्पूर्ण ससार मे यही अङ्क-क्रम प्रचलित है।[5]

इस अङ्क-क्रम का भारत मे कब से प्रचलन हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नही है। प्राचीन शिला-लेखो तथा दानपत्रो मे ई०सन् की छठी शताब्दी तक के आस-पास तक प्राचीन शैली के ही अङ्क खुदे या लिखे हुए मिलते है। परन्तु ज्योतिष ग्रन्थो मे छठी शताब्दी के बहुत पहले से ही इस शैली के प्रमाण मिलते हैं। ५०५ ई० मे लिखित बराहमिहिर के 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक ग्रन्थ मे सर्वत्र नवीन शैली के अङ्को का ही प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि पाँचवी शताब्दी मे नवीन

---

१. ब०, सा० इ० पे०, पृ० ६५।
२. ज० रॉ० ए० सो० (न्यू सिरीज), जि० १४, पृ० ३३५ से, जि० १५, पृ० १ से।
३. बू०, इ० पे०, पृ० ८२।
४ गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, पृ० ११२-११४।
५. उपरिवत् पृ० ११५।

शैली के अङ्को का प्रचलन सर्वसाधारण मे तो था, किन्तु शिलालेखो एव दानपत्रो मे प्राचीन शैली के ही अङ्को का प्रयोग होता था।[१] इसका कारण, सम्भवत. शून्य को अमङ्गल-सूचक चिह्न मानने का विश्वास रहा हो, जो हिन्दुओ मे आज भी कम या अधिक मात्रा मे वर्तमान है।

वराहमिहिर ने 'पञ्च सिद्धान्तिका' मे पुलिश, रोमक, वशिष्ठ, सौर (सूर्य) और पितामह, इन पाँच के सिद्धान्तग्रन्थो का करण रूप से और लाटाचार्य, सिंहाचार्य, सहाचार्य के गुरु, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न तथा विजय नन्दिन के नाम एव मतो का अनेक स्थलो पर विशेष रूप से उल्लेख किया है। दुर्भाग्य से इस समय आर्यभट्ट के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य के ग्रन्थ उपलब्ध नही है। उपर्युक्त सभी आचार्य पाँचवी शताब्दी के बहुत पूर्व हुए थे।[२]

कुछ शताब्दी पूर्व पञ्जाब के बख्शाली नामक गाँव मे भोजपत्र पर लिखा एक ग्रन्थ जमीन के नीचे से मिला था, जिसमे नवीन शैली के अङ्को का उपयोग किया गया है। हॉर्नली ने इसका रचना-काल तीसरी या चौथी शताब्दी माना है।[३] बूलर ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है कि यदि हॉर्नली का अनुमान ठीक हो तो उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवीन शैली के अङ्को के निर्माण का समय ई० सन् के प्रारम्भ या उसके भी पूर्व का होगा।[४]

शून्य की योजना के द्वारा नौ अङ्को से गणितशास्त्र को सरल करने वाली शैली के अङ्को का सर्वप्रथम आविष्कार तथा प्रचार किस आचार्य के द्वारा हुआ, इसका आजतक भी पता नही चल सका है। किन्तु यह निश्चित है कि नवीन शैली के अङ्को की सृष्टि भारतवर्ष मे ही हुई। बाद मे अरब वालो ने भारत से यह अङ्क-क्रम सीखा और फिर अरब से सम्पूर्ण यूरोप मे इसका प्रचार हुआ।[५]

---

१. उपरिवत्।
२. उपरिवत्।
३. इ० ए०, जि० ७, पृ० २६।
४ बू० इ० पे०, पृ० ८२।
५. The socalled Arabic numerals are probably of Indian origin, having been brought by Arab Traders from the east, and introduced by them into Spain in the middle ages, whence they spread over Europe, coming into use in England perhaps about the eleventh century But

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के अनुसार—"यह सर्वथा निस्सशय कहा जा सकता है कि हमारे (अँगरेजी के) दशगुणोत्तर अङ्क-क्रम की उत्पत्ति भारतीय है। सम्भवत. खगोल सम्बन्धी उन सारणियो के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ने ७७३ ई० मे भारत से वगदाद लाया था, भारतवासियो से उसका प्रवेश अरब मे हुआ। वस्तुत ई० सन् की नवी शताव्दी मे प्रसिद्ध विद्वान अबुजफर मुहम्मद अल खारिजी ने अरवी मे उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से उसका प्रचार अरब मे वढने लगा। यूरोप मे शून्यसहित यह सम्पूर्ण अङ्क-क्रम वारहवी शताव्दी मे अरव वालो से लिया गया।"[१]

अल्वेरुनी ने भारत सम्बन्धी तहकीकात की अपनी अरवी पुस्तक मे, जो १०३० ई० के आसपास की है, लिखा है—"हिन्दू लोग अपनी वर्णमाला के अक्षरो को अङ्को के स्थान मे काम मे नही लाते जैसे कि हम हिब्रू वर्णमाला के क्रम से अरवी अक्षरो को काम मे लाते हैं। हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्से मे जिस प्रकार अक्षरो की आकृतियाँ भिन्न हैं, उसी प्रकार सख्यासूचक चिह्नो की भी, जिनको अङ्क कहते है, भिन्नता है। जिन अङ्को को हम काम मे लाते है, वे हिन्दुओ के सवसे सुन्दर अङ्को से लिये गये है। जिन भिन्न-भिन्न जातियो से मेरा सम्पर्क रहा उन सवकी भापाओ के सख्या-सूचक क्रम के नामो का मैंने अध्ययन किया है, जिससे मालूम हुआ है कि कोई जाति हजार से आगे नही जानती। अपने अङ्क-क्रम मे हजार से अधिक सख्या जानने वाले केवल हिन्दू ही है। वे सख्यासूचक क्रम को १८ वें स्थान तक ले जाते है, जिसको परार्द्ध कहते है। मैंने एक पुस्तक लिखकर यह बतलाया है कि इस विषय मे हिन्दू हमसे कितने आगे बढे हुए हैं।"[२]

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाण इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि वर्त्तमान शैली के अङ्क-क्रम का जन्म भारत मे ही हुआ। प्राचीन ब्राह्मी अङ्को से आधुनिक देवनागरी अङ्को के विकास-क्रम का स्वरूप क्या और कैसा था, यह अङ्को के विकास-क्रम की निम्नाङ्कित सारिणी से स्पष्ट होगा।

---

whether India invented them, or borrowed them from Greek or other traders from the west, is unknown. Edward Clodd, The story of Alphabet, P. 209.

१ Encyclopaedia Britanica, vol 17 P 626

२ सा० अ० इ०, जि० १, पृ० १७४-१७७।

देवनागरी अङ्कों के विकास की तालिका :

१
२
३
४
५
६
७
८
९

नागरी अङ्कों का विकास-क्रम —

१—इसका पहला रूप पूना जिले के नानाघाट तथा दक्षिण में नासिक आदि की गुफाओं में खुदे हुए आन्ध्रभृत्य सातवाहन तथा अन्य क्षत्रिय राजा के शिलालेखों में, मथुरा तथा उसके आसपास के प्रदेशों में प्राप्त क्षत्रिय एवं कुशन वंशी राजाओं के शिलालेखों में तथा मालवा, गुजरात, राजपूताना आदि पर राज्य करने वाले क्षत्रिय राजाओं के पुराने सिक्कों में मिलता है।[२] ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के आसपास तक १ अङ्क प्रायः अपने पहले रूप में ही लिखा जाता था, आजकल भी व्यापारी लोग खाता-वही में रुपये के अङ्कों के बाद आने का अङ्क इसी रूप में लिखते हैं। १ का दूसरा रूप गुप्तवंशी राजाओं के शिला-लेखों, ईसवी सन की छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के वल्लभी राजाओं के ताम्रपत्रों[३] तथा आठवीं शताब्दी के आसपास लिखे गये नेपाली शिला-लेखों में पाया जाता है। इस रूप में पाया जाने वाला घुमाव अङ्क को सुन्दर बनाने तथा त्वरापूर्ण लेखन के अनुकूल बनाने के प्रयत्न का परिणाम है। दूसरे रूप के आरम्भ के हिस्से में छोटी सी गाँठ लगाकर घुमाव बढ़ाने के प्रयत्न के फलस्वरूप तीसरे रूप का विकास हुआ है। यह रूप 'बावर मैनुस्क्रिप्ट' से लिया गया है। तीसरे रूप के अन्त के हिस्से को नीचे की ओर बढ़ाने में चौथे रूप का विकास हुआ है। यह रूप ग्यारहवीं शताब्दी तक के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में मिलता है। इसीका विकास क्रमशः पाँचवें और छठे रूपों में हुआ है, जो वर्तमान १ के प्रायः समान ही है।

२—इसका पहला रूप दो आड़ी लकीरों का था। इसी में क्रमशः सुन्दरता लेखन की सुगमता तथा त्वरा लाने के उपक्रम के फलस्वरूप परवर्ती रूपों का विकास

२. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—४१।
३. उपरिवत्।

हुआ। तीसरा रूप 'बावर मैनुस्क्रिप्ट' मे मिलता है। तीसरे रूप के अन्तिमाश के परस्पर मिल जाने से चौथा रूप विकसित हुआ है। २ का वर्तमान घुण्डीदार रूप लेखनी को विना उठाये लिखने के प्रयास का परिणाम है, जो अनेक शिला-लेखो, ताम्रपत्रो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे पाया जाता है।

३—इसका प्रारम्भिक रूप पहले तीन आडी लकीरो का था, जिनमे घुमाव डालने से दूसरा रूप तथा प्रारम्भ के अश मे छोटी-छोटी सी गाँठ बनाने से तीसरा रूप विकसित हुआ। तीसरा रूप वर्तमान रूप के प्राय समान ही है। इसके विभिन्न रूपो के विकास के मूल मे सुन्दरता लाने के प्रयत्न तथा त्वरापूर्ण लेखन के अनुकूल रूप प्रदान करने के प्रयत्न मुख्य कारण के रूप मे वर्तमान रहे है।

४—इसका पहला रूप देहरादून मे कालसी के निकट मौर्यवशी राजा अशोक के तेरहवी धर्माज्ञा वाले शिला-लेख मे मिलता है। यह रूप अशोक-कालीन नागरी के क अक्षर के रूप से साम्य रखता है। दूसरा रूप दक्षिण के नानाघाट तथा अन्य स्थानो के शिला-लेखो मे मिलता है।[1] तीसरा रूप क्षत्रिय वशी राजाओ के सिक्को मे पाया जाता है, जिसमे नीचे की तरफ की खडी लकीर के अन्त मे घुमाव डाला गया है। त्वरापूर्ण लेखन के प्रयत्न मे उसी घुमाव को गाँठ का रूप देने तथा बीच की आडी लकीर के साथ उसको मिला देने से चौथे रूप का विकास हुआ है, जो ४ के वर्तमान रूप से बहुत अधिक साम्य रखता है। यह रूप दसवी शताब्दी के आसपास की अनेक हस्तलिखित पुस्तको मे पाया जाता है।[2]

५—इसका पहला रूप आन्ध्र-भृत्यो तथा क्षत्रिय राजाओ के लेखो मे मिलता है।[3] दूसरा रूप गुप्तवशी राजाओ के शिला-लेखो मे पाया जाता है, जिसमे खडी पाई को कुछ टेढा बनाकर सुन्दरता लाने का प्रयत्न किया गया है। तीसरा रूप नेपाल के शिला-लेखो तथा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे मिलता है। चौथा तथा पाँचवाँ रूप नवी तथा दसवी शताब्दी के लेखो मे पाया जाता है।[4] ये रूप नागरी के वर्तमान ५ के रूप के समान ही है। इस समय देश मे ५ के पाचवे तथा छठे, दोनो रूपो का प्रचलन है।

६—इसका पहला रूप बिहार के शाहाबाद जिले के सहसराम के लेख मे तथा

१. प० गौ० ही० ओ०, भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र—४१।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, लिपि-पत्र—४१।
४ उपरिवत्।

जब्बलपुर जिले के रूपनाथ के लेखो मे उपलब्ध है। इस रूप का वर्तमान ६ के रूप मे पर्याप्त साम्य है। इसके दूसरे रूप का विकास पहले रूप से ही हुआ है, जो मथुरा और उसके आसपास पाये जाने वाले शिला-लेखो मे मिलता है।[1] तीसरा रूप दूसरे रूप के प्राय समान ही है, जो काठियावाड के हडाला से मिले हुए कन्नौज के प्रतिहार वशी राजा महिपाल के ९४१ ई० के ताम्रपत्र से लिया गया है।

७—इसका प्रारम्भिक रूप आन्ध्रभृत्य वशी राजाओ के शिला-लेखो से लिया गया है।[2] दूसरा रूप क्षत्रिय वशी राजाओ के सिक्को मे पाया जाता है।[3] इस रूप मे खडी पाई के निचले हिस्से को बायी ओर घुमाव दिया गया है। उसी घुमाव को कुछ और बढाने से तीसरा और चौथा रूप विकसित हुआ है। ये दोनो रूप क्षत्रिय राजाओ के सिक्को तथा वल्लभी राजाओ के ताम्रपत्रो मे मिलते हैं। इसी रूप से ७ के वर्तमान रूप का विकास हुआ है।

८—इसका पहला रूप आन्ध्रभृत्य वशी राजाओ के लेखो मे मिलता है।[4] दूसरा तथा तीसरा रूप गुप्तवशी राजाओ के लेखो मे पाया जाता है।[5] तीसरे रूप से ही चौथा रूप विकसित है। तीसरे रूप के निचले हिस्से के घुमाव को बायी ओर से दायी ओर कर देने से चौथा रूप बना है, जिससे वर्तमान ८ का रूप विकसित हुआ है।

९—इसका पहला तथा दूसरा रूप आन्ध्रभृत्यो के लेखो मे मिलता है।[6] तीसरा रूप क्षत्रिय राजाओ के सिक्को मे पाया जाता है। त्वरापूर्ण लेखन के परिणाम स्वरूप तीसरे रूप से चौथे रूप का विकास हुआ है। चौथा रूप गुप्तवशी राजाओ के लेखो मे मिलता है। चौथे रूप मे बायी ओर के निचले हिस्से की गोलाई बढा देने से पाँचवे रूप का विकास हुआ है, जिसका वर्तमान ९ से कुछ साम्य है। यह रूप दसवी शताब्दी के लेखो मे पाया जाता है। इसी से छठे रूप का विकास हुआ है, जिसका प्रयोग अभी भी लोग कही-कही करते है। इसी रूप से वर्तमान ९ का रूप विकसित है।

---

१ प० गो० ही० ओ०, , भा० प्रा० लि०, लिपि-पत्र-४१।
२ उपरिवत्।
३ उपरिवत्।
४. उपरिवत्, लिपि-पत्र—४१।
५. उपरिवत्।
६ उपरिवत्।

६—यह ६ का ही भिन्न रूप है। इसका पहला और दूसरा रूप ८ के पहले तथा दूसरे रूपो के ही समान है। तीसरे रूप मे ऊपर के हिस्से मे गाँठ लगा दी गयी है। त्वरापूर्ण लेखन के कारण इसी रूप से चौथा रूप विकसित हुआ है, जो ९ के वर्तमान रूप के समान है।

हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि नागरी अङ्को मे शून्य (०) का प्रयोग छठी शताब्दी तक के शिला-लेखो, ताम्रपत्रो, सिक्को या हस्तलेखो मे नही मिलता। छठी शताब्दी से शून्य का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि उसके पूर्व नागरी अङ्क प्राचीन पद्धति से ही लिखे जाते थे, जिसमे शून्य के प्रयोग की आवश्यकता नही थी, नवीन पद्धति के अङ्को का लेखन, जिसमे शून्य का प्रयोग होता है, बाद मे प्रचलित हुआ।

अध्याय

: ८ :

नागरी-विरोधी आन्दोलन

पृष्ठभूमि —

अँगरेज लोग भारत में अपने शासन के प्रारम्भिक काल से ही, रोमन-लिपि के व्यापक प्रचार के लिए उतना ही प्रयत्नशील रहे, जितना अपने धर्म, साहित्य, सभ्यता एवं भाषा के प्रचार के लिए। मेकॉले की १८८३ ई० वाली घोषणा ने अँगरेजों की इस सुनिश्चित योजना को बिलकुल स्पष्ट कर दिया था कि वे भारतीयों के केवल रङ्ग और रक्त को ही भारतीय रहने देना चाहते थे। नागरी के स्थान पर रोमन लिपि का प्रचार भी उनकी इसी योजना का एक अङ्ग था, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में, आगे चलकर, सम्पूर्ण देश में देवनागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यहाँ संक्षेप में उन सभी स्थितियों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

अँगरेजी भाषा एवं साहित्य के व्यापक प्रचार के साथ, यों तो रोमन लिपि का प्रचार स्वतः हो ही रहा था, किन्तु अँगरेज लोग मात्र इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। वे भारत की विभिन्न भाषाओं की भिन्न-भिन्न लिपियों के स्थान पर भी रोमन लिपि को ही प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इस प्रकार वे समस्त भारतीय लिपियों का सर्वनाश करने पर तुले हुए थे।

अपने उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन लोगों ने साम-दाम-भय-भेद आदि सभी प्रकार की नीतियों का उपयोग किया। धर्म-प्रचारक पादरी हों या पुलिस अधिकारी, न्यायाधीश हों या फौजी अफसर, कोई भी अँगरेज तथा उनके फरमाबरदार भारतीय, चाहे वे किसी भी विभाग या क्षेत्र के क्यों न हों, रोमन लिपि के गुणगान को प्रभु-भजन के समान ही अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। रोमन-प्रचार के लिए पुस्तकें छापी गयीं, लेख लिखे गये, भाषण दिये गये, गोष्ठियाँ

आयोजित हुई और इस प्रकार भारत के हजारो शिक्षित दासानुदासो के मन मे यह धारणा बद्धमूल कर दी गयी कि रोमन लिपि ससार की अद्वितीय लिपि है।

दूसरी ओर, रोमन की योग्यता प्रमाणित करने के लिए उस पर आधारित टङ्कन, मुद्रण, दूरालेखन (टेलीप्रिन्टर), तार (मोर्सकोड), शीघ्रलिपि (शौर्टहैण्ड), सङ्केत-शब्द (कोड वर्ड्स) आदि अनेक प्रकार के यान्त्रिक तथा प्राविधिक उपकरणो के अस्त्रो से सज्जित कर, उसे लोगो के समक्ष उपस्थित किया गया। फिर भला उसका लोहा कौन नही मानता ? चकाचौंध मे पडकर सरल भारतीयो ने रोमन के अस्त्रो की शक्ति को ही उसकी भुजा की शक्ति मान ली, अलङ्कारो को ही आकृति का सौन्दर्य समझ लिया। परिणाम स्वरूप, भारत के अनेक ख्यातनाम भाषाशास्त्रियो, शिक्षाविशारदो एव उच्च पदासीन व्यक्तियो ने रोमन-प्रचार का झण्डा अपने स्वामी अँगरेजो के हाथ से अपने हाथ मे ले लिया और बिना गम्भीरता पूर्वक सोचे-समझे, देवनागरी के विरुद्ध रोमन का खुलेआम प्रचार करने के लिए, कृतसङ्कल्प हो, रणक्षेत्र मे कूद पडे।[1]

उस तूफानी विजय-अभियान मे रोमन लिपि के सम्मुख दो प्रचण्ड समस्याएँ थी, एक सस्कृत साहित्य के लिप्यन्तरण की और दूसरी देवनागरी लिपि के उन्मूलन की।

भारत की अन्य लिपियो को अपदस्थ कर उनका स्थान स्वय लेने के पूर्व रोमन लिपि के लिए सस्कृत साहित्य के लिप्यन्तरण की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना अनिवार्य था, क्योकि वही उसकी योग्यता की कसौटी थी। यह परीक्षा वास्तव मे रोमन की आन्तरिक योग्यता की परीक्षा थी। इसमे उसे अपने अस्त्र-शस्त्र से कोई विशेष सहायता नही मिल सकती थी। यदि इस परीक्षा मे रोमन सफल हो जाती, अर्थात् यदि उसमे प्राचीन वैदिक, सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश के वाङ्मय का लिप्यन्तरण सम्भव हो जाता तो प्राय यह निश्चित था कि वह भारत की अन्यान्य आधुनिक भाषाओ की एकमात्र सफल लिपि के रूप मे इस देश मे सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाती। किन्तु इस परीक्षा मे वह अनुत्तीर्ण हो गयी। वैदिकी, संस्कृत आदि भारतीय भाषाओ की ध्वन्यात्मक विविधताओ एव विशिष्टताओ के

---

१ डॉ० सु० कु० चटर्जी ने १९३५ ई० में कलकत्ता वि० वि के जर्नल, डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स' के भाग २७ में 'रोमन अल्फावेट फॉर इण्डिया' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने भारत की समस्त भाषाओं के लिए रोमम लिपि का प्रयोग उचित बताया था तथा रोमन में सबके लिखने की प्रणाली बतायी थी।

सम्मुख परास्त होकर उसे घुटने टेक देने पड़े। इस प्रकार उसके समर्थको का समस्त भारतीय लिपियो के स्थान पर उसे प्रतिष्ठित देखने का सङ्कल्प, बहुत कुछ प्रारम्भ मे ही शिथिल पडने लगा। किन्तु, मात्र इतने से वे हारकर बैठ जाने वाले जीव नही थे।

अब उन लोगो ने रोमन की योग्यता प्रमाणित करने के लिए दूसरे मोर्चे पर सङ्घर्ष की तैयारी की। जो कार्य वे प्रत्यक्ष रचनात्मक पद्धति से नही कर सके, उसे अब परोक्ष ध्वसात्मक पद्धति से साधना चाहा। अपनी समस्त शक्ति एव उपलब्ध साधनो से सुसज्जित होकर रोमन के पक्षधरो ने सङ्घबद्ध रूप से देवनागरी के विरुद्ध प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। चारो ओर से अभेद्य व्यूह बनाकर उन प्रोत्सिक्त व्यक्तियो ने देवनागरी पर तीक्ष्ण कुतर्क-बाणो की अजस्र वर्षा प्रारम्भ कर दी। देवनागरी, जो वैदिकी, सस्कृत, पालि, प्राकृत एव अपभ्र श जैसी समृद्ध प्राचीन भाषाओ की नितान्त सक्षम वाहिका रह चुकी थी तथा जो हिन्दी, मराठी, नेपाली आदि अनेक विकासोन्मुख आधुनिक भाषाओ की सफल लिपि थी, इतना ही नही, बल्कि जो हजारो वर्ष से प्रतिकूल स्थितियो के बीच रहने पर भी अपनी योग्यता एव वैज्ञानिक स्वरूप के कारण धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश मे स्वत व्याप्त होकर राष्ट्रलिपि के रूप मे घोषित किये जाने की सम्भावनाओ से भरी थी, उसे रोमन के पक्षधरो ने समवेत स्वर से नितान्त अयोग्य, अवैज्ञानिक एव सर्वथा त्याज्य लिपि घोषित किया। इसके मूल मे कई प्रकार के कारण वर्त्तमान थे, जो सक्षेप मे आगे दिये जा रहे हैं।

नागरी-विरोधी आन्दोलन के मूल कारण —

जिन कारणो से प्रेरित होकर रोमन के पक्षधर देवनागरी का विरोध कर रहे थे (या आज भी कर रहे है), वे सक्षेप मे निम्नलिखित है —

(१) अँगरेजी भाषा एव रोमन लिपि के प्रति अतिरिक्त मोह।
(२) हिन्दी भाषा एव देवनागरी लिपि के प्रति ईर्ष्या-द्वेष के भाव।
(३) प्रान्तीयता की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति।
(४) राष्ट्रीयतावादी उदार दृष्टिकोण का अभाव।
(५) तटस्थ विवेचन-शक्ति का अभाव।
(६) देवनागरी लिपि के ऐतिहासिक-विकास-क्रम से अनभिज्ञता।
(७) दासतामूलक सस्कार के कारण स्वदेश एव स्वदेशी वस्तुओ के प्रति पड़ी हुई हीनभावना की ग्रन्थि।

(८) विशिष्टता-प्रदर्शन एव आत्मप्रचार की क्षुद्र प्रवृत्ति ।

(९) ध्वनि-विज्ञान एव लिपि-विज्ञान का अपर्याप्त ज्ञान ।

(१०) अँगरेजो को अपनी चाटुकारिता से प्रसन्न रखने की नीति ।

नागरी के विरुद्ध प्रचार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति, प्राय: इन्ही कारणो मे से किसी एक या एकाधिक से प्रेरित और प्रभावित हो रहा था (और आज भी हो रहा है)।

नागरी के विपक्ष में विरोधियों के आक्षेप :—

नागरी को रोमन से हीन प्रमाणित करने के लिए नागरी-विरोधी विद्वानो के द्वारा आजतक प्राय जितने तर्क दिये गये है, वे सक्षेप मे निम्नलिखित है :—

(१) नागरी रोमन की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट लिपि है।

(२) नागरी के लेखन मे रोमन के समान त्वरा सम्भव नही है।

(३) नागरी मे वर्णों की सख्या अधिक है, इसलिए उसे सीखने मे तथा उसके टङ्कन, मुद्रण आदि मे कठिनाई होती है ।

(४) नागरी मे शिरोरेखा का प्रयोग अनावश्यक अलङ्करण के रूप में होता है, इससे लेखन मे अतिरिक्त श्रम पडता है ।

(५) नागरी मे अनेक ऐसे अनावश्यक वर्ण है, जिनका शुद्ध उच्चारण सम्भव नही, इसलिए वे वर्ण अन्य वर्णों के समान उच्चरित होते हैं, जैसे—ऋ, ॠ, ऌ, ल, ञ, ष आदि ।

(६) नागरी के कई वर्णों के रूपो मे इतना साम्य है कि एक से दूसरे का भ्रम हो जाता है, जैसे—ख से रव का, ध से घ का, भ से म का आदि । इन सन्दिग्ध वर्णों के कारण देवनागरी को वैज्ञानिक लिपि नही कहा जा सकता ।

(७) नागरी मे कई सयुक्त वर्णों के लिए अलग से स्वतन्त्र वर्ण हैं, जो अनावश्यक है और जिनसे व्यर्थ ही वर्णों की सख्या बढती है, जैसे क्ष के लिए क्ष, त्त्र के लिए त्र तथा ज्ञ के लिए ज्ञ ।

(८) नागरी मे कई वर्णों के लिए दो-दो रूप प्रचलित हैं, जिनसे अनावश्यक ही उलझनें उत्पन्न होती है, जैसे—अ-अ्र, छ-छ, झ-झ, ण-ए और क्ष-क्ष ।

(९) नागरी मे अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रयोग का कोई भी निश्चित नियम नही है । कही तो पूरे चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता है . जैसे—चाँद, साँस आदि मे और कही केवल बिन्दु का, जिससे वहाँ अनुस्वार का भ्रम होने लगता है; जैसे—मे, मैं आदि मे । इसी प्रकार अनुस्वार एव अनुनासिक व्यञ्जनो के प्रयोग

मे धाँधली है, कोई पण्डित, चञ्चल, अङ्गद, चन्दन और सम्बन्ध लिखता है तो कोई पंडित, चचल, अगद, चदन और संबध।

(१०) नागरी मे र के चार रूप है—र, ^, ⁄ और ʿ। यह विविधता तथा इनके प्रयोगो के विधान नितान्त अवैज्ञानिक है।

(११) नागरी मे वर्णो को सयुक्त करने की कोई निश्चित पद्धति नही है। कभी वर्णो का सयोग आमने-सामने होता है, जैसे क्क, क्ख, च्च, च्छ आदि और कभी ऊपर-नीचे, जैसे—ट्ट, ड्ड आदि। कभी-कभी तो कोई वर्ण अन्य वर्णो के ठीक माथे पर जा विराजता है, जैसे—कर्म, धर्म आदि मे र्।

(१२) नागरी मे स्वरो के लिए स्वतन्त्र वर्ण के अतिरिक्त अलग से मात्रा-चिह्न होने के कारण एक स्वर के लिए दो-दो चिह्न स्मरण रखने पडते हैं, जैसे—आ—ा, इ—ि, ई—ी, उ—ु, ऊ—ू, ए—े, ऐ—ै, ओ—ो और औ—ौ।

(१३) नागरी मे मात्राएँ वर्ण के चारो ओर लगती है, जो टङ्कन-मुद्रण आदि के लिए असुविधाजनक तथा अवैज्ञानिक है।

(१४) नागरी मे इ की मात्रा (ि) वर्ण के पहले लगती है, जो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से अनुपयुक्त है।

(१५) नागरी मे अ के अतिरिक्त अन्य स्वरो के लिए स्वतन्त्र वर्ण अनावश्यक है, क्योकि अ मे मात्रा लगाकर सबका काम चल सकता है, जैसे—अा, अि, अी, अु, अू, अे, अै, अो और अौ।

(१६) नागरी लिपि ध्वनि-विश्लेषण की दृष्टि मे रोमन के समान वैज्ञानिक नही है।

(१७) नागरी-लेखन मे बार-बार हाथ उठाना पडता है, कभी मात्रा-प्रयोग के लिए, कभी शिरोरेखा देने के लिए, कभी अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु लगाने के लिए और कभी विराम-चिह्न के लिए। इसलिए इसमे अधिक श्रम पडता है और गति मन्द हो जाती है।

(१८) नागरी मे कई भारतीय तथा विदेशी भाषाओ की अनेक ध्वनियो के लिए वर्णो का अभाव है।

(१९) नागरी का स्वरूप कोड वर्ड्स (सङ्केत-शब्द), शीघ्रलिपि (शॉर्टहैण्ड), तार (मोर्स कोड) तथा दूरालेखन (टेलीप्रिण्टर) आदि के अनुकूल नही है।

(२०) नागरी के मुद्रण मे अधिक समय, श्रम, स्थान और व्यय लगता है। इसमे एक पंक्ति के लिए तीन पक्तियाँ सग्रथित करनी पडती है। साथ ही इसमे सब प्रकार का मुद्रण सम्भव नही है।

(२१) नागरी मे रोमन के समान त्वरा वाले टङ्कन-यन्त्र का निर्माण सम्भव नही। इसके टङ्कन मे अधिक समय, श्रम, स्थान और व्यय लगता है।

नागरी-विरोधी आक्षेपों की समीक्षा :—

(१) क्लिष्टता

यह आरोप किसी भी प्रकार सर्वमान्य नही हो सकता कि नागरी रोमन की तुलना मे अधिक क्लिष्ट लिपि है। लिपि की क्लिष्टता या सरलता वहुत कुछ व्यक्ति एव अभ्याम मापेक्ष होती है। अनभिज्ञ एव अनभ्यस्त व्यक्ति को सरल लिपि भी क्लिष्ट प्रतीत होती है, किन्तु अभिज्ञ एव अभ्यस्त व्यक्ति के लिए क्लिष्ट लिपि भी सरल वन जाती है। जिन्हे रोमन के साथ देवनागरी का भी सम्यक् ज्ञान है, वे कभी भी देवनागरी को रोमन से अधिक क्लिष्ट नही स्वीकार करेगे। एक दूसरी वात यह भी है कि नागरी रोमन के समान वर्णात्मक न होकर उससे अधिक विकसित अवस्था की अक्षरात्मक लिपि है। इसमे उच्चरित ध्वनि-समूहो को रोमन की तरह वर्ण-क्रम मे नही, अपितु अक्षरक्रम मे (सिल्लेविकली) अधिक सन्तुलित एव वैज्ञानिक पद्धति से पूर्ण विशुद्धतापूर्वक लिपिवद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इसलिए यदि यह रोमन से कुछ जटिल प्रतीत होती है तो इसका एक मात्र कारण इसमे रोमन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिकता का निर्वाह है। इस प्रकार थोडी सी क्लिष्टता के कारण यदि यह रोमन से अधिक वैज्ञानिक, पूण, सन्तुलित एव विशुद्ध है तो यह इसका दोप नही, वल्कि सभी दृष्टियो से वरेण्य गुण है।

(२) लेखन की त्वरा

लेखन की त्वरा भी लिपि से अधिक लिखने वाले की क्षमता पर निर्भर करती है। प्रत्येक लिपि मे कुछ तीव्रगतिशील एव कुछ मन्दगतिशील लिखने वाले हुआ ही करते हैं। तेज लिखने वाला व्यक्ति किसी भी लिपि मे समान तेजी प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु मन्द लिखनेवाले के लिए कोई भी लिपि त्वरा नही दे सकती। इसीलिए अनेक व्यक्ति रोमन मे भी घोंघे की चाल चलते पाये जाते हैं और दूसरी ओर अनेक व्यक्ति नागरी मे भी मिग्‌जेट की उडान भरते देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति मे इस तर्क को स्वीकार करने का कोई भी विशेप कारण उपलव्ध नही है कि देवनागरी लिपि मे रोमन के समान त्वरा सम्भव नहीं है।

(३) वर्णो की अधिकता

यदि नागरी मे वर्णो के सख्याधिक्य को दोष मान लिया जाय तो उसके साथ ही सस्कृत मे ध्वनियो के सख्याधिक्य को भी उसका दोष मानना होगा। स्पष्ट ही यह एक असङ्गत और अनर्गल आरोप है। किसी लिपि की वर्ण-सख्या उससे सम्बद्ध भाषा की ध्वनि-सख्या पर निर्भर करती है। लिपि की वैज्ञानिकता की यह पहली शर्त है कि उसमे सम्बद्ध भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र वर्ण हो। इस दृष्टि से रोमन एक नितान्त अवैज्ञानिक लिपि है, जिसे बर्नार्ड शॉ जैसे व्यक्ति ने भी स्वीकार किया है। रोमन मे एक-एक ध्वनि के लिए कई-कई वर्णों को एक साथ मिलाना पडता है, साथ ही उसमे ध्वनि एव वर्ण का परस्पर कोई निश्चित सम्बन्ध है ही नही। रोमन का एक वर्ण कभी-कभी पाँच-पाँच ध्वनियो का प्रतिनिधित्व करता हुआ पाया जाता है। इसके विपरीत नागरी मे कही भी इस प्रकार का दोष नही है। नागरी मे वर्णो का सख्याधिक्य, उससे सम्बद्ध वैदिकी, सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी, मराठी आदि अनेक भाषाओ की ध्वनियो के सख्याधिक्य पर निर्भर है। अत यह उसका दोष नही, वैज्ञानिकता का प्रमाण है। यदि इस वैज्ञानिक अनिवार्यता के कारण उसे सीखने या टङ्कन-मुद्रणादि मे कुछ अधिक कठिनाई भी होती है तो इसके लिए नागरी को दोषी नही ठहराया जा सकता।

(४) शिरोरेखा

नागरी मे शिरोरेखा का प्रयोग, मात्र अलङ्करण के उद्देश्य से नही होता। उसके और भी कई उद्देश्य हैं, जैसे—(क) शिरोरेखा के माध्यम से अनेक वर्णो का परस्पर पार्थक्य सूचित किया जाता है, उदाहरणार्थ—ध-घ, भ-म आदि। ध और भ के ऊपर के दोनो छोर शिरोरेखा से सम्बद्ध नही किये जाते, किन्तु घ और म के ऊपर के दोनो छोर सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। यदि शिरोरेखा का प्रयोग न किया जाय तो ये वर्ण परस्पर सन्दिग्ध और भ्रमोत्पादक बन जायँगे। (ख) शिरोरेखा के प्रयोग से लेखन मे शब्दो का परस्पर पार्थक्य सूचित किया जाता है। शिरोरेखा के अभाव मे शब्दो को परस्पर सटाकर नही लिखा जा सकता, क्योंकि उस स्थिति मे पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम वर्ण परवर्ती शब्द के प्रारम्भिक वर्णो के साथ मिलकर भ्रम उत्पन्न कर सकते है, जैसे कम ला कर को कोई कमलाकर तथा महा देव को कोई महादेव पढ सकता है। शिरोरेखा शब्दो को अलग-अलग रखकर इस प्रकार के भ्रम की सम्भावना कोई दूर करती है। यदि कोई यह कहे कि यह कार्य

तो शब्दो को अलग-अलग लिखने से भी हो सकता है, जैसा कि रोमन मे होता है, तो उसका उत्तर यह है कि उस स्थिति मे अधिक स्थान (स्पेस) लगेगा, जिससे व्यय मे वृद्धि हो जायगी। (ग) शिरोरेखा समस्त पदो को स्पष्ट करने का कार्य भी करती है। उसके अभाव मे लम्बे-लम्बे समस्त पद, जैसाकि बाणभट्ट आदि सस्कृत लेखको और कवियो के ग्रन्थो मे मिलते है, दुर्बोध और भ्रमोत्पादक बन जायँगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिरोरेखा को अनावश्यक अलङ्करण कहना, एक नितान्त असङ्गत एव भ्रामक प्रचार करना है। वस्तुत देवनागरी को वैज्ञानिक रूप देने मे बहुत कुछ शिरोरेखा का भी योगदान है।

(५) अनावश्यक वर्ण

नागरी के ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ष् और ञ् वर्ण आधुनिक भारतीय भाषाओ की ध्वनियो की दृष्टि से अनावश्यक बतलाये जाते है। इनमे जहाँ तक ष् और ञ् का प्रश्न है, इनसे सम्बद्ध ध्वनियाँ, क्रमश मूर्धन्य तथा तालव्य व्यञ्जनो के पूर्व आधुनिक भाषाओ मे भी श्रुतिगोचर होती है। इस कारण सूक्ष्म ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उक्त वर्णो को व्यतिरिक्त नही माना जा सकता। हाँ, ऋ, ॠ, तथा लृ, ॡ का स्वरत्व आज निश्चय ही लुप्त हो चुका है। किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि नागरी का सम्बन्ध वैदिकी, सस्कृत आदि प्राचीन भारतीय भाषाओ से भी है, जिनमे इन वर्णो से सम्बद्ध ध्वनियाँ वर्तमान थी। उन भाषाओ के सभी ग्रन्थो मे इन वर्णो का प्रयोग मिलता है। ऐसी स्थिति मे आधुनिक भाषाओ की दृष्टि से अनावश्यक समझकर इन वर्णो का बहिष्कार नही किया जा सकता और न इन्हे अनावश्यक ही कहा जा सकता है। आधुनिक भाषाओ मे भी प्राचीन भाषाओ से गृहीत तत्सम शब्दो मे इन वर्णो का प्रयोग सर्वत्र होता है। प्रधानत. वैदिक साहित्य की दृष्टि से तो ये सबके सब वर्ण अनिवार्य है। यदि इन वर्णो को आज अनावश्यक समझकर देवनागरी 'वर्णमाला से अलग कर दिया जाय तो कुछ दिनो के बाद वैदिक तथा सस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन सिन्धुघाटी-लिपि तथा ब्राह्मी लिपि के लेखो के समान ही दुस्तर हो जायगा। इसलिए आज लोग इन वर्णो का शुद्ध उच्चारण जाने या न जानें, जब तक इन वर्णो से युक्त भारत की प्राचीन भाषाओ का वाङ्मय वर्तमान रहेगा और उनके अध्ययन-अध्यापन की उपयोगिता बनी रहेगी, तबतक नागरी वर्णमाला के अन्तर्गत इन वर्णों की उपस्थिति अनिवार्य रहेगी।

(६) सन्दिग्ध वर्ण

नागरी के ख वर्ण मे रव की सन्दिग्धता का आरोप सैद्धान्तिक दृष्टि से एक सीमा तक सही माना जा सकता है' क्योकि उसका स्वरूप पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। किन्तु व्यवहार मे वस्तुत कभी किसी को ख से रव का भ्रम होता नही। इस प्रकार के एकाध सन्दिग्ध वर्ण प्राय प्रत्येक लिपि मे पाये जाते है। रोमन मे भी e-c और u-v वर्णो के युग्म इसी प्रकार के है, जिनके लिखित रूप मे प्रत्यक्षत' कोई विशेष अन्तर नही प्रतीत होता और लोग पढते समय प्राय अनुमान से ही इन वर्णो को पहचानते हैं। इसी प्रकार अरबी-फारसी लिपि मे तो ऐसे सन्दिग्ध वर्णो की भरमार है।

नागरी मे ध घ और भ म की पारस्परिक सन्दिग्धता का आरोप बिल्कुल असङ्गत है। यह पहले भी बताया जा चुका है कि इन तथाकथित सन्दिग्ध वर्णो का पारस्परिक पार्थक्य शिरोरेखा के माध्यम से स्पष्ट रूप से सूचित हो जाता है। ध मे ऊपर के दोनो छोर शिरोरेखा मे परस्पर सम्बद्ध नही किये जाते, किन्तु घ के दोनो छोर शिरोरेखा मे सम्बद्ध रहते हैं। इसी प्रकार भ के ऊपर के दोनो छोर भी परस्पर शिरोरेखा से असम्बद्ध और म के दोनो छोर सम्बद्ध रहते है। इतना अन्तर उन वर्णो के पारस्परिक पार्थक्य को सूचित करने के लिए पर्याप्त है। उनमे न तो भ्रम की कोई सम्भावना है और न आजतक किसी को भ्रम हुआ है। इस प्रकार इन वर्णो मे सन्दिग्धता का आरोप करना, एक काल्पनिक भ्रम का अनुचित प्रचार करना है।

(७) क्ष, त्र, ज्ञ

नागरी के क्ष, त्र और ज्ञ वर्णो के स्वरूप एव अनिवार्यता पर अलग-अलग विचार करना अधिक समीचीन होगा।

क्ष .—यह क् और ष के सयुक्त रूप का स्वतन्त्र चिह्न माना जाता है। इसके सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि यदि यह क् और ष के सयुक्त रूप को ही प्रकट करता है तो उसके लिए इस स्वतन्त्र चिह्न की क्या आवश्यकता है? जिस प्रकार अन्य सयुक्त वर्ण देवनागरी मे लिखे जाते है, उसी प्रकार क्ष भी क्यो नही लिखा जाय? व्यर्थ ही एक अलग स्वतन्त्र वर्ण रखकर वर्णो की संख्या मे वृद्धि करने से क्या लाभ है? यहाँ सोचना यह है कि क्या हमारे पूर्वजो ने व्यर्थ ही इस वर्ण का निर्माण किया? निश्चय ही ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो अर्धमात्रा-

लाघव को पुत्र-जन्म के समान हर्षप्रद समझते थे, उनके सम्बन्ध मे हम ऐसी कल्पना नही कर सकते। वास्तविक तथ्य यह है कि क्ष ध्वनि मे क् और प व्यञ्जनो के उच्चारण के प्रयत्न तत्सम्बन्धी उच्चारण-स्थानो पर बिल्कुल साथ-साथ (साइमल-टेनियसली) होते हैं और प्रयत्न की समाप्ति भी साथ-साथ होती है, जिसके फल-स्वरूप दोनो व्यञ्जन अ स्वर से युक्त होकर बिल्कुल एक साथ उच्चरित होते हैं। उनमे कोई किसी के आगे-पीछे नही होता अर्थात् दोनो मे पूर्वापर सम्बन्ध नही, साहचर्य सम्बन्ध है। इसलिए लिपि मे एक को पहले और दूसरे को बाद मे लिखकर क्‍ष के रूप मे सयुक्त दिखाना अवैज्ञानिक होता, जिससे बचने के लिए ही इस स्वतन्त्र वर्ण क्ष का निर्माण किया गया। इस प्रकार क्ष हमारे विद्वान पूर्वजो के ध्वनि-विज्ञान एव लिपि-विज्ञान सम्बन्धी पूर्णतम ज्ञान का विलक्षण प्रमाण है। क्ष का शुद्ध उच्चारण, इसके विशिष्ट ध्वन्यात्मक स्वरूप के कारण, पहले ही से सामान्य अशिक्षितो के लिए कठिन रहा है, जिसके फलस्वरूप म० भा० आ० के शब्दो मे यह ध्वनि ख, छ आदि ध्वनियो मे परिवर्तित हो गयी। किन्तु सस्कृत मे यह सदा अपने शुद्ध मूलरूप मे सुरक्षित रही। इसलिए वर्णमाला मे भी यह सदा स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे वर्तमान रही। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओ मे प्रयुक्त होनेवाले तत्सम शब्दो मे आज भी इस ध्वनि का शुद्धरूप मे प्रयोग होता है, जैसे—क्षत्रिय, लक्षण, पक्ष आदि। इससे सिद्ध हो जाता है कि क्ष वस्तुत. क्‍ष का प्रतिरूप नही है, बल्कि एक स्वतन्त्र ध्वनि के लिए एक स्वतन्त्र वर्ण है, जिसका उसी रूप मे रहना अनिवार्य है। यह सन्ध्यक्षर है, सयुक्ताक्षर नही।

त्र .—यह कोई नितान्त स्वतन्त्र वर्ण नही है, अपितु त्‍र का ही सुविधाजनक विकसित रूप है। त्‍र का त्र के रूप मे विकास का मुख्य कारण प्रयत्न लाघव है। त के पेट मे '∧' (र्) लगाने मे कितनी अतिरिक्त सावधानी बरतने की आवश्यकता पड़ती है, यह कोई भी व्यक्ति स्वय लिखकर ही समझ सकता है। सावधानी रखने पर भी प्राय त के बाँयें छोर का '∧' वाले अश से मिल जाने की सम्भावना बनी ही रहती है, जिससे इसका रूप कुछ-कुछ विकृत व या अपरिचित वर्ण के समान लगने लगता है। इसी सन्दिग्धता से तथा असुविधा से बचने के लिए त्र के त अश की बाँयी ओर के छोर को नीचे न मोड़कर सीधा करके (न) लिखने की प्रवृत्ति चल पडी जिससे त्र रूप का विकास हुआ। त के इस (न) रूप को हम सयुक्त त्त मे भी देख सकते हैं। इस प्रकार यदि त्र मे त के भिन्न रूप 'न' को यदि हम अमान्य ठहराते है तो फिर सयुक्त त्त मे जो प्रथम 'न' है उसका रूप क्या होगा ? इससे त्र रूप की उपयोगिता एव अनिवार्यता स्वत. सिद्ध हो जाती है।

ज्ञ :—क्ष के समान ही ज्ञ भी संयुक्ताक्षर नहीं, सन्ध्यक्षर है, अतः इसका भी स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे रहना अनिवार्य है। ज्ञ मे ज् और ञ के उच्चारण प्रयत्न एक ही साथ होते है। इस कारण इन दोनो मे भी पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है, साहचर्य-सम्बन्ध है। अत. इन दोनो को भी आमने-सामने (ज्ञ) या ऊपर-नीचे (ज्ञ) लिखना 'ज्ञ' ध्वनि के उच्चारण की दृष्टि से वैज्ञानिक नहीं होता। इसीलिए प्राचीन आर्यो ने ज्ञ जैसे स्वतन्त्र वर्ण का निर्माण किया। इसका शुद्ध उच्चारण भी क्ष के शुद्ध उच्चारण के समान ही सबके लिए सहज नहीं था। आज भी भिन्न भिन्न प्रान्तो के लोग इसका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से करते है,[१] जैसे—ज्ञ, ग्य, ग्य, ग्न आदि। ऐसी स्थिति मे ज्ञ को यदि संयुक्त वर्ण के रूप मे दिखाया जाय तो कही भी एकरूपता नहीं रहेगी। उपर्युक्त कारणो से ज्ञ का स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे रखना देवनागरी के लिए अनिवार्य है।

(९) द्विविध वर्ण

नागरी लिपि का प्रयोग इसके जन्म काल से ही एकाधिक भाषाओ के लिए अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र मे होता रहा है, जिसके फलस्वरूप इसके कुछ वर्णो मे यत्किञ्चित् भिन्नता आ गयी है, जिससे उनके द्विविध रूप मिलते है, जैसे—अ-अ्र, छ-छ, झ-झ, ण-ण और क्ष-क्ष। ऐसा होना स्वाभाविक है। इन वर्णो मे झ-झ के अतिरिक्त और किसी भी वर्ण का रूप इतना असमान नहीं है कि पहचानने मे कठिनाई हो। इसके विपरीत रोमन लिपि मे तो प्रत्येक वर्ण के कम से कम दो, प्राय बिल्कुल असमान रूप पाये जाते हैं। किसी-किसी वर्ण के तो दो से भी अधिक बिल्कुल असमान रूप है, जैसे—R-r-ɹ, F-f आदि। इसकी तुलना मे देवनागरी वर्णो की उपर्युक्त असमानता को असमानता कहना भी अनुचित है। यो, एकरूपता लाने के लिए उपर्युक्त वर्णो के विभिन्न रूपो मे से एक-एक रूप को मानक मानकर उनका प्रयोग करना अधिक वाञ्छनीय है, जैसा करने का भारत सरकार ने निर्णय किया भी है।

(९) अनुनासिकता, अनुस्वार और नासिक्य व्यञ्जन

नागरी मे अनुनासिकता (चन्द्रबिन्दु), अनुस्वार और नासिक्य व्यञ्जनो के प्रयोग के लिए कोई सुनिश्चित नियम नहीं है, ऐसा आरोप निराधार है। यहाँ इन तीनो पर अलग-अलग विचार करना उचित होगा।

अनुनासिकता या चन्द्रबिन्दु (ँ) —यह स्वर की अनुनासिकता का चिह्न है, जो सदा स्वर या स्वरयुक्त व्यञ्जन के साथ प्रयुक्त होता है। इसके प्रयोग का

अभी प्रचलित नियम यह है कि जिन वर्णो के ऊपर स्वर की मात्रा नही लगती, वहाँ पूरे चन्द्रविन्दु का प्रयोग होता है, जैसे—हँसी, चाँद, साँस, पूँछ आदि, और जिन वर्णो के ऊपर स्वर की मात्रा का प्रयोग होता है, वहाँ चन्द्रविन्दु के केवल विन्दु अश का प्रयोग किया जाता है, यथा—सिचाई, भीगना, भेंट, भैस, चोच, चौकना आदि। चन्द्रविन्दु के केवल विन्दु अश के प्रयोग को वैज्ञानिक नही कहा जा सकता, क्योकि इससे अनुस्वार का भ्रम उत्पन्न होता है। सिह, हिसा, किशुक और सिचाई, भीगना, भेंट मे केवल लिपि के आधार पर अनुस्वार और चन्द्रविन्दु का अन्तर करना सम्भव नही, क्योकि सवके ऊपर स्वर की मात्रा और विन्दु का प्रयोग हुआ है। यहाँ, यदि कोई व्यक्ति इन शब्दो से परिचित नही है, तो उसे कैसे यह वतलाया जायगा कि कौन-सा विन्दु अनुस्वार का है और कौन चन्द्रविन्दु का। इसीलिए प्राचीन लेखक चन्द्रविन्दु के स्थान पर सर्वत्र पूरे चन्द्रविन्दु का प्रयोग करते थे, चाहे वर्ण के ऊपर स्वर की मात्रा हो या नही, जैसे—मैँ, मेँ, भेँट भैँन आदि। इसके विपरीत आधुनिक कई लेखको ने चन्द्रविन्दु का पूर्णत वहिष्कार ही कर दिया है और चन्द्रविन्दु तथा अनुस्वार दोनो के लिए समान रूप से विन्दु का प्रयोग करने लगे हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से उचित यह था कि लोग ऊपर मात्रा लगने वाले वर्ण मे भी पूरे चन्द्रविन्दु का प्रयोग करते, उसके वदले पूरे चन्द्रविन्दु को ही सम्पूर्ण लिपि से वहिष्कृत कर देने का उपक्रम किया जा रहा है। यह प्रवृत्ति घोर अवैज्ञानिक है। अनुस्वार और चन्द्रविन्दु वस्तुतः दो पृथक्-पृथक् अर्थभेदक ध्वनियाँ अर्थात् स्वनिम (फोनीम) हैं, जैसे—हस-हँस, आदि मे। इस कारण लिपि मे दोनो के लिए स्वतन्त्र चिह्नो की अनिवार्यता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि अनुस्वार, के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार और चन्द्रविन्दु के स्थान पर सर्वत्र पूरे चन्द्रविन्दु का प्रयोग हो। दुर्भाग्य से वर्त्तमान युग मे ऊपर मात्रा वाले वर्णो के साथ चन्द्रविन्दु के स्थान पर केवल विन्दु का प्रयोग इतने व्यापक एव निरपवाद रूप मे प्रचलित हो गया है कि अव अशुद्ध होने पर भी इसका निराकरण शीघ्र सम्भव नही प्रतीत होता। किन्तु, यह है वैज्ञानिकता के प्रतिकूल, इसे स्वीकारने मे सङ्कोच नही किया जा सकता।

अनुस्वार :—यह नासिक्य अयोगवाह है, अर्थात् विना किसी स्वर ध्वनि के कन्धे का सहारा लिए यह न तो उच्चरित हो सकता है और न विना किसी वर्ण के सहारे लिखा जा सकता है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि यह स्वर या व्यञ्जन किसी मे भी योग नही पाता फिर भी कार्य वहन करता है। इसका उच्चारण स्वर के पश्चात् और व्यञ्जन के पूर्व होता है; इसीलिए लिपि मे

वैसे ही प्रदर्शित भी किया जाता है। यह केवल अन्तःस्थ और ऊष्म ध्वनियों के पूर्व ही शुद्ध रूप से उच्चरित हो सकता है और इसीलिए उन्हीं वर्णों के पूर्व आता भी है। जैसे—संयम, संरचना, संलाप, संवाद, वंश, द्रष्टा, हंस, सिंह आदि में। कुछ वर्षों से हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में वर्गीय पञ्चमों (ङ्, ञ्, ण्, न् और म्) के स्थान पर भी सर्वत्र अनुस्वार के ही प्रयोग की प्रथा चल पड़ी है। यह ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से अशुद्ध है, जिससे लिपि की वैज्ञानिकता नष्ट होती है, यों सुविधा चाहे जितनी हो।

नासिक्य स्पर्श या वर्गीय पञ्चम :—देवनागरी में ङ्, ञ्, ण्, न्, और म् क्रमशः कण्ठ या कोमल तालु, तालु, मूर्धा, दाँत तथा ओठ, इन पाँच स्थानों से उच्चरित स्पर्श नासिक्य व्यञ्जनों के सूचक वर्ण हैं, जो अनुनासिकता सूचक चन्द्रविन्दु (ँ) तथा अनुस्वार (ं) से नितान्त भिन्न हैं। इन्हें वर्गीय पञ्चम भी कहते हैं। इनका प्रयोग संयुक्ताक्षरों में अपने-अपने वर्ग के व्यञ्जनों के पूर्व होता है, जहाँ इनका स्थान अनुस्वार या चन्द्रविन्दु नहीं ले सकते। किन्तु, इधर कुछ वर्षों से संयुक्ताक्षरों में इनके स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग का प्रचलन हो गया है, जो ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नहीं है, यों सुविधा उसमें चाहे जितनी हो।

इस प्रकार चन्द्रविन्दु, अनुस्वार तथा नासिक्य वर्णों के प्रयोग के नियम देवनागरी में बिल्कुल निश्चित हैं। फिर भी यदि लोग इन नियमों का पालन नहीं करें तो यह उनका दोष है, लिपि का नहीं।

(१०) र की रूप-भिन्नता

नागरी में र के चार नहीं, केवल दो ही मूल रूप होते हैं,—एक र् और दूसरा कोणात्मक ‸। रेफ (र्‍) वस्तुतः कोणात्मक ‸ का ही सुविधाजनक अर्धवृत्ताकार रूप है, जो प्रयत्नलाघव का परिणाम है। इन दोनों रूपों में से र् रूप सदा स्वतन्त्र रूप से स्वरयुक्त वर्ण के रूप में प्रयुक्त होता है और कोणात्मक रूप (‸) संयुक्ताक्षरों में व्यवहृत होता है। किसी व्यञ्जन के पूर्व आने पर र् का कोणात्मक रूप (‸) उस व्यञ्जन की शिरोरेखा के ऊपर तिरछे होकर लगता है, जिसे रेफ कहते हैं। पहले रेफ का रूप कोणात्मक (‸) ही था। बाद में लेखन में त्वरा लाने के लिए यह अर्धवृत्ताकार (र्‍) बन गया। इस प्रकार रेफ कोणात्मक '‸' का ही प्रतिरूप है। इसी प्रकार जब र् के पूर्व कोई व्यञ्जन आता है, तब कोणात्मक '‸' उस व्यञ्जन के नीचे जुड़ जाता है। अगर व्यञ्जन वर्ण खड़ी पाई वाला होता

है तो कोणात्मक '्र' का अगला छोर उस व्यन्जन की खडी पाई मे मिल जाता है, जैसे—प्र, त्र, म्र, घ्र आदि मे, और यदि व्यन्जन वर्ण खडी पाई वाला नहीं होता तो कोणात्मक '्र' अपने पूर्ण स्वरूप मे उस व्यन्जन के नीचे जुड जाता है, जैसे—ट्र, ठ्र, ड्र, ढ्र आदि मे। इसमे स्पष्ट है कि र के दो ही रूप देवनागरी मे है। ये दोनो ही रूप अति प्राचीन हैं। देवनागरी से उद्भूत कुछ अन्य लिपियो, जैसे, कैथी आदि मे र का कोणात्मक '्र' रूप ही स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे प्रयुक्त होता है। देवनागरी मे कोणात्मक रूप की उपयोगिता केवल संयुक्ताक्षरो के लिए है। र का अपना स्वरूप सयुक्ताक्षर के उपयुक्त नहीं है, इसीलिए उसके दूसरे कोणात्मक रूप का निर्माण हुआ था। व्यन्जन के पूर्व आने वाले र् को रेफ के रूप मे शिरोरेखा ऊपर लगाये जाने का कारण उसके स्वरूप मे ही निहित है। उसका स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे व्यन्जन के पूर्व रेफ के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से सुविधाजनक रूप मे नही जोडा जा सकता। इसीलिए प्राचीन काल से ही वह शिरोरेखा के ऊपर रेफ रूप (र्‍) मे जुडता आया है। इस प्रकार देवनागरी मे र के दोनो रूप तथा उनके उपयोग की पद्धति नितान्त वैज्ञानिक है। देवनागरी के विपरीत रोमन मे तो अनावश्यक रूप से र के R, ~, r तीन रूप हैं। ऐसी स्थिति मे देवनागरी को रोमन से हीन कैसे कहा जा सकता है ?

(११) वर्ण-संयोग की पद्धति

नागरी मे वर्णो को परस्पर सयुक्त करने की पद्धति पूर्णतः ध्वनि वैज्ञानिक है। इसमे ध्वनियो के उच्चारण-क्रम के अनुसार ही वर्णो का सयोजन होता है। ध्वनियां जिस क्रम मे उच्चरित होती है, उसी क्रम मे लिखी जाती है और जिस क्रम मे लिखी जाती हैं, उसी क्रम मे पढी जाती हैं। वर्णो को सुविधा के अनुसार आमने-सामने या ऊपर-नीचे सयुक्त किया जाता है। जब वर्ण ऊपर-नीचे के क्रम मे सयुक्त होते है तो उनका रूप ज्यो का त्यो रखा जाता है, जैसे—ट्ट, ड्ड आदि। किन्तु जब वर्ण आमने-सामने सयुक्त होते है तो-(क) जिनके अन्त मे खडी पाई रहती है, उनमे से खडी पाई निकाल दी जाती है, जैसे—ख्, ग्, घ्, च्, ज् आदि, और (ख) जिनके मध्य मे खडी पाई रहती है, उनमे खडी पाई के बाद का अग छोटा कर दिया जाता है, जैसे—क्, फ् आदि। जिन वर्णो मे खडी पाई नही होती, उन्हें सदा ऊपर-नीचे क्रम मे सयुक्त किया जाता है, किन्तु खडी पाई वाले वर्णो को सुविधानुसार दोनो क्रमो मे (आमने-सामने और ऊपर-नीचे) सयुक्त किया जा सकता है। सयुक्ताक्षरो मे र का रूप सदा कोणवत् (्र) रहता है। यह जब

पहले आता है तो रेफ के रूप मे ऊपर जुडता है और यदि अन्त मे उच्चरित होता है तो खडी पाई वाले वर्णो मे आगे का अश मिलाकर युक्त होता है, जैसे—प्रेम, त्राण, क्रम, व्याघ्र आदि मे और बिना खडी पाई वाले वर्णो मे पूरे रूप मे नीचे जुडता है, जैसे ट्राम, ड्राम आदि मे। हलन्त चिह्न लगाकर वर्णो को संयुक्त करने की पद्धति सहिता और सन्धि के नियमो की दृष्टि से अवैज्ञानिक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरी पर, वर्णो को सयुक्त करने की निश्चित पद्धति के अभाव का आरोप निराधार है। इसमे तो एक स्वर के साथ चार-चार व्यञ्जन तक सयुक्त होकर एक अक्षर बनाते है, जैसे—कार्त्स्न्र्य, त्वत्स्र्य आदि।

(१२) मात्रा-विधान

मात्राओ का विधान नागरी लिपि की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। इसी के कारण वह वर्णात्मक लिपियो से अधिक विकसित दशा की वैज्ञानिक लिपि बन सकी है। देवनागरी के स्वरूप की अक्षरात्मकता मात्राओ के स्तम्भो पर ही टिकी हुई है। मात्राएँ स्वतन्त्र वर्ण नही है। वे विभिन्न स्वरो का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे अवर्णात्मक चिह्न हैं, जो व्यञ्जनो के साथ जुडकर अपने से सम्बद्ध स्वरो की उपस्थिति सूचित करते है तथा व्यञ्जनो को अक्षरात्मक (सिलेबिक) रूप देते है। इस प्रकार देवनागरी के लिए मात्राओ का महत्त्व सर्वोपरि है।

किसी लिपि के ऐसे महत्त्वपूर्ण उपयोगी अङ्ग को अनावश्यक बोझ समझना, विवेक का पूर्ण दारिद्र्य प्रकट करना है। जिन्हे नागरी के स्वर वर्ण एव मात्रा-चिह्न के दो भिन्न रूपो को देखकर उसमे कठिनाई का आभास मिलता है, उन्हे एक दृष्टि रोमन पर भी डाल लेनी चाहिए जिसमे न केवल स्वर, अपितु व्यञ्जनो के लिए भी अनिवार्यत दो, और कही-कही तीन-चार तक रूप मिलते हैं, जिनकी प्रत्यक्षतः कोई भी उपयोगिता नही है।

(१३) टंकन-मुद्रण की सुविधा

लिपि का सबसे पहला उपयोग लेखन के लिए होता है। टङ्कन,मुद्रण आदि से उसका सम्बन्ध बाद का है। जहाँ तक लेखन या हाथ से लिखने का सम्बन्ध है, मात्राएँ किसी ओर लगें, उसमे श्रम मे अन्तर नही पडता। टङ्कन, मुद्रण आदि प्राविधिक उपयोगो मे यदि मात्राओ के कारण कुछ कठिनाई होती भी है तो केवल इसलिए कि नागरी के उपयुक्त यन्त्रो के निर्माण का अभीतक समुचित प्रयास नही

किया गया। इस कारण, जो दोष सरकार तथा समाज का है, उसके लिए लिपि को दोषी ठहराना न्यायसङ्गत नही। यो, जहाँ थोडी सी असुविधा उठा लेने से वैज्ञानिकता की रक्षा होती हो, वहाँ उस असुविधा को असुविधा मानना ही भूल है।

(१४) ह्रस्व 'इ' की मात्रा (ि) का विधान —

यह खेद से अधिक आश्चर्य की बात है कि इस देश के शत-प्रतिशत विद्वानो ने वर्ण के पीछे लगायी जाने वाली 'इ' की मात्रा 'ि' के विधान को एक स्वर से अवैज्ञानिक घोषित किया है। इसका एकमात्र कारण नागरी के अक्षरात्मक स्वरूप की विशेषताओ के सूक्ष्म ज्ञान का अभाव कहा जा सकता है। मात्रा-चिह्नो के सम्बन्ध मे यह सभी जानते है कि वे स्वतन्त्र वर्ण नही, अपितु स्वर-वर्णो के ऐसे कल्पित चिह्न है, जो व्यञ्जन वर्णो के साथ युक्त होकर उनमे अपने से सम्वद्ध स्वर की उपस्थिति की सूचना देते है। मात्रा चिह्नो के प्रयोग की पद्धति साङ्केतिक है। वे वर्ण के किस ओर लगते हैं, इसका कोई महत्त्व नही होता। वे चाहे वर्ण के जिस ओर भी लगे, प्रत्येक स्थिति मे वे उस वर्ण मे अपने से सम्वद्ध स्वर की उपस्थिति के सूचक होते हैं। इस कारण मात्रा के स्थान को ही, उससे सम्बद्ध स्वर का स्थान मान लेना एक वहुत वडी भूल है। यदि ऐसा होता तो मात्राएँ वर्ण के चारो ओर न आकर केवल वर्ण के वाद आती, जिस प्रकार वर्णात्मक लिपि मे मात्रा का कार्य करने वाले स्वर आते है। अत स्पष्ट है कि महत्त्व केवल मात्रा के सङ्केत का होता है, उसके स्थान का नही। यदि विद्वानो की समझ मे इतनी सी वात आ गयी होती, तो वे 'इ' की मात्रा के प्रयोग की पद्धति को कभी अवैज्ञानिक नही कहते।

थोडी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि मात्रा का स्थान ही स्वर की उपस्थिति का भी स्थान होता है, तो उस स्थिति मे केवल इ की मात्रा को ही नही, ए और ऐ की मात्राओ को भी अवैज्ञानिक मानना होगा, जो वर्ण के ऊपर ही विराजमान रहती हैं, जैसे—के और कै। ये मात्राएँ चूँकि वर्ण के ऊपर अर्थात् वर्ण के पूर्व ही आती है, इसलिए इनसे सम्बद्ध स्वरो का उच्चारण भी नीचे के व्यञ्जनो के उच्चारण के पूर्व ही होना चाहिए, क्योकि यही तर्क इ की मात्रा को वर्ण के पूर्व लगाये जाने के विपक्ष मे भी दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे मात्राओ को तोडकर ध्वनि-विश्लेपण करने से के = एक् और कै = ऐक् होगा, जिसे मानने को कोई भी व्यक्ति प्रस्तुत नही होगा। अत. स्पष्ट है कि मात्राओ के स्थान को स्वर की उपस्थिति का स्थान नही स्वीकारा जा सकता।

उपर्युक्त स्थापना को सिद्ध करने के लिए अन्य लिपियो से भी प्रमाण दिये

जा सकते हैं, उदाहरणार्थ—बँगला लिपि को लें, जो देवनागरी के समान ही आक्षरिक और उसी से उद्भूत भी है। बँगला में इ के अतिरिक्त ए और ऐ की मात्राएँ भी वर्ण के पूर्व ही लगती है। यदि मात्राओ के स्थान का महत्त्व होता तो नागरी मे बँगला मे जाकर ए और ऐ की मात्राओ का इस प्रकार स्थान-परिवर्तन सम्भव नहीं होता। इससे सिद्ध है कि मात्राएँ वर्ण से अलग, स्वर की उपस्थिति के स्थान का सङ्केत नहीं दे सकती है।

स्वय नागरी मे ही इस स्थापना की सत्यता को प्रमाणित करने वाले कई प्रमाण मिलते हैं, उदाहरणार्थ उ और ऊ की मात्रा पर विचार करें। ये मात्राएँ अन्य वर्णों के साथ जहाँ उनके नीचे लगती हैं, जैसे कु, कू आदि मे, वही र के नीचे नहीं लगकर उसके पेट मे लगती है, जैसे—रु और रू। यदि मात्राएँ अपने-अपने स्थानो के कारण सार्थक होती तो भिन्न-भिन्न वर्णों के साथ उनका हमेशा किसी एक ही स्थान मे सयोग होता, भिन्न-भिन्न स्थानो मे नही। अत यह एक प्रत्यक्ष सत्य है कि मात्रा के स्थान का कोई भी महत्त्व नहीं होता।

यहाँ संक्षेप मे यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि मात्राओ को वर्ण के चतुर्दिक् लगाने की आवश्यकता क्यो पडी। इसका एकमात्र कारण उनकी संख्या का आधिक्य है। अ को छोडकर अन्य सभी स्वरो के लिए स्वतन्त्र मात्रा-चिह्न हैं, जिनकी संख्या ऋ, ॠ, ऌ, ॡ तथा अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु को लेकर १५ होती है। इतने चिह्नों का प्रयोग वर्ण मे केवल एक या दो ओर मे किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। वैसा करने मे अनेक प्रकार के भ्रम तथा सन्देहों के उत्पन्न होने की सम्भावना थी। इसीलिए स्पष्टता और सुविधा को ध्यान मे रखकर मात्रा-चिह्नों के प्रयोग का स्थान वर्ण के चारो ओर नियत किया गया, क्योंकि ये मात्राएँ सङ्केत चिह्नमात्र थीं, वर्ण नही। देवनागरी को अक्षरात्मक रूप देने के लिए मात्राओ के इस वैज्ञानिक विधान मे प्राचीन भारतीय विद्वानो ने जितनी सूक्ष्म दृष्टि, वैज्ञानिकता तथा व्यावहारिकता का परिचय दिया है, उसे देखकर लिपि का कोई भी मर्मज्ञ श्रद्धावनत हो सकता है। इसके 'नागर' या 'नागरी' नाम की सार्थकता का यह भी एक कारण है। ऐसी वैज्ञानिक लिपि के विरुद्ध उँगली उठाने के पूर्व विद्वानो को अपने ज्ञान की पूँजी टटोल लेनी चाहिए।

एतद्विषयक उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के निष्कर्ष को सूत्ररूप मे निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है—

(क) मात्राएँ स्वतन्त्र स्वर वर्ण नहीं है, स्वर वर्णों के सङ्केतात्मक सूक्ष्म चिह्न हैं। (ख) मात्राएँ जिस वर्ण मे लगती है, उसमे अपने से सम्बद्ध स्वर की

उपस्थिति का सङ्केत देती है। (ग) मात्राओ के प्रयोग की पद्धति साङ्केतिक है। (घ) मात्राओ के अपने स्थान का महत्त्व नही होता। (ङ) मात्रा का अपना स्थान, उससे सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति के स्थान का सूचक नही होता (च) मात्रा जिस वर्ण मे लगती है, उससे सङ्केतित स्वर की उपस्थिति उसी वर्ण मे होती है। (छ) विश्लेषण करने पर मात्रा द्वारा सङ्केतित स्वर सदा सम्बद्ध वर्ण के पश्चात् रक्खा जाता है, जैसे—चन्द्रिका = च्+अ+न्+द्+र्+इ+क+आ। (ज) वर्ण से अलग किये जाने पर मात्रा का अपना रूप लुप्त हो जाता है और उसमे सम्बद्ध स्वर उस वर्ण के पश्चात् प्रकट हो जाता है। (झ) सुविधा तथा स्पष्टता के लिए मात्राएँ वर्ण के चारो ओर पूर्व निश्चित स्थानो पर लगायी जाती है।

नागरी के मात्रा-विधान की उपर्युक्त विशिष्टताओ को समझ लेने के बाद कोई भी व्यक्ति 'इ' की मात्रा या किसी भी अन्य स्वर की मात्रा के प्रयोग की पद्धति को अवैज्ञानिक कहने की भूल नही कर सकता। मात्राओ की यह साङ्केतिक पद्धति देवनागरी के अक्षरात्मक स्वरूप की एक ऐसी विशेपता है, जो उसे ससार की अन्यान्य सभी लिपियो से अधिक विकसित, सन्तुलित एव श्रेष्ठ प्रमाणित करती है।

(१५) 'अ' की बारहखड़ी की अवैज्ञानिकता

कुछ विद्वानो का ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि जब अ मे मात्रा लगाकर आ, ओ और औ बन सकते हैं तो फिर अि, अी, अु, अू, अे और अै भी क्यो नही बन सकते? किन्तु, विचार करने पर स्पष्ट होगा कि यह तर्क ऊपर से जितना निर्दोष प्रतीत होता है, उतना वास्तव मे है नही। सच पूछा जाय तो आ, ओ और औ मे भी केवल आ और औ अदोप हैं, अन्यथा ओ के लिए भी कोई स्वतन्त्र वर्ण ही होना चाहिए, और जैसा कि ओझा जी तथा अन्य विद्वानो ने लिखा है कि प्राचीन काल मे ओ के लिए स्वतन्त्र वर्ण था भी, जो बाद मे किसी अज्ञात कारण से लुप्त हो गया। पुराने हस्तलिखित ग्रन्थो मे कही-कही ओ के लिए उ रूप मिलता है, जो सन्धि-नियम की दृष्टि से शुद्ध भी है, किन्तु नागरी के आधुनिक रूप मे प्रचलित ओ, किसी भी दृष्टि से शुद्ध और वैज्ञानिक नही है, यह बात नीचे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगी।

नागरी के निर्माताओ ने मात्रा-चिह्नो के लिए जो लक्षण और कार्य स्थिर किये थे, उन्हे ध्यान मे रखने पर, अ मे मात्रा लगाकर स्वरो का स्वरूप निर्मित

करने मे उनके सम्मुख विश्लेपण की वैज्ञानिकता तथा सन्धि-नियमो के निर्वाह की समस्या उत्पन्न हो जाती थी। उस निकष पर केवल आ और औ रूप ही शुद्ध ठहरते थे। इसलिए इन दोनो को तो इसी रूप मे रखा गया, किन्तु शेप के लिए स्वतन्त्र वर्ण निर्मित किये गये। ओ के सम्वन्ध मे हम पहले वता चुके है कि उसका प्राचीन शुद्ध रूप उो था, जो वाद मे वर्तमान अशुद्ध रूप ओ मे, सम्भवत औ के साम्य पर परिवर्तित हो गया।

अव हम इस तथ्य पर विचार करें कि अ मे मात्रा लगाकर अन्य स्वरवर्णों की रूप-रचना मे कौन सी अशुद्धि वाधा वनती थी। यह हम पहले भी वता चुके है कि मात्राएँ स्वरवर्णों के सङ्केत-चिह्न है और ये चिह्न जिस किसी भी वर्ण मे लगते है, उसमे अपने से सम्वद्ध स्वर की उपस्थिति सङ्केतित करते है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ध्वनि-विश्लेपण के क्रम मे मात्रा का अपना रूप लुप्त हो जाता है और उससे सम्वद्ध स्वरवर्ण, उस वर्ण के परे आ जाता है, जिसके साथ वह मात्रा जुडी रहती है, जैसे—चिन्तन=च्+इ+न्+त्+अ+न्+अ। यह वैज्ञानिकता की माँग है कि मात्रा के सम्वन्ध मे इन नियमो का सर्वत्र पालन हो। इस दृष्टि से अ मे मात्रा लगाकर स्वर-वर्णों के जो रूप निष्पन्न होते है, उनमे से अधिकाश विश्लेपण की कसौटी पर सन्धि-नियमो की दृष्टि से अपेक्षित परिणाम नही उत्पन्न करते, जो निम्नलिखित विश्लेपण को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होगा—

आ —	(अ+ा =अ+आ=आ	दीर्घसन्धि
अि —	(अ+ि)=अ+इ=अे	गुण ,, ,,
अी —	(अ+ी)=अ+ई=अे	,, ,, ,,
अु —	(अ+ु)=अ+उ=ओ	,, ,, ,,
अू —	(अ+ू)=अ+ऊ=ओ	,, ,, ,,
अे —	(अ+े)=अ+ए=अै	वृद्धि ,, ,,
अै —	(अ+ै)=अ+ऐ=अै	,, ,, ,,
ओ —	(अ+ो)=अ+ओ=औ	,, ,, ,,
औ —	(अ+ौ)=अ+औ=औ	,, ,, ,,

नागरी स्वरो के उपर्युक्त विश्लेपण मे सन्धि-नियम की दृष्टि से केवल आ, अै और ओ के रूप ही शुद्ध ठहरते है। ऐसी स्थिति मे देवनागरी के निर्माताओ के लिए आ, अै और ओ के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरो के लिए स्वतन्त्र वर्ण वनाना अनिवार्य था। इसीलिए उन्होंने प्राय प्रत्येक के लिए स्वतन्त्र वर्ण की रचना की।

यदि अ मे मात्रा-प्रयोग के द्वारा सभी स्वरवर्णों का निर्माण वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध होता, तो वे निश्चय ही इतने अबोध नही थे कि वर्णमाला मे अनावश्यक स्वतन्त्र वर्णो की जमघट लगाते। अै का रूप शुद्ध होते हुए भी सम्भवत इसलिए नही स्वीकार किया गया कि वर्णानुक्रम मे इसका स्थान ए के बाद पडता था, अतः इसके लिए वैकल्पिक रूप ऐ सम्भव था। निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि नागरी मे वर्तमान ओ के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरवर्णों के रूप वैज्ञानिक एवं अनिवार्य है।

(१५) ध्वनि-विश्लेषण की क्षमता

नागरी के मात्रा-चिह्नो के साङ्केतिक स्वरूप तथा उनकी कार्यगत विशेष-ताओ के सम्यक् ज्ञान के अभाव के कारण अनेक विख्यात भाषाशास्त्रियो ने भी इस पर यह भ्रामक आरोप लगाया है कि इसमे रोमन के समान ध्वनि-विश्लेषण की क्षमता नही है। एक विद्वान[1] ने इस आरोप को सिद्ध करने के लिए 'चन्द्रिका' शब्द का विश्लेपण इस प्रकार किया है—च्+अ+ि+न्+द्+र्+क्+आ। उन्हे नागरी के स्वरूप का इतना भी ज्ञान नही है कि इसमे विश्लेषण के क्रम मे मात्रा-चिह्न का लोप हो जाता है और उससे सम्बद्ध स्वरवर्ण उस वर्ण या वर्ण-समूह के बाद प्रदर्शित होता है, जिसके साथ वह मात्रा जुडी रहती है, जैसे—चन्द्रिका= च्+अ+न्+द्+र्+इ+क्+आ। इसी तरह अनेक विद्वान यह नही जानते कि देवनागरी के मात्रा-चिह्न वर्ण नही हैं, अपितु स्वर वर्णो के ऐसे सङ्केत-सूचक चिह्न मात्र है, जो जिस वर्ण मे जुडते हैं, उसी वर्ण मे अपने से सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति की सूचना देते है, न कि उस स्थान में, जहाँ वे स्वय रहते हैं। यदि देवनागरी की मात्रा की इस साङ्केतिक कार्य-पद्धति का ज्ञान विद्वानो को रहता, तो वे कदापि इसकी विश्लेषण-क्षमता पर सन्देह नही करते। सच पूछा जाय तो नागरी लिपि विश्लेषण एव सयोजन, दोनो ही दृष्टियो से, ससार की अद्वितीय लिपि है। इससे अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण अन्य किसी भी लिपि मे सम्भव नही। रोमन लिपि, जिसमे चन्द्रिका, चान्द्रिका, चान्द्रिक तथा चन्द्रिक इन चारो मे कोई भिन्नता नही प्रदर्शित की जा सकती तथा सबको एक ही प्रकार से CHANDRIKA लिखा जाता है, तथा जिसमे वर्नार्ड शॉ के अनुसार फिश (FISH) और घोटी (GHOTI) दोनो के समान उच्चारण सम्भव है, उससे देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि को किसी भी दृष्टि से हीन बताना अपने ही अज्ञान का प्रदर्शन करना है।

---

१. भो० ना० ति०, भा० वि०, पृ० ५१४।

(१७) लेखन मे हाथ उठाने की बाध्यता

संसार मे ऐसी कोई भी लिपि नही, जिसमे लिखते समय हाथ न उठाना पड़ता हो। रोमन मे भी टी (t) को काटने के लिए, आइ (i) पर बिन्दु देने के लिए तथा अनेक विराम-चिह्नो आदि के प्रयोग के लिए बार-बार हाथ उठाना ही पडता है। फिर इसे देवनागरी का ही दोष कैसे कहा जा सकता है? जहाँ तक हाथ उठाने के कारण लिखने मे मन्दता का प्रश्न है, यह तर्क नितान्त भ्रममूलक है। लिपि में बाधा या मन्दता हाथ उठाने से नही आती। उर्दू मे नुक्तो की अधिकता के कारण जितनी बार हाथ उठाना पडता है, उतनी बार शायद ही किसी लिपि मे उठाना पड़ता हो। किन्तु लिखने वाले उसमे भी बिल्कुल आशुलिपि के समान द्रुतगति से लिखते है।' अतः देवनागरी के विरुद्ध यह आरोप निराधार है कि उसमे अधिक बार हाथ उठाने से लिखने की त्वरा में कमी आती है।

(१८) वर्ण की अपर्याप्तता

यह किसी भी लिपि के लिए सम्भव नही है कि उसमे संसार की सभी भाषाओं की ध्वनियो के लिए स्वतन्त्र वर्ण हो। किसी लिपि का सम्बन्ध जिस भाषा मे होता है, उसमें उसी की ध्वनियो के सूचक वर्ण होते है। ऐसी स्थिति मे अगर देवनागरी मे हिन्दीतर भाषाओ की कतिपय ध्वनियो के लिए वर्ण नही हैं, तो यह इनका दोष नहीं माना जा सकता। जैसे-जैसे इसका सम्बन्ध अन्य भाषाओं से बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे इसमे आवश्यकतानुसार नयी ध्वनियो के लिए वर्ण भी बढ़ते जायँगे। अभी भी संसार की जितनी ध्वन्यात्मक लिपियाँ हैं, उनमे सबसे अधिक ध्वनियो के लिए वर्ण देवनागरी मे ही हैं।

(१९) प्राविधिक उपयोग की योग्यता

यह कहना कि नागरी का स्वरूप 'कोडवर्ड्स' (सङ्केत शब्द), शॉर्ट हैण्ड (शीघ्रलिपि), मोर्सकोड (तार) तथा टेलीप्रिण्टर (दूरालेखन) आदि प्राविधिक उपयोगो के अनुकूल नहीं है, तर्क नही, कुतर्क है। वर्तमान दशाब्दी मे आकर तो इस आरोप की व्यर्थता स्वतः प्रमाणित हो गयी है, जबकि देवनागरी के इन या ऐसे अधिकांश अभावो की पूर्ति हो चुकी है और शेष की भी होने ही वाली है।

---

(२०) स्थान, श्रम एव समय का व्यय

नागरी के विपक्ष मे ऐसा मानने का कोई भी सैद्धान्तिक या व्यावहारिक कारण नही है कि इसके मुद्रण मे रोमन की अपेक्षा अधिक स्थान, श्रम एव समय का व्यय होता है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि देवनागरी मे तिमञ्जिला सङ्ग्रथन करना पडता है—अर्थात् एक पक्ति छापने के लिए तीन पक्तियाँ सङ्ग्रथित करनी पडती हैं, मध्य की पक्ति मुख्य रूप से वर्ण के लिए और ऊपर-नीचे की मात्राओ के लिए। इस कारण इसमे अधिक स्थान, श्रम और समय का व्यय लगता है। यह आरोप लगाने वाले प्राय यह भूल जाते हैं कि देवनागरी मे यदि मात्राओ के कारण ऊपर-नीचे का स्थान घिरता है, तो रोमन मे मात्राओ के लिए प्रयुक्त होने वाले स्वरवर्णों के लिए आमने-सामने का। देवनागरी मे जितना एक वर्ण के स्थान मे लिखा जाता है, उतने के लिए रोमन मे कभी-कभी सात वर्णो का स्थान लगता है, जैसे—थ्रू—THROUGH आदि। ऐसे भी सामान्यत रोमन मे देवनागरी से अधिक स्थान लगता है, जैसे—नॉलेज—KNOWLEDGE, क्यू—QUEUE आदि। इस प्रकार देवनागरी मे यदि मात्राओ के कारण कुछ अधिक स्थान लगता भी है, तो वर्ण-सयोजन की पद्धति तथा एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण होने के कारण बहुत अधिक स्थान की बचत भी होती है। सब मिलाकर देवनागरी मे रोमन से अधिक स्थान लगने की बात व्यर्थ प्रमाणित होती है। जहाँ तक श्रम और समय का प्रश्न है, कुछ लोग देवनागरी के वर्णाधिक्य, मात्रा-चिह्न तथा सयोजन-पद्धति के कारण सङ्ग्रथन मे अधिक श्रम की कल्पना करते है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन मे बडे-छोटे (कैपिटल और स्मॉल) वर्णों को मिलाकर उनकी अनिवार्य सख्या ५२ होती है। तब इतना सही है कि देवनागरी मे मुद्राओ (टाइपो) की सख्या रोमन से अधिक लगती है, किन्तु यह इसकी उस पूर्ण वैज्ञानिकता की माँग है, जो रोमन मे कभी आ ही नही सकती। इसके अतिरिक्त यह मानने को कोई भी प्रकाशक या प्रेस-मालिक प्रस्तुत नही हो सकता कि रोमन की पुस्तको से देवनागरी की पुस्तको की छपाई मे अधिक व्यय लगता है, यो विपक्षी चाहे जो कहे।

(२१) त्वरापूर्ण टङ्कन-यन्त्र का अभाव

नागरी मे यदि रोमन के समान त्वरा वाले टङ्कन-यन्त्र का अभाव है, तो वह इसलिए नही कि देवनागरी का स्वरूप उसके प्रतिकूल है, वल्कि इसलिए कि उसके अनुरूप मुद्रीपटल वाले टङ्कन-यन्त्र के निर्माण का पहले कभी प्रयास नही किया

गया। आज तक प्राविधिक दृष्टि से देवनागरी की जो भी उपलब्धियाँ हैं, वे सब गैर सरकारी संस्थाओ और व्यक्तियो के प्रयास के फलस्वरूप ही।[१] अत: सरकार और देवनागरी-विपक्षियो के दोष को देवनागरी का दोष मानना कथमपि उचित नहीं है।



१. दे० ना० श०, रा० हि० स० स०, पृ० २३८।

अध्याय

९ :

नागरी-प्रचार-प्रसार-आन्दोलन

रोमन लिपि के समर्थको के द्वारा प्रचारित नागरी-विरोधी आन्दोलन की प्रतिक्रिया ने देश मे दो और अन्य प्रकार के आन्दोलनो को जन्म दिया, जिनमे से एक था 'नागरी-प्रचार-प्रसार-आन्दोलन' और दूसरा था 'नागरी-सुधार-आन्दोलन'। आगे चलकर इनमे से प्रथम का परिणाम नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा के उत्थान की दृष्टि से जितना ही अधिक साधक और हितकर प्रमाणित हुआ, दूसरे का उतना ही अधिक बाधक और अहितकर। इस कथन की सत्यता आगे के विवेचन से स्वत. स्पष्ट तथा प्रमाणित हो जायगी। इस अध्याय मे 'नागरी-प्रचार-प्रसार-आन्दोलन' का मात्र सक्षिप्त परिचय देना ही मेरा अभीष्ट है। 'नागरी-सुधार-आन्दोलन' का विवेचन आगे के अध्याय मे किया जायगा।

भारतीय भाषाओ के लिए रोमन लिपि के प्रयोग का प्रस्ताव उस समय लोगो के सम्मुख आया, जबकि सम्पूर्ण देश मे राष्ट्रीय जागरण की लहर व्याप्त हो चुकी थी। इस कारण मुट्ठी भर स्वार्थी एव सङ्कीर्ण प्रान्तीयतावादी मनोवृत्ति वाले रोमन-समर्थक भारतीयो के अतिरिक्त प्राय सबने उस प्रस्ताव का विरोध किया। उस समय कुछ दूरदर्शी महापुरुषो ने किसी एक समर्थ भारतीय भाषा तथा लिपि के सूत्र मे समस्त भारतीय प्रान्तो को निबद्ध कर राष्ट्र की भावात्मक तथा सास्कृतिक एकता की नीव को सुदृढ करने की लोक-हितकारी योजना बनायी। इस कार्य के लिए, बहुत चिन्तन-मनन के पश्चात्, उन लोगो ने अन्त मे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को ही योग्य ठहराया। इसके बाद हिन्दी तथा अहिन्दी, दोनो तरह के प्रान्तो के उन राष्ट्रप्रेमी पुरुषार्थियो ने हिन्दी और नागरी का पक्ष लेकर रोमन के विरुद्ध इसके व्यापक प्रचार एव प्रसार का प्रयत्न प्रारम्भ किया।

अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे नागरी लिपि के प्रचार का प्रयत्न दो रूपो मे हुआ, एक तो हिन्दी के प्रचार के माध्यम से हिन्दी की अपनी लिपि के रूप मे और दूसरे हिन्दीतर भाषाओ के लिए प्रस्तावित सार्वदेशिक लिपि के रूप मे ।

हिन्दी प्रचार के माध्यम से नागरी के प्रचार का प्रयत्न करने वाले प्रारम्भिक महापुरुषो मे सम्भवत सबसे पहला नाम बङ्गाल के राजा राममोहन राय का आता है। उन्होने १८२६ ई० मे ही अपने पत्र 'बङ्गदूत' मे, जो हिन्दी, अँगरेजी, बंगला और फारसी लिपियो मे छपता था, स्वय हिन्दी मे लिखना तथा दूसरो को हिन्दी मे लिखने के लिए प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया था।[१] दूसरे महापुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती थे, जिनकी मातृभाषा गुजराती थी, किन्तु उन्होने अपना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि मे लिखकर प्रकाशित कराया। इन महापुरुषो ने आज से सैकडो वर्ष पूर्व हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि को, भारत की राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के रूप मे स्वीकार कर, आसेतु हिमाचल उसके प्रचार एव प्रसार का प्रयत्न किया था। इनके पश्चात् केशवचन्द्र सेन, भूदेव मुखर्जी, महात्मा हसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक, महामना प० मदनमोहन मालवीय, श्री कृष्ण स्वामी अय्यर, महात्मा गाँधी, काका कालेलकर, पुरुषोत्तमदास टण्डन, विनोबा भावे आदि सैकडो राष्ट्रहितैषियो ने देश की राजनैतिक, भावात्मक एव सास्कृतिक एकता के लिए हिन्दी भाषा एव देवनागरी लिपि को सम्पूर्ण देश के लिए अनिवार्य घोषित किया तथा उसके अन्तरप्रान्तीय प्रचार एव प्रसार का प्रयत्न किया।

भारत की समस्त हिन्दीतर भाषाओ के लिए नागरी लिपि के प्रयोग का प्रस्ताव रखने वाले उदारचेता राष्ट्रप्रेमियो मे कलकत्ता हाइकोर्ट के न्यायाधीश श्री शारदाचरण मित्र का नाम, देवनागरी-प्रचार के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अङ्कित होने योग्य है। उन्होने १९०५ ई० मे ही अपने अकाट्य तर्को से देशवासियो के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया था कि "अब भारत मे एक लिपि के व्यवहार एव उसके आसेतु हिमाचल प्रसार का समय आ गया है और वह लिपि देवनागरी के अतिरिक्त कोई दूसरी नही हो सकती।" उन्होने केवल भारतवर्ष मे ही नही, अपितु लङ्का, ब्रह्मदेश, चीन, जापान, जावा सुमात्रा आदि देशो एव द्वीपो मे भी देवनागरी लिपि के प्रचार का प्रस्ताव रखा था तथा उसको कार्यरूप में परिणत करने की योजना भी बनायी थी।

---

१ श्रो० पी० के० के० ना०, द० हि० प्र० आ० सं० इ०, पृ० २३।

१९०५ ई० मे ना० प्र० स० काशी के द्वारा आयोजित एक परिषद् मे भाषण देते हुए लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने कहा था कि "कुछ लोगो ने यह सुझाया है कि हम सब रोमन लिपि अपना लें। सज्जनो! मेरी दृष्टि मे यह सुझाव शेखचिल्ली का सा है। रोमन वर्णमाला और रोमन लिपि अत्यन्त दोषपूर्ण है और जिन ध्वनियो का हम प्रयोग कर सकते है, उन्हे लिखने मे नितान्त असमर्थ है।"[1] उन्होने देवनागरी-प्रचार के आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन की सज्ञा देते हुए कहा था कि "यह आन्दोलन उत्तर भारत मे केवल एक सर्वसामान्य लिपि के प्रचार के लिए नही है, यह तो उस बृहत्तर आन्दोलन का एक अङ्ग है, जिसे मैं राष्ट्रीय आन्दोलन कहूँगा।"[2] "यदि भारत मे सभी आर्य एव अनार्य परिवार की भाषाओ के लिए एक लिपि हो, तो भारतीय जनता की एकता और ज्ञान का अन्तरप्रान्तीय आदान-प्रदान सुगम हो जायगा। देवनागरी लिपि के द्वारा मराठी की तरह गुजराती, बङ्गाली आदि भाषाएँ लिखना सम्भव होगा, तो देश के विषय का बहुत कार्य सुलभ हो जायगा।"[3]

भारत के लिए एकमात्र सर्वमान्य लिपि के रूप मे नागरी के प्रस्तावको एव प्रचारको मे महात्मा गाँधी का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। वे सभी दृष्टियो से आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ कर्णधार तथा महानतम प्रभावशाली नेता थे, इस कारण उनके विचारो का महत्त्व किसी भी क्षेत्र मे सर्वोपरि होता था। प्रारम्भ मे कुछ विशेष कारणो से, वे देवनागरी के साथ उर्दू लिपि के प्रचार को भी अनिवार्य मानते थे, जैसा कि १९१७ ई० मे भड़ौंच मे हुए 'गुजरात शिक्षा परिषद्' के अधिवेशन तथा १९१८ ई० मे इन्दौर मे हुए 'साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन के उनके भाषणो से स्पष्ट होता है। किन्तु, उनका यह दृढ विश्वास था कि उर्दू या ससार की कोई भी अन्य लिपि नागरी के सम्मुख भारत मे अधिक समय तक टिक नही सकती। इसी विश्वास के बल पर उन्होने इन्दौर के 'साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन मे कहा था कि "मुसलमान भाई उर्दू मे ही लिखेगे। हिन्दू बहुत करके नागरी लिपि मे लिखेंगे। राष्ट्र मे दोनो लिपियो को स्थान मिलना चाहिए। उसमे कुछ कठिनाई नही है। अन्त मे जिस लिपि मे ज्यादा सरलता होगी, उसकी विजय होगी।" २१-७-१९२७ ई० के 'नवजीवन' मे उन्होने लिखा था कि "सचमुच मेरा यह दृढ विश्वास है कि भारत की तमाम भाषाओ के लिए

---

१ दे० लि० स्व० वि० स०—पृ० २०।

२ उपरिवत्, पृ० १९।

३. न० चि० के०, तिलक चरित्र, पृ० ४४,।

एक ही लिपि का होना फायदेमन्द है और वह लिपि देवनागरी ही हो सकती है।" रोमन का विरोध करते हुए ३-४-१९३७ ई० के 'हरिजन सेवक' मे उन्होने लिखा था कि "कुछ लोग तो यहाँ तक कहते है कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ग्रहण कर लें। लेकिन फिर वाद-विवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है और कोई नही। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी मे भी वैसी सम्पूर्णता या ध्वन्यात्मकता नही है, जैसी देवनागरी मे है।" ३-७-१९३७ ई० के 'हरिजन सेवक' मे स्पष्ट शब्दो मे उन्होने यह घोषणा की कि "रोमन लिपि न तो हिन्दुस्तान की सामान्य लिपि हो सकती है और न होनी चाहिए।" इसी प्रकार जब असम मे कुछ जातियो को देवनागरी की जगह रोमन मे शिक्षा देने की आयोजना बनी, तो गाँधी जी ने १८-२-१९३९ ई० के 'हरिजन सेवक' मे लिखा कि "मुझे मालूम हुआ है कि असम मे कुछ जातियो को देवनागरी लिपि की जगह रोमन लिपि मे लिखना-पढना सिखाया जा रहा है। मैं अपनी राय जाहिर कर ही चुका हूँ कि अगर हिन्दुस्तान मे सर्वमान्य हो सकने वाली कोई लिपि है तो वह देवनागरी ही, भले ही उसमे सुधार की गुंजाइश हो या न हो। शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से जबतक मुसलमान भाई अपनी राजी से देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता स्वीकार नही करते, तबतक उर्दू या फारसी लिपि जरूर जारी रहेगी। इन दो लिपियो के साथ रोमन का मेल नही बैठता। रोमन के समर्थक तो इन दोनो को रद्द कर देने की राय देंगे, किन्तु विज्ञान तथा भावना दोनो दृष्टियो मे रोमन लिपि नही चल सकती।" इसी प्रकार १९४२ ई० मे 'हिन्दू विश्वविद्यालय' काशी के दीक्षान्त भाषण मे जापानियो का दृष्टान्त देते हुए उन्होने कहा था कि "जापानी लिपि बहुत कठिन है, फिर भी जापानियो ने रोमन लिपि को कभी नही अपनाया। उनकी सारी तालीम जापानी लिपि और जापानी जुबान मे दी जाती है।"[1]

शारदाचरण मित्र एव गाँधी जी के समान ही देश के जिन अन्य सैकडो विद्वानो ने नागरी को भारत की एकमात्र सर्वमान्य लिपि के रूप मे प्रचारित एव प्रसारित करने का यत्न किया, उनके नाम कभी भुलाये नही जा सकते।

हिन्दी के साथ नागरी के अन्तरप्रान्तीय प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से विद्वानो के द्वारा देश मे अनेक सस्थाओ की स्थापना हुई, अनेक समितियाँ बनी तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। सस्थाओ मे काशी की 'नागरी

---

१ ओ० पा० के० के० ना०, द० भा० हि० प्र० आ० स० इ०, पृ० २१३।

प्रचारिणी सभा' सम्भवत सर्वाधिक प्राचीन है, जिसकी सस्थापना जुलाई, १८९३ ई० मे हुई थी। इसका सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य देवनागरी लिपि का प्रचार करना ही था, जो इसके नाम से स्वत स्पष्ट है। इसके पश्चात् १० अक्टूबर, १९१०ई० में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' प्रयाग की, १९१८ ई० मे 'हिन्दी-प्रचार-सभा', मद्रास की, १९३६ ई० मे 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', वर्धा की तथा इसी प्रकार की अनेक छोटी-बडी सस्थाओं की, सारे देश मे स्थापना होती रही, जिनके द्वारा हिन्दी के साथ नागरी लिपि के व्यापक प्रचार को समुचित प्रोत्साहन एव गति मिली।

हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रचार की दृष्टि से यो तो सैकडो पत्र-पत्रिकाएँ निकली, किन्तु, हिन्दीतर भाषाओ की लिपि के रूप मे देवनागरी को प्रस्तावित एव प्रचारित करने वाली पत्र-पत्रिकाओ मे श्री शारदाचरण मित्र की 'देवनागर' नामक मासिक पत्रिका का स्थान सर्वोपरि है। १६०७ ई० मे श्री शारदाचरण मित्र ने इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इसमे भिन्न-भिन्न भाषाओ के लेख देवनागरी लिपि मे छपा करते थे। उन्ही की देखादेखी कलकत्ते के प्रसिद्ध अँगरेजी मासिक 'मॉडर्न रिव्यू' और बँगला प्रवासी' के यशस्वी सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी ने भी 'चतुर्भाषी' नामक एक पत्र निकाला था, जिसमे हिन्दी, गुजराती, मराठी और बँगला, इन चारो भाषाओ के लेख देवनागरी मे प्रकाशित होते थे। दुर्भाग्य से ये पत्र-पत्रिकाएँ अकाल मे ही कालकवलित हो गयी। देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् १९५३ ई० मे राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के सरक्षकत्व मे अस्तङ्गत 'देवनागर' का त्रैमासिक पत्रिका के रूप मे पुन प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, किन्तु वह अधिक दिनो तक नही चल सकी। इन पत्र-पत्रिकाओ के अतिरिक्त ऐसी और भी सैकडो पत्र-पत्रिकाओ ने देवनागरी के प्रचार-कार्य को आगे बढाया, जिन सब का विवरण स्वतन्त्र शोध का विषय है।

इस प्रकार रोमन लिपि की चङ्गुल से भारतीय भाषाओ की रक्षा के लिए तथा भारत की राष्ट्रीय, राजनैतिक, भावात्मक एव सास्कृतिक एकता की नीव को सुदृढ करने के लिए देश के प्रात स्मरणीय महापुरुषो के द्वारा नागरी लिपि के प्रचार एव प्रसार का पवित्र अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया। आज उसी का फल है कि नागरी भारतीय सविधान मे राष्ट्र लिपि के पद पर आसीन है तथा देश के कोने-कोने मे वह व्याप्त है। फिर भी उस अनुष्ठान की पूर्णाहुति अभी नही हो पायी है। यह देश का दुर्भाग्य है कि अभी भी कुछ रोमन-समर्थक यहाँ बचे हुए हैं, जो अनेक कारणो से, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, नागरी का विरोध अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं, किन्तु भविष्य मे उनकी पराजय निश्चित है।

अध्याय

: १० :

नागरी-सुधार-आन्दोलन

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि रोमन लिपि के समर्थकों द्वारा नागरी पर आरोपित अधिकांश आक्षेप निराधार और भ्रामक थे, किन्तु वे इतनी बार और इतने प्रकार से दुहराये गये थे कि अनेक नागरी-समर्थकों ने भी, बिना गाम्भीरतापूर्वक विचार किये ही, उन्हें सत्य मान लिया तथा नागरी को उन मिथ्या कल्पित त्रुटियों और दोषों से शीघ्र मुक्त करने को आतुरतापूर्वक प्रयत्नशील हो उठे। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश में नागरी-सुधार-आन्दोलन की एक हवा सी बह गयी।

किन्तु, नागरी-सुधार-आन्दोलन के मूल में केवल उपर्युक्त कारण को ही मान लेना समीचीन नहीं होगा। निश्चय ही उसके मूल में कतिपय अन्य गौण स्थितियाँ भी थीं। उदाहरणार्थ, जब नागरी में लिखित हिन्दी, भारत की राजभाषा घोषित की गयी और तदनुरूप उत्तर प्रदेश, बिहार, पञ्जाब, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान की प्रादेशिक सरकारों ने इसे शीघ्रातिशीघ्र शासन-व्यवस्था में व्यवहृत करने का निर्णय लिया, तब यह आवश्यक हो गया कि परिवर्तित परिस्थितियों तथा यान्त्रिक साधनों के अनुकूल इस लिपि में कुछ ऐसे सुधार किये जायँ, जिससे यह अपनी प्राचीनता, सरलता, सुन्दरता तथा वैज्ञानिकता का निर्वाह करते हुए कतिपय नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी समर्थ हो सके।

यदि सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय, तो पता चलेगा कि नागरी लिपि में सुधार की जो प्रारम्भिक आवश्यकताएँ उभरीं, वे अँगरेजी के टङ्कन-यन्त्र के अनुकूल नागरी को बनाने के प्रयास के कारण। सुधार की अधिकांश योजनाएँ अपने मूल रूप में टङ्कन-यन्त्र से सम्बद्ध हैं और सुधारकों में से प्रायः अधिकांश ने यही प्रयोग किया कि टङ्कन-यन्त्र के अनुकूल लिपि में कैसे परिवर्तन लाये जायँ। होना यह

चाहिए था कि नागरी के अनुकूल टङ्कन-यन्त्र बनते, जबकि प्रयास टङ्कन-यन्त्र के अनुकूल नागरी लिपि में सुधार लाने का हुआ।

इससे स्पष्ट है कि यह आन्दोलन बहुलांश में उचित तथा सुविचारित नहीं था; क्योंकि इसमें गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि तथा दूरदर्शिता का नितान्त अभाव था। इस आधार पर इसे आवेशमूलक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन कहना अनुचित या असङ्गत नहीं माना जायगा। अपने आधारभूत दोषों के कारण ही यह आन्दोलन अन्त में असफल प्रमाणित हुआ, किन्तु इसके दुष्परिणामों से नागरी वञ्चित नहीं रह सकी। आज भिन्न-भिन्न प्रान्तों की विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के द्वारा प्रकाशित शताधिक पुस्तकों में पायी जाने वाली नागरी के स्वरूप की अनेकरूपता हमारी उपर्युक्त स्थापना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नागरी के स्वरूप की यह अनेकरूपता, सम्भव है कि भविष्य में इसे कई शाखाओं में विभक्त कर दे और फिर उनसे कई नयी-नयी लिपियाँ उत्पन्न हो जायँ, किन्तु उससे नागरी की अपनी ही शक्ति क्षीण होती जायगी। अगर कहीं ऐसा हुआ, तो भविष्य में उसका समस्त दोष देवनागरी लिपि के इन सुधारकों के मत्थे ही मढ़ा जायगा।

हमारे उपर्युक्त आक्षेप का आशय यह कदापि नहीं है कि नागरी लिपि सर्वथा निर्दोष है और उसमें किसी प्रकार के परिष्करण या परिवर्धन की सम्भावना हो ही नहीं सकती। हमारा मन्तव्य यह भी नहीं है कि नागरी-सुधार से सम्बन्ध रखने वाले सबके सब विद्वान अनधिकारी और अयोग्य थे या कि उनके हृदय में देवनागरी के प्रति वास्तविक प्रेम नहीं था या नहीं है। हमारा निवेदन मात्र इतना है कि देवनागरी के स्वरूप में सुधार की योजना बनाते समय तथा विभिन्न सुधारों का प्रस्ताव रखते समय विद्वानों ने अपेक्षित मात्रा में गम्भीरता, वैज्ञानिक दृष्टि तथा चिन्तन-मनन से काम नहीं लिया और न ही उससे होने वाले परिणामों पर ही ध्यान दिया। इस कार्य में जो अतिरिक्त शीघ्रता बरती गयी, वह उचित नहीं थी।

जहाँ तक नागरी के स्वरूपगत दोषों का प्रश्न है, यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि इसमें 'ओ' स्वर और 'ख' व्यञ्जन के अतिरिक्त कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे अवैज्ञानिक और निवार्य कहा जा सके। किन्तु, दुर्भाग्य से इन सुधारकों में कई ऐसे व्यक्ति भी थे, जो न तो नागरी के इतिहास एवं परम्परा से परिचित थे और न वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक लिपि के अन्तर को ही जानते थे।[१] फलतः—

१ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५८०।

लोगों ने रोमन-समर्थकों द्वारा आरोपित निराधार कल्पित दोषों को भी सत्य समझ लिया। हाँ, प्राविधिक दृष्टि से निश्चय ही रोमन के समान देवनागरी में टङ्कन, मुद्रण, दूरालेखन (टेलीप्रिण्टर), तार (मोर्सकोड) आदि की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थी। किन्तु यह दोष देवनागरी का नहीं, अपितु सरकार और लोगों की उपेक्षानीति का था। इसके लिए आवश्यकता थी नागरी लिपि के लिए अनुकूल यन्त्र-निर्माण तथा निर्मित यन्त्रों में सुधार के आन्दोलन की, न कि नागरी लिपि में सुधार की। किन्तु, उस समय यह छोटी सी बात भी लोगों की समझ में नहीं आयी और वे वस्त्र को शरीर के अनुरूप बनाने के बदले शरीर को ही वस्त्र के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करने लगे। इसका परिणाम वही हुआ जो इस स्थिति में प्राय. हुआ करता है, अर्थात् शरीर तो वस्त्र के अनुकूल नहीं ही बन सका, हाँ काट-छाँट के प्रयत्न में वह बहुत-कुछ विकलाङ्ग और विकृत अवश्य हो गया, जिसे उस रूप में पहचानने में सामान्य जनवर्ग ने अस्वीकार कर दिया। सारे सुधार प्रस्तावकों के ग्रन्थों तक ही सीमित रहे, अन्यत्र नागरी अपने पूर्व निश्चित रूप में ही चलती रही।

उपर्युक्त स्थिति का सङ्केत देते हुए डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है कि नागरी लिपि के सुधार का कार्य यहाँ उस समय प्रारम्भ हुआ था, जब देश परतन्त्र था और जब राज-कार्य में न तो नागरी का व्यवहार आवश्यक था और न वह राष्ट्रलिपि के रूप में ही स्वीकृत थी। उस समय चारों ओर यह आवाज सुनाई पड़ती थी कि नागरी, टाइपराइटर के लिए अयोग्य है, इसके लिखने में गति नहीं है और इसकी छपाई में भी शिथिलता है। इधर संविधान द्वारा नागरी के राष्ट्रलिपि घोषित होते ही बिना किसी प्रकार के सुधार के ही इसमें टेलीप्रिण्टर तथा मोर्सकोड का आविष्कार हो गया और कई ऐसे टाइपराइटर भी बन गये, जिन्हें पर्याप्त सुथरा हुआ और सफल कहा जा सकता है।[१] इससे स्पष्ट है कि नागरी का स्वरूप इन यन्त्रों के प्रतिकूल नहीं, स्थितियाँ प्रतिकूल थी।

नागरी लिपि के सुधार सम्बन्धी प्रमुख प्रस्ताव

नागरी लिपि में सुधार के लिए विभिन्न संस्थाओं, समितियों तथा व्यक्तियों के द्वारा प्रारम्भ से अद्यावधि सुधार सम्बन्धी जितने और जो-जो प्रस्ताव उपस्थित किये गये, उनका विस्तृत विवेचन नहीं करके, केवल संक्षेप में सबका उल्लेख मात्र कर देना ही यहाँ मेरा अभीष्ट है।

---

[१] डा० उ० ना० ति०, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५८०।

नागरी के स्वरूप मे सुधार का प्रस्ताव रखने वालो मे महाराष्ट्र के सावरकर बन्धुओ के नाम सम्भवत. सर्वप्रथम आते है।[1] उनलोगो ने १९३५ ई० के पूर्व ही देवनागरी के विभिन्न स्वरो के स्थान पर स्वर की बारहखडी (अ, अा, अि, अी, अु, अू आदि) को प्रचलित करने का प्रस्ताव देश के सम्मुख रक्खा था, जिसे मराठी समाचारपत्रो मे पहले-पहल व्यावहारिक रूप मिला था। बाद मे अनेक समितियो तथा व्यक्तियो के द्वारा भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया गया।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग का २४ वाँ अधिवेशन महात्मा गाँधी की अध्यक्षता मे इन्दौर मे हुआ था। उस अधिवेशन मे गाँधी जी की प्रेरणा से, काका कालेलकर के सयोजन मे, एक देवनागरी लिपि-सुधार-उपसमिति सङ्गठित हुई थी, जिसमे सदस्य के रूप मे गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, ए० सी० वुलनर, सुनीति-कुमार चटर्जी, बाबूराम सक्सेना, श्री हरिजी गोविल, श्री पिशरोटी, किशोरीलाल मशरुवाला तथा शङ्कर रामचन्द्र दान्ते मनोनीत हुए थे। इस समिति की बैठके कई वर्षों तक चली थी। कई बैठको मे विशेष आमन्त्रित विद्वानो के रूप मे श्री लक्ष्मण-स्वरूप, श्री रघुवीर, मुकुन्ददास गुप्त, केदारनाथ, पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री रणजीत, सीताराम पण्डित तथा यशवन्तराव दान्ते भी सम्मिलित हुए थे।[2]

इस समिति के समक्ष देवनागरी लिपि-सुधार के ६ मूलभूत सिद्धान्त थे—(१) लेखन, मुद्रण तथा टङ्कन मे सर्वत्र लिपि का एक रूप हो, (२) प्रस्तावित लिपि वर्तमान लिपि से अधिक भिन्न नही हो, (३) लिपि के वैज्ञानिक स्वरूप मे परिवर्तन न किया जाय, (४) प्रत्येक स्वर के लिए एक ही चिह्न हो, (५) प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र वर्ण हो तथा (६) एक ध्वनि के लिए दो चिह्न नही हो।[3]

कई वर्षों के निरन्तर उद्योग के पश्चात् इस समिति ने ५ अक्तूबर, १९४? ई० की बैठक मे[4] निम्नलिखित १४ प्रस्ताव पारित किये :—

(१) लेखन मे शिरोरेखा का प्रयोग आवश्यक नही है। मुद्रण मे शिरोरेखा का प्रयोग रहे, किन्तु छोटे अक्षरो मे जहाँ शिरोरेखा के प्रयोग से छपाई मे अस्पष्टता आती हो, वहाँ शिरोरेखा का प्रयोग नही भी हो सकता है।

---

१ डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० उ० वि०, पृ० ५८०।

२. का० श०, हि० स०, पृ० ४८।

३ दे० लि० स्व० वि० स०, पृ० ३४७।

४ उपरिवत्।

(२) प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारण-क्रमानुसार लिखा जाय।

(क) जबतक कोई सन्तोषजनक रूप सामने नहीं आता, तब तक 'इ' की मात्रा (ि) वर्तमान पद्धति से ही लिखी जाय, यथा—गिर।

(ख) ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर, दाहिनी ओर जरा हटाकर, वर्तमान पद्धति के अनुसार ऊपर लगायी जायँ, जैसे—द े वना, द ै वना, द ै वत, अ ो ला, अ ौ रत।

(ग) उ, ऊ, तथा ऋ की मात्राएँ अक्षर के बाद आयँ और पंक्ति में ही लिखी जायँ, यथा—क ु टिल, प ू जा, स ृ ष्टि।

(घ) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न भी अक्षर के बाद ऊपर लिखे जायँ, यथा—अ श।

(ङ) रेफ में व्यक्त होनेवाला अर्द्ध 'र' उच्चारण-क्रम से योग्य जगह पर लिखा जाय, यथा—धर्म।

(च) संयुक्ताक्षर में द्वितीय 'र' सामान्य रूप से लिखा जाय, जैसे—प्र, त्र।

(छ) संयुक्ताक्षर में भी, सर्वत्र, वर्ण उच्चारण-क्रम से एक के पीछे एक लिखे जायँ, यथा—द्वारका (द्वारका नहीं), विद्वत्ता (विद्वत्ता नहीं)।

(३) स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामञ्जस्य करने के लिए इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए और ऐ के वर्तमान रूप को छोडकर केवल 'अ' में ही इन स्वरों की मात्राएँ लगाकर इन स्वरों के मूल स्वरूप का बोध कराया जाय अर्थात् अ की बारहखडी की जाय, यथा—अ, आ, अि, अी, अु, अू, अृ, अे, अै, ओ, औ, अं, अः।

(४) दक्षिण की लिपियों के स्वरों में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ के स्वरूप आते हैं। उनके लिए मात्रा इस प्रकार लगायी जाय, यथा—अॆ, अॊ।

(५) पूर्ण अनुस्वार के स्थान पर '०' लगाया जाय और अनुनासिक के लिए केवल बिन्दी ' ' लिखी जाय, यथा सि०ह, चाद। व्यञ्जन के पूर्व हलन्त 'ङ्, ञ्, ण्, न्, म्' की जगह पर, जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा वाङ्मय, तन्मय), अनुस्वार लिखा जाय, यथा—च०चल, प०थ, प०प आदि।

(६) मुद्रण में, अक्षरों के नीचे बायीं ओर यदि अनुकूल स्थान पर बिन्दी लगायी जाय तो उसका अभिप्राय होगा कि उस अक्षर की ध्वनि, उस अक्षर की मूल ध्वनि से भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा, यथा—फ़ारसी क, ख, ग, ज और फ, मराठी च, सिन्धी ज आदि।

(७) विराम-चिह्न, आजकल सब भारतीय भाषाओ मे जैसे प्रचलित हैं, वैसे ही कायम रखे जायँ। पूर्ण विराम का चिह्न पाई '।' रहे।

(८) अङ्को के स्वरूप इस प्रकार रहे—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

(९) वर्तमान ख के स्वरूप मे परिवर्तन करना आवश्यक है। उसके स्थान पर गुजराती 'ख' स्वीकार किया जाय।

(१०) अ, झ, ण की जगह बम्बई के अ, झ, ण रखे जायँ और ल, श की जगह हिन्दी के रूप ल, श रखे जायँ। क्ष का क्ष रूप प्रचलित किया जाय। बीजगणित आदि वैज्ञानिक साहित्य मे सज्ञा-रूप मे क्ष आ सकता है।

(११) मराठी, गुजराती, कन्नड, तेलुगू आदि भाषाओ मे विशिष्ट ध्वनि के लिए जो ळ अक्षर प्रयुक्त होता है, वही रखा जाय। उसे ड या ल से व्यक्त न किया जाय।

(१२) ज्ञ के उच्चारण मे प्रान्तीय भिन्नता होने से उसका रूप जैसा है, वैसा ही रखा जाय।

(१३) सयुक्त अक्षरो को बनाने के लिए, जिन वर्णो के अन्त मे खडी पाई है; जैसे—ख, ग, घ, च, ज, ञ, ण, त, थ, ध, न, प, ब, भ, म, य, ल, व, श, ष, स, उनका सयोज्य-रूप खडी पाई हटाकर समझा जाय, यथा—ख्, ग्, घ्, च्, ज्, ञ्, ण्, त्, थ् आदि। क और फ का वर्तमान सयोज्य रूप क्, फ् स्वीकृत किया जाय। जिन अक्षरो के अन्त मे खडी पाई नही है, उनका सयोज्य रूप सयोजक चिन्ह (-) लगा कर समझा जाय। सयोजक चिह्न पिछले अक्षर से मिला रहे, यथा—विद-या, विट-ठल, उच्छ-वास, बुड-ढा, ब्रह-मा।

(१४) शिरोरेखा हटाकर लिखने मे भ और ध को म और घ से पृथक् करने के हेतु भ और ध मे गुजराती की तरह घुण्डी लगायी जाय, यथा—भ, ध।

उपर्युक्त प्रस्तावो मे से कुछ (जैसे दूसरे का ख, ग, घ, ड और छ तथा तेरहवें का उत्तरार्द्ध) मे केवल टङ्कन-मुद्रण की सुविधा पर ध्यान दिया गया था, लिपि की वैज्ञानिकता तथा लेखन की व्यावहारिकता पर नही। कुछ प्रस्तावो (जैसे ४, ६, और ११) का सम्बन्ध किसी प्रकार के सुधार से न होकर वर्ण-वृद्धि से था, जो देवनागरी से असम्बद्ध भाषाओ की कतिपय विशिष्ट ध्वनियो के लिए प्रस्तावित चिह्न थे। कुछ प्रस्ताव (पहला, पाँचवें का उत्तरार्द्ध तथा दसवें का उत्तरार्द्ध) स्वय अपने-आप मे अनियमित होने के कारण अवैज्ञानिक थे तथा अनेकरूपता को जन्म देने वाले थे। कई प्रस्तावो (जैसे—८, ७, ८, १२ और १३ के पूर्वार्द्ध) मे

देवनागरी के लिए कुछ भी नया सुझाव नहीं दिया गया था। वे गुण इसमे पहले ही से स्वय समाहित हो गये थे। कुछ प्रस्तावो (जैसे—५, ९ और १३ के उत्तरार्द्ध) मे वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से काम नही लिया गया था और कुछ प्रस्तावो (जैसे १ का (क) और ८) से देवनागरी के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रस्तावको की अनभिज्ञता प्रकट होती थी। इन्ही कारणो से नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी के तत्कालीन सदस्यो तथा देश के अन्यान्य विद्वानो ने इन प्रस्तावो का कड़ा विरोध किया तथा राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा के द्वारा प्रकाशित पुस्तको के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भवत. कही भी इन्हे व्यावहारिक रूप नही मिला।

१९३७-३८ ई० के आसपास ही प० राहुल साकृत्यायन ने भी नागरी लिपि-सुधार सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव रक्खे थे, जैसे—अ की बारहखडी का प्रयोग, ष के स्थान पर श, र के सभी रूपो के लिए केवल र, ड के स्थान पर ळ, क्ष और ज्ञ के स्थान पर क्रमश क्श और ज्ञ्न तथा सयोज्य अक्षरो के नीचे ' ' चिह्न का प्रयोग। १९३८ ई० मे बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया उनका भाषण इन सुधारो के अनुसार ही छपा था। किन्तु बाद मे उन्होने स्वय इन सुधारो को व्यर्थ समझकर त्याग दिया।[१]

१९४५ ई० मे काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने देवनागरी लिपि मे सुधार की आवश्यकताओ का अनुभव करके एक लिपि-उपसमिति का सङ्गठन किया था। उस समिति ने अपने प्रथम अधिवेशन मे देवनागरी लिपि मे सुधार और पुन संस्कार के लिए कई सिद्धान्त निश्चित किये, जैसे—(क) भारतीय तथा विदेशी भाषाओ की उन विशेष ध्वनियो के लिए देवनागरी मे वर्ण या सङ्केत-चिह्न स्थिर करना, जिनके लिए पहले से कोई वर्ण नहीं है, ताकि देवनागरी मे ससार की सभी भाषाएँ लिखी जा सके, (ख) लिपि के प्रचलित रूप से प्रतिसस्कृत लिपि का यथा-सम्भव अपार्थक्य बनाये रखना, (ग) सयुक्त वर्णो को ऐसा आकार देना कि पहचानने मे भ्रान्ति न हो, (घ) देवनागरी के सौन्दर्य को सुरक्षित रखना तथा (ङ) देवनागरी-सुधार सम्बन्धी पहले के सभी प्रस्तावो पर विचार करना।

इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए देश के प्रमुख पत्रो मे यह प्रार्थना प्रकाशित की गयी कि इस दिशा मे कार्य करने वाले सज्जन और सस्थाएँ अपने-अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री समिति के पास भेजने की कृपा करें[२]। इसके

---

१ कामेश्वर शर्मा, हि० स०, पृ० ४७।
२. दे० लि० स्व० वि० स०, पृ० ३७२।

फलस्वरूप श्री श्रीनिवास, डा० पन्नालाल, डा० गोरख प्रसाद, विनोबा भावे, कृपानाथ मिश्र, एम० डी० मनोहर, भोलानाथ शर्मा, मोतीलाल गुर्टू, जगन्नाथ जोशी, छोटेलाल शर्मा, रा० र० खाण्डिलकर, कामता प्रसाद सागरीय, अवधनन्दन, रामकृष्ण चौधरी, सुशील राम, गोपाल गणेश दुबे, बी० एस० कोलाकर आदि पचासो व्यक्तियों ने तरह-तरह के प्रस्ताव उपस्थित किये। इनमे से अधिकाश व्यक्तियो ने अपने सुझावो मे मुख्य रूप से टङ्कन-मुद्रण सम्बन्धी सुविधाओ को ही ध्यान मे रक्खा था, देवनागरी की ऐतिहासिक परम्परा और उसके अक्षरात्मक स्वरूप को नही। श्री श्रीनिवास का प्रस्ताव सर्वाधिक अनोखा था। उन्होने देवनागरी के लिए जो वर्णमाला प्रस्तुत की थी, उसके अधिकाश वर्ण तथा सभी मात्राएँ प्रचलित वर्णों एव मात्राओ से नितान्त भिन्न थी। डा० पन्नालाल ने इ की मात्रा (ि) को ई की मात्रा (ी) के समान ही वर्ण के आगे कुछ छोटा करके लगाने का सुझाव रक्खा था, यथा—की (कि)। शेष सभी व्यक्तियो के लगभग सारे-के-सारे प्रस्ताव, काका कालेलकर-समिति के प्रस्तावो के ही समान थे। सभा की लिपि-समिति ने श्री श्रीनिवास के प्रस्ताव को आगे चलकर आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति के सम्मुख रक्खा था, किन्तु वह अस्वीकृत हो गया। इसी प्रकार अन्य व्यक्तियो के सुझावो को भी कोई मान्यता नही मिल सकी।

३१ जुलाई, सन् १९४७ ई० मे उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक देवनागरी-लिपि-सुधार-समिति का सङ्गठन किया, जिसके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव हुए। डा० धीरेन्द्र वर्मा, प० रामशङ्कर द्विवेदी, प० चन्द्रशेखर शास्त्री, प० भाऊ शास्त्री वझे तथा डा० मङ्गलदेव शास्त्री उस समिति के सदस्य मनोनीत हुए और प० श्री नारायण चतुर्वेदी को उसका मन्त्री नियोजित किया गया। इस समिति को उत्तर प्रदेश राज्य सरकार से निम्नलिखित ५ आदेश मिले थे .—(१) समिति नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित प्रतिसस्कार के सुझावो की परीक्षा करे, (२) सङ्ग्रथन, टङ्कन तथा साधारण व्यवहार के लिए इसकी उपयुक्तता का विवरण प्रस्तुत करे, (३) सस्कृत के लिए इसकी उपयुक्तता का विवरण प्रस्तुत करे, (४) प्रचलित देवनागरी लिपि मे परिवर्तन की वाञ्छनीयता पर विचार करे और (५) परिवर्तित लिपि मे हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओ के लिखे जाने की सुविधा और उपयुक्तता पर विचार करे।

इस समिति ने विभिन्न विद्वानों के प्रस्तावो पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया और अधिकाश सुझावो की अनुपयुक्तता सिद्ध की। श्री श्रीनिवास के प्रस्ताव की समीक्षा करते हुए समिति ने यह निर्णय दिया कि 'स्वरो की आकृति के विषय

मे जिस एकरूपता की आवश्यकता का अनुभव श्रीनिवास जी ने किया है, उसकी उपयोगिता समिति आवश्यक नही समझती। जबतक व्याकरण-विज्ञान के आधार पर विभिन्न स्वरो की स्वतन्त्र सत्ता मानते रहेगे, तबतक उनका विभिन्न रूपो मे प्रकट किया जाना भी वैज्ञानिक और सरल होगा। समिति अ, इ, उ की स्वतन्त्र सत्ता मानती है और ए को भी स्वतन्त्र रूप से लिखा जाना आवश्यक समझती है। मात्रा-विधान के सम्बन्ध मे समिति नागरी के प्रचलित मात्रा-विधान को ही उत्तम समझती है।" इसी प्रकार प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण मे एक समान चिह्न लगाकर उसका महाप्राण बनाने के सुझाव को भी समिति ने अमान्य ठहराया। डा० पन्नालाल के सुझावो मे से इ की मात्रा को वर्ण के आगे लगाये जाने वाले सुझाव को समिति ने मात्रा के रूप मे किञ्चित परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया, किन्तु उनके अन्य सुझावो को अस्वीकृत कर दिया। इसके अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियो के प्रस्ताव को समिति ने प्राय अनुपयुक्त घोपित किया। यो, मुद्रण एवं टङ्कन की सुविधा को ध्यान मे रखते हुए समिति ने काका कालेलकर की समिति के कुछ सुझावो को स्वीकार कर लिया, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

इस समिति की कुल नौ बैठकें हुई और उसका पूरा विवरण २१ मई, १९४९ ई० को अध्यक्ष और सदस्यो द्वारा हस्ताक्षरित होकर सरकार के पास भेज दिया गया।[१] समिति के प्रस्ताव निपेधात्मक और स्वीकारात्मक, दो वर्गो मे विभक्त थे।

निपेधात्मक प्रस्ताव :—(१) श्रीनिवास जी के एकमात्रिक और द्विमात्रिक आदि स्वरो के भेद समिति को मान्य नही हो सकते। (२) अ की बारहखडी नहीं बनायी जा सकती। (३) इ की मात्रा को छोड़कर अन्य मात्राओ के वर्त्तमान स्वरूप मे परिवर्तन न किया जाय। (४) किसी व्यञ्जन के नीचे कोई दूसरा व्यञ्जन वर्ण न लगाया जाय। (५) केवल मशीन की सुविधा के लिए नागरी लिपि मे कोई अवाञ्छनीय परिवर्तन न किया जाय।

स्वीकारात्मक प्रस्ताव :—समिति के स्वीकारात्मक प्रस्ताव भी दो प्रकार के सुझावो मे विभक्त थे—१ सिद्धान्तगत और २. रूपगत।

सिद्धान्तगत सुझाव . इस प्रकार थे—(१) मुद्रण और टङ्कन की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओ को थोड़ा हटा कर केवल दाहिनी ओर ही बगल मे ऊपर-नीचे लगाया जाय, जैसे—क ै क े यी, स ंप ूण ं आदि। (२) शुद्ध अनुस्वार के

१ कामेश्वर शर्मा, हि० स०, पृ० ५५।

स्थान पर '°' (शून्य) लगाया जाय। व्यञ्जन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा—वाङ्मय, तन्मय), अनुस्वार चिह्न '°' शून्य लगाया जाय, जैसे—हंस (पक्षी)। अनुनासिक स्वर के लिए बिन्दी '' का प्रयोग हो, जैसे—हँसना। (३) शिरोरेखा लगायी जाय। (४) ऋ, लृ की मात्राएँ भी अन्य मात्राओं के समान थोड़ा हटाकर दाहिनी ओर नीचे लगायी जायँ, जैसे—कृपा। (५) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त है, उनका आधा रूप, खड़ी पाई निकालकर बनाया जाय, जैसे—ख, ग, ठ, च आदि। (६) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त नहीं है, उनका आधा रूप, क और फ को छोड़कर, हल चिह्न '्' मात्राओं के समान ही, बगल में नीचे की ओर लगा कर बनाया जाय, जैसे—ड्, छ्, ट्, द् आदि। (७) ह्रस्व इ की मात्रा भी दाहिनी ओर लगायी जाय।

वर्णों के रूपगत सुझाव इस प्रकार थे—(१) स्वरों में अ का रूप अ रहेगा। (२) व्यञ्जनों में छ, झ, ण, ध, भ र, ळ और ह के रूप क्रमशः छ, झ, ण, ध, भ, र, ल और ह रहेंगे। ह्रस्व इ की मात्रा (ि) का रूप ी होगा। (४) क्ष और त्र के स्थान पर क्ष और त्र से काम लिया जायगा। (५) विशेष अक्षर श्र ॐ तथा ळ होंगे। (६) विरामचिह्न यथासम्भव वे सब ले लिये जायँ, जो इस समय अँगरेजी (रोमन) में प्रचलित हैं। केवल पूर्णविराम के लिए खड़ी पाई स्वीकार की जाय, यथा—। - — , ; ! ?।

आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति के उपर्युक्त सुझावों के अनुसार देवनागरी की वर्णमाला का निम्नलिखित रूप होता—

अङ्क —१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

स्वर — अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ ऋ लृ अँ अं अः

मात्राएँ —ा ि ी ु ू े ै ो ौ ृ ॢ ँ ं ः

व्यंजन —क	ख	ग	घ	ङ				
च	छ	ज	झ	ञ				
ट	ठ	ड	ढ	ण				
त	थ	द	ध	न				
प	फ	ब	भ	म				
य	र	ल	व	श	ष	स	ह	ज्ञ

विशेष वर्ण —ॐ, श्र, ळ

काका कालेलकर की समिति के प्रस्तावो के साथ यदि आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति के प्रस्तावो को मिलाकर देखा जाय, तो यह स्पष्ट परिलक्षित होगा कि स्वर वर्णो के स्वरूप को छोडकर अन्य अधिकाश वातो मे दोनो समान ही हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति के सुझावो को प्राप्त कर लेने के वाद उत्तर प्रदेश की सरकार ने २९ नवम्बर, १९५३ ई० मे विभिन्न राज्यो के मन्त्रियो तथा विशिष्ट विद्वानो की एक सभा लखनऊ मे की। इस सभा के अध्यक्ष तत्कालीन उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन, स्वागताध्यक्ष उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त तथा उद्घाटनकर्त्ता उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी थे। इस सभा मे १०० से अधिक विशिष्ट प्रतिनिधि, १४ मुख्य मन्त्री तथा ४० अन्य मन्त्रियो ने भाग लिया था।[१] सभा का मुख्य उद्देश्य आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति के प्रस्तावो पर निर्णय लेना तथा देवनागरी लिपि के लिए एक सर्वमान्य संशोधित रूप उपस्थित करना था। पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् सभा ने निम्नलिखित सुझावो को मान्यता प्रदान की—

(१) नागरी के सभी परम्परागत स्वर-वर्ण ज्यो के त्यो रहे, केवल 'अ' के स्थान पर अ रूप प्रयोग मे लाया जाय।

(२) मात्राएँ पूर्ववत् रहे, केवल इ की मात्रा दाहिनी ओर लगायी जाय और उसका रूप 'ि' हो, जैसे— की (कि)।

(३) अङ्क पूर्ववत् रहे, केवल ९ का रूप ९ हो।

(४) पूर्णविराम के अतिरिक्त सभी विराम-चिह्न अँगरेजी के समान रहे। पूर्णविराम के लिए खडी पाई का प्रयोग हो। अँगरेजी का कोलन चिह्न (:) प्रयुक्त न हो।

(५) अनुस्वार और चन्द्रविन्दु (अनुनासिक) के रूप परम्परागत ही रहे, यथा—'ं' और 'ँ'।

(६) व्यञ्जनो मे ख, छ, झ, ण, ध, भ, ल, क्ष, और त्र के बदले क्रमशः ख, छ, झ, ण, ध, भ, ल, क्ष और त्र रूप का प्रयोग हो। र का रूप र ही रहे, ऱ नही। शेष व्यञ्जन पूर्ववत् रहे।

(७) मराठी का ळ वर्णमाला मे सम्मिलित कर लिया जाय।

---

१ दे० लि० स्व० वि० स०, पृ० ३९३।

(८) शिरोरेखा का प्रयोग हो।

(९) सयुक्ताक्षर दो प्रकार से बनाये जायँ—(क) जहाँ सम्भव हो खड़ी पाई को हटाकर या (ख) सयोज्य वर्ण मे हलन्त चिह्न (्) लगाकर। क, फ और ह के सयोज्य रूप पूर्ववत् रहे।

१९५५ ई० मे भारत सरकार ने लखनऊ सभा के उपर्युक्त सुझावो को स्वीकार कर लिया तथा राज्य सरकारो से देवनागरी के इसी सशोधित रूप को प्रयोग मे लाने का आग्रह किया। किन्तु, राज्य सरकारो ने इन सशोधनो को पूर्ण रूप से स्वीकारने मे अन्यमनस्कता प्रदर्शित की तथा हिन्दी भाषी प्रान्तो ने भी इनके प्रति पूर्ण उदासीनता का भाव प्रकट किया। विशेषत इ की मात्रा तथा र के साथ सयुक्त वर्णो के रूप को देख कर लोग बुरी तरह भडकते थे, जैसे—कि्सान (किसान), प्रेम (प्रेम) आदि। इस स्थिति मे सुधार लाने के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने अक्टूबर १९५७ ई० मे एक और सम्मेलन बुलाया, जिसने राज्य मन्त्रियो के सम्मेलन के निश्चयो मे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने की सिफारिश की।

१९५९ ई० के अगस्त महीने मे भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने देवनागरी के सशोधनो को अन्तिम रूप देने के लिए देश के विशेषज्ञो तथा शिक्षा मन्त्रियो के दो सम्मेलन बुलाये। इन दोनो सम्मेलनो ने राज्य-मन्त्रि-सम्मेलन के कई सशोधनो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये तथा देवनागरी की वर्णमाला को निम्नलिखित रूप प्रदान किया :—

स्वर — अ आ इ ई उ ऊ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः।

मात्राएँ — ा ि ी ु ू ृ ॄ े ै ो ौ ं ः।

व्यञ्जन —क ख ग घ ङ।
च छ ज झ ञ।
ट ठ ड ढ ण।
त थ द ध न।
प फ ब भ म।
य र ल व श ष स ह, ड़ ढ़ ऱ, क्ष त्र ज्ञ श्र।

अङ्क — १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०।

अन्य प्रस्ताव :—हिन्दी मे ॠ-ऌ का प्रयोग नही होता, अत इन्हे स्वरों मे सम्मिलित न किया जाय। खडी पाई वाले व्यञ्जनो का सयुक्त रूप खडी

पाई हटाकर ही बनाया जाय। क और फ के संयुक्ताक्षर बनाने का परम्परागत ढङ्ग ही प्रचलित रहे। ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ और द मे हल् चिह्न (्) लगाकर ही उन्हे संयुक्त किया जाय। र के परम्परागत सभी रूप ज्यो के त्यो रहे, यथा—राष्ट्र, धर्म, प्रेम। श्र का परम्परागत रूप ही रहे। त्र के स्थान पर त्र का प्रयोग किया जाय। ह मे हल् चिह्न लगाकर भी उसे संयुक्त किया जा सकता है। संस्कृत मे संयुक्ताक्षर की पुरानी शैली भी काम मे लायी जा सकती है। शिरोरेखा का प्रयोग हो। पूर्णविराम के अतिरिक्त अन्य सभी विराम-चिह्न अँगरेजी के अनुसार रहे। विसर्ग के चिह्न को ही कोलन के रूप मे भी प्रयुक्त किया जाय। पूर्णविराम के लिए खडी पाई का प्रयोग हो। अनुस्वार तथा अनुनासिक दोनो के लिए प्राचीन चिह्नो का ही प्रयोग हो और दोनो प्रचलित रहे।

यह संशोधन प्राय· आजतक के सरकारी संशोधनो मे अन्तिम था और भारत सरकार अपने कार्यालयो मे अभी इसी संशोधित रूप का व्यवहार करती है।

नागरी लिपि के परम्परागत रूप के साथ यदि इस अन्तिम संशोधित रूप को मिलाकर देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि इस संशोधित देवनागरी लिपि मे ध, भ और त्र के रूप किञ्चित भिन्न है तथा एक नया वर्ण ळ जुड गया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी विशेष परिवर्तन नही दीखता। ये सामान्य परिवर्तन भी केवल सरकारी कार्यो मे कुछ हद तक भले ही मान्य हुए हो, जनता ने इन्हे कभी स्वीकार नही किया। फलत. आज भी व्यापक जनवर्ग देवनागरी के परम्परागत रूप का ही प्रयोग कर रहा है, जो हमारी पूर्वोल्लिखित स्थापना का स्पष्ट प्रमाण है कि देवनागरी-सुधार-आन्दोलन अन्तत असफल रहा। साथ ही देश के विभिन्न भागो मे अ की बारहखडी, ध-भ-र के भिन्न-भिन्न रूपो के प्रयोग तथा अनुस्वार-अनुनासिक चिह्नो की अनेकरूपता आदि के कारण यत्र-तत्र देवनागरी के जो अनेक प्रकार के रूप प्रचलित हो गये हैं, वे हमारी उपर्युक्त दूसरी स्थापना के प्रमाण हैं कि देवनागरी-सुधार-आन्दोलन देवनागरी लिपि के उत्थान की दृष्टि से साधक और हितकर न होकर बाधक तथा अहितकर ही सिद्ध हुआ। आज देवनागरी की यह अनेकरूपता ही उसके विकास मे सबसे बडी बाधा बनी हुई है, जो मूलत सुधार-आन्दोलन की देन है।

नागरी का सम्बन्ध भारत की प्राचीनतम भाषाओ तथा उनके सुदीर्घ परम्परागत विशाल वाङ्मय के अतिरिक्त समग्र साक्षर जन-समाज से है। अत·, नागरी मे किसी प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन लाने के पूर्व कम से कम दो अनि-

चार्यताओ की पूर्ति करनी होगी, जिनमे प्रथम है सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय का सशोधित लिपि मे लिप्यन्तरण, और दूसरी है समग्र साक्षर समाज की अनुमति और समर्थन। हमारी दृष्टि मे इन दोनो मे से कोई भी बात सम्भव नही है, इस कारण नागरी लिपि का विकास उसकी आवश्यकताओ के अनुसार अपनी स्वाभाविक गति से ही होगा, उसमे कोई आकस्मिक परिवर्तन लाना न तो वाञ्छनीय है और न हितकर ही।



अध्याय

: ११ :

भारतीय आर्यभाषा-ध्वनि-समूह और नागरी-वर्णमाला

हिन्दी ध्वनि-समूह के पूर्वस्रोत का परिचय

हिन्दी की अधिकांश ध्वनियाँ भारतीय आर्यभाषा-स्रोत से आयी हैं। शेष ध्वनियों में से कुछ तो नितान्त नवीन है, जिनका विकास वर्त्तमान युग मे हुआ है और कुछ विदेशी स्रोत की हैं, जो मुख्यत अरबी, फारसी तथा अँगरेजी के तत्सम ऋण शब्दों के साथ हिन्दी मे प्रविष्ट हो गयी हैं। इस प्रकार हिन्दी ध्वनि-समूह का पूर्वस्रोत उपर्युक्त तीन भागों मे विभक्त है। इस आधार पर हिन्दी ध्वनि-समूह को भी तीन पृथक् भागों मे बाँटा जा सकता है : यथा—(१) भारतीय आर्यभाषा-स्रोत से आगत ध्वनियाँ, (२) आधुनिक काल मे विकसित नवीन ध्वनियाँ और (३) विदेशी स्रोत से गृहीत ध्वनियाँ। हिन्दी की ध्वनि-व्यवस्था के निर्माण मे इन तीनों ही स्रोतों की ध्वनियों का योगदान है, किन्तु उसका मूलाधार भारतीय आर्यभाषा स्रोत से आगत ध्वनियाँ ही हैं। अत. हिन्दी ध्वनि-समूह का सम्यक् विवेचन करने के लिए पहले उसके मूलाधार आर्यस्रोत अर्थात् वैदिक परम्परा की भारतीय आर्यभाषाओं के ध्वनि-समूहों का पूर्वापर क्रम से विवेचन कर देना आवश्यक है।

हिन्दी आर्यपरिवार अर्थात् भारोपीय परिवार की एक प्रमुख आधुनिक भाषा है। इस परिवार की ज्ञात भाषाओं मे वैदिक सर्वाधिक प्राचीन है, जिसका प्राचीनतम परिनिष्ठित रूप ऋग्वेद मे सुरक्षित है। ऋग्वेद के पूर्व का न तो अब किसी देश मे कोई लिखित साहित्य उपलब्ध है और न भाषा सम्बन्धी कोई अन्य साधन ही। इसलिए आज वैदिक की जननी अर्थात् तथाकथित मूल भारोपीय

भाषा के यथार्थ स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन सम्भव नही रह गया है। फिर भी कुछ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो ने इस परिवार की प्राचीन भाषाओ के ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मूल भारोपीय के कल्पित रूप के पुनर्निर्माण का विलक्षण प्रयास किया है। किन्तु, प्रत्यक्ष एव निश्चित प्रमाणो के अभाव मे तथा अनेक अन्यान्य असङ्गतियो के कारण उन विद्वानो के एतद्विषयक अनुमानाश्रित निष्कर्ष असन्दिग्ध नही माने जाते। फिर भी, उन निष्कर्षों की उपयोगिता एवं महत्त्व को सर्वथा अस्वीकारा भी नही जा सकता। मुख्यत आर्य परिवार की भाषाओ की ध्वनि-व्यवस्था के ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ मे उनका विशेष उपयोग एव महत्त्व है। अत हिन्दी ध्वनि-समूह के पूर्वस्रोत के विवेचन-प्रसङ्ग मे भी पहले मूल भारोपीय के पुनर्निर्मित कल्पित ध्वनि-समूह का नागरी वर्णमाला के माध्यम से सक्षेप मे परिचय दे देना अनुचित नही होगा। तदनन्तर हम पूर्वापर क्रम से भारतीय आर्यभाषाओ के ध्वनि-समूहो का नागरी वर्णमाला के माध्यम से सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे। उक्त भाषाओ की जिन ध्वनियो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण नही है, उनको व्यक्त करने के लिए लगभग समान वर्णो के साथ अतिरिक्त चिह्नो का या एकाधिक वर्णों के सयोग का उपयोग किया जायगा।

मूलभारोपीय ध्वनि-समूह और नागरी-वर्णमाला

मूल स्वर—अति ह्रस्व या उदासीन—अ
ह्रस्व—अ ए ओ
दीर्घ—आ ए ओ

अन्त स्थ स्वर—ह्रस्व—इ उ ऋ ऌ न म
दीर्घ—ई ऊ ॠ ॡ न म

मिश्र स्वर—ह्रस्व—अइ अउ अऋ अऌ अन अम
एइ एउ एऋ एऌ एन एम
ओइ ओउ ओऋ ओऌ ओन ओम

दीर्घ—आइ आउ आऋ आऌ आन आम
एइ एउ एऋ एऌ एन् एम
ओॅइ ओॅउ ओॅऋ ओॅऌ ओॅन ओॅम

व्यञ्जन—स्पर्श—कण्ठ तालव्य —क्य् ख्य् ग्य् घ्य् (ङय्)

पश्चकण्ठय '—क् ख् ग् घ् (ङ्)
कण्ठोष्ठ्य '—क्व् ख्व् ग्व् घ्व् (ङ्व्)
दन्त्य या वर्त्स्य —त् थ् द ध् न्
ओष्ठ्य .—प् फ् व् भ् म्

अन्त स्थ व्यञ्जन—य् व् र् ल् न् म्
उष्म—स् (ज)
सङ्घर्षी—(ह्) (थ्) (व्)

ऊपर कोष्ठको के भीतर लिखे गये वर्णों से सम्बद्ध ध्वनियाँ या तो सन्दिग्ध है या सस्वन।

प्रारम्भ मे पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो की धारणा थी कि मूलभाषा के स्वर एव व्यञ्जन, दोनो ही, सस्कृत मे सुरक्षित है, किन्तु परवर्ती भाषाशास्त्रियो ने यह स्थापित किया कि मूलभाषा के स्वर तो ग्रीक एव लैटिन मे सुरक्षित है और व्यञ्जन सस्कृत मे। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि वैदिक के प्राचीनतम उपलब्ध रूप (ऋग्वेद) से ग्रीक के प्राचीनतम उपलब्ध रूप (होमर के काव्य) मे पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार भी न्यूनातिन्यून प्राय. हजार वर्ष का अन्तर है। ऐसी स्थिति मे मूल भाषा की ध्वनियो का, चाहे वे स्वर ही क्यो न हो, वैदिक की अपेक्षा ग्रीक मे अधिक सुरक्षित मानना तथा उसके आधार पर मूलभाषा के रूप का पुनर्निर्माण करना युक्तिसङ्गत नही प्रतीत होता। किन्तु यह विषय गहन शोध एव विवाद का है, इसलिए यहाँ मूलभारोपीय ध्वनियो के सम्बन्ध मे विद्वानो के द्वारा उल्लिखित कुछ विशेषताओ की ओर मात्र सङ्केत कर देना ही पर्याप्त होगा।

मूलभारोपीय के अतिह्रस्व या उदासीन स्वर अ के तत्कालीन शुद्ध उच्चारण का आज ठीक पता नहीं है, जो विद्वानो के अनुसार वैदिक तथा सस्कृत मे अ एव इ मे परिणत हो गया।[1] अ-ए-ओ तथा आ-ए-ओ क्रमश. अ तथा आ मे परिणत हो गये।[2] इ-ई तथा उ-ऊ स्वर मूल के प्राय समान ही बने रहे। इसी तरह ऋ तो वैदिक एव सस्कृत मे प्राय· मूल के समान ही बना रहा, किन्तु ऌ प्राय

---

१. मूल* पतेर्, स० पितृ, ग्री० पतेर्, लै० पतेर।
२. मूल* अगो, सं० अजामि, ग्री० अगो, लै० अगो। मूल* एस्ति, स० अस्ति, ग्री० एस्ति, लै० एस्त्। मूल* गेमोस्, स० दमः, ग्री० डोमोस, लै० डोमुस। मूल* भ्रातेर्, स० भ्रातृ, ग्री० फ्रातेर्, लै० फ्रातेर्। मूल धे, स० दधामि, ग्री० टिथेमि। मूल* दोनम्, स० दानम्, लै० डोनुम्।

ऋ मे बदल गया।[1] अन्त:स्थ न म किसी शाखा मे सुरक्षित नही है। वैदिक एवं संस्कृत मे उनके ह्रस्व एव दीर्घ रूप क्रमश. अ तथा आ मे परिणत हो गये।[2] शेष अन्त:स्थ ध्वनियाँ प्राय. मूलरूप मे ही बनी रही, किन्तु य् र् ल् व् विभिन्न स्थितियो मे क्रमश: इ उ ऋ लृ का रूप भी धारण करते दृष्टिगोचर होते है।

व्यञ्जनो मे कण्ठतालव्य क्य् स० मे स् या श् के रूप मे, ग्य् ज् मे,[3] घ्य् ह् मे[4] तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियाँ प्राय. तालव्य (चवर्ग) मे परिणत हो गयी।[5] शेष व्यञ्जन ध्वनियाँ प्राय मूल के समान ही बनी रही।

मूलभारोपीय मे दो या अधिक व्यञ्जन एक साथ आ सकते थे, पर दो या अधिक मूलस्वर एक साथ नही। अन्त स्थ ध्वनियाँ स्वर एव व्यञ्जन दोनो ही के साथ आ सकती थी। अनुनासिक स्वरो का प्राय अभाव था। समीकरण आदि सन्धिनियम भी अस्तित्व मे थे। सामान्यत: दो व्यञ्जनो के सयोग मे यदि दूसरा सघोष हो तो दोनो सघोष और यदि दूसरा अघोष हो तो दोनो अघोष हो जाते थे। मिश्र स्वर मूल एव अन्त स्थो के स्वरीय रूपो के योग से बनते थे।

वैदिक ध्वनि-समूह और नागरी वर्णमाला

वैदिक ध्वनियो की सख्या के सम्बन्ध मे प्राचीन वैयाकरणो मे मतैक्य नही है। वा० प्रा० ८, १-१५ के अनुसार उनकी सख्या ६५ है, जिनमे २३ स्वर एव ४२ व्यञ्जन माने गये हैं।[6] किन्तु वा० प्रा० ८, २९-३० मे यह स्वीकार किया गया है कि माध्यन्दिन शाखा मे ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य तथा

---

१. मूल* क्र्द, स० शृद, ग्री० कर्दिअ, लै० कोर्दिस।
मूल* व्लकोस, स० वृक, ग्री० लुकास।
२ मूल* क्मतोम्, स० शतम्, ग्री० हेकटोन्, लै० केण्टम्।
मूल* न्मृतोस, स० अमृत, ग्री० अम्ब्रोतस्।
३. मूल* ग्येनोस, स० जनस्, ग्री० गेनोस, ले० गेनुस्।
४. मूल* एघ्योम्, स० अहम्, ग्री० एगो, लै० एगो।
५ मूल* क्वे, स० च, ग्री० ते, ले० के।
६. अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ॠ३ लृ ल ल३, ए ए३ ओ ओ३ ऐ ऐ३ औ औ३; क् ख् ग् घ् ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्, ट् ठ् ड् ढ् ण्; त् थ् द् ध् न्; प् फ् ब् भ् म्; य् र् ल् व्, श् ष् स् ह्, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम।

दीर्घ ऌकार नहीं मिलते हैं और वा० प्रा० २, ५०-५४ मे उल्लिखित सात प्लुतो को छोडकर अन्य प्लुत स्वर भी नही मिलते हैं।[१]

शिक्षाग्रन्थो मे वैदिक ध्वनियो की सख्या ६३ अथवा ६४ मानी गयी है। पा० शि० के अनुसार—'त्रिपष्टिश्चतु पष्टिर्वा वर्णा सम्भवतो (पाभे० शम्भुमते) मता। प्राकृते सस्कृते चापि स्वय प्रोक्ता· स्वयम्भुवा ।।३।। स्वराविंशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशति·। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा· स्मृता: ।।४।।" व० प्र० शि० १०-१५ (शि० स० पृ० ११८), षोडशश्लोकी शिक्षा २ (शि० स० पृ० १६४) और कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२, १०, १५) मे भी ध्वनियो की सख्या ६३ मानी गयी है। पा० शि० की पञ्जिकावृत्ति[२] और उसी मे उद्धृत औदव्रजि[३] का मत है कि ह्रस्व तथा दीर्घ के भेद से दो अनुस्वार मानने से ध्वनियो की सख्या ६४ हो जाती है।

तै० प्रा० मे[४] त्रिभाष्यरत्न के अनुसार ६० ध्वनियाँ स्वीकृत है, जिनमे १६ स्वर (अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ) और ४४ व्यञ्जन (२५ स्पर्श, ४ अन्त स्थ, ६ ऊष्म, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य, ४ यम और स्वरभक्ति) है। ऋ० प्रा० मे ८ समानाक्षर और ४ सन्ध्यक्षर, कुल १२ स्वर माने गये हैं[५] तथा अनुस्वार को स्वर एव व्यञ्जन दोनो कहा गया है।[६] उसमे ऌकार की गणना स्वरो मे नहीं की गयी है तथा व्यञ्जनो मे २५ स्पर्श, चार अन्त.स्थ तथा ८ ऊष्म बताये गये हैं।[७] ऊष्म मे श् ष् स् ह् के अतिरिक्त विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार भी सम्मिलित हैं।

पाणिनि के शिवसूत्र मे पाँच ह्रस्व समानाक्षर और चार सन्ध्यक्षरो की गणना स्वर मे की गयी है और व्यञ्जनो मे अयोगवाह को परिगणित नही किया

---

१ 'त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः। द्वाचत्वारिंशद् व्यञ्जनानि तावान्वर्ण सग्रहः ।।" वा० प्रा० ८, २८।

२. "तस्मिन् ळहल जिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम् ।।२९।। ऌकारोदीर्घः प्लुतारचोक्तवर्जम्" ।।३०।।

३. 'चतुःषष्टिः कथम् ? अनुस्वारो विसर्गश्चेति पाठान्तरात्। कथ पुनरनुस्वार द्वयम् ? ह्रस्वदीर्घ भेदेनेतिब्रूम·।"

४ "अनुस्वाराव आ इत्यनुस्वारौ ह्रस्वाद्दीर्घोदीर्घाद्ध्रस्वो वर्णौ" इति।

५ ऋ० प्रा०—१, १-९; १, ३४, ८, ५; २, ५२; १३, १६; २२, १२-१५।

६ ऋ० प्रा० १, १-३।

७ उपनिषद्, १, ५।

गया है। किन्तु उनके सवर्णग्राहक सूत्र (१, १, ६९) से दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक आदि सभी गृहीत हो जाते हैं।

प्राचीन वैयाकरणो की ही तरह आधुनिक वैयाकरणो एव भाषाशास्त्रियो मे भी वैदिक ध्वनियो की सख्या के सम्बन्ध मे परस्पर मतैक्य नही है। किन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि प्लुत, स्वरभक्ति एव अनुनासिक स्वरो की गणना स्वतन्त्र ध्वनियो के रूप मे अनावश्यक है। अन्य ध्वनियो मे ॡ[1], ळ[2], ळ्ह[3], यम[4] एव नासिक्य[5] विवादग्रस्त हैं और शेष निर्विवाद हैं। आधुनिक विद्वानो मे से कुछ ने विवादग्रस्त ध्वनियो में से एक, कुछ ने दो, कुछ ने तीन, कुछ ने चार और कुछ ने सबको स्वतन्त्र ध्वनि मानने का आग्रह प्रदर्शित किया है। इसीलिए भिन्न-भिन्न विद्वानो के अनुसार वैदिक ध्वनियो की सख्या प्राय ५१ से ५५ तक ठहरती है। देवनागरी लिपि मे उन ध्वनियो को निम्नलिखित ढङ्ग से प्रकट किया जाता है—

---

१. ऋ० प्रा०; १, ६-१०।

२. पतञ्जलि ने पा० १, १, ९ तथा ६, १, १० पर भाष्य करते हुए होतृ+लृकार के सवर्ण दीर्घ के उदाहरण में केवल ऋ का दीर्घ दिखाया है, लृ का नहीं। इसी आधार पर काशिकाकार जयादित्य ने लिखा है—लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।" परवर्ती अनेक वैयाकरणों ने इसका समर्थन किया है।

३ ऋ० में दो स्वरों के मध्य ड के लिए ळ और ढ के लिए ळ्ह लिखा गया है। ऋ० प्रा० १, ५२ मे कहा गया है—डयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सपद्यते स डकारो ळकारः। ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा सम्प्रयुक्तः॥ इळा सा ळ्हा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण।—वा० प्रा० ४, १४४—डढो लळ्हावेकेषाम॥

४ यमों का व्याख्यान भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार वर्गों के आद्य चार वर्णों में से किसी एक से परे यदि कोई पञ्चम वर्ण आये तो उनके मध्य पूर्व वर्ण के सदृश जो ध्वनि होती है, उसे 'यम' कहते है। ऋ० प्रा० के अनुसार अनुनासिक स्पर्शों से पूर्व आनेवाले अननुनासिक स्पर्श को यमापत्ति होती है। कुछ प्रातिशाख्यकार यम को एक आगम मानते है। अ० प्रा० १, ९९। कुछ के अनुसार अननुनासिक स्पर्श की आशिक अनुनासिक ध्वनि ही वास्तव में यम है। वा० प्रा० ४, १६३; ८, २४।

५ कुछ आचार्य पूर्ववर्ती हकार तथा परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के बीच एक नासिक्य ध्वनि का आगम मानते है, यथा—अह नाम। अ० प्रा० १, १०० "हकारान्नासिक्येन"। तै० प्रा० २१, १४—"हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्"। वा० प्रा० ८, १३—हुँ इति नासिक्य॰। महाभाष्य १, १, २ में नासिक्य की गणना अयोगवाहों में की गयी है।

१—स्वर —

(क) मूलस्वर या समानाक्षर—ह्रस्व—अ इ उ ऋ ऌ।
दीर्घ—आ ई ऊ ॠ (ॡ)।

(ख) सयुक्तस्वर या सन्ध्यक्षर—ए ओ ऐ औ।

२—व्यञ्जन :—

(क) स्पर्श—कण्ठ्य—क् ख् ग् घ् ङ्।
तालव्य—च् छ ज् झ् ञ्।
मूर्धन्य—ट् ठ् ड् (ळ्) ढ् (ळ्ह) ण्।
दन्त्य—त् थ् द् ध् न्।
ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म्।

(ख) अन्तस्थ—य् र् ल् व्।

(ग) ऊष्म—श् ष् स् ह्।

(घ) अयोगवाह—विसर्जनीय[1], जिह्वामूलीय[2], उपध्मानीय[3], अनुस्वार[4], (यम) तथा (नासिक्य)।

उपर्युक्त ५५ वैदिक ध्वनियो मे जिन पाँच को विवादग्रस्त समझकर ऊपर कोष्ठबद्ध रूप मे प्रस्तुत किया गया है, उनमे से ऌ का प्रयोग प्राय. सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मे केवल क्लृप मे मिलता है, ळ और ळ्ह क्रमश. ड् और ढ् के विकार मात्र हैं और यम तथा नासिक्य ऐसी आशिक ध्वनियाँ है, जिनके लिखित आकार भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति मे इनमे से किसी को भी स्वतन्त्र ध्वनि मानना समीचीन नही प्रतीत होता। निष्कर्षत वैदिक ध्वनियो की सख्या कुल ५० रह जाती है। उनमे भी जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय प्राय पराश्रित ही हैं, जिन्हे विसर्गवर्गीय संस्वन कहना शायद अनुपयुक्त नही माना जायगा।

उपर्युक्त वैदिक ध्वनियाँ मुख्यत उसके साहित्यिक रूप से सम्बन्ध रखती है। सम्भव है कि वैदिक की तत्कालीन बोलियो की ध्वनियाँ भी इन्ही के समीप रही हों; किन्तु उनमे निश्चय ही कुछ भिन्न ध्वनियाँ भी रही होंगी, जिनके सम्बन्ध मे आज निश्चित रूप मे कुछ कहा जाना सम्भव नही है।

---

१. (:)।
२. (≍क, ≍ख)।
३. (≍प, ≍फ)।
४. (ं)।

वैदिक ध्वनियो का जैसा उच्चारण आजकल प्रचलित है, वैदिक युग मे ठीक ऐसा ही नही था। ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण, वैदिक-परम्परा तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर वैदिक ध्वनियो के शुद्ध उच्चारण के सम्बन्ध मे जो तथ्य आज उपलब्ध है, वे सक्षेप मे इस प्रकार है —

(क) समानाक्षर या मूलस्वर

अ—अनेक पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार वैदिक अ ध्वनि मूल भारोपीय अँ एँ ओँ का प्रतिनिधित्व करती है[1], यथा—वै० अज्र (खेत)—लै० अँजर—अ० एकर, वै० अस्ति (है)—लै० एँस्त, वै० अवि (भेड)—लै० ओँविस।

इसके अतिरिक्त अ ध्वनि मूलभाषा के सघोष नासिक्य के स्थान पर भी आती है, जहाँ यह अनुदात्त अक्षर (अन् अम्) के ह्रसित रूप का प्रतिनिधित्व करती है, यथा—वै० असि—लै० ऍन्सिस, वै० शतम्—लै० केँन्तुम् आदि।

इसका उच्चारण-स्थान कण्ठ है। प्रातिशाख्यो मे इसका आभ्यन्तर प्रयत्न सवृत माना गया है,[2] किन्तु विद्वानो का अनुमान है कि मन्त्रो के रचना-काल मे इसका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत रहा होगा, क्योकि मन्त्रो के छन्द को ठीक रखने के लिए ऋक्सहिता मे ए ओ के पश्चात् अ का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है।

आ—यह ध्वनि मूलभारोपीय आ ए ओ का प्रतिनिधित्व करती है, यथा—वै० मातृ—लै० मातेर, वै० सामि (आधा)—लै० सेमि, वै० आस् (मुख)—लै० ओस् आदि।

सन्धि मे यह ध्वनि दो अकारो के एकादेश को प्रकट करती है, यथा—इह+अस्ति=इहास्ति। अ के सदृश यह प्राय. सघोष नासिक्य के स्थान पर भी आती है, यथा—खन् से खात, जन् से जात इत्यादि।

इसका उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। अ० प्रा० (१, ३५) ने इसके प्रयत्न को विवृततम कहा है।

इ ई—ये दोनो ध्वनियाँ मूलभारोपीय की क्रमश ह्रस्व-दीर्घ इ ई का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन दोनो का उच्चारण-स्थान तालु एव आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत है। सन्धि मे ई दो इकारो का एकादेश प्रकट करती है।

---

१ वाकरनागल; 'अल्टिंडिशे ग्रामेटिक'—१, पृ० ४। मैकडॉनेल, वै० ग्रा० पृ० ७।
२ अ० प्रा० १, ३६। वा० प्रा० १, ७२। अ० ८, ४, ६८।

उ ऊ—ये दोनो ध्वनियाँ मूलभारोपीय के क्रमश ह्रस्व-दीर्घ उ ऊ का प्रतिनिधित्व करती है। इनका उच्चारण-स्थान ओष्ठ तथा आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत है। तै० प्रा० (२, २४) के अनुसार इनके उच्चारण मे ओष्ठ उपसंहृत होकर आगे की ओर निकले होते हैं।

ऋ ॠ लृ—इनके उच्चारण के सम्बन्ध मे आचार्यो के बीच बहुत मतभेद है। ऋ० प्रा० (१,४१) के अनुसार ये सभी जिह्वामूलीय है। किन्तु तै० प्रा० (२, १८) का मत है कि इनके उच्चारण मे जिह्वा का अग्रभाग वर्स्वो से उपसंहृत होता है। दूसरी ओर पा० शि० (१७) ऋकार को मूर्धन्य और लृकार को दन्त्य मानती है—"स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृता.।" किन्तु पा० १, १, ९ का वार्तिक प्रातिशाख्यो के इस मत का का समर्थन करता है कि इन दोनो स्वरो का उच्चारण-स्थान एक ही है, इसीलिए ये सवर्ण कहे गये हैं—"ऋकारलृकारोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या।"

पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि ऋ तथा लृ क्रमश. र् तथा ल् की स्वरीभूत (वोकेलाइज्ड) ध्वनियाँ थी। शिक्षाग्रन्थो तथा प्रातिशाख्यो मे इसीलिए इन्हे क्रमश र् तथा ल् के अंग-रूप मे स्वीकार किया गया है। लृ का प्रयोग वैदिक काल मे भी बहुत सीमित था। केवल क्लृप से बने कुछ तिङन्त एव कृदन्त रूपो मे इसका प्रयोग मिलता है।

ऋ का प्रयोग उत्तर भारत मे प्राय रि के सदृश और दक्षिण मे प्राय रु के सदृश किया जाता रहा है। ऋ० प्रा० (१४, ३८) मे ऋकार के सरेफ उकार सदृश उच्चारण को एक दोष माना गया है। प्राचीन पाण्डुलिपियो तथा विदेशी भाषाओं मे लिखे गये संस्कृत-शब्दो के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल मे ऋ का उच्चारण अगत रि के सदृश होता था।[1] किन्तु, उत्तरकालीन भारतीय भाषाओ मे ऋ के स्थान पर इकार तथा उकार वाली ध्वनियो के विकास से प्रमाणित होता है कि अति प्राचीनकाल से ऋ के उच्चारण मे दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान रही हैं, यथा—घृत—घी, वृद्ध—बूढा। कतिपय वैदिक शाखाओ मे ऋ का उच्चारण रे के सदृश भी होता था। कात्यायनोक्ता स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्टा शिक्षा (शि० स० पृ० १७४) मे उल्लेख है—"हल्युक्त—ऋकारस्तु रेकारश्छन्दसि स्मृत। पितृणामिति पित्रेणामित्यादि च निदर्शनम्।"

---

१ वाकरनागल : अल्टिइण्डिशे ग्रामैटिक १, पृ० ३१। मैकडॉनेल; वै० ग्रा०, पृ० ८।

(ख) मिश्र स्वर या सन्ध्यक्षर

ए ओ ऐ औ—प्रातिशाख्यो मे इन्हे सन्ध्यक्षर (डिफथाड्स) कहा गया है। पाणिनीयतन्त्र मे ए ओ (तथा अ) गुणसज्ञक तथा ऐ ओ (तथा आ) वृद्धिसज्ञक है। इन चारो का आभ्यन्तर प्रयत्न सामान्यत. विवृत माना गया है। ऋ० प्रा० (१, ४२—४७) के अनुसार ए ऐ का उच्चारण-स्थान तालु और ओ औ का कण्ठ माना गया है। किन्तु ऋ० प्रा० (१३, १८) मे यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्य सन्ध्यक्षरो को सन्ध्यानि अर्थात् सन्धि से उत्पन्न मानते है, तदनुसार प्रत्येक सन्ध्यक्षर के उच्चारण-स्थान दो हैं। पा० शि० ए ऐ को कण्ठतालव्य और ओ औ को कण्ठोष्ठज मानती है। अ० प्रा० (१, ४०-४१) के अनुसार ए ओ की वृत्ति एकवर्ण के सदृश है, किन्तु ऐ औ की उनसे भिन्न है। इससे तथा अन्यान्य प्रातिशाख्यो से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्य-काल मे ए ओ का उच्चारण प्राय. मूल-स्वर के रूप मे होने लगा था। किन्तु मूलतः ये सन्ध्यक्षर ही थे; क्योकि अ के साथ इ तथा उ की सन्धि से क्रमशः ए और ओ बनते हैं। आजकल ऐ औ का उच्चारण प्रायः अइ अउ के सदृश होता है और सम्भवतः प्रातिशाख्यो के काल मे भी प्रायः इसी प्रकार का था। परन्तु ऐ औ मूलतः क्रमश आइ आउ का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योकि सन्धि मे ऐ औ से क्रमश आय् आव् बनते है।

(ग) अनुनासिक स्वर

स्वरो के शुद्ध रूप के अतिरिक्त अँ आँ इँ ईँ आदि रूप भी वैदिक भाषा मे प्रचलित थे। इन अनुनासिक स्वरो का उच्चारण इनके अपने मुख्य स्थान तथा नासिका द्वारा किया जाता है। इसका समर्थन ऋ० प्रा० (१३, २०); अ० प्रा० (१, २७), वा० प्रा० (१,७५), अष्टाध्यायी (१. १ ८) आदि भी करते हैं।

(घ) स्वरावस्था-विकृति या अपश्रुति

भारोपीय भाषाओ मे सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त तथा तद्धित रूपो की रचना मे मूलस्वरो की अवस्था मे कई प्रकार के विकार होते हैं। इस स्वरावस्था-विकृति के लिए जर्मन भाषा मे अब्लाउट, अँगरेजी मे वोवेल ग्रेडेशन तथा भारतीय विद्वानो के द्वारा अपश्रुति शब्द का प्रयोग किया जाता है। सस्कृत वैयाकरण अति प्राचीनकाल मे भी इस प्रकार की स्वरावस्था-विकृति से परिचित थे और उन लोगो ने इस सम्बन्ध मे गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण आदि सज्ञाओ का प्रयोग किया था। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो तथा सस्कृत वैयाकरणो के दृष्टिकोण मे मुख्य भेद यह है

कि संस्कृत वैयाकरण स्वरों की ह्रस्वावस्था (इ उ ऋ लृ) को साधारण अवस्था (नॉर्मल ग्रेड) मानकर उसके आधार पर ह्रासावस्था (लो ग्रेड) तथा वृद्धि-अवस्था (लेन्थेण्ड ग्रेड) आदि का विवेचन करते है।[१] इसके विपरीत पाश्चात्य भाषाशास्त्री गुण (अ ए ओ अर् अल्) को साधारण अवस्था मानकर उसके आधार पर ह्रासावस्था (ह्रस्व) तथा वृद्धि-अवस्था का विवेचन करते हैं। इस पक्ष के समर्थन मे उनकी प्रधान युक्ति यह है कि स्वरावस्था-विकृति मुख्यतः उदात्त स्वर के स्थान-परिवर्तन के कारण होती है, क्योंकि उदात्त ही पद का प्रमुख स्वर माना जाता है। जबतक किसी पूर्ण अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है, तबतक वह अक्षर अविकृत रहता है। परन्तु जब उदात्त के स्थान-परिवर्तन के कारण अक्षर अनुदात्त हो जाता है, तब वह ह्रासावस्था (लो ग्रेड) को प्राप्त होता है। यथा—साधारण अवस्था (नॉर्मल ग्रेड) मे 'जि' धातु से जेतुम, जयति, वृद्धि अवस्था (लेन्थेण्ड ग्रेड) मे अजैषम्, जैपु और ह्रासावस्था (लो ग्रेड) मे जित।

संस्कृत वैयाकरणों ने यद्यपि इ उ ऋ लृ को साधारण अवस्था मानकर गुण, वृद्धि आदि का व्याख्यान किया है, तथापि गुण और उदात्त का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। पाणिनि ने (३, ४, ७८, ९२) धातुओं से परे आनेवाले उन प्रत्ययों को जो धातु के इ उ ऋ को गुण करते हैं पित् किया है, यथा शप्, तिप्, सिप्, मिप् और लोट् के उत्तम पुरुष का आट् आगम। फिर ३, १, ४ मे पाणिनि ने पित् प्रत्यय को अनुदात्त बताकर पद के उदात्त का स्थान धातु के गुण अक्षर पर निश्चित कर दिया है। इसी प्रकार बहुत से अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

वैदिक भाषा के अनेक सुबन्त, तिङन्त, तद्धित तथा कृदन्त रूपो मे स्वरों की उदात्तता के स्थानान्तरण होने पर निम्नलिखित प्रकार की स्वरावस्था-विकृतियाँ पायी जाती है —

(१) तिङन्त तथा कृदन्त रूपों मे ए ओ अर् अल् का क्रमश. इ उ ऋ लृ के रूप मे ह्रास, यथा—एमि—इम·, आप्नोमि—आप्नुम, ददर्श—ददृशु तथा कल्पते—चक्लृपे।

संस्कृत वैयाकरणो ने उपर्युक्त उदाहरणो मे मूल अक्षर इ उ ऋ लृ के आधार पर गुण अक्षर ए ओ अर् अल् का विवेचन किया है।[२]

---

१. पा० १ १. ३।

२ पा० ७, ३, ८४-८६।

(२) ए ओ अर् (गुण) की ऐ औ आर् के रूप मे वृद्धि, यथा—जि से जैषु, यु से यौमि, कृ से कारक आदि।

(३) गुण (ए ओ अर्) तथा वृद्धि (ऐ औ आर्), दोनो प्रकार के स्वरो का क्रमश. ई ऊ ईर्-ऊर के रूप मे ह्रास, यथा—भी से बिभेमि (गुण) और बिभाय (वृद्धि) की तुलना मे भीत, ह्वे से होम और जुह्राव की तुलना मे हूत, स्तृ से तस्तरे और तस्तार की तुलना मे स्तीर्ण और पृ से पिपर्ति तथा पपार की तुलना मे पूर्ण आदि।

(४) समास या सम्बोधन मे ई ऊ ईर्-ऊर् का क्रमश. इ उ ऋ के रूप मे ह्रास, यथा—समास मे शी से निशिता, सू से सूतिका की तुलना मे सुपुति, स्तृ से स्तीर्ण की तुलना मे अस्तृत। इसी तरह सम्बोधन मे देवी से देवि तथा स्वश्रू से स्वश्रु आदि।

(५) य व र का क्रमश. इ उ ऋ के रूप मे सम्प्रसारण या ह्रास, यथा—यज् से इयाज की तुलना मे इष्ट, वश् से वष्टि की तुलना मे उश्मसि तथा ग्रह से जग्रह की तुलना मे जगृहु।

(६) या वा रा का क्रमश ई ऊ ईर् के रूप मे ह्रास, यथा—प्याय् से प्यायते की तुलना मे पीन, स्वाद् से स्वादते की तुलना मे सुषूदति तथा दीर्घ की तुलना मे द्राघीयस् आदि।

(७) गुण रूप अ का ह्रासावस्था मे कही-कही लोप हो जाता है, यथा—अस् से बने अस्ति की तुलना मे सन्ति, गम् से बने जगाम की तुलना मे जग्मु. आदि।

(८) पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो के अनुसार कुछ धातुओ मे आ गुण अर्थात् साधारण अवस्था (नार्मल ग्रेड) का प्रतिनिधि माना जाता है। उसका ह्रास प्राय इ, सादृश्य के कारण कही-कही ई तथा गौण उदात्त स्वर के साथ कही-कही अ के रूप मे भी पाया जाता है, यथा—स्था से बने स्था की तुलना मे स्थित, पा से बने पातवे की तुलना मे पीत तथा गाहते की तुलना मे गहन या गह्वर आदि।

(९) ऐ का ह्रास ई के रूप मे, यथा—गै से गायति की तुलना मे गीत, श्यै से श्यायते की तुलना मे शीत या शीन आदि।

(१०) औ का ह्रास ऊ के रूप मे, यथा—धावति (धोता है) की तुलना मे धूत (धोया गया) तथा धावति (भागता है) की तुलना मे धूम (धुआँ) आदि।

व्यञ्जन समूह

(क) **कण्ठ्य स्पर्श**—वैदिक भाषा के कण्ठ्य स्पर्श प्राय. मूलभारोपीय के मध्य कण्ठ्य स्पर्शों का प्रतिनिधित्व करते है। कुछ वैदिक कण्ठ्य स्पर्श मूल भारोपीय के मूल कण्ठ्य स्पर्शों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं; यथा—वै० कः, लै० क्विस, वै० गौ०, ग्री० वौस आदि। कुछ विशेष परिस्थितियो से वैदिक कण्ठ्य-स्पर्श तालव्य ध्वनियो के स्थान पर भी आते है, यथा—दिक्षु आदि के क्ष् (क्+ष्) मे मूलत ग् तथा स् का सयोग है, और श् के स्थान पर क् वनने से सन्धि के परिणामस्वरूप स् का मूर्धन्य हो गया है। इसी प्रकार वाक् इत्यादि रूपो मे च् के स्थान पर क् आता है। कुछ रूपो मे सकारादि प्रत्ययो से पूर्व ष् के स्थान पर भी क् आता है, यथा—द्विप से द्विक्षत् आदि।

ऋ० प्रा० (१, ४१), वा० प्रा० (१,६५), पा० शि० (१८) आदि के अनुसार कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है। किन्तु तै० प्रा० (२, ३५) ने जिह्वामूल को कवर्ग का करण और हनुमूल को स्थान माना है—"हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति। ह्विटनी, एलेन आदि पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो ने भी जिह्वामूल को करण ही माना है। चन्द्रगोमी, भट्टोजिदीक्षित आदि ने हनुमूल के वदले कण्ठ को कवर्ग का स्थान माना है। यही मत प्राय अधिक प्रचलित है। इस वर्ग की ध्वनियो का सक्षिप्त ध्वनिवैज्ञानिक परिचय निम्नलिखित है —

क्—यह कण्ठ्य, स्पर्श, विवार-श्वास-अघोष एव अल्पप्राण ध्वनि है।
ख्—यह कण्ठ्य, स्पर्श, विवार-श्वास-अघोष एव महाप्राण ध्वनि है।
ग्—यह कण्ठ्य, स्पर्श, सवार-नाद-घोष एव अल्पप्राण ध्वनि है।
घ्—यह कण्ठ्य, स्पर्श, सवार-नाद-घोप एव महाप्राण ध्वनि है।

ङ्—यह कण्ठ्य, स्पर्श, सवार-नाद-घोप, अल्पप्राण एव अनुनासिक ध्वनि है। इसका प्रयोग प्राय कवर्गीय स्पर्शो के ही पूर्व होता है। अन्यत्र तभी आता है, जहाँ किसी कवर्गीय ध्वनि का लोप हुआ हो।

(ख) **तालव्य स्पर्श**—इस वर्ग की ध्वनियो का विकास मूल भारोपीय के तालुकण्ठ्य स्पर्शो एव कण्ठ्य स्पर्शो से माना जाता है। विकास-क्रम की दृष्टि से वैदिक तालव्य व्यञ्जनो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है—पूर्वकालीन तालव्य और उत्तरकालीन तालव्य। छ् श् और कुछ रूपो मे प्रयुक्त ज् ह्[1] पूर्व-

---

[1] वैदिक ह् मूलभारोपीय तालुकण्ठ्य महाप्राण घोष 'ध्य' का प्रतिनिधि माना जाता है।

कालीन तालव्य माने जाते हैं। च् और कुछ अन्य रूपो मे प्रयुक्त ज् तथा ह् उत्तरकालीन तालव्य माने जाते हैं। पदान्त मे अथवा स्पर्शों से पूर्व मूर्धन्य मे परिणत होनेवाले ज् तथा ह् पूर्वकालीन तालव्य माने जाते है, यथा—यज् से इष्ट (युज् + क्त), लिह् से लीढ (लिह् + क्त)। पदान्त मे तथा स्पर्शों से पूर्व कण्ठ्य स्पर्शो मे परिणत होने वाले ज् तथा ह् उत्तरकालीन तालव्य माने जाते है, यथा—युज् से युक्त (युज् + क्त), दुह् से दुग्ध (दुह + क्त)।

पूर्वकालीन तालव्यो (छ् श् ज् ह्) का विकास मूलभारोपीय के तालु कण्ठ्य स्पर्शो से माना जाता है। अधिकाश पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार प्रथम तालव्यीकरण मूलभारोपीय से भारत-इरानियन के पृथक् होने से पूर्व तथा द्वितीय तालव्यीकरण पृथक् होने के पश्चात् हुआ। उत्तरकालीन तालव्यो (च् ज् ह) का विकास मूलभारोपीय की मध्य कण्ठ्य ध्वनियो से माना जाता है। वैदिक भाषा मे झ् का प्रयोग बहुत कम मिलता है, ञ् कभी पद के प्रारम्भ मे नही आता तथा कोई भी तालव्य व्यञ्जन पदान्त मे नही आता।[1]

प्रातिशाख्य, शिक्षा तथा वैयाकरणो के अनुसार चवर्ग का स्थान तालु है तथा करण जिह्वा का मध्यभाग है।[2] इस वर्ग के व्यञ्जनो की ध्वनिवैज्ञानिक विशेषताएँ सक्षेप मे निम्नलिखित हैं —

च्—तालव्य, विवार-श्वास-अघोप, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
छ्—तालव्य, विवार-श्वास-अघोप, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
ज्—तालव्य, सवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, स्पश ध्वनि है।
झ्—तालव्य, सवार-नाद-घोप, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
ञ्—तालव्य, सवार-नाद-घोप, अल्पप्राण, अनुनासिक स्पर्श ध्वनि है।

(ग) मूर्धन्य स्पर्श—वैदिक भाषा मे मूर्धन्य स्पर्शों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। ये ध्वनियाँ प्राय शब्द के मध्य या अन्त मे ही आती है। इनसे प्रारम्भ होनेवाले शब्द वैदिक मे अति विरल है। ण् कभी पद के आदि या अन्त मे नही आता। ळ ळ्ह क्रमश ड ढ के स्थान पर केवल स्वरो के मध्य ऋग्वेद मे प्रयुक्त होते हैं।

वैदिक मूर्धन्य ध्वनियो का विकास प्राय स् श् ज् ह् मूलध्वनियो के विकार का परिणाम माना जाता है। कुछ विद्वानो के अनुसार यह विकार प्राचीन

१ ऋ० प्रा० १२, १; अ० प्रा० १, ७; वा० प्रा० १, ८५।
२. अ० प्रा० १, २१—तालव्याना मध्यजिह्वम्। ऋ० प्रा० १, ४२, वा० प्रा० १, ६६।

आर्यभाषा पर द्रविड प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ। भारत-ईरानी मे मूर्धन्य ध्वनियाँ नही थी। वैदिक भाषा मे स् श् ज् मे विकार के परिणामस्वरूप ष् प्रकट होता है[1] और ष् के परे आनेवाले दन्त्य स्पर्शों के विकार के परिणामस्वरूप अन्य मूर्धन्य स्पर्श प्रकट होते है, यथा—वृष्टि (वृष्+क्तिन्), दुष्टर (दुस्+तर) वष्टि (वश्+ति), मृष्ट (मृज्+क्त), राष्ट्र (राज्+त्र)। इसी तरह अनेक शब्दो मे पूर्ववर्ती र् ऋ ॠ के प्रभाव से न का ण् मे परिवर्तन होता है। मूर्धन्य स्पर्शो का संक्षिप्त ध्वनिवैज्ञानिक परिचय निम्नलिखित है —

ट्—मूर्धन्य, विवार-श्वास-अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

ठ्—मूर्धन्य, विवार-श्वास-अघोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

ड्—मूर्धन्य, संवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

ढ्—मूर्धन्य, संवार-नाद-घोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

ण्—मूर्धन्य, संवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, अनुनासिक स्पर्श ध्वनि है।

टवर्ग का स्थान मूर्धा और करण जिह्वाग्र है। कुछ प्रातिशाख्यो के अनुसार टवर्ग के उच्चारण के समय वक्ता जिह्वा को पीछे की ओर मोडकर जिह्वाग्र से मूर्धा का स्पर्श करता है।[2] पाश्चात्य ध्वनिशास्त्रियो ने भी मूर्धन्य स्पर्शो को प्रतिवेष्टित (रेट्रोफ्लेक्स) ध्वनियाँ कहा है। ळ एक प्रकार का मूर्धन्य लकार है, और उसी का महाप्राण ळ्ह बनता है। यथा—इळा, अषाळ्ह आदि।

(घ) दन्त्यस्पर्श—वैदिक दन्त्यस्पर्श प्राय मूलभारोपीय दन्त्य स्पर्शों का प्रतिनिधित्व करते है। वैदिक मे इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है। दन्त्य स्पर्शों का संक्षिप्त ध्वनिवैज्ञानिक परिचय निम्नलिखित है —

त्—दन्त्य, विवार-श्वास-अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

थ्—दन्त्य, विवार-श्वास-अघोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

द्—दन्त्य, संवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

ध्—दन्त्य, संवार-नाद-घोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।

न्—दन्त्य, संवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, अनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। वैदिक मे अन्य अनुनासिक स्पर्शों की अपेक्षा न् का प्रयोग सबसे अधिक मिलता है। यह पद के आदि, मध्य तथा अन्त सभी स्थितियो मे प्रयुक्त होता है।

---

१ पा० ८, ३, ३६; ८, ३, ५९-७७।

२. ऋ० प्रा० १, २२—मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्। तै० प्रा० २, ३७। वा० प्र० १, ७८।

दन्त्य स्पर्शों का स्थान दन्तमूल तथा करण जिह्वाग्र (जिह्वान्त) है।[1] किन्तु कुछ प्रातिशाख्यो मे इनका स्थान दन्त माना गया है।[2]

(ङ) **ओष्ठ्य स्पर्श**—वैदिक ओष्ठ्य स्पर्श प्राय मूलभारोपीय ओष्ठ्य स्पर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। केवल ब् के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का मत है कि यह मूलभारोपीय की मूलध्वनि का प्रतिनिधित्व नही करता और सम्भवत भ् अथवा प् का विकारज है, यथा—भू से बभूव, रभ् से रब्ध तथा अप् से अब्ज इत्यादि। ओष्ठ्य स्पर्शों का स्थान उत्तरोष्ठ और करण अधरोष्ठ है। ओष्ठ्य स्पर्शों का सक्षिप्त ध्वनिवैज्ञानिक परिचय निम्नलिखित है —

प्—ओष्ठ्य, विवार-श्वास-अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
फ्—ओष्ठ्य, विवार-श्वास-अघोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
ब्—ओष्ठ्य, सवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
भ्—ओष्ठ्य, सवार-नाद-घोष, महाप्राण, स्पर्श ध्वनि है।
म्—ओष्ठ्य, सवार-नाद-घोष, अल्पप्राण, अनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। न् की तरह म् का प्रयोग भी पद के आदि, मध्य तथा अन्त सभी स्थितियो में होता है।

(च) **अन्त.स्थ**—य् र् ल् व् की अन्त:स्थ सज्ञा की सार्थकता प्रकट करते हुए ऋ० प्रा० १, ९ के भाष्य मे उवट ने कहा है——"स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्त.स्था", अर्थात् स्पर्श एव ऊष्मो के मध्य स्थित होने के कारण ये अन्त.स्थ कहे जाते हैं। कुछेक विद्वानो का मत है कि ये ध्वनियाँ केवल पद-मध्य (अन्त) प्रयुक्त होती है, इसलिए अन्त स्थ कही जाती है। ह्विटनी ने इसे अस्वीकार करते हुए यह सुझाव दिया है कि प्रयत्न की दृष्टि से स्वरो तथा व्यञ्जनो के मध्य की ध्वनियाँ होने के कारण ये अन्त स्थ कहलाती है।[3] स्वरसन्धि मे य् व् र् ल् क्रमशः इ उ ऋ ऌ के स्थान पर आते हैं और अनेक परिस्थितियो मे इन स्वरो का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके अतिरिक्त य् व् र् ल् के सम्प्रसारण क्रमश. इ उ ऋ ऌ हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्त स्थो का इन स्वरो से विशेष सम्बन्ध है। वैदिक अन्त स्थ प्रायः अपने अनुरूप भारोपीय अन्त.स्थो से ही विकसित माने जाते है। इनकी ध्वनिवैज्ञानिक विशेषताएँ सक्षेप मे निम्नलिखित है .—

---

१ ऋ० प्रा० १ ४८—"दन्तमूलीयस्तु तकार वर्ग:।" तै० प्रा० २, ३८—जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु।"
२. (पू० पृ०)—अ० प्रा० १, २४—"दन्त्याना जिह्वाग्र प्रस्तीर्णम।" वा० प्रा० १, ७६।
३ स० प्रा०, पृ० १८, वे० ग्रा०, स्ट्डु० पृ० १०, फो० इ० ए० इ०, एलेन—पृ० २६।

य्—इसका उच्चारण-स्थान तालु है। तै० प्रा० (२, ४०) के अनुसार इसके उच्चारण मे जिह्वा के मध्यभाग के किनारो से तालु का स्पर्श किया जाता है। प्रतीत होता है कि कालान्तर मे कतिपय यजुर्वेदी यकार का उच्चारण जकार के समान करने लगे थे। इसीलिए या० शि० का मत है कि पादादि, पदादि, सयोग तथा अवग्रह मे ज और अन्यत्र य माना जाता है।[१] लेखबद्ध सहिता मे अनेक स्थलो पर य् का उचित उच्चारण इय् माना जाता है।

जिन वैदिक शब्दो मे य् इकार का प्रतिनिधित्व नही करता, वहाँ यह मूलभारोपीय य् का प्रतिनिधि है, यथा—स० युवन्, लै० युवनिस। इसी तरह वैदिक य् कही-कही मूलभारोपीय सघोषतालव्य ऊष्म का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु वैदिक भाषा मे प्रयुक्त सभी यकार का अभी तक समुचित तुलनात्मक समाधान नही हुआ है, यथा—यूयम, भूयिष्ठ आदि। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से यह तालव्य, घोष, अल्पप्राण, ईषत्स्पृष्ट अन्त.स्थ ध्वनि है।

व्—इसके उच्चारण-स्थान के सम्बन्ध मे मतभेद है। ऋ० प्रा० (१,४७) तथा वा० प्रा० (१, ७०) के अनुसार इसका स्थान ओष्ठ है। किन्तु वा० प्रा० (१, ८१) दन्ताग्र को ओष्ठ्य वकार का करण मानता है। तै० प्रा० (२, ४३) का मत है कि ओष्ठान्तो एव दाँतो से वकार का उच्चारण किया जाता है—"ओष्ठान्ताभ्या दन्तैर्वकारे। शिक्षाग्रन्थो तथा व्याकरणो मे इसे दन्तोष्ठ्य ध्वनि कहा गया है। लेखबद्ध वैदिक सहिताओ मे अनेक स्थलो पर इसका उचित उच्चारण उव् माना गया है। यह मूल भारोपीय व् का प्रतिनिधि है, यथा स० अवि, ग्री० ऑविस् आदि। यह दन्तोष्ठ्य, घोष, अल्पप्राण, ईषत्स्पृष्ट, अन्त.स्थ ध्वनि है।

र्—अनेक प्रातिशाख्यो एव शिक्षा-ग्रन्थो मे र् का स्थान दन्तमूल माना गया है।[२] कतिपय आचार्य इसका स्थान वर्त्स्व को मानते है।[३] किन्तु, अनेक विद्वानो का मत है कि र् के प्रभाव से त् का ण् मे परिणत होना रेफ के मूर्धन्यत्व का ज्ञापक है।[४] बहुत मे वैदिक शब्दो मे र् मूलभारोपीय र् का प्रतिनिधित्व करता

---

१ या० शि० १५०—"पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च। ज. शब्द' इति विज्ञेयो योऽन्य' स य इति स्मृत ।

२ वा० प्रा० १, ६८,—"रो दन्त मूले'। अ० प्रा० १, २८—"रेफस्यदन्तमूलानि"। या० शि० २१२ (शि० स० पृ० ३३) "एको दन्तमूलीयोरेफ'। व० स० शि० (शि० स० पृ० ११५)—रेफश्च दन्तमूलोत्थो जिह्वाग्रेण विधीयते।"

३ ऋ० प्रा० १, ४६— 'रेफ. वर्त्स्यमेके"।

४ पा० शि० २७, आपि० शि० १. १३-१८; शि० कौ० (पृ० १७) आदि।

है; यथा—सं० भर, ग्री० फेरो, लैं० फेरो, सं० रुधिर, ग्री० एरुथ्रॉस आदि। किन्तु, अनेकत्र यह मूल भारोपीय ल् का प्रतिनिधि है। यह मूर्धन्य, घोष, अल्पप्राण ईषत्स्पृष्ट, अन्त.स्थ ध्वनि है।

ल्—ऋ० प्रा० (१, ४५) तथा तै० प्रा० (२, ४२) के अनुसार इसका स्थान दन्तमूल है। किन्तु वा० प्रा० (१, ६९), पा० शि० (१७) आदि के अनुसार लृकार का उच्चारण-स्थान दन्त है। बहुत से वैदिक शब्दो मे ल् मूलभारोपीय ल् का प्रतिनिधित्व करता है, यथा—म० लोक्, लैं० लुकुस् आदि। यह दन्त्य, घोष, अल्पप्राण, ईषत्स्पृष्ट, अन्त स्थ ध्वनि मानी जाती है।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक ९ मण्डलो मे जिन शब्दो मे र् का प्रयोग मिलता है, उन्ही शब्दो मे दशम मण्डल मे र् के स्थान पर प्राय. ल् प्रयुक्त हुआ है, यथा—म्रुच्, रभ्, रोमन् आदि के स्थान पर क्रमश म्लुच्, लभ्, लोमन् आदि। इससे प्रतीत होता है कि दशम मण्डल के रचनाकाल तक आते-आते र् के स्थान पर ल् के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती जा रही थी। किन्तु, उत्तरकालीन भाषा मे कही-कही र् तथा ल् का प्रयोग साथ-साथ चलता रहा, यथा—शुक्र-शुक्ल, मिश्र-मिश्ल आदि। रेफ के वैकल्पिक तत्त्व के सम्बन्ध मे वार्तिककार ने भी कतिपय शब्दो की परिगणना की है।[1] इन ध्वनियो के प्रयोग मे इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण कालान्तर मे "रलयोरभेदः" या "रलयोरेकत्वस्मरणम्" (पा० ८, २, १८ पर काशिका) जैसी उक्तियो का प्रचलन हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि भा० आ० भा० का तीन शाखाओ मे विकास हुआ, जिनमे एक मे र् ध्वनि ही रही, दूसरे मे र् और ल् और तीसरे मे र् के स्थान पर केवल ल् ध्वनि रही। श्रीर, श्रील तथा श्लील मे एक ही शब्द के तीन रूपो से यह कथन स्पष्ट हो जाता है।

(छ) **ऊष्म**—ऋ० प्रा० (१, १०) के भाष्य मे उवट ने कहा है कि जिन ध्वनियो के उच्चारण मे ऊष्म वायु नि सृत हो, वे ऊष्म हैं। इसी सूत्र मे श् ष् स् ह् के अतिरिक्त विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार को भी ऊष्म माना गया है, किन्तु वा० प्रा० (८, १६, १७), सिद्धान्त कौमुदी तथा अन्य अनेक वैयाकरणो ने केवल श् ष् स् ह को ऊष्म माना है। इनमे केवल ह् घोष है और शेष अघोष।

---

१. पा० ८, २, १८ पर वार्तिक (काशिका)—"बालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम्॥ कपिलकादीना सञ्ज्ञाछन्दसोर्वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम्"। पा० ८, २, १८-२२।

श्—यह मूल भारोपीय क्य् ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। स् से पूर्व एवं कहीं-कहीं पदान्त में श् के स्थान पर क् हो जाना इसके मूल कण्ठ्यत्व का ही परिचायक है, यथा—दिश् से दिक, दृश् से द्रक्ष्यति तथा अद्राक्षीत आदि। प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा वैयाकरणों के अनुसार श् तालव्य, अघोष, महाप्राण ईषद्विवृत, ऊष्म ध्वनि है।

ष्—मूर्धन्य स्पर्शों की भाँति ष् को भी कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने मूल-ध्वनि से विकसित नहीं मानकर अन्य ध्वनियों के विकार से उत्पन्न माना है। कुछ शब्दों में पूर्वकालीन तालव्य श् तथा ज् के स्थान पर ष् प्रकट होता है, यथा—नश् से नष्ट, मृज् से मृष्ट आदि। अ आ से भिन्न स्वर तथा क् र् से परे आने वाले स् के स्थान ष् हो जाता है, यथा—अग्निषु, अरुक्षु आदि। यह मूर्धन्य, अघोष, महाप्राण ऊष्म ध्वनि है। शुक्ल यजुर्वेदी शिक्षाग्रन्थों में दिये गये नियमों से ज्ञात होता है कि उनकी रचना के पूर्व ष् का ख् के समान उच्चारण करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी।[१]

स्—यह मूलभारोपीय स् का प्रतिनिधित्व करता है, यथा—वै० सन, लै० सेसनेक्स, वै० स, गौ० सा आदि। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सन्धि में स् कहीं श् कहीं ष् में परिणत हो जाता है। स् और ल् का उच्चारण-स्थान प्रायः सभी एक ही मानते हैं, इसलिए ल् के स्थान के सम्बन्ध में जो विवाद है, वही इसके सम्बन्ध में भी है। सामान्यतः इसे दन्त्य, अघोष, महाप्राण, ईषद्विवृत ऊष्म ध्वनि माना जाता है।

ह्—तालव्य व्यञ्जनों के विवेचन के प्रसङ्ग में यह बतलाया जा चुका है कि कुछ वैदिक शब्दों में ह् पूर्वकालीन तालव्य है और कुछ में उत्तरकालीन तालव्य। पूर्वकालीन तालव्य ह् मूलभारोपीय घ्य् का प्रतिनिधित्व करता है और विशेष परिस्थितियों में मूर्धन्य में परिणत हो जाता है, यथा—वह् से वहति के अतिरिक्त वोढुम् (वह्+तुमुन्), ऊढ (वह्+क्त्) आदि। उत्तरकालीन तालव्य हकार मूलभारोपीय की उस घ् ध्वनि का प्रतिनिधि है, जो द्वितीय तालव्यीकरण के कारण तालव्य में परिणत हो गयी। इसीलिए विशेष परिस्थितियों में इस हकार के स्थान पर कण्ठ्य स्पर्श प्रकट होता है यथा—हन् से हन्ति तथा हत के साथ घ्नन्ति, आदि।

अधिकांश प्रातिशाख्य, शिक्षा ग्रन्थ एवं वैयाकरण ह् का स्थान कण्ठ मानते

१ (पू० पृ०)—द्वितीया लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा (शि० सं० पृ० ११४—"षकारस्य खकारः स्यात् टुक्योगेतु नो भवेत्"। के० शि०, सूत्र ३—"ष खष्टुमृतेच।"

हैं, परन्तु ऋ० प्रा० (१, ४०) के अनुसार ह् तथा विसर्ग का स्थान उरस् है। तै० प्रा० (२, ४७) कहता है कि कतिपय आचार्यों के मतानुसार हकार का स्थान वही है, जो उसके पूर्ववर्ती स्वर के आदिम भाग का है। सामान्यत. ह् कण्ठ्य, घोष, महाप्राण, ईषद्विवृत, ऊष्म ध्वनि है।

(ज) अयोगवाह[1]

विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय—पाणिनि (८, ३, १५) के अनुसार खर् (ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) से पूर्व तथा अवसान मे विसर्जनीय र् का प्रतिनिधित्व करता है। क् ख् से पूर्व विसर्जनीय के स्थान पर जिह्वामूलीय और प् फ् से पूर्व उपध्मानीय हो जाता है। परन्तु, ये दोनो वैकल्पिक है और संहिताओ मे इनके स्थान पर अधिकतर विसर्जनीय ही लिखा जाता है। पाणिनि के अनुसार कुछ परिस्थितियो मे विसर्जनीय के स्थान पर स् या ष् भी आते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वान विसर्जनीय को र् के अतिरिक्त स् का भी प्रतिनिधि मानते हैं।[2] विसर्जनीय और ह् का उच्चारण-स्थान एक ही है, जिह्वामूलीय का जिह्वा-मूल तथा उपध्मानीय का ओष्ठ है।

अनुस्वार तथा अनुनासिक—शिक्षाग्रन्थो के अनुसार अनुस्वार स्वरो पर आश्रित रहने वाली ध्वनि है। पा० शि० ५ पर पञ्जिका टीका मे कहा गया है—"स्वरमनु भवतीत्यनुस्वार, (स्वरम्) अनु अकाराद्यनुगमनेनानुस्वार .। वक्ष्यति च 'दन्त्यमूल स्वराननु' इति"। अतएव, अनेक विद्वान अनुस्वार के लिए अनुगामी ध्वनि (आफ्टर साउड) सज्ञा का प्रयोग करते हैं। अनुस्वार का समीचीन प्रयोग-क्षेत्र अन्त स्थ एव ऊष्मो से पूर्व ही है।[3] परन्तु, अनुस्वार-चिह्न के लिखने की सुविधा के कारण इसके प्रयोग का क्षेत्र निरन्तर बढता रहा है। प्राचीनकाल मे

---

१. महाभाष्य, १, १, २ में (पञ्चम शिवसूत्र पर) पतञ्जलि की उक्ति है—"के पुनरयोगवाहाः ? विसर्जनीय—जिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारानुनासिक्य यमाः। कथ पुनरयोगवाहा ? यदुक्ता वहन्त्यनुपदिष्टाश्च शिष्यन्ते।" इस अंश पर कैयट का कथन है,—अयुक्ताप्रत्याहार लक्षणेन।" पा० शि० १६ पर पञ्जिका वृत्ति—"नविद्यते योगः सयोगो वर्णान्तरेण येषा ते अयोगवाहा।" वा० प्रा० ८, १८ पर उवटभाष्य—"अकारादिना वर्णसमाम्नायेन्य सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभ प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः।'

२. वाकरनागल, अल्टिं० ग्रा० १, पृ० २५९। मैक्डॉनेल, वे० ग्रा० पृ० ५४।

३. पा० शि०, २३।

ही स्पर्शों से पूर्व आनेवाले अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर भी अनुस्वार का प्रयोग होने लगा था और कालान्तर मे अनुस्वार ने अनुनासिक के स्थान पर भी अधिकार जमा लिया। इस सम्बन्ध मे अनुस्वार को वैकल्पिक अधिकार देनेवाले पाणिनीय सूत्रों (८, ३, ४, ८, ४, ५९) ने अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया। यहाँ तक कि आगे चलकर प्राकृत वैयाकरणो ने स्वरो से पूर्व भी अनुस्वार का विधान कर दिया है।

ऋ० प्रा० (१, ५) के अनुसार अनुस्वार स्वर तथा व्यञ्जन दोनो है। किन्तु तै० प्रा० (२, ३०) के वैदिकाभरणभाष्य मे ऋ० प्रा० के मत का निराकरण करके यह स्थापित किया गया है कि यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा मे अनुस्वार केवल व्यञ्जन है और इसका उच्चारण अर्द्ध गकार के सदृश है। इस सम्बन्ध मे डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का मत है[1] कि तै० प्रा० (१, ३२-३४) के नियमानुसार अनुस्वार का स्वरूप पूर्णत· व्यञ्जनात्मक नही है; क्योकि इन नियमो मे ह्रस्व स्वर के समान अनुस्वार का काल भी एकमात्रा माना गया है। वा० प्रा० (४, १४८-४९) पूर्ववर्ती स्वर तथा अनुस्वार का काल दो मात्रा मानते हुए कहता है कि ह्रस्व स्वर के साथ अनुसार का काल डेढ मात्रा और ह्रस्व स्वर का अर्द्धमात्रा है तथा दीर्घ स्वर के साथ अनुस्वार का काल अर्द्धमात्रा एव दीर्घस्वर का काल डेढ मात्रा है।

ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, तै० प्रा०, शिक्षाग्रन्थो, सि० कौ० तथा अनेक वैयाकरणो के अनुसार, अनुनासिक और अनुस्वार एक दूसरे से भिन्न है। अनुस्वार केवल व्यञ्जनो से पूर्व और अनुनासिक स्वरो से पूर्व तथा अवसान मे भी आ सकता है। मुखनासिका दोनो मे जिन ध्वनियो का उच्चारण होता है, वे अनुनासिक कहलाते हैं। अनुनासिकत्व स्वरो का गुण है, वह कोई पृथक् ध्वनि नही है। किन्तु, अनुस्वार एक नासिक्य ध्वनि है। ऋ० प्रा० (१३, ११) के अनुसार अनुस्वार का प्रयत्न अस्पृष्ट तथा स्थित है। प्राचीन पाण्डुलिपियो मे कही-कही अनुस्वार और अनुनासिक के लिए समान चिह्न के प्रयोग की प्रवृत्ति को देखकर अनेक पाश्चात्य वैयाकरणो ने दोनो मे अभेद स्थापित करने का प्रयास किया है[2], किन्तु अनुस्वार एव अनुनासिक के स्वरूप तथा वास्तविक प्रयोग-क्षेत्र के विषय मे किसी प्रकार की भ्रान्ति के लिए अवकाश नही है। अनुस्वार का उच्चारण-स्थान नासिका है।

---

१. डॉ० सि० व०, क्रि० स्ट०, पृ० २११।

२ ह्विटनी, स० ग्रा०, पृ० २५। मैक्डॉनेल, वें० ग्रा० (स्ट०) पृ० १७।

संस्कृत-ध्वनि-समूह और नागरी-वर्णमाला

सस्कृत मे कुल मिलाकर निम्नलिखित ४८ ध्वनियो की उपस्थिति मानी गयी है —

स्वर—ह्रस्व—अ इ उ ऋ ऌ

दीर्घ—आ ई ऊ ॠ ए ओ

मिश्र—ऐ औ

व्यञ्जन—स्पर्श—क् ख् ग् घ् ङ्

—च् छ् ज् झ् ञ्

—ट् ठ् ड् ढ् ण्

—त् थ् द् ध् न्

—प् फ् ब् भ् म्

अन्त स्थ —य् र् र् ल् व्

ऊष्म—श् ष् स् ह्

अयोगवाह—विसर्ग ( ) एवं अनुस्वार ( )।

ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से वैदिक एव सस्कृत ध्वनि-व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते है—(वैदिक की ळ, ळ्ह, उपध्मानीय एव जिह्वामूलीय ध्वनियाँ सस्कृत तक आते-आते प्राय लुप्त हो गयी। (२) सस्कृत ऋ, ॠ तथा ऌ का उच्चारण प्रायेण शुद्ध स्वर के समान नही रह गया। (३) वैदिक मिश्र स्वर ए ओ सस्कृत मे आकर मूलस्वर की तरह उच्चरित होने लगे। (४) मिश्र ऐ औ का उच्चारण आइ आउ की तरह नही रह कर अइ अउ की तरह होने लगा। (५) तवर्गी व्यञ्जन एवं ऌ, ल, स दन्त्यमूलीय या वर्त्स्य नही रहकर दन्त्य बन गये। (६) अन्य ध्वनियो के स्थान भी वैदिककालीन अपने पूर्व निश्चित केन्द्र से किञ्चित् आगे बढे। (७) व् मुख्यरूप से दन्तोष्ठ्य बन गया। (८) स्वरो के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्लुत उच्चारण प्राय समाप्त हो गये।

उपर्युक्त अन्तर के अतिरिक्त प्राय अन्य सभी बातो मे संस्कृत ध्वनि-समूह वैदिक ध्वनि-समूह के समान ही बना रहा।

पालि-ध्वनि-समूह और नागरी वर्णमाला

पालि के प्राचीन वैयाकरणो ने पालि मे ४१ से ४७ तक ध्वनियाँ मानी

थी ।[1] इस सम्बन्ध मे प्राय आधुनिक भाषाशास्त्रियो के मत भी समान नही हैं। सामान्यत, पालि मे निम्नलिखित ध्वनियाँ स्वीकृत है—

स्वर— ह्रस्व—अ इ उ ए ओ
दीर्घ—आ ई ऊ ए ओ

व्यञ्जन— स्पर्श—क् ख् ग् घ् ङ्
च् छ् ज् झ् ञ्
ट् ठ् ड् (ळ) ढ् (ळ्ह) ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्
अन्तस्थ—य् र् ल् व्
ऊष्म—स् ह्
अयोगवाह—अनुस्वार (जिसे पालि वैयाकरणो ने 'निग्गहीत' की सज्ञा दी है।)

कुछेक आधुनिक विद्वानो ने पालि मे दो प्रकार की य् ध्वनियाँ तथा तीन प्रकार की व् ध्वनियाँ मानी है[2], जिनको स्वीकार कर लेने पर पालि ध्वनियो की सख्या ४७ तक पहुँच जाती है।

ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से सस्कृत एव पालि-ध्वनि-व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—(१) पालि मे सस्कृत के ऋ, ॠ ऌ, ऐ और औ स्वरो का प्राय लोप हो गया था। सस्कृत ऋ के स्थान पर पालि मे प्राय. अ, इ, उ मिलते हैं, यथा—हृदय-हदय, ऋण-इण, ऋजु-उजु। किन्तु कहीं-कही ऋ का र् अश भी सुरक्षित मिलता है, यथा—ऋग्वेद—, इरुवेद, वृक्ष—रुक्ख, प्रवृत्त—परुत, आदि। सस्कृत ऌ का स्थान पालि उ ने ले लिया . यथा—क्लृप्त-कुत्त, क्लृप्ति-कुत्ति। इसी प्रकार सस्कृत ऐ औ का स्थान क्रमश पालि ए, ओ ने ले लिया, यथा—चैत्यगिरि-चेतियगिरि, गौतम-गोतम, आदि। (२) पालि मे ए, ओ दो ऐसे ह्रस्व स्वर मिलते हैं, जो सस्कृत मे नही थे। स्मरणीय है कि ये स्वर मूलभारोपीय मे वर्त्तमान थे। पालि मे इन स्वरो की स्थिति का मुख्य कारण स्वराघात के स्थान पर बलाघात की प्रवृत्ति का बढना था। बलाघात के कारण

१. "अक्खरापादयो एकचत्तालीस—कच्चायन। "अआदयो तितालिस वण्णा"—१/१ मोग्गलान।

२ भो० ना० ति०, 'हिन्दी भाषा', पृ० ६५।

पालि मे सयुक्त व्यञ्जनो के पूर्व आने वाले दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये[1], यथा—मैत्री-मेत्ती, ओष्ठ-ओट्ठ, आदि। (३) वैदिक की तरह पालि मे भी दो स्वरो के बीच आने वाले ड, ढ व्यञ्जन क्रमशः ळ, ळ्ह के रूप मे उच्चरित होते थे। स्मरणीय है कि सस्कृत मे ये व्यञ्जन नही पाये जाते। (४) सस्कृत श ष स के स्थान पर पालि मे केवल स बच गया। (५) पालि मे विसर्ग का प्रयोग नही मिलता। पदान्त मे आनेवाला विसर्ग पूर्ववर्ती अ से मिलकर प्राय॰ ओ मे परिवर्तित हो जाता है, अन्यत्र उसका लोप हो जाता है। (६) पालि मे अनुस्वार स्वतन्त्र ध्वनि है, जिसे पालि वैयाकरणो ने 'निग्गहीत' की सज्ञा दी है।[2]

पालि की शेष ध्वनियाँ प्रायः सस्कृत के समान ही थी।

प्राकृत-ध्वनि-समूह और नागरी वर्णमाला

प्राक्तन वैयाकरणो ने प्राकृत के विभिन्न क्षेत्रीय रूपो मे से केवल उन्ही का विवेचन किया है, जिनका प्रसार एव प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत था, साथ ही जिन्हे साहित्यिक उत्कर्प भी प्राप्त हो चुका था। शेष गौण प्राकृत वोलियो मे से अधिकाश का नामोल्लेख भी कही नही मिलता है। हिन्दी के पूर्ववर्ती स्रोत से सम्बद्ध कुरु जनपद की प्राकृत, जिसे कौरवी प्राकृत कहना अनुपयुक्त नही होगा; सम्भवत ऐसी ही गौण बोली थी। आज उसका न तो कोई लिखित साहित्य उपलब्ध है और न उसके ध्वनि-समूह आदि की प्रामाणिक जानकारी के लिए कोई दूसरा निश्चित ठोस आधार ही। किन्तु, अनुमान किया जाता है कि उसका ध्वनि-समूह प्राय आसपास की प्राकृतो के समान ही रहा होगा। इस दृष्टि से सभी ज्ञात प्राकृतो के एकत्र ध्वनि-समूह को निम्नलिखित रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। कोष्ठकबद्ध वर्णों से सम्बद्ध ध्वनियाँ किसी प्राकृत मे थी और किसी मे नही थी।

स्वर—ह्रस्व—अ इ उ ए ओ
दीर्घ—आ ई ऊ ए ओ

---

१. देवनागरी में ह्रस्व ए ओ के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण लिखित साहित्य मे इनके स्थान पर प्राय॰ ए ओ का ही प्रयोग मिलता है, जो दीर्घ स्वरों के सूचक वर्ण हैं।

२. अनुस्वार-चिन्ह लेखन सुविधा के कारण संस्कृतकाल में ही परसवर्ण के रूप में प्रयुक्त होने लगा था। पालि में भी अनुस्वार का प्रयोग स्वतन्त्र ध्वनि-चिन्ह के अतिरिक्त परसवर्ण के रूप में हुआ।

व्यञ्जन—स्पर्श—क् ख् ग् घ् (ङ्)
च् छ् ज् झ् (ञ्)
ट् ठ् ड् (ळ्) ढ् (ळ्ह्) ण्
त् थ् द् ध् (न्)
प् फ् व् भ् म्
अन्तस्थ—(य्) र् ल् व्
ऊष्म—(श्) (ष्) स् ह्
अयोगवाह—अनुस्वार ( )

आचार्य भरत ने (ना० शा० १७, ७ मे) 'प्राकृतयुक्ति' से प्राकृत की वर्णमाला के विषय मे कहा था—

एओआरपराणि अ अआरपरं अ पाअए णत्थि ।
वसआरमज्झिमाइ अ कचवग्गणिहणाइ ॥

अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार ऐ, औ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ विसर्जनीय, श्, ष्, ङ्, ञ्, और न्, ये १२ वर्ण प्राकृत मे नही थे। भरत ने अकार पर अर्थात् विसर्ग को हटाकर यह ध्वनित किया था कि संस्कृत वर्णमाला मे प्राकृत तक आते-आते स्वरो के बाद अनुस्वार अं और विसर्ग अः का भी समावेश हो गया था। प्राकृत मे विसर्ग का अभाव हो गया। हेमचन्द्र (८, १, १ की प्रकाशिका वृत्ति) ने भी "ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ऐ-औ-ङ्-ञ-श-ष विसर्जनीय प्लुतवर्जो वर्णसमाम्नायो लोकादवगन्तव्य" मे भरत की स्थापनाओ को ही दुहराया।'[1] किन्तु भरत एवं हेमचन्द्र के उपर्युक्त कथन प्राकृत के सभी क्षेत्रीय रूपो के लिए सर्वांशत सही नही कहे जा सकते, क्योंकि ङ्, ञ्, श्, ष् और न् प्राकृत के कई रूपो मे अलग-अलग प्रयुक्त मिलते हैं।

पालि-ध्वनि-समूह से प्राकृत-ध्वनि-समूह की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो मे पर्याप्त समानता है, यथा—पालि की तरह प्राकृतो मे भी ऐ, औ, ऋ, ॠ तथा ऌ स्वरो का अभाव है। पालि की तरह प्राकृतो मे भी ए ओ दो ह्रस्व स्वर हैं।[2] पालि की तरह प्राकृतो मे भी विसर्ग का अभाव है। कहीं-कहीं प्राकृतो मे ळ ळ्ह ध्वनियाँ भी मिलती हैं।

---

१ डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ४५ से उद्धृत।
२ देवनागरी में ह्रस्व ए ओ के लिए स्वतन्त्र चिन्ह नहीं होने के कारण प्राकृत के लिखित साहित्य में इनके लिए भी प्रायः ए ओ का ही प्रयोग मिलता है।

किन्तु, कुछेक बातो मे कुछ प्राकृते पालि से भिन्नता भी रखती है। यथा—(१) पश्चिमोत्तरी प्राकृत मे श् ष् स् तीनो का, पैशाची मे श् ष् का तथा मागधी मे केवल श् का प्रयोग मिलता है। शेष प्राकृतो मे पालि की तरह ही केवल स् का प्रयोग मिलता है। (२) प्राकृतो मे र् तथा ल् मे और य् तथा ज् मे स्थान-विनिमय की विशेष प्रवृत्ति मिलती है। आद्य य् प्राय. ज् हो जाता है, किन्तु मागधी मे ज् का भी य् हो जाता है। (३) प्राकृतो मे न् का विकास प्राय. ण् के रूप मे हुआ है।

अपभ्रंश-ध्वनि-समूह और नागरी वर्णमाला

पूर्ववर्ती वैयाकरणो ने प्राकृत की तरह ही अपभ्रंश के भी अनेकानेक क्षेत्रीय रूपो मे से सामान्यत. उन्ही का विवेचन किया है, जिनमे न्यूनाधिक साहित्य रचा गया था। शेष अपभ्रंशो की जानकारी के लिए आज प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। हिन्दी के पूर्ववर्ती स्रोत से सम्बद्ध कुरुजनपद की अपभ्रंश कौरवी, जिसका विकास उसी क्षेत्र की कौरवी प्राकृत से हुआ था, उन्ही अपभ्रंशो मे से थी, जिनका कोई साहित्य नहीं था। ऐसी स्थिति मे कौरवी अपभ्रंश के ध्वनि-समूह का प्रामाणिक विवेचन प्राय असम्भव सा है। किन्तु, अनुमान है कि उसकी ध्वनि-व्यवस्था बहुत कुछ उसके आसपास की अपभ्रंशो की ध्वनि-व्यवस्था के समान ही रही होगी। इस दृष्टि से विभिन्न अपभ्रंशो के निम्नलिखित एकत्र ध्वनि-समूह पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

स्वर—ह्रस्व—अ इ उ ए ओ
दीर्घ— आ ई ऊ ए ओ
सन्दिग्ध—(ऋ)
व्यञ्जन—स्पर्श—क् ख् ग् घ्
च् छ् ज् झ्
ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् व् भ् म्
अन्तस्थ—य् र् ल् व्
ऊष्म—स् ह्
अयोगवाह—अनुस्वार ( )
सन्दिग्ध—(ङ्) ञ्) (ऴ्) (ड़्) (ढ़्) (श्)

अपभ्रंश की ध्वनि-व्यवस्था प्राय प्राकृत के समान ही बनी रही, साथ ही उसकी अनुलेखन पद्धति मे भी कोई अन्तर नही आया। ह्रस्व स्वर ए ओ के लिए स्वतन्त्र वर्ण नही होने के कारण अपभ्रंश मे उनके स्थान पर क्रमश. इ उ वर्णों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढने लगी, जिसका प्रभाव उच्चरित रूप पर भी पडा। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि अपभ्रंश मे अ का उच्चारण भी संवृत एवं विवृत दो रूपो मे होता था, किन्तु अनुलेखन पद्धति की रूढिवादिता के कारण लिखित साहित्य मे इसका कोई प्रमाण नही मिलता।[1]

ऋ का प्रयोग संस्कृत मे भी प्रायः कम ही होता था[2], किन्तु प्राकृत मे तो उसका स्वरवत् उच्चारण बिल्कुल समाप्त ही हो गया। इसीलिए प्राकृत वैयाकरणो ने वर्णमाला मे इसका परिगणन भी नहीं किया। अपभ्रंश के भी भाषित रूप मे ऋ स्वर का अस्तित्व नही था, किन्तु उसके लिखित साहित्य मे ऋ वर्ण का प्रयोग प्राकृत की अपेक्षा अधिक मिलता है। इस आधार पर कुछ विद्वानो का अनुमान है कि लोकभाषा मे सम्भवत ऋ का स्वरवत् प्रयोग कही-कहीं अवशिष्ट रह गया था। हेमचन्द्र ने ८, ४, ३२९ के तनु-तृणु, सुकिदु-सुकृदु के उदाहरणो मे, ८, ४, ३३६ के दोहे के 'गृहण्णइ' प्रयोग मे तथा ८, ४, ३५० के दोहे के 'घृण' प्रयोग मे ऋकार रहने दिया है। इसी प्रकार रामशर्मा तर्कवागीश[3] तथा मार्कण्डेय[4] ने व्राचड मे भृत्यादिगण से अन्यत्र ऋ का उच्चारण स्वीकार किया है। आधुनिक विद्वानो मे डॉ० तगारे ने भी अपभ्रंश मे ऋ की कथञ्चित् स्थिति स्वीकार की है, परन्तु उन्होने इसका प्रयोग तत्सम शब्दो मे ही माना है।[5] डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने अपने शोधप्रबन्ध मे इस सम्बन्ध मे निष्कर्ष देते हुए लिखा है कि "संस्कृत तत्सम या कुछ तद्भव ऋण शब्दो को छोडकर अन्यत्र अपभ्रंश मे ऋ का (अ, इ, उ, ए, अर, एवं रि मे) परिवर्तन हो जाता है। अत., सामान्यतया अपभ्रंश मे ऋ का अभाव ही है।"[6]

---

१ डॉ० उ० ना० ति; हि० भा० उ० वि०, पृ० १२५। डॉ० भो० ना० ति०; हि० भा०, पृ० ६८।

२. ऋकारस्य स्वल्प प्रयोग—महाभाष्य द्वितीयाह्निक में ऋलृक् सूत्र की व्याख्या पर कैयट की उक्ति।

३ "भृत्यापरेष्वृर—ऋता विह तु प्रकृत्या"—प्राकृतकल्पतरु; ३, ३, २।

४ प्राकृतसर्वस्व; १८, १।

५. हि० ग्रा० अप०, पृ० २३।

६. डॉ० वी० श्रीवास्तव, अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ४८।

अपभ्र श मे स्वरो के अनुनासिक रूप का प्रयोग प्रचलित था, किन्तु अनुनासिक व्यञ्जनो मे ङ्, ञ एव न् के प्रयोग के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। अपभ्र श साहित्य के लिखित रूप मे कही इनका प्रयोग मिलता है और कही नही मिलता है। श्री भायाणी ने अपभ्र श मे इन तीनो का अस्तित्व स्वीकार किया है और तदनुसार अपने द्वारा सम्पादित 'पउमचरिउ' और 'कीर्त्तिलता' आदि ग्रन्थो के मुद्रण मे इनका प्रयोग भी कराया है। इन तीनो मे से न् तो निश्चय ही अपभ्र श मे वर्त्तमान था, किन्तु इसका प्रयोग अपभ्र श की प्रारम्भिक अवस्था मे कम तथा उत्तरावस्था मे अधिक हुआ। हेमचन्द्र ने भी अपनी वर्णमाला मे नकार का बहिष्कार नही किया है। किन्तु ङ् ञ् के स्थान पर अधिकाश विद्वानो ने अनुस्वार का ही अस्तित्व स्वीकार किया है।[1] इस सम्बन्ध मे मेरी धारणा यह है कि कण्ठ्य एव तालव्य स्पर्शों के पूर्व अनुस्वार का उच्चारण अन्त स्थो एव ऊष्मो से पूर्व के अपने वास्तविक उच्चारण से भिन्न होता है। ऐसी स्थिति मे अपभ्र श मे भी कण्ठ्य एव तालव्य स्पर्शो से पूर्व आनेवाले अनुस्वार को क्रमशः ङ् एव ञ् का प्रतिनिधि मानना ही उचित है।

अपभ्र श के लिखित साहित्य मे ड ढ वर्णों का प्रयोग प्राय: नही मिलता है, किन्तु कुछ विद्वानो के अनुसार अपभ्र श के भाषित रूप मे इनसे सम्बद्ध ध्वनियाँ वर्त्तमान थी। उन दिनो चूँकि ड् ढ् के नीचे बिन्दी लगाकर उक्त ध्वनियो को सूचित करने की प्रथा प्रचलित नही हुई थी, इसीलिए लिखित साहित्य मे उनके स्थान पर ड् ढ् का ही प्रयोग मिलता है।[2] कुछ विद्वानो ने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी के भी कुछ भागो मे ळ् ळ्ह ध्वनियो का अस्तित्व स्वीकार किया है।[3] डॉ० तगारे ने प्राच्य अपभ्र श मे श् का अस्तित्व भी स्वीकार किया है,[4] किन्तु, अन्य विद्वानो ने अपभ्र श मे मुख्यत. दो ही ऊष्म—स् और ह् की उपस्थिति का समर्थन किया है।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अपभ्र श मे र् ल् अन्त स्थो का उच्चारण प्राय. स्पर्श व्यञ्जनो के समान तथा ण्ह, न्ह्, म्ह्, रह् एव ल्ह् का उच्चारण सयुक्त व्यञ्जनो की अपेक्षा प्राय. महाप्राण स्पर्श के समान होने लगा था।

---

१. डॉ० वी० श्रीवास्तव; अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ८०-८१, ८४-८६।

२ उपरिवत्, पृ० १०७।

३ डॉ० भो० ना० ति, हि० भा०, पृ० ६८।

४. डॉ० तगारे; हि० ग्रा० अप०, पृ० २६।

खड़ी बोली का ध्वनि-समूह और नागरी-वर्णमाला

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी की जननी खडीबोली का जन्म कुरु जनपद की कौरवी अपभ्रंश से हुआ था। अनुमान है कि प्रारम्भ मे खडी बोली के स्थान पर 'कौरवी बोली' या 'कुरुवी बोली' शब्द का ही प्रयोग होता रहा होगा, किन्तु आगे चलकर पञ्जाबी की महाप्राणीकरण-प्रवृत्ति के प्रभाव से कौरवी या कुरुवी की आदि 'क्' ध्वनि 'ख्' मे परिवर्तित हो गयी, जिससे 'कौरवी' या 'कुरुवी' का शनै. शनै 'खडी' के रूप मे विकास हुआ, यथा—कौरवी या कुरुवी→खडवी→खडी। इस प्रकार 'खडी बोली' शब्द वास्तव मे कौरवी या कुरुवी बोली का ही रूपान्तर है। खडी बोली आज भी अपने जन्मक्षेत्र रामपुर राज्य, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज्फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूरबी भाग[1] मे ग्रामीणो के बीच प्रचलित है। इसका मानक रूप बिजनौर मे पाया जाता है। शेष स्थानो मे इस पर निकटवर्ती अन्य बोलियो की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है, जिससे इसके कई किञ्चित् भिन्न स्थानीय रूप हो गये हैं। किन्तु, मूल ध्वनियो की दृष्टि से उन रूपो मे प्राय. विशेष अन्तर नही पाया जाता। इसका ध्वनि-समूह निम्नलिखित है —

स्वर— ह्रस्व—अ इ उ ए ओ
दीर्घ—आ ई ऊ ए ओ ऐ औ

व्यञ्जन—स्पर्श—क् ख् ग् घ् (ङ्)
च् छ् ज् झ् (ञ्)
ट् ठ् ड् (ड़्) ढ् (ढ़्) ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्

अन्तस्थ—य् र् ल् व्

ऊष्म—स् ह्

अयोगवाह—अनुस्वार (ं)

खडी बोली के लिखित रूप मे यद्यपि ऐ, औ का प्रयोग होता है, किन्तु भाषित रूप मे इनका उच्चारण क्रमश. ए ओ के समान होता है, यथा—पैर का

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ग्रामीण हिन्दी (१९५० ई०), पृ० १८।

पेर, है का हे, और का ओर, आदि।[1] ऋ प्राय सर्वत्र रि के रूप मे लिखा एवं बोला जाता है। कुछ विद्वानो के अनुसार कतिपय विशेष स्थितियो मे शब्दो मे अ का उच्चारण ह्रस्वार्द्ध अ की तरह तथा आ का उच्चारण अँगरेजी ऑ की तरह होता है,[2] किन्तु ये ध्वनियाँ स्वनिमात्मक नही है। खडी बोली मे पाये जाने वाले सभी स्वर अनुनासिक रूप मे भी व्यवहृत होते है।

खडी बोली मे ध्वनियो के द्वित्व की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पडती है तथा द्वित्व के पूर्व के दीर्घ स्वर प्राय ह्रस्व मे परिवर्तित होते दिखाई पडते हैं, यथा—वेटा का वेट्टा, रोटी का रोट्टी आदि। अ स्वर मे यह परिवर्तन प्राय नही देखा जाता।[3]

खडी बोली के नासिक्य व्यञ्जनो मे से ण् न् म् का प्रयोग तो स्वतन्त्र रूप से होता है, किन्तु ङ् ञ् का नही। इन दोनो के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग देखा जाता है। इस कारण विद्वानो ने खडी बोली मे ङ् ञ् के अस्तित्व को स्वीकार नही किया है। किन्तु, जैसा कि हम अपभ्रंश आदि के प्रसङ्ग मे पहले भी स्पष्ट कर चुके है कि अनुस्वार का (अन्तस्थो एव ऊष्मो से पूर्व का) प्रकृत उच्चारण स्पर्शों से पूर्व के उच्चारण से सदा ही भिन्न होता है। अत खडी वोली मे भी कण्ठ्य एव तालव्य व्यञ्जनो से पूर्व आनेवाले अनुस्वार को क्रमश ङ् एव ञ् का ही प्रतिनिधि मानना अधिक समीचीन एव वैज्ञानिक प्रतीत होता है। यो, अनुस्वार अपने प्रकृत रूप मे भी खडी वोली मे खूब प्रयुक्त होता है, जहाँ वह अन्तस्थ एव ऊष्म ध्वनियो के पूर्व या पदान्त मे आता है।

खडी बोली मे स्वरमध्यग ड् एव ढ् प्राय ड़् एव ढ़् के रूप मे उच्चरित होते है। किन्तु ऊपरी दोआब के कुछ हिस्से मे प्राय ऐसा नही होता।[4] इसी तरह ण्ह्, न्ह्, म्ह्, य्ह्, रह्, ल्ह्, व्ह् महाप्राण ध्वनियो का प्रयोग भी इसमे खूब मिलता है, जिनका उच्चारण सयुक्त ध्वनि की अपेक्षा मूलध्वनि के अधिक निकट कहा जा सकता है।[5] इसमे विसर्ग, श् एव ष् का अभाव है।

---

१ द्रष्टव्य—ग्रियर्सन; लिं० स० इ०, वोल्यूम ९, भाग १, पृ० २१३। डॉ० उ० ना० ति; हि० भा० उ० वि०, ० २३०। डॉ० भो० ना० ति०, हि० भा०, प०१८७।

२ डॉ० भो० ना० ति, हि० भा०, पृ० १८७।

३ ग्रियर्सन, लिं० स० इ० वो० ९ भाग १, प० २१३। डॉ० उ० ना० ति०, हि० भा० उ० वि०, पृ० २३१। डॉ० भो० ना० ति०, हि० भा०, पृ० १८७।

४. उपरिवत्।

५ डॉ० भो० ना० ति०; हि० भा०, पृ० १८८।

उपसहार—भारतीय आर्यभाषाओ के उपर्युक्त ध्वनि-समूहो का ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन करने पर मुख्यत तीन तथ्य सामने आते हैं :—(१) वैदिक की ही अधिकाश ध्वनियाँ कालक्रम से परिवर्तित होती हुई सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श होकर खडी बोली और अन्यान्य आधुनिक आर्यभाषाओ मे आयी है। (२) उपर्युक्त किसी भी भाषा मे जननी भाषा की सभी ध्वनियाँ तद्वत् गृहीत नही हुई है। (३) प्रत्येक नवीन भाषा के विकास के साथ अनेक नवीन ध्वनियाँ भी विकसित होती रही है, साथ ही अनेक ध्वनियाँ विस्मृत होकर पीछे भी छूटती गयी है।

किन्तु, हिन्दी के वर्त्तमान परिनिष्ठित रूप की स्थिति म० भा० आ० से सर्वथा भिन्न एव असामान्य है। इसमे प्रा० भा० आ० की अधिकाश ध्वनियाँ यदि एक ओर परम्परा-क्रम से विकसित होती हुई आयी है, तो दूसरी ओर कतिपय ऐसी ध्वनियाँ, जो म० भा० आ० मे गृहीत नही हुई थी, वे भी संस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ प्रविष्ट हो गयी है। हिन्दी ध्वनि-समूह की इस असामान्य स्थिति का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान प्रस्तुत किया जायगा।



अध्याय

१२

हिन्दी-ध्वनि-समूह और नागरी-वर्णमाला

१ ध्वनिवैज्ञानिक विवेचन

किसी भी भाषा मे जितनी ध्वनियाँ होती हैं, वे सभी अर्थभेदक नही होती। यही कारण है कि भाषा के लेखन मे सभी ध्वनियो के लिए स्वतन्त्र वर्णों की अपेक्षा नही होती, केवल उन्ही ध्वनियो के लिए होती है, जो अर्थभेदक हुआ करती हैं। किन्तु, भाषा के ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से प्रत्येक ध्वनि का अपना विशिष्ट महत्त्व होता है, इसलिए प्रत्येक ध्वनि का विवेचन भी आवश्यक माना जाता है।

यहाँ हमारा उद्देश्य परिनिष्ठित हिन्दी के वर्त्तमान भाषित स्वरूप का ध्वनि वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करके उसमे उपलब्ध सभी ध्वनियो का नागरी वर्णों के माध्यम से परिचय देना तथा प्रत्येक का ध्वनिवैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट करना है।

परिनिष्ठित हिन्दी के वर्त्तमान भाषित स्वरूप का आधुनिक वर्णनात्मक प्रविधि से सूक्ष्म ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण करने पर मुझे इसमे कुल मिलाकर ८३ ध्वनियाँ मिली हैं, जिन्हे स्वर[१], व्यञ्जन[२], अन्तस्थ[३] एवं अयोगवाह[४] की

---

१ द्रष्टव्य :—पा० १, २, २९ पर महाभाष्य—"अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्। स्वय राजन्ते इति स्वराः, अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति।" पा० शि० ४ पर पञ्जिकावृत्ति—स्वृ शब्दोपतापयोः स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच्प्रत्ययः।" विशेष द्रष्टव्य : (a) K C Chatterji, Technical terms and technique of Sanskrit Grammar, 1948, 'Svara and Vyanjana', Pp. 184-189.

चार व्यापक ध्वनि-श्रेणियों में वर्गबद्ध किया जा सकता है। उनमे ३० स्वर,

---

(b) W. S Allen, Phon. Anc Ind. 1953. 'Vowels and Consonants' PP. 24 26 (C) B Block & G. L Trager; Outline of Linguistic Analysis, 1942, 'The classification of speech sounds'—"A Vowel is a sound for whose production the oral passage is unobstructed, so that the air current can flow from the lungs to the lips and beyond without being stopped, without having to squeeze through a narrow constriction, without being deflected from the median line of its channel, and without causing any of the supraglottal organs to vibrate, it is typically but not necessarily voiced" —Chap II

२. उपरिवत्, 'द्रष्टव्य' 'विशेष द्रष्टव्य', (a) and (b), (c) "A Consonant is a sound for whose production the air cuurrent is completely stopped by an occlusion of the larynx or the oral passage, or is forced to squeeze through a narrow constriction, or is deflected from the median line of its channel through a lateral opening or causes one of the supraglotted organs to vibrate. B Block & G. L. Trager

३ वह ध्वनि जिसके उच्चारण में करण संवृत स्वरों की सीमा से ऊपर चला जाता है, किन्तु सङ्घर्षी व्यञ्जनों की सीमा से नीचे ही रहता है। अन्तःस्थ के सम्बन्ध मे भारत के प्राचीन ध्वनिविदों का विवेचन कुछ भिन्न है: द्रष्टव्य—W. S. Allen Phon. Anc. Ind 'Semi vowel' PP. 27-32. K C Chatterji, Technical terms and technique of Sanskrit Grammar, PP 231-234

४ महाभाष्य, १ १ २ (पञ्चम शिवसूत्र पर)—"कथ पुनरयोगवाहा ? यदयुक्ता वहन्त्यनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते।" इस अश पर कैयट का कथन—"अयुक्ताः प्रत्याहारलक्षणेन।" पा० शि० २१ पर पञ्जिका—"न विद्यते-योगः सयोगो वर्णान्तरेण येषा ते अयोगवाहाः।" विशेष द्रष्टव्य :—K C Chatterji, Technical terms and technique of Sanskrit Grammar, Ayogavaha, PP 215-219. W. S Allen Phon Anc Ind PP 16-17

जिनमे १५ मूलस्वर[1], २ मिश्रस्वर[2] तथा १३ अनुनासिक[3] स्वर है, ४४ व्यञ्जन, जिनमे ४२ मूल व्यञ्जन[4] तथा २ मिश्र व्यञ्जन[5] हैं, ३ अन्तस्थ, जिनमे २ अर्द्धस्वर[6] और १ अर्द्धव्यञ्जन[7] है तथा ६ अयोगवाह, जिनमे १ विसर्ग[8] तथा ५ नासिक्य अर्थात् अनुस्वार[9] वर्गीय ध्वनियाँ है, सम्मिलित है।

ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी की उपर्युक्त सभी ध्वनियाँ परस्पर भिन्न तो हैं, किन्तु वे सभी अर्थभेदक नही है। उनमे से अनेक ध्वनियाँ पृथक्-पृथक् स्वनिमो (ध्वनिग्रामो) के सस्वन मात्र है, जिनपर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

---

१. जिसमें किसी अन्य स्वर की श्रुति न हो।

2. 'Diphthong', Daniel Jones, An outline of English Phonetics, Cambridge, 1956, § 219-224
कुछ विद्वानों ने इसके स्थान पर 'सयुक्त स्वर' शब्द का प्रयोग किया है जो समीचीन नहीं है। इस पर आगे यथास्थान विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा।

३. "मुखनासिकावचनोऽनुनासिक:।"—अ० १, १ ८।

४. जिसमें किसी अन्य व्यञ्जन की श्रुति न हो।

५. एक ही बार दो भिन्न व्यञ्जनों के युगपत (साइमलटेनियस) उच्चारण के प्रयास के फलस्वरूप, दोनो के वदले जो तीसरा व्यञ्जन उच्चरित होता है, उसे ही मिश्र व्यञ्जन कहते है। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से इसके उच्चारण की प्रक्रिया व्यञ्जनसयोग तथा व्यञ्जनद्वित्व दोनों ही से भिन्न और कठिन है। इस पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

६ वह अन्त:स्थ ध्वनि जिसमें व्यञ्जनात्मक अश की अपेक्षा स्वरात्मक अंश ही अधिक हो।

७ वह अन्त:स्थ ध्वनि, जिसमें स्वरात्मक अश की अपेक्षा व्यञ्जनात्मक अश ही अधिक हो।

८ तै० प्रा०, २, ४८—"पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः।" पा० शि० २२—"अयोगवाहा विज्ञेयाआश्रयस्थान भागिन:।" काकल्य सङ्घर्षी अघोष महाप्राण अयोगवाह ध्वनि।

९. ऋ० प्रा० १,४८—"नासिक्य यमानुस्वारान् (नासिक्यान्)।" वा० प्रा० १, ७४—"यमानुस्वार नासिक्याना नासिके।" पा० शि० २२—अनुस्वार यमाना च नासिका-स्थानमुच्यते।" सि० कौ०, पृ० १७—"नासिकानुस्वारस्य।" का० १, १, १९—"अ० इत्यनुस्वार। दुर्गटीका— 'अनुस्वर्यते सलीन शब्द्यते इत्यनुस्वार:।" कविराजः "अनुशब्दः सश्लेषे। पूर्ववर्णेन सश्लिष्टिर्यथा स्यात् तथा उच्चार्यते।" अनुस्वार के सम्बन्ध मे प्राचीन ध्वनिविदों में वहुत प्रकार के मतान्तर रहे हैं। द्रष्टव्य—K. C Chatterji, Technical terms and technique of Sanskrit Grammar P 219-223

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी की ध्वनियो मे से अधिकांश परम्परागत भारतीय आर्यभाषा-स्रोत की है, कुछ विदेशी ऋण शब्दो के साथ हिन्दी मे प्रविष्ट हो गयी हैं और कुछ आधुनिक काल मे विकसित नवीन ध्वनियाँ है।

नागरी मे हिन्दी की उक्त सभी ध्वनियो के लिए पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र वर्ण नही है; इस कारण यहाँ नागरी वर्णों के माध्यम से हिन्दी ध्वनियो को उपस्थित करने के प्रसङ्ग मे, जिन ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण नही हैं, उनके लिए लगभग उनके समान ध्वनियो के सूचक वर्णो के साथ कुछ विशेष चिह्न, यथा ऊपर चन्द्र (ॅ) या नीचे बिन्दु ( ) का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार हिन्दी ध्वनि-समूह को नागरी वर्णों के माध्यम से निम्नलिखित क्रम मे उपस्थित किया जा सकता है।

(१) स्वर

(क) मूल स्वर

उदासीन ह्रस्व—[अ]
ह्रस्व— [अ इ उ ए ओ]
दीर्घ— [आ ई ऊ ए ओ ऐ. ऍ औ ऑ]

(ख) मिश्र स्वर

दीर्घ— [ऐ औ]

(ग) अनुनासिक स्वर

उदासीन ह्रस्व—[अँ]
ह्रस्व— [अँ इँ उँ एँ ओँ]
दीर्घ— [आँ ईँ ऊँ एँ ओं एँ ओं]

सूचना—(१) हिन्दी मे विदेशी स्रोत से आगत दीर्घ स्वर [ऍ] तथा [ऑ] के एव भारतीय आर्य भाषा-स्रोत से आगत मिश्र दीर्घ स्वर [ऐ] तथा [औ] के अनुनासिक रूप प्राय नही मिलते।

सूचना—(२) हिन्दी के भाषित रूप मे संस्कृत स्वर [ऋ] तथा [ॠ] का उच्चारण क्रमशः स्वरयुक्त व्यञ्जन [रि] तथा [री] के रूप मे और [ऌ] तथा [ॡ] का उच्चारण क्रमश. स्वरयुक्त सयुक्त-व्यञ्जन [लि्र] तथा [ल्री] के रूप मे होता है। अत. इनमे से किसी को भी ध्वनिवैज्ञानिक आधार पर हिन्दी का स्वर मानना समीचीन नही है। इसीलिए इनकी गणना हिन्दी-स्वरों के साथ नही की गयी है।

(२) व्यञ्जन

(क) मूल व्यञ्जन

(१) स्पर्श—

अलिजिह्वीय—[क]
कोमल तालव्य—[क् ख् ग् घ्]
मूर्द्धन्य— [ट् ठ् ड् ढ्]
दन्त्य-वर्त्स्य— [त् थ् द् ध्]
ओष्ठ्य— [प् फ् ब् भ्]

(२) स्पर्श घर्षी—

कठोर तालव्य—[च् छ ज् झ्]

(३) अनुनासिक— [ङ् ण् ण् न् न्ह् म् म्ह् ञ्]
(४) पार्श्विक— [ल् ल्ह्]
(५) लुण्ठित प्रकम्पी—[र्]
(६) उत्क्षिप्त— [ड़् ढ़्]
(७) सङ्घर्षी— [ह् ख़् ग़् श् ष् स् ज़् फ़्]:

(ख) मिश्र व्यञ्जन —[क्ष् ज्ञ्]

(३) अयोगवाह

विसर्ग (काकल्य)—[ ]
अनुस्वार वर्गीय (नासिक्य)

१ [ ] कण्ठयीकृत
२ [ ] तालव्यीकृत
३ [ ] मूर्धन्यीकृत
४ [ ] वर्त्स्यीकृत
५ [ ] ओष्ठ्यीकृत

(४) अन्तस्थ

अर्द्ध स्वर— [य् व्]
अर्द्ध व्यञ्जन— [व्]

हिन्दी ध्वनियों के सूचक नागरी वर्णों का ध्वनिवैज्ञानिक परिचय

मूलस्वर

१. [अ] अर्द्धविवृत मध्य अपूर्णोच्चरित अतिह्रस्व उदासीन स्वर[1]। स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [अ] से ऊपर और कुछ आगे है। हिन्दी का यह उदासीन [अ] सहसा मूलभारोपीय भाषा के उदासीन [अ] का स्मरण दिला देता है, जिसे पाश्चात्य भाषाशास्त्रियो ने 'श्वा' की सज्ञा दी है। सम्भव है, लोकभाषा-स्रोत मे वहता हुआ वही 'श्वा' हिन्दी के इस उदासीन [अ] का भी मूल हो। किन्तु, इस अनुमान को जब तक प्रमाणपुष्ट ऐतिहासिक आधार नही मिल जाता, तबतक हिन्दी के इस उदासीन [अ] को आधुनिक काल मे विकसित नवीन ध्वनियो के ही साथ परिगणित करना समीचीन है।

ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ह्रस्व [अ] एव उदासीन [अ] मे मुख्य भिन्नता यह है कि पहले के उच्चारण मे वागिन्द्रियाँ आद्यन्त पूर्ण सचेष्ट रहती हैं, किन्तु दूसरे के उच्चारणान्त मे प्रायः शिथिल अथवा उदासीन सी हो जाती हैं। इन स्थितियो का प्रभाव उक्त दोनो ध्वनियो पर कई रूपो मे परिलक्षित होता है, यथा—ह्रस्व [अ] पूर्णोच्चारित, पूर्ण श्रुत्य, बलाघात वहन करने मे समर्थ तथा सबल आक्षरिक स्वर है, किन्तु उदासीन [अ] अपूर्णोच्चरित, अपूर्ण श्रुत्य, बलाघात वहन करने मे अक्षम तथा निर्बल आक्षरिक स्वर है। इन कुछेक असमानताओ के अतिरिक्त अन्य सभी बातो मे दोनो स्वर ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से प्राय समान हैं। इस प्रकार उदासीन [अ] वास्तव मे ह्रस्व [अ] का ही निर्बल एव अपूर्णोच्चरित उदासीन रूप है।

हिन्दी-शब्दो मे उदासीन [अ]—(१) व्यञ्जन रहित स्वतन्त्र अक्षर के रूप मे नही आता, (२) आदि मे या आद्यक्षर मे नही आता, (३) सयुक्त व्यञ्जनो के पूर्व या परे नही आता तथा (४) बलाघातयुक्त अक्षर मे नही आता। यह सदा असयुक्त व्यञ्जन के साथ बलाघातरहित अक्षर के रूप मे केवल निम्नलिखित स्थितियो मे आता है :—

---

१. हार्नलो ने पूरबी हिन्दी में इस उदासीन अ की स्पस्थिति मानते हुए लिखा है—"The neutral vowel is the shortest possible vocal utterance, and very obscure in its character"—A Comparative Grammar of the Gaurdian languages etc., A. F. Rudolf Hoerule, 1880, P. 4., § 4.

आदि मे या आद्यक्षर मे—नही आता।

मध्य मे —दो बलाघातयुक्त अक्षरो के बीच के असयुक्ताक्षर मे जबकि परवर्ती अक्षर भी असयुक्ताक्षर ही हो, यथा—जनता, कितना, भारती, अपना, अनबन, डाकघर, सुन्दरतम, उज्ज्वलपन आदि मे।

अन्त मे —केवल असयुक्ताक्षर मे, यथा—अब, हम, रात, एक राम, कमल, चन्दन, अचानक आदि मे। एकाक्षरी शब्दो मे नही आता।

सूचना :—(१) भाषाशास्त्रियो ने हिन्दी की बोलियो तथा अन्यान्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे तो उदासीन अ की उपस्थिति स्वीकार की है[1], किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी मे इसकी उपस्थिति की चर्चा अद्यावधि किसी ने नही की है।

सूचना —(२) उदासीन [अ] के लिए हिन्दी की लिपि नागरी मे कोई वर्ण नही है, क्योकि यह कभी व्यञ्जन से अलग स्वतन्त्र अक्षर के रूप मे नही आता।[2]

विशेष टिप्पणी —ऊपर हमने हिन्दी शब्दो के अन्तर्गत जिन स्थानो और स्थितियो मे उदासीन अ की उपस्थिति निर्धारित की है, उन स्थानो एव स्थितियो मे हिन्दी के अनेक वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो ने स्वरत्व का प्राय. लोप या अभाव माना है।[3] इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो की इस मान्यता का सूत्रपात सर्वप्रथम उन्नीसवी शताब्दी मे हिन्दी

---

१ द्र० (क) ए० एफ० आर० हॉर्नली, ए कम्पे० ग्रा० गॉ० ले०, पृ० ३, § ३।
(ख) डा० बा० स०, ए० अ० § ६६।
(ग) डा० धी० व०, हि० इ० § ३०।
(घ) बेली, पञ्जाबी फोनेटिक रीडर—भू० पृ० १४।
(ङ) डॉ० भो० ना० ति०, हि० भा०, स० २, पृ० २२।

2. The neutral vowel requires no initial form as it never occurs in the beginning Hoernlı, A Comp. Gram etc P 3 § 3

३ (क) डा० धी०, हि० इ०, § १२।
(ख) डा० उ० ना० ति०, हि० उ० वि०, § १४ (¹)।
(ग) डा० भो० ना० ति०, हि० भा०, खड २, पृ० २१-२२।
(घ) का० प्र० गु०, हि० व्या०, § ४०। (ङ) डा० आ० श०, बे० ग्रा०, § ५१-५२।

पर कार्य करने वाले कुछ पाश्चात्य भापाशास्त्रियो[1] तथा वैयाकरणो[2] के द्वारा किया गया था। तब से लेकर आज तक यह मान्यता, समुचित परीक्षण के बिना ही भारतीय वैयाकरणो एवं भापाशास्त्रियो के द्वारा निर्विरोध तथा अन्ध समर्थन प्राप्त करती आयी है। यहाँ तक कि वर्त्तमान पीढी के भापाशास्त्रियो ने इसे एक निश्चित नियम का ही रूप दे डाला है।

किन्तु, हिन्दी के भापित रूप मे उपलब्ध ध्वनियो का आधुनिक ध्वनि-शास्त्रीय पद्धति से सूक्ष्म अध्ययन-मनन एव चिन्तन के पश्चात् मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, उसके आधार पर अपने पूर्ववर्त्ती एव समकालीन पूज्य वैयाकरणो तथा भापाशास्त्रियों की उपर्युक्त मान्यता के प्रति अपनी विनम्र, किन्तु दृढ असहमति प्रकट करने को बाध्य हूँ। मेरा यह निश्चित मत है कि वैयाकरणो तथा भापा-शास्त्रियों ने हिन्दी शब्दो के अन्तर्गत, जिन स्थानो एव स्थितियो मे, अ के स्वरत्व-लोप का अथवा उसके अभाव का विवेचन किया है, वहाँ वस्तुत स्वरत्व का लोप नही, उदासीन अ की उपस्थिति है। इसके अतिरिक्त अपने अध्ययन के क्रम मे मैंने यह भी पाया है कि हिन्दी मे उदासीन अ की उपस्थिति केवल उन्ही स्थानो मे नही है, जहाँ भापाशास्त्रियो ने अ के स्वरत्व का लोप या अभाव माना है, बल्कि वह हिन्दी मे प्रयुक्त सस्कृत के समस्त व्यञ्जनान्त तत्सम शब्दो, यथा—भगवान्, विद्वान्, महान्, सम्राट्, परिपद्, सुहृद्, जगत्, पृथक् आदि के अन्त मे भी सुनाई पडता है।

इस प्रकार हिन्दी मे एक ओर यदि अन्त्य अ का उदासीनीकरण हुआ है, तो दूसरी ओर व्यञ्जनान्त शब्दो के अन्त मे उदासीन अ का आगम भी। ऐसी स्थिति मे हिन्दी वैयाकरणो तथा भापाशास्त्रियो की यह मान्यता समीचीन नही है कि हिन्दी मे अकारान्त शब्दो का व्यञ्जनान्त उच्चारण होता है।

इस सम्बन्ध मे इस बात के अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध है, जिनसे सिद्ध किया जा सकता है कि स्वय वैयाकरणो तथा भापाशास्त्रियो को भी अपनी उक्त मान्यता के प्रति पूर्ण आस्था नही रही है। उदाहरणार्थ, यहाँ एक रोचक प्रमाण डा० धीरेन्द्र वर्मा के 'हिन्दी भापा का इतिहास' से उपस्थित किया जाता है। श्रद्धेय वर्मा जी ने अपने ग्रन्थ मे अ का वितरण स्पष्ट करते हुए स्पष्ट शब्दो मे अपनी यह मान्यता व्यक्त की है कि कुछ अपवादो को छोडकर शेप स्थितियो मे

---

१. बीम्स, क० ग्रा०, § ८६।
२. केलॉग, हि० ग्रा०, § १४, पृ० १०।

हिन्दी मे शब्द या शब्दाश के अन्त मे आने वाले अ का उच्चारण नही होता है।[१] किन्तु उसी ग्रन्थ मे जब वे अ का इतिहास प्रस्तुत करने चले हैं, तो वहाँ उन्होने हिन्दी के सभी अकारान्त शब्दो मे अन्त्य अ की उपस्थिति स्वीकार कर ली है।[२] प्राय यही स्थिति अन्यान्य भाषाशास्त्रियो एव वैयाकरणो की भी है। इस प्रकार भाषाशास्त्रियो की मन स्थिति की यह दुविधा तथा उनके सिद्धान्त एव व्यवहार का यह वैषम्य इस वात का एक पुष्ट प्रमाण है कि उनके भीतर अपनी उक्त मान्यता के प्रति पूर्ण आस्था नही रही है।

सम्भवत. यही कारण है कि आज तक हिन्दी-लेखन मे किसी के द्वारा वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो की उक्त मान्यता का पालन नही किया गया। इतना ही नही, स्वय वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो ने भी अपने ग्रन्थो मे प्राय उदाहरणो को छोडकर अन्यत्र अपनी मान्यता को व्यावहारिक रूप नही दिया है। यह एक दूसरा प्रमाण है, जिससे हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि होती है।

हिन्दी मे अकारान्त शब्दो को व्यञ्जनान्त मान लेने मे कई अन्य व्यावहारिक तथा व्याकरण सम्वन्धी कठिनाइयाँ भी है, जिनकी ओर भाषाशास्त्रियो का ध्यान नही गया है। उदाहरणार्थ, यह सर्वविदित है कि सस्कृत के सन्धि-नियम मूलत ध्वनि-वैज्ञानिक नियमो पर आधारित हैं। यही कारण है कि उन नियमो मे से अधिकाश अन्यान्य भाषाओ के लिए भी समान रूप से सत्य है। हिन्दी के सन्दर्भ मे तो उनका और भी विशेष महत्त्व है, क्योकि हिन्दी-शब्द-समूह का मूलस्रोत सस्कृत है। हिन्दी मे सस्कृत से गृहीत शब्दो का विश्लेषण सस्कृत के सन्धि-नियमो पर ही आधारित है। ऐसी स्थिति मे यदि हिन्दी मे प्रयुक्त अकारान्त शब्दो को व्यञ्जनान्त मान लिया जाय, तो ऐसे अनेक समस्त पद, जिनका पूर्व खण्ड अकारान्त हो, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध, सिद्ध और व्याख्येय नही रह जायँगे। यहाँ तक कि सिद्धिदाता 'गणेश' को भी सन्धि-नियम के अनुसार 'गणीश' (गण्+ ईश) वनना पडेगा। इसी प्रकार परमार्थ, देवेन्द्र और सुरेश, आदि को भी क्रमशः परमर्थ, देविन्द्र और सुरीश आदि वोलना और लिखना पडेगा। स्पष्ट है कि ये रूप

---

१. डा० धी० व०, हि० इ०, § ३०।

२. 'अन्त्य अ का उच्चारण साहित्यिक हिन्दी में प्राय' नहीं होता, किन्तु वोलियो मे यह कुछ-कुछ अव भी चला आता है। इन उदाहरणों मे अन्त्य अ का होना मान लिया गया है।—डा० धी० व०; हि० इ०, § ८६ की पादटिप्पणी।

परिनिष्ठित हिन्दी के लिए कभी ग्राह्य नही हो सकते। ऐसी स्थिति मे हिन्दी के अकारान्त शब्दो को स्वरान्त कैसे माना जा सकता है ?

डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ने हिन्दी मे पदान्त अ के लोप को सिद्ध करने तथा हिन्दी-लेखन मे उसके तद्वत् प्रयोग को प्रमाणित करने के उद्देश्य से अभी, तभी, डाग्घर, एग्गारी, आम्सेर, पण्डिज्जी, पहुँज्जाना, माड्डाला, इवल्लाओ जैसे शब्दो को उपस्थित करते हुए यह तर्क दिया है कि इन शब्दो के प्रथम खण्ड के शब्द, यथा—अव, तव, डाक, एक, आव, पण्डित, पहुँच, मार और इधर के अन्त मे यदि स्वर की उपस्थिति होती तो वाद के खण्डो, यथा—ही, ही, घर, गाडी, सेर, जी, जाना, डाला और लाओ के आदि व्यञ्जन से उनकी वैसी सन्धि सम्भव नही थी, जैसी उपर्युक्त शब्दो मे पायी जाती है।[१]

उक्त मान्यता के सम्वन्ध मे सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य वात यह है कि ऊपर जिन शब्दो को उदाहृत किया गया है, उनमे से 'अभी' और 'तभी' को छोडकर शेष शब्दो का उपर्युक्त उच्चारण केवल शीघ्रता से वोलने की स्थिति मे ही होता है, जो असामान्य स्थिति है। इसीलिए वे शब्द परिनिष्ठित हिन्दी मे उपर्युक्त रूपो मे गृहीत नही है। तव प्रश्न उठता है कि आखिर शीघ्रता से वोलने की स्थिति मे ही सही, किन्तु वैसी सन्धि हुई कैसे ? उत्तर सरल है। दो समस्थानीय या निकट-स्थानीय व्यञ्जनो के वीच उदासीन अ का, शीघ्रता से वोलने की असामान्य स्थिति मे, अनुच्चरित रह जाना ध्वनि-वैज्ञानिक अनिवार्यता है। इसीलिए उपर्युक्त शब्दो मे वैसी सन्धि सम्भव होती है। किन्तु सामान्य स्थिति मे लोग डाकघर, एक गाडी, आवसेर, पण्डित जी, पहुँच जाना, मार डाला, इधर लाओ ही वोलते और लिखते है तथा ये ही रूप परिनिष्ठित हिन्दी मे गृहीत भी है।

किन्तु जहाँ तक 'अभी', 'तभी' जैसे शब्दो का प्रश्न है, इनमे स्थिति दूसरी है। इनमे अल्पप्राण एव शुद्ध महाप्राण व्यञ्जनो के वीच (यथा—अव+ही, तव+ही) स्थित उदासीन अ के लोप का कारण महाप्राण व्यञ्जन की महाप्राणता है। हिन्दी मे तो ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमे महाप्राण व्यञ्जन के पूर्व या दो महाप्राणो के मध्य आने पर 'आ' जैसे दीर्घ स्वर तक का लोप हो जाता है, यथा—यहाँ+ही=यही, वहाँ+ही=वही आदि। ऐसी स्थिति मे उदासीन अ जैसे दुर्वल स्वर की भला क्या हस्ती है ? अत. 'अभी', 'तभी' जैसे रूपो को देखकर 'अव', 'तव' जैसे शब्दो को व्यञ्जनान्त मान लेना उचित नही है।

१. डॉ० आ० श०, वे० ग्रा०; § ५१-५२

निष्कर्ष के रूप के कहा जा सकता है कि हिन्दी मे व्यञ्जनान्त शब्दो या शब्दाशो का नितान्त अभाव है। हिन्दी वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो ने जिन स्थितियो मे 'अ' के लोप या अनुच्चरित रह जाने की कल्पना की है, उनमे वस्तुतः स्वर का लोप नही, अपितु उदासीन 'अ' की उपस्थिति है, जिसको पहचानने का अभी तक विद्वानो के द्वारा समुचित प्रयास नही किया गया।

२ [अ] अर्द्धविवृत मध्य ह्रस्व स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [अ] से नीचे और कुछ पीछे है।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। उदासीन [अ] से इसकी भिन्नता की कुछ चर्चा ऊपर हो चुकी है। इसके सम्बन्ध मे अन्य उल्लेखनीय बातें निम्नलिखित है —

(१) [अ] केवल बलाघातयुक्त अक्षरो या सयुक्ताक्षरो मे आता है, और [अ] केवल बलाघातरहित अक्षरो मे, यथा—मजदूर के म मे अ, और ज तथा र मे अ् है। इसी प्रकार चन्दन के च और न्द मे [अ] है, और न मे [अ]।

(२) आद्याक्षरो मे सदा [अ] आता है, [अ] कभी नही, यथा,—स्वराक्षर के रूप मे—अब, अपना आदि मे, व्यञ्जनाक्षरो मे—कब, सपना आदि मे।

(३) मध्याक्षरो मे [अ] केवल बलाघातरहित अक्षरो के पूर्व या सयुक्ताक्षरो के पूर्व तथा सयुक्ताक्षरो मे आता है। यथा—सरलपन् के स, र, प मे तथा अलक्तक के अ, ल, क्त मे। उक्त स्थितियो मे अ् कभी नही आता।

(४) शब्दान्त मे [अ] केवल सयुक्ताक्षरो मे ही आता है, यथा—सत्य, चन्द्र, विश्व, रक्त आदि मे। अन्यत्र अ आता है।

(५) एकाक्षरी अकारान्त शब्दो मे सदा [अ] आता है, यथा—न, व आदि मे।

३ [आ]—विवृत पश्च दीर्घ स्वर।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। इसके उच्चारण मे मुखविवर सामान्यत पूर्ण विवृतावस्था मे रहता है तथा जिह्वा नीचे सटी रहती है। किन्तु जिह्वा का पिछला भाग भीतर की ओर ऊपर उठ जाता है। ओठ अ के उच्चारण की अपेक्षा अधिक खुल जाते हैं, किन्तु विस्तृत या गोलाकृत नही होते। हिन्दी-शब्दो मे आ का ह्रस्व रूप नही पाया जाता, किन्तु जिस शब्द मे दो

आकारान्त अक्षर साथ-साथ आते है, उनमे से पहले का उच्चारण दूसरे की अपेक्षा किञ्चित् अल्पदीर्घ सुनाई पडता है[1] यथा—चाचा, मामा, दादा आदि मे।

सूचना :—सस्कृत व्याकरणानुसार दीर्घ सन्धि के अन्तर्गत अ+अ=आ होता है, यथा—राम+अवतार=रामावतार। इसी आधार पर भारतीय वैयाकरण अतिप्राचीन काल मे आ को अ का दीर्घ रूप और अ को आ का ह्रस्व रूप भी मानते आये है, किन्तु हिन्दी अ तथा आ मे केवल मात्रा का ही नही, स्थानादि का भी अन्तर है, जो दोनो के ध्वनि-वैज्ञानिक परिचय से स्पष्ट है।

यह शब्द के आदि, मध्य एवं अन्त सभी स्थानो मे आता है, यथा—आग, आधा, आगा, आकाश, सुहाना, मसाला आदि मे।

४. [इ]—सवृत अग्र प्रसृत ह्रस्व स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [ई] से कुछ नीचे और पीछे है।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। यह शब्दो के आदि, मध्य एव अन्त सभी स्थानो मे आता है, यथा—इसे, इतना, इतिहास, अधिक, कविता, लौकिक, कवि, रवि, छवि, कपि आदि मे।

सूचना —हिन्दी मे इकारान्त तद्भव शब्दों का प्राय अभाव है। पदान्त मे इ स्वर प्राय स० तत्सम शब्दो मे ही पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की प्रवृत्ति इकारान्तता की ओर नहीं है।

५. [ई]—सवृत अग्र प्रसृत दीर्घ स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान मानस्वर [ई] मे कुछ नीचे है।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। यह शब्दो के आदि, मध्य एव अन्त सभी स्थानो मे आता है, यथा—ईख, ईद, ईश्वर, रईस, भतीजा, अधीन, भाई, भलाई, हाथी आदि मे।

सूचना :—सस्कृत दीर्घस्वरसन्धि-नियम के अनुसार इ+इ=ई होता है, यथा—कवि+इन्द्र= कवीन्द्र। इसी आधार पर वैयाकरण इ और ई मे केवल ह्रस्व-दीर्घ मात्रा का अन्तर मानते आये हैं। किन्तु ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी ई

---

१. इसी प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में चाचा, मामा, दादा आदि से क्रमशः चच्चा, मम्मा, दद्दा, आदि रूप विकसित हुए हैं।

का स्थान इ की अपेक्षा कुछ ऊपर और बाहर की ओर है, जो स्वर-त्रिकोण को देखने से स्पष्ट हो जाता है। अत इ और ई मे केवल मात्रा-भेद ही नही, स्थान-भेद भी माना जाना चाहिए।

६. [उ]—संवृत पश्च वर्तुल ह्रस्व स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [ऊ] से कुछ नीचे और आगे है।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। यह शब्दो के आदि, मध्य एव अन्त, सभी स्थानो मे आता है, यथा—उबाल, उसका, उल्लू, आकुल; नूपुर, राउत, भानु, मधु, पशु आदि मे।

सूचना —पदान्त मे उ केवल स० तत्सम शब्दो मे आता है, तद्भव शब्दो मे नही। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की प्रवृत्ति उकारान्तता की ओर नही है।

७. [ऊ]—सवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान मान स्वर [ऊ] से कुछ नीचे है।

यह भारतीय आर्यभापा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। यह शब्द के आदि, मध्य एव अन्त सभी स्थानो मे आता है, यथा—ऊखल, ऊसर, ऊर्मि, बबूल, सन्दूक, अछूत, ताऊ, चाकू, आलू आदि मे।

सूचना —सस्कृत के दीर्घस्वर-सन्धि-नियम के अनुसार उ+उ=ऊ हो जाता है, यथा—विधु+उदय=विधूदय। इसी आधार पर वैयाकरण उ और ऊ मे केवल ह्रस्व-दीर्घ मात्रा का अन्तर मानते आये है। किन्तु, ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से उ का स्थान ऊ की अपेक्षा नीचे तथा मध्योन्मुख है, जो स्वर-त्रिकोण को देखने से स्पष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी उ और ऊ मे केवल मात्रा का ही नही, स्थान का भी अन्तर है।

८ [ए] अर्द्धसंवृत अग्र प्रसृत ह्रस्व स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [ए] से कुछ नीचे और पीछे है।

आर्यभाषा-स्रोत मे इस स्वर का विकास पालि-काल मे हुआ था। इसके उच्चारण मे जीभ का अग्रभाग ए की अपेक्षा कुछ अधिक नीचे तथा केन्द्राभिमुख रहता है। कुछ भाषाशास्त्रियो ने इसकी उपस्थिति केवल हिन्दी की बोलियो मे

मानी है[1] किन्तु इसका प्रयोग साहित्यिक हिन्दी मे प्रचलित है। यह केवल शब्द के प्रथम अक्षर मे आता है, यथा—खेलाना, देखाना, खेतिहर, वेतिया, मेहमान, केवाला, एतवार, एकरार आदि मे।

सूचना :—नागरी मे ए के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण वैयाकरणो ने अनेक स्थितियो मे ए के स्थान पर इ आदेश किया है। इस कारण व्यवहार मे लोग विकल्प से अनेक शब्दो मे ए की जगह प्राय: इ ही लिखते एव वोलते हैं, यथा—इकन्नी, इकाई, इक्कीस, इकतालिस आदि। किन्तु एकारान्त अक्षर वाली द्विकर्मक क्रियाओ एव प्रेरणार्थक क्रियाओ मे यह नियम सर्वत्र लागू नही हो सकता। उदाहरणार्थ :—खेलाना—खेलवाना, देखाना—देखवाना आदि मे ए के स्थान पर इ कर देने से अर्थ मे भिन्नता आ जायगी। इसी प्रकार खेतिहर, वेतिया जैसे शब्दो मे ए की जगह इ का प्रयोग हो ही नही सकता।

९. [ए]—अर्द्धसंवृत अग्र प्रसृत दीर्घ स्वर।

इसका स्थान मानस्वर [ए] से कुछ नीचे तथा हिन्दी [ए] से कुछ ऊपर और आगे है। इसके उच्चारण मे ओठ [ए] के उच्चारण की अपेक्षा अधिक प्रसृत होता है। यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। हिन्दी मे यह शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त सभी स्थानो मे आता है, यथा —एक, केसर, अकेला, नकेल, सवेरा, हरे, हटवे, खतवे, आगे, पीछे आदि मे।

१० [ओ]—अर्द्धसंवृत पश्च वर्तुल ह्रस्व स्वर।

स्वर-त्रिकोण मे इसका स्थान [ओ] से कुछ नीचे और आगे है।

आर्यभाषा-स्रोत मे इस स्वर का विकास पालि-काल मे हुआ था। अनेक विद्वानो ने हिन्दी की कतिपय बोलियो मे तो इसकी उपस्थिति मानी है[2], किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी मे भी यह स्वर वर्त्तमान है, इस वात का समुचित उल्लेख प्राय किसी ने नही किया है।[3] यह स्वर तद्भव तथा विदेशी ऋण शब्दो के आदि और

१. डा० धी० व०, हि० इ० § २६।

२. डा० धी० व०, हि० इ०, § १७।

३. भा० ना० ति० ने 'हिन्दी भाषा' पृ० २५ में इस स्वर को परिनिष्ठित हिन्दी में भी उपस्थित माना है।

मध्य मे आता है[१] यथा—ओसारा, ओहार, ओढना (सज्ञा), ओढनी, बोलाना, जोडाना, कोतवाल, रोजगार, गोदना (संज्ञा), लोकनी, (सज्ञा) आदि मे।

नागरी मे इस स्वर के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण हिन्दी-लेखन मे इसके स्थान पर दीर्घ [ओ] के लिए प्रयुक्त 'ओ' का ही प्रयोग होता है।

११. [ओ]—**अर्द्धसवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर।**

इसका स्थान मानस्वर [ओ] से कुछ नीचे तथा हिन्दी [ओ़] से कुछ ऊपर और पीछे है। यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत स्वर है। हिन्दी मे यह शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त,सभी स्थानो मे आता है, यथा—ओस, ओज, ओल, ओजस्वी, कोमल, गोबर, भूगोल, कठोर, सहोदर, कोदो, भादो, सरसो आदि मे।

१२ [ऐ़]—**अर्द्धविवृत अग्र प्रसृत दीर्घ स्वर।**

यह आधुनिक काल मे विकसित एक नवीन स्वर है। पश्चिमी प्रान्तो मे इसका उच्चारण शुद्ध मूल स्वर की तरह होता है, किन्तु पूरबी प्रान्तो मे कही-कही इसका उच्चारण मिश्र स्वर [अए] की तरह भी होता है। पञ्जाबी[१] तथा बङ्गला[२] मे भी यह मूलस्वर ही माना गया है। हिन्दी मे यह मुख्यत. तद्भव शब्दो मे ही आता है। यह शब्दो के आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—ऐसा, ऐनक, ऐब, कैसा, पैर, मैल, विगडैल आदि मे। अन्त मे यह केवल एकाक्षरी शब्दो मे ही आता है, यथा—कै, जै, है आदि मे।

सूचना :—डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ऐ को हिन्दी मे सयुक्त स्वर माना है,[३] कादरी,[४] डा० उदयनारायण तिवारी,[५] डा० भोलानाथ तिवारी[६] आदि ने इसे मूल स्वर कहा है। देवनागरी मे इसके लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान पर हिन्दी-लेखन मे ऐ वर्ण का ही प्रयोग होता है

---

१ बेली, पञ्जाबी फोनेटिक रीडर, पृ० xiv

२. चौ०, बे० लै०, § १४०।

३. डा० धी० व०, हि० इ०, § २८।

४ कादरी, हि० फो०, § ५१।

५ डा० उ० ना० ति०, हि० उ० वि०, § १६।

६ डा० भो० ना० ति०, हि० भा०, पृ० २६।

१३. [एँ]—अर्द्धविवृत अग्र प्रसृत अल्प दीर्घ स्वर।

इसका उच्चारण [ऐ] की अपेक्षा अल्पदीर्घ होता है। यह विदेशी स्रोत से आगत स्वर है और केवल अँगरेजी से गृहीत कुछेक ऋण शब्दों के आद्यक्षर में आता है, यथा—ऐटम, ऐकटर, ऐकशन, पैंटन, कैप्टन। देवनागरी में इसके लिए स्वतन्त्र वर्ण का आभाव होने के कारण इसके स्थान पर प्राय ऐ का ही प्रयोग होता है।

१४. [औ]—अर्द्धविवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर।

यह आधुनिक काल में विकसित नवीन स्वर है। पश्चिमी प्रान्तों में इसका उच्चारण शुद्ध मूलस्वर की तरह होता है, किन्तु पूरबी प्रान्तों में कहीं-कहीं इसका उच्चारण मिश्र स्वर [अओ] की तरह भी होता है। यह मुख्यत तद्भव तथा अरबी-फारसी से गृहीत ऋण शब्दों के आदि एव मध्य में आता है, यथा—और, औरत, औघड़, औसत, कौर, गौर, तौर, मौज, कचौड़ी, सुडौल आदि में। शब्दों के अन्त में यह केवल एकाक्षरी शब्दों में ही आता है, यथा—जौ, छौ, नौ, पौ, मौ आदि में। देवनागरी में इसके लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान में औ का ही प्रयोग प्रचलित है।

१५ [ऑ]—अर्द्धविवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर।

यह हिन्दी में गृहीत अँगरेजी ऋण शब्दों के आयद्क्षर में आता है, यथा—ऑफिस, कॉलेज, लॉर्ड हॉल, ऑर्डर, वॉल, कॉन्फ्रेंस आदि में। इसके लिए देवनागरी में ऑ तथा औ दोनों ही वर्णों का, विकल्प से, प्रयोग प्रचलित है।

मिश्र स्वर

१. [ऐ]—सवृतोन्मुख-अर्द्धविवृत अग्रोन्मुख-मध्यप्रसृत आरोही मिश्र दीर्घस्वर। इसमें अ एव इ का मिश्रण है। इसके उच्चारण में जिह्वा अ के स्थान से इ के स्थान की ओर जाती हुई बीच में ही रुक जाती है, जिसके फलस्वरूप उक्त दोनों स्वरों से भिन्न, किन्तु उन्हीं के मिश्रण से निष्पन्न एक भिन्न स्वर ऐ अर्थात् अइ का उच्चारण होता है। अनेक भाषाशास्त्रियों ने इसे सयुक्त स्वर कहा है[1], जो ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नहीं है, क्योंकि मिश्रण से सयोग की स्थिति भिन्न होती है।[2]

१. डॉ० धी० व०, हि० इ०, § ३३। डॉ० भो० ना० ति, हि० भा०, पृ० २७।
२. मिश्रण में युगपत् और सयोग में पूर्वापर उच्चारण होता है।

हिन्दी मे यह मुख्यत सस्कृत तत्सम तथा कुछ विदेशी ऋण शब्दो के आदि एव मध्य मे आता है, यथा—ऐक्य, ऐश्वर्य, कैवल्य, वैद्य, वैयाकरण, ऐयार, ऐयाश आदि मे।

२. [औ]—सवृतोन्मुख-अर्द्धविवृत पश्चोन्मुख-मध्यवर्तुल आरोही मिश्र दीर्घ स्वर। इसमे अ और उ का मिश्रण है। इसके उच्चारण मे जिह्वा अ के स्थान से उ के स्थान की ओर जाती हुई बीच मे ही रुक जाती है, जिसके फलस्वरूप उक्त दोनो स्वरो से भिन्न किन्तु उन्ही के मिश्रण से निष्पन्न एक भिन्न स्वर औ अर्थात् अउ का उच्चारण होता है। अनेक भाषाशास्त्रियो ने इसे सयुक्त स्वर कहा है[1] जो ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नही है, क्योकि मिश्रण से सयोग की स्थिति भिन्न होती है जो पहले बताया जा चुका है।

हिन्दी मे यह मुख्यत सस्कृत तत्सम शब्दो के आदि एव मध्य मे आता है, यथा—औचित्य, औदार्य, औषधि, औपचारिक, बौद्धिक, शौर्य, मौर्य आदि मे।

सूचना—[ऐ] एव [औ] का मिश्रस्वर के रूप मे शुद्ध उच्चारण सुशिक्षितो के द्वारा ही होता है। सामान्य लोगो की भाषा मे इन स्वरो का उच्चारण क्रमशः अइ एव अउ अथवा अए एव अओ सयुक्त स्वरो की तरह होता है। सम्भवत. इसीलिए कुछ भाषाशास्त्रियो ने उपर्युक्त स्वरो को सयुक्त स्वर कहा है।

अनुनासिक स्वर

शब्द-स्तर पर हिन्दी-स्वरो की अनुनासिकता की दो स्थितियाँ पायी जाती हैं—(१) अनुनासिक व्यञ्जन के प्रभाव से उत्पन्न अनुनासिकता और (२) स्वतन्त्र अनुनासिकता। यहाँ संक्षेप मे उक्त दोनो स्थितियो पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) जब किसी शब्द मे एक या अधिक अनुनासिक व्यञ्जन आते हैं, तो उनके प्रभाव से प्राय: पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर भी अनुनासिक बन जाते है, यथा—मँनँ, काँनँ, काँमँ, काँनँनँ, खाँनँ, चँमँडा, काँमँनाँ, मँकाँनँ, मँखाँनँ, नाँक,

[1] डॉ० धी० व०, हि० इ § ३३।

नाँच आदि मे।[1] किन्तु कई स्थितियो मे अनुनासिक व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरो को अनुनासिक बनाने मे समर्थ नही भी होते, यथा—नाव, नाला, माला, विनायक, विमल आदि मे।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अनुनासिक व्यञ्जनो का प्रभाव किन-किन स्थितियो मे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरो पर पडता है, और किन-किन स्थितियो मे नही पडता है ? इसके सम्बन्ध मे शोध करने पर मैंने पाया है कि हिन्दी इस विषय मे सर्वत्र कुछ नियमो का पालन करती है, जो निम्नलिखित हैं —

(क) जब अनुनासिक व्यञ्जन का पूर्ववर्ती स्वर किसी अन्त.स्थ या घोष व्यञ्जन से युक्त रहता है, तो उस पर अनुनासिक व्यञ्जन का प्रभाव प्राय. नही पडता, यथा—राणाँ, लाभाँ, लानँत, यमँ, यानँ, वाणँ, विमल, विनायक, गामाँ, गमँ, जमाँनाँ, जामुँनँ, दानँ, वमँ, बनाव आदि मे।

(ख) जब अनुनासिक व्यञ्जनयुक्त स्वर के परे कोई अन्त स्थ, अथवा घोष व्यञ्जन या कोई स्वर रहता है, तो अनुनासिक व्यञ्जन का प्रभाव उसके साथ रहने वाले स्वर पर नही पडता, यथा—[नर, नारा, नाला, मेला, माया, मवाद, मेवा, विमल, विनायक, नाव, नागा, निगाह, नाजायज, निडर, नाद, नीबू, महादेव, मेघ माधव, मेढक, माघ, नाई] आदि मे।

सूचना .—उपर्युक्त स्थितियो मे यदि कही किसी स्वर मे अनुनासिकता पायी भी जाती है, तो वह अनुनासिक व्यञ्जन के प्रभाव के कारण नही, अपितु स्वतन्त्र रूप से ही, यथा—नींद, मांग आदि मे।

(ग) उपर्युक्त दोनो स्थितियो को छोडकर अन्य सभी स्थितियो मे अनुनासिक व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर को अनुनासिक बना देता है, यथा—[नाँक, काँनँ, मोँनँ, माँस, नाँका, माँता, नाँच, मँछली, नाँटक, मँठ, नाँता, नाँथ, माँप, नँामँ, नाँगा, नँगा, आँनँ] आदि मे।

सूचना—(१) अनुनासिक व्यञ्जन से प्रभावापन्न अनुनासिकता हिन्दी-शब्दों मे अर्थभेदक नही है। यही कारण है कि हिन्दी-लेखन मे इस श्रेणी की अनुनासिकता सूचित करने के लिए बहुत कम ही शब्दो मे अनुनासिक चिह्न चन्द्रबिन्दु [ँ] या बिन्दु का प्रयोग होता है, यथा—मैं, मे आदि मे। शेष अधिकाश शब्दों के

[1] हिन्दी-लेखन में इस स्थिति की अनुनासिकता को सूचित करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

उच्चारण मे अनुनासिक ध्वनि के स्पष्टश्रुत होने पर भी उसके लिए अनुनासिक चिह्न का प्रयोग नही किया जाता, यथा—नाक, कान, मान, माता आदि मे।

सूचना (ii) उपर्युक्त विषय और अधिक गम्भीर शोध की अपेक्षा रखता है। यहाँ मैंने इस दिशा मे प्रसङ्गवश सङ्केत मात्र दिया है।

(२) हिन्दी-स्वरो मे अनुनासिकता की दूसरी स्थिति वह है, जहाँ वह किसी अनुनासिक व्यञ्जन के प्रभाव से उत्पन्न नही होकर स्वतन्त्र रूप से आती है, यथा—आँख, पाँख, साँप, हँसी, आँसू, गँवार, सोंठ, बुँदेली, ऊँघना, विंदिया, गेंद आदि मे।

सूचना :—(i) इस श्रेणी की अनुनासिकता प्राय: अर्थभेदक होती है, इस कारण उसको सूचित करने के लिए अनुनासिक चिह्न का सर्वत्र प्रयोग किया जाता है।

सूचना :—(ii) हिन्दी-लेखन मे जिन स्वरो की मात्रा ऊपर लगती है, उनकी अनुनासिकता को सूचित करने के लिए मात्रा के ऊपर केवल विन्दु का प्रयोग किया जाता है, किन्तु जिन स्वरो की मात्रा ऊपर नही लगती, उनकी अनुनासिकता को सूचित करने के लिए चन्द्रविन्दु का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग अनुनासिकता को सूचित करने के लिए सर्वत्र केवल विन्दु का ही प्रयोग करते हैं, जो नितान्त अनुचित है, क्योंकि इससे लेखन की वैज्ञानिकता नष्ट होती है।

परिनिष्ठित हिन्दी मे अधिकाश निरनुनासिक स्वरो के अनुनासिक रूप भी पाये जाते है। अनुनासिक स्वरो के उच्चारण मे स्थान तो वे ही रहते है, किन्तु कोमल तालु और अलिजिह्वा के कुछ नीचे झुक जाने से थोडी हवा नासिकाविवर के मार्ग से भी वाहर निकलती है, जिसके परिणामस्वरूप स्वर मे अनुनासिकता का समावेश हो जाता है। हिन्दी मे निरनुनासिक स्वर से अनुनासिक स्वर सर्वथा भिन्न है, क्योकि अनुनासिकता के कारण शब्द और अर्थ दोनो ही मे अन्तर आ जाता है। किन्तु, जहाँ अनुनासिकता अनुनासिक व्यञ्जन पर आश्रित होती है, वहाँ उक्त भेद नही होता और न इस श्रेणी की अनुनासिकता को लेखन मे सूचित ही किया जाता हैं, किन्तु भाषण मे वह स्पष्ट सुनाई पडती है।

हिन्दी मे उपलब्ध अनुनासिक स्वर निम्नलिखित है :—

अनुनासिक स्वर	उच्चरित रूप	लिखित रूप
१ अँ	[मँनँ, नाँमँ, तँनँ] आदि	मन, नाम, तन आदि।
२. अँ	[हँसी, अँधेरा, मँठ] आदि	हँसी, अँधेरा, मठ आदि।

३	ऑ	[चाँद, आँसू माँनँ] आदि	चाँद, आँसू, मान आदि ।
४	इँ	[पिँजडा, विँदिया इँनँ] आदि	पिंजड़ा, विंदिया, इन आदि ।
५	ईँ	[ईँट, सीँचना, मीँनार] आदि	ईंट, सींचना, मीनार आदि ।
६	उँ	[उँचाई, सुँघाना, उँनँका]	उँचाई, सुँघाना, उनका आदि ।
७	ऊँ	[ऊँट, ऊँचा, नूँतनँ] आदि	ऊँट, ऊँचा, नूतन आदि ।
८	एँ	[फेँटानाँ, मेँटानाँ] आदि	फेंटाना, मेटाना आदि । ।
९.	एँ	[गेँद, वातेँ, फेँनँ] आदि	गेंद, वातें फेन आदि । ।
१०	ऐ	[ऐँठनँा, भैँस, ऐनँक] आदि	ऐंठना, भैंस, ऐनक आदि ।
११	ओ	[खोँचानाँ, मोँटरी] आदि	खोचाना, मोटरी आदि ।
१२	ओ	[सोँठ, गोँद, मोँटा] आदि	सोठ, गोद, मोटा आदि ।
१३	औ	[सौँफ, लौँङ् कौँनँ] आदि	सौंफ, लौंग, कौन आदि ।

सूचना :—हिन्दी मे विदेशी स्वर एँ और ऑ तथा मिश्र स्वर ऐ और औ के अनुनासिक रूप प्राय नही मिलते ।

व्यञ्जन

स्पर्श व्यजन

अलिजिह्वीय—

[क़]—अल्पप्राण अघोष अलिजिह्वीय स्पर्श व्यञ्जन ।

यह विदेशी ध्वनि है । इसकी उपस्थिति मुख्यत हिन्दी मे गृहीत अरबी-फारसी के तत्सम ऋण शब्दो मे ही पायी जाती है । इसका शुद्ध उच्चारण विशेषत उक्त भाषाओं के ज्ञाता अथवा उर्दू की जानकारी रखनेवाले विद्वानो के मुख से ही सुना जाता है । सामान्य हिन्दी भाषी इसके स्थान पर क ही बोलते एव लिखते हैं । इसके उच्चारण मे जिह्वामूल अलिजिह्वा के साथ कोमल तालु के पिछले भाग का स्पर्श करता है । कुछ भाषाशास्त्रियो ने इसे जिह्वामूलीय व्यञ्जन कहा है[1], किन्तु जिह्वामूल इसका करण है, स्थान नही । इसके उच्चारण का स्थान अलिजिह्वा तथा कोमलतालु का पश्चभाग है । इसलिए इसे अलिजिह्वीय कहना ही अधिक उपयुक्त है । यह विदेशी शब्दो के आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—क़दम, क़ानून, क़ाबिल, ताक़त, मुक़ाम, शौक़ीन, वक़्त, ताक़, शौक़ आदि में ।

---

१ डा० धी० व०, हि० इ०, § ३६ ।
डा० भो० ना० ति० हि० भा०, पृ० ३१ ।

कोमल तालव्य

[क]—अल्पप्राण अघोष कोमलतालव्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभाषा स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। सस्कृत मे यह कण्ठ्य-व्यञ्जन था, किन्तु हिन्दी तक आते-आते यह कोमल तालव्य वन गया है। इसके उच्चारण मे जिह्वापश्च कोमलतालु का स्पर्श करता है। हिन्दी मे यह मुख्यत शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, किन्तु कुछ सस्कृत तत्सम शब्दो में अन्त में भी आता है। यथा—कम, काम, कितना, थकान, अकेला, नाक, चतुर्दिक्, सम्यक्, वाक् आदि मे।

[ख्] महाप्राण अघोष कोमलतालव्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभापा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है। यथा—खलिहान, खाट, खेत देखना, सुख, भूख आदि मे।

[ग्] अल्पप्राण घोष कोमलतालव्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभापा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—गति, गात, गीत, गुड, गोह, नगर, आग, रोग आदि मे।

[घ्] महाप्राण घोष कोमलतालव्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आयभापा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—घर, घाट, घूँट, सघन, बाघ, राघव, रघुनाथ आदि मे।

मूर्द्धन्य

[ट्] अल्पप्राण अघोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन।

यह भारतीय आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन हे।[१] इसके तथा

१ अनेक भाषाशास्त्रियों के अनुसार मूर्द्धन्य व्यञ्जन भारोपीय काल के नहीं है; वल्कि आर्यों के भारत में आने पर अनार्यों के सम्पर्क से इनका व्यवहार प्रा० भा० आ० में होने लगा

इस वर्ग के अन्य व्यञ्जनों के उच्चारण मे जिह्वान्त को उलट कर उसके निचले हिस्से से कठोरतालु के मध्य से लेकर मूर्द्धा तक के स्थान का स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार हिन्दी मे इस वर्ग की ध्वनियाँ शुद्ध मूर्द्धन्य नही रहकर मूर्द्धन्य-तालव्य बन चुकी हैं, किन्तु परिचयार्थ इन्हे अभी तक मूर्द्धन्य ही कहा जा रहा है। ट् हिन्दी शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, किन्तु कुछेक सस्कृत तत्सम शब्दो मे अन्त मे भी, यद्यपि हिन्दी मे उनका उच्चारण वास्तव मे उदासीन अ् से युक्त होता है, यथा—टीला, टोला, टाल, टका, टेक, आटा, कटुता, खाट, हाट; सम्राट्, विराट् आदि मे।

[ठ्]—महाप्राण अघोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन :

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—ठग, ठठेरा, ठीक, कठोर, काठ, सोठ आदि मे।

[ड्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—डमरु, डाल, डर, डोर, हड्डी, पण्डा, आडम्बर, सुडौल, रेडियो आदि मे।

[ढ्]—महाप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—ढकना, ढाल, ढोल, ढीला, वेढब, ठण्डा, औढर आदि मे।

दन्त्य

[त्]—अल्पप्राण अघोष दन्त्य वर्त्स्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। इसके तथा इस वर्ग के अन्य व्यञ्जनो के उच्चारण मे जिह्वान्त ऊपरी दन्तपक्ति के साथ वर्त्स का भी हल्का स्पर्श करता है, इस कारण इस वर्ग के व्यञ्जन हिन्दी मे वास्तव मे दन्त्य-वर्त्स्य है, किन्तु इनका परिचय दन्त्य कहकर ही दिया जाता है। हिन्दी शब्दो में त् केवल आदि तथा मध्य मे आता है, किन्तु सस्कृत तत्सम शब्दो मे अन्त मे भी; यद्यपि उनका भी हिन्दी उच्चारण उदासीन अ् युक्त ही होता है, यथा—तव, ताला, तीन, तेल, तान, रात, बात, छाता, नाती; वत्, साक्षात् सत्, शरद् आदि है।

था। किन्तु आर्यों का आगमन बाहर से भारतवर्ष में हुआ या वे यहाँ से बाहर गये, यह विषय अभी भी विवादग्रस्त है। इनके अतिरिक्त मूर्द्धन्य व्यञ्जनों की उपस्थिति वेदों में भी मिलती है; इस कारण इनके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से अभी यह मान लेना उचित नहीं है कि ये आर्य परिवार के नहीं हैं।

[थ]—महाप्राण अघोष दन्त्य वर्त्स्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—थन, थाली, थाती, थोड़ा; रथ, कथा, साथी, आदि मे।

[द]—अल्पप्राण घोष दन्त्य वर्त्स्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है; यथा—दम, दाल, दान, दूध, दिन, देन, दोना; चाँद, याद, सलाद, वाद, दादा, दीदी, गादो, यदि, यादव, बादुर, बादल आदि मे। यह सस्कृत तत्सम शब्दो के अन्त मे भी आता है, यथा—परिषद्, विद् आदि मे।

[ध]—महाप्राण घोष दन्त्य वर्त्स्यस्पर्श व्यञ्जन।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—धन, धान, धीरज, धूनी, धोखा, धेना, धौल, साध, आधा, समधी आदि मे।

ओष्ठ्य

[प]—अल्पप्राण घोष दन्त्य वर्त्स्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह तथा इस वर्ग के सभी व्यञ्जन आर्यभाषा-स्रोत के हैं। इस वर्ग के व्यञ्जनो के उच्चारण मे नीचे का ओठ ऊपर के ओठ का स्पर्श करता है, इसीलिए इस वर्ग के व्यञ्जन द्वयोष्ठ्य भी कहे जाते है। प् हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—पलक, पत्र, पान, पिता, पुत्र, पोता, पेड, अपना, सपना, कपडा, आप, पापी आदि मे।

[फ]—महाप्राण अघोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—फल, फाल, फूल, फेन, फोडा, सफल, डफली, साफ, नफा आदि मे।

[ब]—अल्पप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है; यथा—बड़ा, बादल, बीस, बुनना, बोना, अबीर, सब, अब आदि मे।

[भ]—महाप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन ।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—भलाई, भाला, भीतर, भूल, डाभ, सभा, अभी, लोभ आदि मे ।

स्पर्शघर्षी व्यञ्जन[1]

कठोरतालव्य

[च]—अल्पप्राण अघोष कठोरतालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन ।

यह तथा इस वर्ग के अन्य व्यञ्जन आर्यभाषा-स्रोत के परम्परागत व्यञ्जन हैं।[2] वैदिक तथा सस्कृत मे इस वर्ग के व्यञ्जन शुद्ध स्पर्श थे तथा इनका उच्चारण-स्थान कोमल तालु था, किन्तु हिन्दी मे ये स्पर्शघर्षी हो गये हैं और इनका उच्चारण-स्थान कठोर तालु का अग्रभाग है । इनके उच्चारण मे जिह्वाग्र कठोरतालु के अगले भाग का कुछ रगड के साथ स्पर्श करता है । च् हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—चन्दन, चाल, चिकना, चुम्बन, चोट, चौथा, नाच, चाचा, चमचा, कचौडी, बच्चा आदि मे ।

[छ]—महाप्राण अघोष कठोरतालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन ।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—छल, छाता, छीक, छोटा, कछुआ, मछली, रीछ आदि मे ।

[ज]—अल्पप्राण घोष कठोरतालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन ।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—जल, जान, जीत, जूता, जोड, तेज, पूजा, राजा आदि मे ।

---

१. डा० सु० कु० च०, वे० फो०, § १६।
काटरी, हि० फो०, पृ० ८७।
डा० बा० स० ए० अ०, पृ० ३०।
डा० धी० व०, हि० इ०, पृ० ११७।

२. भाषाशास्त्रियों की मान्यता है कि चवर्गी व्यञ्जन मूलभारोपीय में नहीं थे। इनका विकास आगे चलकर कवर्गी व्यञ्जनों से हुआ। किन्तु वैदिक में इस वर्ग के व्यञ्जनों का अभाव नहीं, इसीलिए मैंने इन्हें आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन कहा है।

[झ]—महाप्राण घोष कठोरतालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—झरना, झाल, झील, झूला, बाँझ, मझला, साँझ आदि मे।

अनुनासिक व्यञ्जन

अनुनासिक व्यञ्जनो के उच्चारण मे अन्य प्रयत्नो के अतिरिक्त कोमल तालु अलिजिह्वा सहित नीचे झुक आता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ हवा कण्ठ से होकर नासिका-विवर मे घुसकर विशेष प्रकार की मधुर गूँज उत्पन्न करती हुई नासिकाछिद्र के मार्ग से बाहर निकलती है, और कुछ हवा व्यञ्जन के साथ उच्चरित होने वाले स्वर के साथ मुख-विवर से बाहर निकलती है। इस प्रकार अनुनासिक व्यञ्जनो के उच्चारण मे मुख के साथ नासिका भी उच्चारण-स्थान का कार्य करती है।[१]

अनुनासिक स्वर एवं अनुनासिक व्यञ्जन मे इस दृष्टि से मुख्य अन्तर यह है कि अनुनासिक स्वर के उच्चारण मे कोमलतालु बहुत कम नीचे झुकता है, जिससे बहुत कम हवा नासिका-विवर मे जाती है और बहुत हल्की गूँज उत्पन्न करती है, किन्तु अनुनासिक व्यञ्जन के उच्चारण मे स्पर्श प्रयत्न के साथ कोमलतालु इतना अधिक नीचे झुक आता है कि भीतर से मुख-विवर मे हवा के प्रवेश का मार्ग प्राय अवरुद्ध हो जाता है, जिससे अधिक हवा नासिका-विवर मे घुसकर अधिक गूँज उत्पन्न करती है।

अनुनासिक व्यञ्जन के साथ जब अनुनासिक स्वर का भी उच्चारण करना होता है, तो उस स्थिति मे व्यञ्जन के उच्चारण के समय स्पर्श प्रयत्न के साथ पहले कोमलतालु नीचे झुककर मुख-विवर से हवा के निकलने के मार्ग को प्राय. बन्द कर देता है और फिर स्वर के उच्चारण के लिए जब वह ऊपर उठता है, उस समय भी वह कुछ नीचे ही झुका रहता है, जिससे कुछ हवा नासिका-विवर में प्रवेश कर स्वर को भी अनुनासिक बना देती है। इसके विपरीत, अनुनासिक व्यञ्जन के साथ यदि निरनुनासिक स्वर का उच्चारण करना होता है, तो व्यञ्जन के उच्चारण के साथ ही कोमलतालु पूरा ऊपर उठकर नासिका-विवर के मार्ग को इस प्रकार बन्द कर देता है कि उसमे हवा का प्रवेश न हो सके। इसी के परिणामस्वरूप निरनुनासिक स्वर का उच्चारण सम्भव होता है। हिन्दी मे आठ अनुनासिक व्यञ्जन हैं —

---

१ मुखनासिकावचनोऽनुनासिक', पा०, अ०, १.१ ८.।

[ङ्]—अल्पप्राण घोष कोमलतालव्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

कुछ भाषाशास्त्रियों ने इसे कण्ठ्य व्यञ्जन कहा है,[1] किन्तु हिन्दी में यह वास्तव में कोमलतालव्य ही है। इसके उच्चारण में जिह्वापश्च कोमलतालु के पिछले भाग का स्पर्श करता है। हिन्दी में यह शब्द के केवल मध्य में आता है, यथा—सङ्गम, अङ्क, कङ्कन, गङ्ग, सङ्ग, वाङ्मय, पराङ्मुख, आदि में।

सूचना (1) हिन्दी-लेखन में ङ् जब कवर्गी व्यञ्जन के पूर्व आता है तो उसके स्थान पर विकल्प से अनुस्वार-चिह्न का प्रयोग किया जाता है, यथा—संगम, अंक, संघ, शंख आदि।

सूचना (ii) हिन्दी के तद्भव शब्दों में जब ग् के पूर्व अनुनासिक ध्वनि आती है, तो उच्चारण में ग् के स्थान पर ङ् सुनाई पड़ता है, यथा—माँगना, पलङ्ग, लौंग, ताँगा, माँग, सङ्ग, रँगना आदि के स्थान पर क्रमशः माङना, पलङ, लौंङ, ताङा, माङ, सङ, रङना आदि। किन्तु लेखन में अभी इस परिवर्तन को मान्यता नहीं मिली है।

[ण्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह हिन्दी में प्रयुक्त सभी प्रकार के शब्दों के मध्य में केवल ट् ठ् ड् ढ् के पूर्व आता है। यह यद्यपि उच्चारण में [न्] के समान सुनाई पड़ता है, किन्तु [न्] दन्त्य व्यञ्जन है और यह मूर्द्धन्य। इसी प्रकार यह [ण़्] से भिन्न है, क्योंकि [ण़्] प्रतिवेष्टित स्पर्श ध्वनि है और यह मात्र स्पर्श। यह निम्नलिखित शब्दों में उपलब्ध है—कण्टक, कण्ठ, मण्डप, ठण्ढा, अण्डा, कण्ट्रोल, चाण्डाल, मुण्डन आदि में। हिन्दी लेखन में इसके स्थान पर प्रायः अनुस्वार-चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

सूचना :—मेरा अनुमान है कि उपर्युक्त स्थितियों में ण् का उच्चारण प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में भी [ण्] के समान ही होता रहा होगा, [ण़्] के समान नहीं। इसी आधार पर मैंने [ण्] को भारतीय आर्य भाषाओं में आगत ध्वनियों के साथ रक्खा है।

[ण़्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह मुख्यतः संस्कृत तत्सम शब्दों के मध्य केवल स्वर, अन्तःस्थ तथा [म्]

१. डा० उ० ना० ति० भा० स०, पृ० १२२।

एव [ण्] के पूर्व आता है। लेखन मे इसके स्थान पर भी ण् वर्ण का ही प्रयोग होता है, यथा—प्रणय, परिणय, प्रणाम, प्रणीत, प्रणेता, प्राणी, रण, स्वर्ण, अरण्य, पुण्य, कण्व, मृण्मय, विषण्ण, आदि मे।

[न्]—अल्पप्राण घोष दन्त्यवर्त्स्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, किन्तु तत्सम शब्दो मे अन्त मे भी आता है, यद्यपि हिन्दी उच्चारण मे वहाँ भी न् के साथ ऊदासीन अ की उपस्थिति पायी जाती है, यथा—नगर, नमक, नाव, नेता, नौकरी, धान, पान, मखान, कानून, विद्वान्, भगवान् आदि मे।

सूचना.—हिन्दी-लेखन मे न् जब किसी दन्त्य व्यञ्जन के पूर्व आता है, तो उसके स्थान पर विकल्प से प्राय अनुस्वार-चिह्न का प्रयोग किया जाता है, यथा—सुन्दर, चन्दन, यन्त्र, कुन्तल, कन्धा, मन्थर आदि के स्थान पर क्रमश. सुंदर, चदन, यत्र, कु तल, कधा, मथर, आदि।

[न्ह्] महाप्राण घोष दन्त्यवर्त्स्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह न् का वैसा ही महाप्राण रूप है जैसा ध् द् का।[१] यह हिन्दी मे शब्दो के केवल मध्य मे आता है, यथा—उन्हे, कन्हैया, चीन्हना, रीन्हना आदि मे।

सूचना.—हिन्दी मे न् और ह् का सयुक्त रूप भी मिलता है, किन्तु उसका उच्चारण महाप्राण न्ह् से भिन्न होता है, यथा—नन्हाँ, चिन्ह (चिह्न के स्थान मे) आदि मे। नागरी मे महाप्राण न्ह् के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसे भी सयुक्त न्ह् की तरह ही लिखा जाता है।

[म्]-अल्पप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा, मन, माला, मेला, मीत, मूल्य, कोमल, कामना, अमीर, आम, काम, नाम आदि मे।

सूचना —हिन्दी-लेखन मे म् जब किसी ओष्ठ्य व्यञ्जन के पूर्व आता है, तो उसके स्थान पर विकल्प से प्राय. अनुस्वार-चिह्न का भी प्रयोग किया जाता है,

---

१ कादुरी, हि० फो० पृ० ८६। डा० बा० रा० स०, ए० अ० § ६२। डा० धी० व०, हि० इ०, § ६१।

यथा—कम्पन, सम्पत्ति, चुम्बक, खम्भा आदि के स्थान पर क्रमशः कंपन, संपत्ति, चुंबक, खंभा आदि।

[म्ह]—महाप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

यह म् का उसी प्रकार महाप्राण रूप है, जिस प्रकार भ् ब् का। यह हिन्दी में शब्दों के केवल मध्य में आता है, यथा—तुम्हारा, तुम्हें, सम्हालना (सँभालना की जगह), कुम्हार, जम्हाई आदि में।

सूचना :—हिन्दी में म् और ह् का संयुक्त रूप भी मिलता है, किन्तु उसका उच्चारण महाप्राण म्ह् से भिन्न होता है, यथा—ब्रम्ह (ब्रह्म के स्थान में), ब्राम्हण (ब्राह्मण के स्थान में) आदि में। नागरी में महाप्राण म्ह् के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान पर भी संयुक्त म्ह् ही लिखा जाता है।

[ञ्]—अल्पप्राण घोष कठोरतालव्य स्पर्शसंघर्षी अनुनासिक व्यञ्जन।

यह हिन्दी में शब्दों के केवल मध्य में सदा स्पर्शसंघर्षी व्यञ्जनों के पूर्व आता है, यथा— चञ्चल, लाञ्छन, मञ्जन, पञ्जा, मञ्जर आदि में। कुछेक संस्कृत तत्सम शब्दों में यह शब्द के अन्त में भी आता है, यथा—नञ्, घञ् आदि।

सूचना —स्पर्शसंघर्षी व्यञ्जनों के पूर्व आने पर ञ् के स्थान पर हिन्दी-लेखन में प्रायः अनुस्वार-चिह्न का भी प्रयोग किया जाता है, यथा—चंचल, मंजन, पंजा, मंजर, झंझा आदि में। किन्तु सूक्ष्म ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ञ् एवं अनुस्वार दो भिन्न ध्वनियाँ हैं।

पार्श्विक व्यञ्जन

[ल्]—अल्पप्राण घोष वर्त्स्य पार्श्विक व्यञ्जन।

प्रा० भा० आ० में यह अन्तःस्थ था, किन्तु हिन्दी में शुद्ध व्यञ्जन है। इसके उच्चारण में जिह्वान्त वर्त्स के मध्य का स्पर्श करता है, किन्तु उसके दाहिने-बायें पार्श्व में हवा के निकलने का मार्ग बचा रहता है। इसीलिए ल् का उच्चारण देर तक किया जा सकता है और यह सप्रवाह पार्श्विक व्यञ्जन कहा जाता है। हिन्दी में यह शब्द के केवल आदि और मध्य में आता है; यथा—लड़का, लाभ, लीची, सोलह, माला, काल, गाल आदि में। संस्कृत के कुछेक शब्दों में यह अन्त में भी आता है; यथा—हल् (व्यञ्जन) आदि में।

[ल्ह्]—महाप्राण घोष वर्त्स्य पार्श्विक व्यञ्जन।

यह ल् का महाप्राण रूप है। हिन्दी मे यह शब्द के केवल मध्य मे आता है; यथा—दूल्हा, चूल्हा, आल्हा, कोल्हू आदि मे।

सूचना —हिन्दी मे ल् और ह् का सयुक्त रूप भी मिलता है, किन्तु उसका उच्चारण महाप्राण ल्ह् से भिन्न होता है, यथा—जल्हण, कल्हण आदि मे। नागरी मे महाप्राण ल्ह् के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान पर भी सयुक्त ल्ह् ही लिखा जाता है।

लुण्ठितप्रकम्पी व्यञ्जन

[र्]—अल्पप्राण घोष वर्त्स्य लुण्ठितप्रकम्पी व्यञ्जन।

प्रा० भा० आ० मे यह अन्त स्थ था, किन्तु हिन्दी मे यह शुद्ध व्यञ्जन है। इसके उच्चारण मे जिह्वान्त लुण्ठित होकर वर्त्स का इस प्रकार स्पर्श करता है कि हवा के वेग से उसमे प्रकम्प उत्पन्न हो जाय। र् के उच्चारण मे दो से तीन बार कम्पन होता है। यह हिन्दी मे शब्दो के केवल आदि और मध्य मे आता है, यथा—रस, राम, रेत, रूप, तारा, हरा, मारना, परी, चार, सूर आदि मे।

सूचना —(1) कुछ भाषाशास्त्रियो ने र् को केवल लुण्ठित (रौल्ड) माना है,[१] किन्तु हिन्दी र् वास्तव मे लुण्ठित होने के साथ प्रकम्पी भी है।

सूचना —(11) बोलियो मे र् का महाप्राण रह् भी मिलता है, किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी मे नहीं।

उत्क्षिप्त व्यञ्जन

[ड़्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित उत्क्षिप्त व्यञ्जन।

इसके उच्चारण मे जिह्वान्त प्रतिवेष्टित होकर झटके के साथ कठोर तालु के पिछले भाग तथा मूर्द्धा का स्पर्श कर लौट आता है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल मध्य मे आता है, यथा—झाड़, घोड़ा, पेड़, घड़ी, गड़बड़ आदि मे।

सूचना — नागरी मे ड़् वर्ण का समावेश आधुनिक काल मे हुआ है,

---

१. डा० धी० व०, हि० इ०, § ६६।
डा० उ० ना० ति०, हि० उ० वि०, § ३९।

सम्भवत इसी आधार पर कुछ भाषाशास्त्रियो ने ड़् को आधुनिक काल मे विकसित नवीन ध्वनि माना है।[1] किन्तु मेरा अनुमान है कि ड़् वास्तव मे वैदिक ळ् का ही विकसित रूप है, जो प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में दो स्वरो के बीच ड् के स्थान पर उच्चरित होता था। हिन्दी में भी ड् विदेशी ऋण शब्दो तथा उपसर्ग रहित शब्दो को छोडकर अन्यत्र दो स्वरो के बीच नही आता, जबकि ड़् सदा दो स्वरो के बीच ही आता है।

[ढ़्]—**महाप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित उत्क्षिप्त व्यञ्जन।**

यह ड़् का महाप्राण रूप है और हिन्दी में शब्दो के केवल मध्य में आता है, यथा—बाढ, बूढा, बढई आदि में।

सूचना :—ड़् की तरह ढ़् वर्ण का समावेश भी नागरी मे आधुनिक काल में हुआ है, इसीलिए कुछ भाषाशास्त्रियो ने इसे भी आधुनिक काल में विकसित नवीन ध्वनि माना है,[2] किन्तु मेरा अनुमान है कि ढ़् वास्तव मे वैदिक ळ्ह् का ही विकसित रूप है, जो प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में दो स्वरो के बीच ढ के स्थान पर उच्चरित होता था। हिन्दी मे भी ढ् उपसर्ग युक्त शब्दो तथा विदेशी ऋण शब्दो को छोडकर अन्यत्र दो स्वरो के बीच नहीं आता, जबकि ढ़् सदा दो स्वरों के बीच ही आता है।

सङ्घर्षी व्यञ्जन

[ह्]—**महाप्राण घोष स्वरयन्त्रमुखी[3] (या काकल्य[4]) सङ्घर्षी व्यञ्जन।**

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। इसके उच्चारण में अन्य सभी ध्वनियों की अपेक्षा अधिक प्रश्वासवायु वेग के साथ स्वरतन्त्रियो में कम्पन उत्पन्न करती हुई तथा स्वरयन्त्रमुख या काकल स्थान मे घर्षण करती हुई मुख-विवर के मार्ग मे बाहर निकलती है। हिन्दी मे यह शब्दो के केवल आदि और मध्य में आता है, यथा—हल, हाथ, हिमालय, हिन्दी, हीग, हुकुम, होली, राह, कहानी, महेश, महोदर, यह, वह, आदि में।

---

१. डा० धी० व०, हि० इ० § ६८।

२ वही, § ६९।

३. डा० धी०, व० हि० इ०, § ७१। डा० भो० ना० ति० हि० भा०, पृ० ४०।

४. डा० उ० ना० ति०, भा० रू०, पृ० १२१। डा० कै० च० भा० भा० रू० (उ० ना० ति०), पृ० २१८।

सूचना (i) कुछ भाषाशास्त्रियो ने शब्द के आदि मे आनेवाले ह् को अघोष माना है, किन्तु मैने अपने अध्ययन मे इसे सर्वत्र घोप पाया है।

सूचना (ii) कुछ भाषाशास्त्रियो ने स्पर्श महाप्राण व्यञ्जनो को ह् युक्त व्यञ्जन, यथा घ्=ग्+ह, ढ्=ड्+ह् माना है[१], जो ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से सही नही है। सयोग में दो या अधिक ध्वनियो मे पूर्वापर सम्बन्ध होता है, क्योकि उनका उच्चारण उसी क्रम से होता है, किन्तु स्पर्शमहाप्राण व्यञ्जनो के उच्चारण मे आभ्यन्तर तथा वाह्य दोनो प्रयत्न एक साथ होते है, अतः उनमें पूर्वापर सम्वन्ध नही होता। अघोष महाप्राण स्पर्श व्यञ्जनो के उच्चारण मे ओठ या मुख-विवर के भीतर जिह्वा का कोई भाग जिस समय स्पर्श-प्रयत्न करता होता है, ठीक उसी समय स्वरतन्त्रियो के भीतर अघोष महाप्राण प्रयत्न होता रहता है, इसी प्रकार घोष महाप्राण स्पर्श के उच्चारण मे जिस समय ओठ या जिह्वा का कोई भाग स्पर्श-प्रयत्न करता होता है, ठीक उसी समय स्वरतन्त्रियो के द्वारा घोष महाप्राण प्रयत्न होता है। ऐसी स्थिति मे स्पर्श महाप्राण व्यञ्जनो में स्वतन्त्र ह् की सयुक्त स्थिति मानना समीचीन नही है।

[ख़्] अघोष महाप्राण अलिजिह्वीय[२] सङ्घर्षी व्यञ्जन।

यह विदेशी स्रोत से आगत ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वामूल अलि-जिह्वा के निकट ऊपर जाकर वायुमार्ग को सङ्कीर्ण बना देता है, जिसके फलस्वरूप वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है। यह व्यञ्जन हिन्दी में गृहीत अरवी, फारसी तथा तुर्की भापाओ के तत्सम ऋण शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—खत, ख़राब, खता, खैर, खुश, अखबार, बुखार, दाखिल, सुर्ख, दाख आदि में।

सूचना (i) पूरवी प्रान्तो के सामान्य हिन्दीभापी ख़् के स्थान पर प्रायः ख् ही वोलते है। लेखन मे भी अधिकाश लोग ख़् की जगह ख् ही लिखते है। किन्तु, उर्दू के जानकार हिन्दी विद्वान भापण एव लेखन दोनो ही मे ख़् का शुद्ध प्रयोग करते है।

[ग़्] घोष अल्पप्राण अलिजिह्वीय सङ्घर्षी व्यञ्जन।

यह विदेशी-स्रोत से आगत ध्वनि है और हिन्दी मे गृहीत अरवी-फारसी के

---

१ डा० धी० व०, हि० इ०, § ७१।

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा (हि० इ०, § ७२, ७३) आदि कुछ भाषाशास्त्रियों ने ख़् एव ग़्

तत्सम ऋण शब्दो के आदि तथा मध्य में आती है; यथा—गम, गरीब, गलत, गालिब, चोगा, दाग, मुग़ल, अफगान, चिराग़, मुर्ग़ आदि मे ।

सूचना —ख़ की तरह ग़ का भी शुद्ध उच्चारण प्राय उन्ही हिन्दीभाषी विद्वानो के मुख से सुना जाता है, जो उर्दू के जानकार होते हैं, अन्यथा अधिकाश हिन्दीभाषी इसे प्राय. ग् ही बोलते एव लिखते हैं ।

[श्] अघोष अल्पप्राण तालव्य सङ्घर्षी व्यञ्जन ।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है । यह हिन्दी मे गृहीत संस्कृत तत्सम शब्दो तथा विदेशी ऋण शब्दो के केवल आदि तथा मध्य में आता है, यथा—शरीर, शाखा, शिक्षा, शुक्ल, शोषित, शहद, शराब, शायद, शेख; शेयर, यश, पशु, विशेष, वश, शशि, लाश, नशा आदि मे ।

सूचना :—हिन्दी के तद्भव शब्दो मे श् की उपस्थिति नही है । इसके स्थान पर सर्वत्र स् पाया जाता है ।

[ष्] अघोष अल्पप्राण मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित सङ्घर्षी व्यञ्जन ।

यह प्रा० भा० आ० का व्यञ्जन है, जो म० भा० आ० मे तो नही था, किन्तु हिन्दी मे तत्सम शब्दो के साथ आ गया है । हिन्दी मे भी इसका शुद्ध उच्चारण विरले सस्कृतज्ञो के मुख से ही सुना जाता है, अन्यथा अधिकाश लोग इसका उच्चारण श् की तरह और अशिक्षित लोग स् की तरह करते हैं । यजुर्वेदी ब्राह्मण इसका उच्चारण ख् की तरह करते हैं, साथ ही कई बोलियो मे भी इसका उच्चारण ख् की तरह ही होता है । यह हिन्दी मे गृहीत सस्कृत तत्सम शब्दो के केवल मध्य मे आता है, यथा—विषय, परिषद्, नष्ट, विष, निषाद, निषेध, आदि मे ।

सूचना —प्राचीन ग्रन्थो मे कही-कही ख् वर्ण की जगह ष् वर्ण का प्रयोग मिलता है, यथा—आँषडियाँ (कबीर), लषन (तुलसी) आदि । इससे इस बात की सूचना मिलती है कि ष् का ख् की तरह उच्चारण करने की परम्परा बहुत प्राचीन है ।

को जिह्वामूलीय व्यञ्जन माना है, किन्तु जिह्वामूल वास्तव में करण है, स्थान नहीं । इस कारण इन ध्वनियों को अलिजिह्वीय कहना अधिक समीचीन है ।

[स]—अघोष अल्पप्राण दन्त्य-वर्त्स्य सङ्घर्षी व्यञ्जन ।

यह आर्यभाषा-स्रोत का परम्परागत व्यञ्जन है। हिन्दी मे यह शब्द के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—सखी, सभी, सभा, साल, सेना, सोना, सुख, सूना, सीना, रस, ओस, पैसा, ऐसा, दासी, रासो, असली, कसैली, पास आदि मे।

[ज़]—घोष अल्पप्राण वर्त्स्य सङ्घर्षी व्यञ्जन ।

यह विदेशी स्रोत से आगत व्यञ्जन है और हिन्दी मे गृहीत विदेशी ऋण शब्दो के केवल आदि और मध्य मे आता है, यथा—जरा, जमाना, जर्री, जरूरत, जालिम, जुर्म, सजा, राज, गुज़र, वाज, गजट, ज़ आदि में।

सूचना —इसका शुद्ध उच्चारण प्राय उर्दू के जानकार हिन्दी विद्वानो के मुख से ही सुना जाता है, अन्यथा सामान्य हिन्दीभाषी इसके स्थान पर ज् ही वालते एव लिखते हैं।

[फ़]—अघोष महाप्राण दन्त्योष्ठ्य सङ्घर्षी व्यञ्जन ।

यह विदेशी स्रोत से आगत व्यञ्जन है और हिन्दी मे गृहीत विदेशी ऋण शब्दो के केवल आदि और मध्य मे आता है, यथा—फारसी, फायदा, फिजूल, सफर, सफेद, साफ, वर्फ, फीवर आदि मे।

सूचना —इसका शुद्ध उच्चारण प्राय उर्दू के जानकार हिन्दी विद्वानो के मुख से ही सुना जाता है, अन्यथा सामान्य हिन्दीभाषी इसके स्थान पर फ् ही बोलते एव लिखते हैं।

मिश्र व्यञ्जन

क्ष्, त्र् और ज्ञ् को वैयाकरणो तथा भाषाशास्त्रियो ने सयुक्त व्यञ्जनो की कोटि मे परिगणित किया है। इनमे त्र तो निश्चय ही सयुक्त व्यञ्जन है, किन्तु क्ष् और ज्ञ् हमारी समझ से सयुक्त व्यञ्जन न होकर मिश्र व्यञ्जन है। इस मान्यता के स्पष्टीकरण के लिए पहले व्यञ्जनो के सयोग तथा मिश्रण को स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

व्यञ्जनो के संयोग[१] के लिए दो बातें अनिवार्य है—(१) व्यञ्जनो के बीच

---

१. 'हलोऽनन्तरा· सयोग :।' पा० अष्टाध्यायी, १ १ ७.।

कोई स्वर न हो तथा (२) उनका उच्चारण पूर्वापर क्रम से हो, यथा—त्र्=त्र्, प्र्=प्र्, म्प्=म्प्, र्त् स्य्=र्त्स्य् आदि।

व्यञ्जनो के मिश्रण के लिए केवल एक ही अनिवार्यता है, वह यह कि दो व्यञ्जनो का युगपत् अर्थात् एक ही साथ उच्चारण हो। ऐसी स्थिति मे न तो उनके बीच किसी स्वर के आने का प्रश्न उठता है और न उनके उच्चारण मे पूर्वापर सम्बन्ध का ही। इस प्रकार दो उच्चारण-स्थानो पर दो करणो के द्वारा एक ही साथ जब दो भिन्न व्यञ्जन ध्वनियो के उच्चारण का प्रयत्न होता है, तो उस स्थिति मे जो व्यञ्जन उच्चरित होता है, हमने उसी के लिए मिश्र व्यञ्जन सज्ञा का प्रयोग किया है। मिश्र व्यञ्जन मे मूल व्यञ्जनो का प्रकृत रूप पारस्परिक मिश्रण के कारण प्राय बदल जाता है। क्ष् और ज्ञ् ऐसे ही मिश्र व्यञ्जन है, जिनमे क्रमश क् तथा ष् एव ज् तथा ञ् का मिश्रण है।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उच्चारण मे दो व्यञ्जनों का मिश्रण कठिन होने पर भी असम्भव नही है, किन्तु लेखन मे उनके सूचक दो भिन्न वर्णो का ऐसा मिश्रण जिसमे पूर्वापर सम्बन्ध न हो, नितान्त असम्भव है। इसीलिए हमारे पूज्य पूर्वजो ने उक्त दोनो मिश्र व्यञ्जनो को सूचित करने के लिए दो नितान्त स्वतन्त्र वर्ण प्रतीकों की सृष्टि की थी, जिनमे मूल व्यञ्जनो के सूचक वर्णो की प्राय. छाया भी नही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन दोनो मिश्र व्यञ्जनो का उच्चारण अति प्राचीन काल से ही मिश्र व्यञ्जनो के रूप मे होता आया है, क्योकि नागरी वर्णमाला मे इनका समावेश प्राय प्रारम्भ से ही मिलता है। यदि ये मिश्रव्यञ्जन न होकर सयुक्त व्यञ्जन होते, तो इनके लिए भी उसी प्रकार स्वतन्त्र वर्णो की रचना नही की गयी होती, जिस प्रकार अन्य सयुक्त व्यञ्जनो के लिए नही की गयी।

मिश्र व्यञ्जनो का उच्चारण अन्य सभी ध्वनियो के उच्चारण से कठिन होता है, इस कारण भिन्न भिन्न देश-कालो मे क्ष् और ज्ञ् के उच्चरित स्वरूप मे तथा उनसे विकसित ध्वनियो मे, अन्य सभी ध्वनियो की अपेक्षा अधिक वैविध्य रहा है, जिनके सम्बन्ध मे अनेक ग्रन्थों में अनेक विद्वानो के द्वारा अलग-अलग पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।[1] अत· यहाँ उन सब की आवृत्ति उचित नहीं।

---

१ ए० सी० वुलनर, प्रि० का० वो०, प्रकाशक—लि० सो० इ० लाहौर, १९३९ ई०, पृ० ८९-९३। पिशेल, प्रा० ग्रा० § २७१।
सु० कु० च०, वे० लैं०, पृ० २८५

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या वर्गीय महाप्राण व्यञ्जनो, यथा ख् घ् छ् झ् ठ् ढ् आदि को भी क्ष् और ज्ञ् की तरह ही मिश्र व्यञ्जन नही कहा जा सकता ? उत्तर स्पष्ट है, नही। कारण यह है कि वर्गीय महाप्राण व्यञ्जनो में जिन दो ध्वनियो का मिश्रण सुनाई पडता है, उनमें केवल एक का ही सम्बन्ध आभ्यन्तर प्रयत्न से है। दूसरे अर्थात् महाप्राणत्व का सम्बन्ध तो वाह्य प्रयत्न से है। इस प्रकार उनमें मिश्रण आभ्यन्तर तथा वाह्य प्रयत्न का है, जैसा कि अन्य व्यञ्जनो; यथा घोष, अघोप, अल्पप्राण आदि के उच्चारण में भी होता है। सत्य तो यह है कि आभ्यन्तर एव वाह्य प्रयत्न का मिश्रण प्राय. सभी ध्वनियो में होता है। ऐसी स्थिति में उस मिश्रण के कारण किसी ध्वनि को मिश्र ध्वनि नही कहा जा सकता। इसलिए वर्गीय महाप्राण वास्तव मे मूलव्यञ्जन है, मिश्र या सयुक्त नही। किन्तु क्ष् और ज्ञ् के उच्चारण मे दो भिन्न-भिन्न स्थानो पर दो भिन्न-भिन्न करणो के द्वारा दो भिन्न-भिन्न आभ्यन्तर प्रयत्न होते है, साथ ही अपेक्षित बाह्य प्रयत्न भी। इसलिए इन दोनो ध्वनियो की स्थिति मूल तथा सयुक्त सभी ध्वनियो से भिन्न है। इनका ध्वनि-वैज्ञानिक विवरण इस प्रकार है —

[क्ष्] अघोष महाप्राण कोमलतालव्य मूर्द्धन्य स्पर्शसङ्घर्षी मिश्र व्यञ्जन।

इसमे क् और ष् का मिश्रण है। इसका शुद्ध उच्चारण सुशिक्षित लोग ही कर पाते हैं। अधिकाश हिन्दीभाषी इसका उच्चारण क्छ, च्छ या क्श् सयुक्त व्यञ्जनो की तरह करते हैं। यह हिन्दी मे गृहीत केवल सस्कृत तत्सम शब्दो के आदि तथा मध्य में आता है, यथा—क्षत्रिय, क्षुधा, क्षोभ, परीक्षा, रक्षा, शिक्षा, मुमुक्षु, सक्षिप्त आदि मे।

[ज्ञ्]—घोषअल्पप्राण तालव्य स्पर्शघर्षी मिश्र अनुनासिक व्यञ्जन।

इसमे ज् एव ञ् का मिश्रण है। इसका शुद्ध उच्चारण विरले सस्कृतज्ञो के मुख से ही सुना जाता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे इसका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, यथा—गुजरात मे ग्न् महाराष्ट्र मे द्न्य्, तथा अन्य प्रान्तो मे ग्य् और ग्यँ। कुछ सस्कृतज्ञ इसका उच्चारण प्राय. ज्यँ् तथा ज्ञ् सयुक्त व्यञ्जनो के रूप मे भी करते हैं। यह हिन्दी मे गृहीत सस्कृत तत्सम शब्दो के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—ज्ञान, ज्ञापन, ज्ञेय, ज्ञात, विज्ञ, विज्ञान, आज्ञा, सज्ञा आदि मे।

सूचना :—मिश्र व्यञ्जनो के उच्चारण-वैविध्य का मुख्य कारण उनकी उच्चारण-प्रक्रिया तथा उनके स्वरूप मे ही निहित है।

अन्तःस्थ

[य्] —अल्पप्राण घोष तालव्य सङ्घर्षहीन-सप्रवाह अर्द्धस्वर।

इसके उच्चारण मे जिह्वाग्र कठोर तालु के निकट स्वर-सीमा[1] का प्रायः अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह इतना ऊपर नही जाता कि शुद्ध व्यञ्जन का उच्चारण हो सके। इसीलिए य् को अन्तःस्थ अर्थात् स्वर एव व्यञ्जन के वीच की ध्वनि माना जाता है। परिनिष्ठित हिन्दी मे य् मे व्यञ्जनत्व की अपेक्षा स्वरत्व की मात्रा ही अधिक पायी जाती है, इसलिए इसे अर्द्धस्वर भी कहा जाता है,[2] किन्तु हिन्दी की वोलियो मे य् के पश्चात् कोई घोप व्यञ्जन आने पर इसमे व्यञ्जनत्व की मात्रा अधिक आ जाती है, इसीलिए वोलियो मे यदि, यद्यपि, यजमान आदि क्रमशः जदि, जद्पि, जजमान आदि की तरह सुनाई पडते है।

परिनिष्ठित हिन्दी मे अर्द्धस्वर य् शब्द के केवल आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—यदि, नियम, आय, गाय आदि मे।

[व्] अल्पप्राण घोष द्वयोष्ठ्य सङ्घर्षहीन सप्रवाह अर्द्ध स्वर।

इसके उच्चारण मे नीचे का ओठ ऊपर के ओठ का, दोनो छोरो पर तो स्पर्श करता है, किन्तु वीच मे इतना मार्ग छोड देता है कि हवा विना सङ्घर्ष के वाहर निकल सके। इसके अतिरिक्त जिह्वापश्च कोमल तालु के निकट स्वर-सीमा पर चला जाता है। यह भी य् की तरह स्वर और व्यञ्जन के वीच की ध्वनि है। परिनिष्ठित हिन्दी मे इसमे व्यञ्जनत्व की अपेक्षा स्वरत्व की मात्रा अधिक पायी जाती है, इसलिए इसे भी अर्द्धस्वर ही कहा जाता है।[3] यह मुख्यतः तद्भव शब्दो के आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—वह, वाह, देवर, नाव, राव आदि मे।

---

१ ध्वनि-उच्चारण के समय जिह्वा के ऊपर उठने की वह ऊँचाई, जिससे अधिक ऊपर जाने पर सङ्घर्षी व्यञ्जन का उच्चारण होता है।

२ डा० विश्वनाथ प्रसाद, 'भारतीय साहित्य', अप्रैल १९५६ ई०।
डा० एम खाँ, 'ए फोनेटिक ऐंड फोनोलॉजिकल स्टडी ऑफ द वर्ड इन उर्दू', पृ० ६।

३ डा० विश्वनाथ प्रसाद, भारतीय साहित्य, अप्रैल, १९५६ ई०।

[व़] अल्पप्राण घोष दन्त्योष्ठ्य अल्पसङ्घर्षी सप्रवाह अर्द्ध व्यञ्जन ।

इसके उच्चारण मे नीचे के ओठ के दोनो छोर ऊपर की दन्तपक्ति का स्पर्श करते है, किन्तु बीच मे अति सङ्कीर्ण मार्ग बचा रहता है, जिस होकर हवा कुछ सङ्घर्ष के साथ बाहर निकलती है। इसके अतिरिक्त जिह्वापश्च कोमल तालु के निकट स्वर-सीमा का प्राय. अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। इसमे स्वरत्व की अपेक्षा व्यञ्जनत्व अधिक है, इसीलिए इसे अर्द्धस्वर नही मानकर अर्द्ध-व्यञ्जन मानना अधिक समीचीन है। बोलियो मे इसके स्थान पर प्राय व् व्यञ्जन सुनाई पडता है, किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी मे नही। कुछ भाषाशास्त्रियो ने इसे अर्द्धस्वर[1] और कुछ ने शुद्ध व्यञ्जन[2] माना है, किन्तु वास्तव में यह अर्द्धव्यञ्जन है। यह मुख्य रूप से तत्सम तथा कुछ विदेशी शब्दो के आदि तथा मध्य मे आता है, यथा—विष्णु, वन, सविधान, व्यापार, सबल, वेद, सवेदना, बलबला, वॉयस आदि मे।

अयोगवाह[3] ·

इस वर्ग में अघोष महाप्राण स्वरयन्त्रमुखी सङ्घर्षी ध्वनि विसर्ग [ः] तथा नासिक्य वर्गीय पाँच अनुस्वार ध्वनियाँ— [ं१, ं२, ं३, ं४, ं५] आती है। इन ध्वनियो पर स्वर, व्यञ्जन तथा अन्तस्थ, इनमे से किसी के भी लक्षण पूर्णत नही घटते। स्वर, व्यञ्जन तथा अन्तस्थ ध्वनियो का उच्चारण जहाँ मुख-विवर में स्थित करणो के प्रयत्नो से होता है, वही इन ध्वनियो का उच्चारण मुखेतर विवर में स्थित करणो के प्रयत्नो से। स्वर, व्यञ्जन तथा अन्तस्थ ध्वनियो के उच्चारण में उसके पूर्व स्वर की उपस्थिति अनिवार्य नही, किन्तु इन ध्वनियो के उच्चारण के लिए इनके पूर्व स्वर की उपस्थिति अनिवार्य होती है। स्वर, व्यञ्जन एव अन्तस्थ का परस्पर सयोग होता है, किन्तु इन ध्वनियो का न तो परस्पर और न किसी अन्य ध्वनियो से ही प्रकृत सयोग सम्भव है। इन्हीं कारणो से प्राचीन भारतीय

---

१. डा० कै० च० भा०, भा० शा० रू० (डा० उ० ना० ति०), पृ० २२०।

२. डा० धी० व० हि० इ० § ७८।

डा० भो० ना० ति०, हि० भा०, पृ० ३९।

३ न विध्यते योगः सयोगो वर्णान्तरेण येषा ते अयोगवाहाः। पा० शि० १६ पर पञ्जिकावृत्ति। 'अकारादिना वर्णं समाम्नायेन सहिता· सन्त एते वहन्त्यात्मलाभ प्राप्नुवन्त्ययोगवाहा·'। वा० प्रा० ८ १८ पर उवटभाष्य विशेष द्रष्टव्य—डब्लू० एस० एलेन, फो० ए० इ०, पृ० १६-१७।

आचार्यों ने इन ध्वनियों को स्वर, व्यञ्जन एव अन्तस्थ मे एक पृथक् वर्ग में स्थान दिया था, तथा इन्हे अयोगवाह की सज्ञा से अभिहित किया था। "न स्वरो मे सयोग, न व्यञ्जनो से, फिर भी अर्थवहन करते है। इसीलिए अयोगवाह।"[१] किन्तु कतिपय भाषाशास्त्रियो के अनुसार ये ध्वनियाँ विशेष प्रकार के व्यञ्जन ही हैं, क्योंकि ये व्यञ्जनो का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।[२] मेरी समझ से ध्वनि-वैज्ञानिक स्तर पर तो इन ध्वनियो को स्वर, व्यञ्जन एव अन्तस्थ, इन तीनो वर्गों मे पृथक् चौथे (अयोगवाह) वर्ग में स्थान देना ही अधिक उपयुक्त है, किन्तु स्वनिम शास्त्रीय स्तर पर ये ध्वनियाँ व्यञ्जन स्वनिमो के सस्वनो के रूप में व्यञ्जनो का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। अत स्वनिम शास्त्रीय दृष्टि मे हिन्दी ध्वनियो के स्वर, व्यञ्जन एव अन्तस्थ तीन ही मूल वर्ग हैं।

विसर्ग [ ]—अघोष महाप्राण स्वरयन्त्रमुखी सङ्घर्षी अयोगवाह ध्वनि।

इसके उच्चारण मे मुख-विवर मे स्थित करणो की सहायता प्रत्यक्षत नही ली जाती। स्वरतन्त्रियाँ विवार-श्वास-अघोष प्रयत्न की स्थिति मे रहती हैं, किन्तु फेफडे के द्वारा तीव्र वेग मे प्रेरित होने के कारण वायु स्वरयन्त्रमुख अर्थात् काकल मे सङ्घर्ष के साथ बाहर निकलती है। कतिपय विद्वानो के अनुसार यह [ह्] का ही अघोष रूप है,[३] किन्तु [ह्] के उच्चारण के लिए उसके पूर्व स्वर रहे सम्भव ही नही है। हिन्दी में छि, हु. जैसे कुछेक शब्दो के अतिरिक्त यह ध्वनि केवल तत्सम मे ही सुनाई पडती है, यथा—दु ख, मन स्थिति, प्राय, अत., पुन आदि मे।

अनुस्वार [ं]—हिन्दी मे शब्द-स्तर पर अनुसार कोई एक ध्वनि नहीं, अपितु इसके पाँच भेद हैं। यहाँ सक्षेप मे उन भेदो के स्वरूप का परिचय देने के उपरान्त हम विशेष टिप्पणी मे उनका सविस्तर विवेचन करेंगे। नीचे अनुस्वार-चिह्न के ऊपर दी गयी संख्याएँ पाद-टिप्पणी की नही, अनुस्वार के प्रकार की हैं।

१ अनुस्वार [ं]¹ :—अल्पप्राण घोष कण्ठ्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

यह सदा स्वर के पश्चात् और [ह्] के पूर्व आता है, यथा—संहार, सिंहल, आदि मे।

२. अनुस्वार [ं]² :—अल्पप्राण घोष तालव्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

---

१. कि० दा० वा०, हि० श० पृ० ६२।

२. वाकरनागल, अल्टि० ग्रा० १, पृ० २५६। मैकडॉनेल. वे० ग्रा०, पृ० ५४।

३ डॉ० धी० व० हि० इ० §, ७०।

यह सदा स्वर के पश्चात् और [य्] या [श्] के पूर्व आता है, यथा—सयम, सशय आदि मे।

३ अनुस्वार [ ][३] :—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

यह सदा स्वर के पश्चात् तथा [ष्] के पूर्व आता है, दष्ट्रा,, दष्ट्राल आदि मे।

४ अनुस्वार [ं][४] —अल्पप्राण घोष वर्त्स्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

यह सदा स्वर के पश्चात् तथा [र्], [ल्] या [स्] के पूर्व आता है; यथा—सरचना, सलाप, सहार आदि मे।

५. अनुस्वार [ ][५] :—अल्पप्राण घोष ओष्ठ्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

यह सदा स्वर एवं [व्] के बीच आता है; यथा—सवाद, सविधान आदि में।

विशेष टिप्पणी

अनुस्वार ध्वनि स्वर के पश्चात् तथा य् र् ल् व् श् ष् स् ह् से पूर्व आती है[१] किन्तु इसका संयोग न तो पूर्ववर्ती स्वर से और न तो परवर्ती किसी ध्वनि से ही होता है, इसीलिए इसे अयोगवाह कहा जाता है।[२] ऋ० प्रा (१,५,) के अनुसार अनुस्वार स्वर भी हैं और व्यञ्जन भी, किन्तु तै० प्रा० (१,३०) के वैदिकाभरण भाष्य मे उक्त मत का निराकरण करके यह स्थापित किया गया है कि यजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा मे अनुस्वार केवल व्यञ्जन है और इसका उच्चारण अर्द्धगकार के सदृश है। इस सम्बन्ध मे डा० सिद्धेश्वर वर्मा का मत है[३] कि तै० प्रा० (१,३२-३४) के नियमानुसार अनुस्वार का स्वरूप पूर्णत. व्यञ्जनात्मक नही है, क्योकि इन नियमो मे ह्रस्व स्वर के समान अनुस्वार का काल भी एक मात्रा का माना गया है।

ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अनुस्वार वास्तव मे स्वर, व्यञ्जन एवं अन्त.स्थ तीनो से पृथक् श्रेणी की ध्वनि है; क्योकि इसमे उक्त तीनो श्रेणियो से कुछ-कुछ साम्य होने पर भी किसी एक के लक्षण पूर्णत. घटित नही होते। अत. इसके अयोगवाह एव अनुस्वार[४] नाम पूर्णतः सार्थक एव युक्तियुक्त है।

---

१. पा० शि०, २३।
२. पा० शि०, १६ पर पञ्जिकावृत्ति।
३. डा० सि० व०, क्रि० स्ट० पृ० १५१।
४. पा० शि०, ५ पर पञ्जिकावृत्ति।

हिन्दी मे भी अनुस्वार का प्रकृत क्षेत्र स्वर के उपरान्त एवं य् र् ल् व् श् ष् स् ह् के पूर्व ही है, साथ ही इसका अपनी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती ध्वनियो से सयोग भी नहीं होता, किन्तु परवर्ती ध्वनियो का प्रभाव इसके उच्चरित स्वरूप पर पडता अवश्य है। इस कारण भिन्न-भिन्न सुनिश्चित स्थितियो मे इसके पृथक्-पृथक् पाँच प्रकार हो जाते हैं। ह् के पूर्व इसका उच्चारण प्राय ङ् के समान, ष् के पूर्व ण् के समान, य् श् के पूर्व ञ् के समान; र् ल् व् स् के पूर्व प्राय न् के समान, तथा व् के पूर्व प्राय म् के समान होता है। इसके उच्चारण की इसी विविधरूपता तथा वर्गीय अनुनासिक व्यञ्जनो से साम्य के कारण, अतिप्राचीन काल मे ही, स्पर्श से पूर्व आनेवाले अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर भी, विकल्प से इसका प्रयोग होने लगा था[1]। इस सम्बन्ध में अनुस्वार को वैकल्पिक अधिकार देनेवाले पाणिनीय सूत्रों (८, ३, ४—८, ४, ५९) ने अनुस्वार के प्रयोग क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया। आगे चलकर प्राकृत वैयाकरणो ने तो स्वरों से पूर्व भी अनुस्वार का विधान कर दिया।[2]

अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र का दिनानुदिन विस्तार का एक प्रमुख कारण लेखन की दृष्टि में इसके चिह्न का अन्य अनुनासिक व्यञ्जन वर्णों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होना भी है। इसीलिए हिन्दी-लेखन मे भी अनुस्वार-चिह्न उन सभी स्थितियो मे वर्गीय अनुनासिको का प्रतिनिधित्व करते दिखाई पडता है, जहाँ वे अपने ही वर्ग के अन्य व्यञ्जनो के पूर्व आते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अनुस्वार अनुनासिक व्यञ्जनो से या अनुनासिकता से अभिन्न है। कुछ पाश्चात्य वैयाकरणो ने इसी भ्रम मे पडकर दोनो मे अभेद स्थापित करने का भी प्रयास किया है[3], जो भ्रामक है। वास्तव मे दोनों के प्रयोग-क्षेत्र के विषय मे ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि ने किसी प्रकार की भ्रान्ति के लिए अवकाश नही है। इसी प्रकार स्वरो की अनुनासिकता तथा अनुस्वार की ध्वनि-वैज्ञानिक भिन्नता मे भी कही शङ्का या विकल्प के लिए स्थान नहीं है।

---

१. डा० रामगोपाल, वै० ग्रा० पृ० ४७।
२. वही।
३. ह्विटनी, सं० ग्रा०, पृ० २५।

२. स्वनिमशास्त्रीय विवेचन

किसी भाषा के सामान्य व्यावहारिक लेखन मे प्राय उतने ही वर्णों की अनिवार्यता होती है, जितने उसमे स्वनिम होते हैं। इस दृष्टि से, हिन्दी के स्वनिमात्मक या व्यावहारिक लेखन के लिए नागरी मे कितने वर्णों की अनिवार्यता है, यह जानने के पहले इसे जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी मे कितने और कौन-कौन से स्वनिम है।

स्वनिमशास्त्रीय धरातल पर किसी भाषा की (ध्वनि-वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित) सभी ध्वनियो का महत्त्व एक समान नही होता। स्वनिमशास्त्री के लिए ध्वनिविज्ञान के आधार पर निर्धारित ध्वनि-समूह कच्चे माल के समान होता है। वह एक सुनिश्चित प्रविधि के द्वारा उस ध्वनि-समूह की प्रत्येक ध्वनि के भाषागत वितरण-परिवेश तथा पारस्परिक अर्थभेदकता का अनुसन्धान करता है और फिर सुनिश्चित सिद्धान्तो के आधार पर स्वनिमो तथा उनके सस्वनो का निर्धारण करने के पश्चात् भाषा को लेखबद्ध करने के लिए उसकी वर्णमाला के निर्धारण का व्यावहारिक आधार प्रस्तुत करता है।[1]

यहाँ हमारा भी उद्देश्य हिन्दी के स्वनिमात्मक लेखन के अनुरूप नागरी वर्णमाला का निर्धारण तथा उसकी उपयुक्तता का विवेचन करना है। इस सन्दर्भ मे हिन्दी-स्वनिमो के निर्धारणार्थ हमने ध्वनियो मे परस्पर ध्वनिवैज्ञानिक असमानता, व्यतिरेकी वितरण की स्थिति, अर्थभेदक क्षमता तथा सङ्घटनात्मक प्रतिरूपता का समनुहार (पैटर्न कॉङ्ग्रुएस), इन चारो ही आधारो को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु, हिन्दी मे कतिपय ध्वनियाँ ऐसी भी है, जिनका वितरणजन्य परिवेश समान होने पर भी उनकी पारस्परिक अर्थभेदकता को सिद्ध करनेवाले स्वल्पान्तर शब्दयुग्मो (मिनिमल पेअर्स) का अभाव है। ऐसे स्थलो पर हमने अर्थभेदकता को महत्त्व न देकर केवल व्यतिरेक या वितरणजन्य परिवेश की समानता के आधार पर ही उन्हे पृथक्-पृथक् स्वनिमो के रूप मे स्वीकार कर लिया है।

हिन्दी-स्वनिमो के निर्धारण मे एक दूसरी समस्या ऋण शब्दो(लोन वर्ड्स) के साथ हिन्दी मे गृहीत उन विदेशी ध्वनियो की है, जो हिन्दी के तद्भव शब्दो मे नही पायी जाती, यथा—क़् ग़् ज़् फ़् आदि। इन ध्वनियो का शुद्ध तत्सम

---

1. K. L. Pike, Phonemics, 1964, P. 57.

उच्चारण केवल वे ही लोग करते हैं, जिन्हे इनसे सम्बद्ध भाषाओ या कम से कम उनके शब्दो का न्यूनाधिक ज्ञान होता है। निश्चय ही, देश मे ऐसे लोगो की सख्या कम नही और न हिन्दी-शब्द-समूह मे ऐसे ऋण शब्दो की ही सख्या कम है, जिनमे ये ध्वनियाँ वर्त्तमान हो। ये ध्वनियाँ हिन्दी की अन्य समकक्ष ध्वनियो, यथा— क्, ग्, ज्, फ्, आदि से क्रमश. व्यतिरेकी वितरण की स्थिति रखती है, साथ ही, दोनो मे परस्पर अर्थभेदक क्षमता का भी अभाव नही है। इन्ही कारणो से हमने इन्हे हिन्दी के पृथक्-पृथक् स्वनिमो के रूप मे स्वीकार कर लेना ही अधिक समीचीन समझा है। किन्तु, इनकी पारस्परिक अर्थभेदक क्षमता को स्पष्ट करने के लिए हमने जो स्वल्पान्तर शब्दयुग्म उदाहृत किये है, उनमे ऋणशब्दो को देखकर, सम्भव है कि कुछ विद्वान यह आपत्ति व्यक्त करे कि अन्य भाषाओ के शब्दो के आधार पर हिन्दी भाषा के स्वनिमो का निर्धारण स्वनिम शास्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध मे हमारा तर्क केवल यह है कि ऐसे स्थलो पर जो विदेशी शब्द उदाहृत किये गये हैं, वे ऋण शब्दो के रूप मे अब हिन्दी के अङ्ग बन चुके है। यदि ऐसा नही होता तो हिन्दी के शब्दकोशो मे उन्हे स्थान नही मिला होता। ऐसी स्थिति मे, हिन्दी-स्वनिमो के निर्धारणार्थ स्वल्पान्तर युग्मो मे उन ऋण शब्दो को हिन्दी के शब्दो के रूप मे उदाहृत किया जाना, हमारी समझ से, कोई नियमविरुद्ध बात नही है। यो, यह विषय है विवादग्रस्त, इसमे सन्देह नही।

हिन्दी-स्वनिमो के निर्धारण मे तीसरी समस्या अयोगवाह ध्वनियो से सम्बद्ध है। उनमे जहाँ तक अनुस्वार वर्गीय ध्वनियो का प्रश्न है, वे सभी स्वस्थानीय अनुनासिक व्यञ्जनो के साथ पूरक वितरण की स्थिति रखती है, साथ ही उनमे परस्पर अर्थभेदक क्षमता का भी अभाव है। किन्तु, उच्चारण सम्बन्धी ध्वनि-वैज्ञानिक विशिष्टता के कारण हमने अनुस्वारवर्गीय ध्वनियो को उनके समस्थानीय अनुनासिक व्यञ्जनो से पृथक् करके, एक स्वतन्त्र स्वनिम के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। किन्तु, जहाँ तक विसर्ग का प्रश्न है, उसकी स्थिति अनुस्वार से भिन्न है। विसर्ग और ह् मे व्यतिरेकी वितरण की स्थिति है। इसी आधार पर हमने विसर्ग को ह् से पृथक् स्वनिम माना है। यो, दोनो मे वितरण की उक्त स्थिति केवल सस्कृत के तत्सम शब्दो तक सीमित है, साथ ही, हिन्दी मे दोनो मे परस्पर अर्थभेदकता का भी अभाव है।

इस सन्दर्भ मे एक और समस्या मिश्र व्यञ्जन क्ष् और ज्ञ् को लेकर है। हिन्दी के विद्वान अद्यावधि इनको संयुक्त व्यञ्जन मानकर इनकी उपेक्षा करते

आये हैं। किन्तु ये वास्तव में संयुक्त व्यञ्जन नहीं, मिश्र व्यञ्जन है। इसीलिए हिन्दी मे उपलब्ध मिश्र स्वरो की तरह हमने इन मिश्र व्यञ्जनो को भी स्वतन्त्र स्वनिम के रूप में ही परिगणित किया है। पाइक ने सम्भवत ऐसे ही स्वनिमो की गणना जटिल स्वनिम के रूप मे करने की सलाह दी है।[1]

हिन्दी-स्वनिम और नागरी-वर्णमाला

स्वनिमशास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर परिनिष्ठित हिन्दी का अध्ययन-विश्लेषण करने पर, मुझे इसमे कुल मिलाकर ६३ स्वनिम मिले है, जिनमे ६० खण्डीय स्वनिम है तथा ३ उपरिखण्डीय स्वनिम। खण्डीय स्वनिमो मे १४ स्वर स्वनिम, जिनमे १२ मूल स्वर स्वनिम तथा २ मिश्र स्वर स्वनिम है, ४२ व्यञ्जन स्वनिम, जिनमे ४० मूल व्यञ्जन स्वनिम तथा २ मिश्र व्यञ्जन स्वनिम हैं, २ अन्तःस्थ स्वनिम, तथा २ अयोगवाह स्वनिम हैं। उपरिखण्डीय स्वनिमो मे अनुनासिकता स्वर-सम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम है, विराम संक्रमण सम्बद्ध तथा सुरलहर सुर सम्बद्ध। इन सभी स्वनिमो को एक साथ नागरी वर्णों के माध्यम से निम्नलिखित क्रम मे उपस्थित किया जा सकता है .—

(१) खण्डीय स्वनिम .

(क) स्वर स्वनिम—

मूल स्वर—

ह्रस्व—[अ इ उ ए ओ]
दीर्घ—[आ ई ऊ ए ओ ऐ औ]

मिश्र स्वर—

दीर्घ—[ऐ औ]

(ख) व्यञ्जन स्वनिम—

मूल व्यञ्जन—

---

1. 'A sequence of two segments may in some languages constitute a single phonetically complex phoneme'. K. L. Pike, Phonemics, 1964, P. 62.

स्पर्श — [क़् क् ख् ग् घ्]
[ट् ठ् ड् ढ्]
[त् थ् द् ध्]
[प् फ् ब् भ्]

स्पर्शघर्षी—[च् छ् ज् झ्]
अनुनासिक स्पर्श [ङ् ण् न् न्ह् म् म्ह्]
अनुनासिक स्पर्शघर्षी—[ञ्]
पार्श्विक—[ल् ल्ह्]
लुण्ठित प्रकम्पी— [र्]
उत्क्षिप्त—[ड़् ढ़्]
सङ्घर्षी—[ह् ख़् ग़् श् स् ज़् फ़्]
मिश्र व्यञ्जन—[क्ष् ज्ञ्]

(ग) अन्तःस्थ स्वनिम—
अर्द्धस्वर— [य् व्]

(घ) अयोगवाह स्वनिम— अनुस्वार और विसर्ग [ं ः]

(२) उपरिखण्डीय स्वनिम :—
स्वरसम्बद्ध—अनुनासिकता [ँ]
सङ्क्रमणसम्बद्ध—विराम [।]
सुरसम्बद्ध—सुरलहर । [⌒⌣⌒⌣]

सूचना (१)—ऊपर जिन नवीन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है, उनका स्पष्टीकरण आगे के विवेचन मे यथास्थान कर दिया गया है ।

सूचना (२)—ऊपर हिन्दी-स्वनिमो की जो सूची प्रस्तुत की गयी है, उनमे कुछ ऐसे भी है, जिन्हे यहाँ पहली बार हिन्दी स्वनिमो के रूप मे उपस्थित किया गया है । यथा—ए औ, ञ्, क्ष् ज्ञ् आदि ।

सूचना (३)—हिन्दी के कतिपय विद्वानो ने [ऑ] तथा [रह्] को भी हिन्दी का स्वनिम माना है[१], किन्तु मेरी समझ से [ऑ] हिन्दी का स्वनिम नही, अपितु

---

१. 'हिन्दी में प्रत्ययविचार', डॉ० मु० ला० उ०, पृष्ठ ५-६ ।
'भाषाशास्त्र की रूपरेखा', (डॉ० उ० ना० ति०), डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, 'हिन्दी के ध्वनिग्राम', पृष्ठ २०७, २२१ ।

वह [ओ़] स्वनिम का सस्वन मात्र है। इसी तरह [रह्] हिन्दी मे [ढ़्] से भिन्न कोई ध्वनि नही। यही कारण है कि हिन्दी-स्वनिमो की सूची मे हमने इन दोनो को स्थान नही दिया है।

हिन्दी के खण्डीय स्वनिम[1] और उनके संस्वनो[2] का विवेचन —

(क) स्वर —

मूलस्वर—

(१) ।अ। [अ़, अ] पूरक वितरण[3]।

[अ़]—अर्द्धविवृत मध्य अपूर्णोच्चरित अतिह्रस्व उदासीन स्वर।

आदि मे :—नही आता।

मध्य मे —बलाघात युक्त अक्षरो के बीच के असयुक्त व्यञ्जन के साथ बलाघात रहित अक्षरके रूप मे, यथा—अनबन, हरदम, मतलव, चितवन, किसमिस, बुलबुल, अपना, जनता, कितना, चुनना, बिनती, सुन्दरतम, चञ्चलपन, डाकघर, बालचर सोनपुर, कामना, साधना, डालडा, चेतना, खोजना, भारती, आदि मे।

अन्त मे —केवल असयुक्त व्यञ्जन के साथ बलाघात रहित अक्षर बनाता है, यथा —अब, हम, रात, भात, एक, राम, मोल, राय, यार, कमल, चन्दन, सुन्दर, मनोरम, मनोहर, अचानक, लडकपन, आदि मे।

[अ]—अर्द्धविवृत मध्य ह्रस्व स्वर।

आदि मे —व्यञ्जन के पूर्व यथा —अब, अपना, अनेक, अशोक, अग्नि, अश्रु, अन्त, अचानक, सरल, कमल, आदि मे।

---

1. 'Segmental phoneme' Barnard Block & G, L. Trager—Outline of Linguistic analysis, Linguistic Society of America, 1942 3.4

2 'Allophone'—Daniel Jones—An outline of English phonetics, Cambridge, 1956, 197. Block & Trager—Outline of Linguistic analysis, 1942, 3 3.

3. Complementary distribution', M. A Gleson—An Introduction to Descriptive Linguistics, 1861, P. 263.

मध्य मे :—बलाघातयुक्त अक्षरो मे, यथा—रोचक, अचानक, मतलब, हरदम, चितवन, मनोहर, चन्दन, सुन्दर, अलक्तक, मुअवसर, सरल, साधन आदि मे।

अन्त मे :—(१) सयुक्त व्यञ्जनो के साथ, यथा—सत्य, रक्त, चन्द्र, वत्स, भूकम्प, आनन्द, चक्र, पद्‌म, आदि मे।
(२) एकाक्षरी शब्दो मे; यथा—न, व, आदि मे।

(२) । आ । [आ]

[आ]—विवृत पश्च दीर्घ स्वर।

आदि मे :—आज, आम, आग, आधा, आशा, आकाश आदि मे।
मध्य मे :—पुआल, समाज, मसाला, राजा, महाराज आदि मे।
अन्त मे :—सोआ, बडा, माला, मामा, अकेला, कलकत्ता आदि मे।

सूचना :— [अ] को [आ] से पृथक् स्वनिम प्रमाणित करनेवाले स्वल्पान्तर युग्म निम्नलिखित हैं :—अज-आज, कम-काम, जल-जाल, तन-तान, कमल-कमला आदि।

(३) । इ । [इ]

[इ]—सवृत अग्र प्रसृत ह्रस्व स्वर।

आदि मे :—इतिहास, इतना, इसे आदि मे।
मध्य मे :—भाइयो, अधिक, लौकिक, डाकिया अदि मे।
अन्त मे :—छवि, रवि, कवि, कपि आदि मे।

(४) । ई । [ई]

[ई]—संवृत अग्र प्रसृत दीर्घ स्वर।

आदि मे :—ईश्वर, ईद, ईख, आदि मे।
मध्य में :—साईस, पीला, भतीजा, अधीन आदि में।
अन्त में :—भाई, भलाई, कसाई, हाथी, प्राणी आदि में।

सूचना :—[इ] एव [ई] का पृथक् स्वनिमत्व निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से स्पष्ट है; यथा—दिन—दीन, पिला—पीला, कि—की आदि।

(५) । उ ।... [उ]

[उ]—सवृत पश्च वर्तुल ह्रस्व स्वर ।

आदि मे :—उग्र, उत्तर, उडद, उल्लू, उदार, उबाल, उत्कट, उत्तेजना आदि में ।

मध्य में :—बाउल, साबुन, आकुल आदि मे ।

अन्त में :—पशु, मधु, शत्रु आदि में ।

(६) । ऊ । ...[ऊ]

[ऊ]—सवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर ।

आदि मे :—ऊपर, ऊसर, ऊखल, ऊर्जा आदि में ।

मध्य मे :—कूल, फूल, चूक, बबूल, अधूरा, तन्दूरी आदि मे ।

अन्त मे :—ताऊ, चाकू, डाकू, आलू, कोल्हू, तराजू आदि मे ।

सूचना :— [उ] एवं [ऊ] का पृथक् स्वनिमत्व निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से स्पष्ट है, यथा—कुल-कूल, सुर-सूर, टुक-टूक, उन-ऊन आदि ।

(७) । ए । ...[ए.]

[ए.]—अर्द्धसंवृत अग्र प्रसृत ह्रस्व स्वर ।

आदि मे :—एकन्नी, एकट्ठा, एग्यारह, एक्कीस, एकतिस, एकतालिस, एक्यावन, एकसठ एकहत्तर, एक्यासी, एक्यानवे, एकतारा, एकहरा, एतवार, एकरार, आदि मे ।

मध्य मे :—केवल शब्द के प्रथमाक्षर मे व्यञ्जन के साथ, यथा—केतारी, केदारा, खेसारी, देखाना, खेलाना, खेतिहर, पेसकार, मेहमान, मेहरबानी, मेहनत, ठेकुआ, खेलौना, बेलना, (सज्ञा), ठेकना (सज्ञा), सेकना (सज्ञा) आदि मे ।

अन्त मे :—नही आता ।

सूचना :—नागरी मे [ए.] के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव है, इसलिए हिन्दी-लेखन मे इसके लिए सर्वत्र दीर्घ [ए] को सूचित करनेवाले वर्ण ए का ही प्रयोग किया जाता है । किसी-किसी शब्द मे [ए.] के स्थान पर [इ] बोलने और लिखने की प्रवृत्ति

भी चल पडी है, किन्तु ऐसा सभी शब्दो मे सम्भव नही; यथा—खेलाना को खिलाना करने मे अर्थभेद हो जायगा।

(८) । ए ।   [ए]

[ए] अर्द्धसंवृत अग्र प्रसृत दीर्घस्वर।

आदि मे :—एक, एकता, एकत्र, एकाग्र, एकान्त आदि मे।

मध्य मे —बेल, केला, वेणी, देवता, लेखनी, अकेला, नकेल, सवेरा, नवेली, चमेली, झमेला, सँपेरा, वेलना, (क्रिया), सेकना, (क्रिया) आदि मे।

अन्त मे :—हे, रे, हरें, दरें, हटवे, खतवे, आगे, पीछे, नीचे आदि मे।

सूचना — [ए] और [ए] का पृथक् स्वनिमत्व निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से स्पष्टत सिद्ध हो जाता है —

[ए] वेलना—(सज्ञा)—रोटी वेलने के लिए निर्मित काठ का दण्ड।
[ए] वेलना—(क्रिया) रोटी वनाने की क्रिया।
[ए] ठेकना—(सज्ञा) वर्तन या किसी अन्य वस्तु को स्थिर करने के लिए उसके नीचे रक्खी जानेवाली वस्तु।
[ए]—ठेकना—(क्रिया)—स्पर्श होना।
[ए]—सेकना—(सज्ञा)—वह वस्तु जिसमे रखकर या लगाकर किसी वस्तु को सेका जाता है।
[ए]—सेकना—(क्रिया)—सेकने की प्रक्रिया।

(९) । ओ ।... ..[ओ]

[ओ]—अर्द्धसंवृत पश्च वर्तुल ह्रस्व स्वर।

आदि मे :—ओसारा, ओहार, ओहदा, ओढावन, ओटना, (सज्ञा) ओढनी, ओसाना, ओढाना आदि में।

मध्य मे —कोठार, कोठारी, सोनार, सोनारी, सोनारिन, बोलाना, जोटाना, तोडाना, कोतवाल, रोजगार, कठफोडवा, आदि में।

अन्त मे —नही आता।

सूचना —नागरी मे ह्रस्व [ओ] को सूचित करने के लिए कोई स्वतन्त्र वर्ण नही है, इसलिए हिन्दी-लेखन मे इसके स्थान पर सर्वत्र [ओ] को सूचित करनेवाले ओ वर्ण का ही प्रयोग किया जाता है। कुछ शब्दो मे लोग [ओ] के स्थान पर [उ] बोलते और लिखते हैं। लेकिन ऐसा सभी शब्दो मे सम्भव नही है, यथा—कोठार को कुठार या बोलाना को बुलाना बोलने से अर्थ-भेद हो जायगा।

(१०) । ओ । [ओ]

[ओ]—अर्द्धसवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर।

आदि मे —ओज, ओस, ओठ, ओझल, ओझा, ओला, ओजस्वी, ओढना (क्रिया) आदि मे।

मध्य में —कोमल, गोबर, रोग, शोक, बोलना, तोलना, भूगोल, खगोल, कठोर, कल्लोल, भरोसा, सहोदर आदि मे।

अन्त मे —सरसो, कोदो, भादो, कादो, पोलो, तो, हो आदि मे।

सूचना — [ओ] और [ओ] का पृथक् स्वनिमत्व निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से सिद्ध है —

[ओ]—ओढना (सज्ञा)—ओढने के काम मे लाया जानेवाला वस्त्र चादर, रजाई आदि।

[ओ] ओढना—(क्रिया)—वस्त्र से शरीर को आच्छादित करने की क्रिया।

[ओ] गोदना—(सज्ञा)—वह छाप या चित्र जो शरीर पर सूई या मशीन से बनाया जाता है।

[ओ] गोदना—(क्रिया)—शरीर पर सूई या मशीन से छाप या चित्र बनाना।

(११) । ऐ । [ऐ, ऐं] .. मुक्त परिवर्तन[1] ।

[ऐ] अर्द्धविवृत अग्र प्रसृत दीर्घ स्वर।

यह केवल तद्भव शब्दो तथा अरबी-फारसी से गृहीत ऋणशब्दो मे आता है।

---

1. 'Free variation', Gleason, An Introduction to Descrtiptive Linguistics. 1961, P. 262.

आदि में —ऐसा, ऐनक ऐब आदि मे ।
मध्य में :—कैसा, मैला, पैर, मैल, बैल, बिगड़ैल, रखैल,
अन्त में :—केवल एकाक्षरी शब्दो मे; यथा—जै, है, कै, तै,
आदि मे ।

[ऐ॑]—अर्द्धविवृत अग्र प्रसृत अल्पदीर्घ स्वर ।

यह केवल अँगरेजी से गृहीत ऋण शब्दो में आता है ।
आदि में :—ऐ॑टम, ऐ॑क्टर, ऐ॑क्शन आदि में ।
मध्य में :—पैटन कैप्टन ट्रैक्टर, बैट, रैकेट आदि मे।
अन्त में :—नही आता ।

(१२) । औ । . [औ, ऑ] . .मुक्त परिवर्तन ।

[औ]—अर्द्धविवृत पश्च वर्तुल दीर्घ स्वर ।

यह केवल तद्भव तथा अरबी-फारसी से गृहीत ऋण शब्दों में आता है ।
आदि मे :—और, औरत, औसत, औघड आदि मे ।
मध्य मे :—कौर, तौर, मौज, गौर, तौल, सुडौल, चौक, कचौडी ।
अन्त मे :—केवल एकाक्षरी शब्दो मे, यथा—सौ, नौ, पौ, जौ, छौ
आदि मे ।

[ऑ] अर्द्धविवृत पश्च वर्तुल अल्प दीर्घ स्वर ।

यह केवल अँगरेजी से गृहीत ऋणशब्दो मे आता है ।
आदि मे —औफिस (ऑफिस), औडर (ऑडर), औल (ऑल)
औक्सीजन (ऑक्सीजन), आदि मे ।
मध्य मे :—कौलेज (कॉलेज), हौल (हॉल), कौफी (कॉफी) लौर्ड,
(लॉर्ड)
अन्त मे —नही आता ।

मिश्र स्वर —

(१) । ऐ । [अइ, अइ] मुक्त परिवर्तन ।

[अइ]—अवृतोन्मुखअर्द्धविवृत अग्रोन्मुखमध्यप्रसृत आरोही दीर्घ मिश्र स्वर ।

यह केवल संस्कृत तत्सम तथा विदेशी ऋणशब्दो मे आता है।

आदि मे —ऐक्य, ऐश्वर्य, ऐरावत, ऐतिहासिक, ऐहिक, ऐयाश, ऐयार आदि मे।

मध्य मे —वैद्य, मतैक्य, दैत्य, सदैव।

अन्त मे .—नही आता।

[अइ]—संयुक्त स्वर।

यह केवल तद्भव शब्दो मे आता है।

आदि मे :—ऐआ, (अइया), ऐंचा—(अइँचा)

मध्य मे .—भैया (भइया), मैया—(मइया), दैया (दइया), गैया (गइया), आदि मे।

अन्त मे .—नही आता।

(२) [औ] [अउ, अउ]... मुक्त परिवर्तन।

[अउ]—सवृतोन्मुखअर्द्धविवृत पश्चोन्मुखमध्यवर्तुल आरोही दीर्घ मिश्र स्वर।

यह केवल संस्कृत तत्सम शब्दो मे आता है।

आदि मे .—औचित्य, औत्सुक्य, औदार्य, औद्योगिक, औषध, औपचारिक आदि मे।

मध्य मे —शौर्य, बौद्धिक, मौर्य, भौगोलिक, कौशल, लौकिक, आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

[अउ]—संयुक्त स्वर।

यह केवल तद्भव तथा विदेशी ऋण शब्दो मे आता है।

आदि मे .—औल (अउल), औलिया (अउलिया) आदि मे।

मध्य मे .—लौका (लउका), बौका, (बउका), बौआ (बउआ), उठौआ (उठउआ), नौमी (नउमी) आदि मे।

अन्त मे —नही आता।

(ख) व्यञ्जन .—

मूल व्यञ्जन—

स्पर्श —

(१) । क । [क॒]

[क॒]—अल्पप्राण अघोष अलिजिह्वीय स्पर्श व्यन्जन ।

आदि मे —क़तरा, क़दम, क़रार, क़लम, क़सीदा आदि विदेशी ऋण शब्दो मे ।

मध्य मे —ताक़त्, मुक़ाम, वक़्त, ताक़, शौक़ आदि विदेशी ऋण शब्दो मे ।

अन्त मे —नही आता ।

सूचना :—क़ को क् से पृथक् स्वनिम मानने का मुख्य कारण यह है कि इन दोनो मे ध्वन्यात्मक असमानता तथा व्यतिरेकी वितरण के अतिरिक्त परस्पर अर्थभेदकता भी है, जो निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से स्पष्ट है—

कतरा—फाँक आदि कई अर्थ ।

क़तरा—बूँद ।

कदम—कदम्ब ।

क़दम—पाँव आदि कई अर्थ ।

करार—कगार, नदी का ऊँचा तट ।

क़रार—चैन, धीरज, इकरार ।

कसीदा —बेलबूटे, गुलकारी

क़सीदा—उर्दू-फारसी का वह पद्य, जिसमे किसी प्रशसा या निन्दा की गयी हो ।

कालीन—कालका (समासान्त मे), काल सम्बन्धी ।

क़ालीन—गलीचा ।

कौल—वाममार्गी, शाक्त आदि

क़ौल—प्रतिज्ञा ।

(२) । क् । [क्]

[क्]—अल्पप्राण अघोष कोमल तालव्य स्पर्श व्यन्जन ।

आदि मे —कम, काम, केवल, क्लास आदि मे ।

मध्य मे —थकान, अकेला, विकल, नाक आदि मे ।

अन्त मे —केवल सस्कृत तत्सम शब्दों मे, यथा—चतुर्दिक्, सम्यक् आदि मे ।

(३) । ख् । . [ख्]

[ख्]—महाप्राण अघोष कोमल तालव्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे ·—खलिहान, खाट, खेत, खुशी आदि मे ।
मध्य मे :—सुख, दु.ख, भूख, धोखा आदि मे ।
अन्त मे —नही आता ।

(४) । ग् । [ग्]

[ग्]—अल्पप्राण घोष कोमलतालव्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे .—गति, गाल, गीत, गोह, गौ आदि मे ।
मध्य मे —नगर, सागर, आग, रोग आदि मे ।
अन्त मे .—नही आता ।

(५) । घ् । [घ्]

[घ्]···महाप्राण घोष कोमल तालव्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे —घर, घाट, घूँट, घेरा, घोडा आदि मे ।
मध्य मे .—राघव, सघन, घघरा, बाघ आदि मे ।
अन्त मे .—नही आता ।

(६) । ट् । [ट्]

[ट्] अल्पप्राण अघोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे .—टब, टमाटर, टमटम, टापू, टीला, टोला आदि मे ।
मध्य मे .—कटुता, स्टूल, खाट, हाट, आँटा, कट्टर आदि मे ।
अन्त मे ·—केवल सस्कृत तत्सम शब्दो मे, यथा—सम्राट्, विराट् आदि मे ।

(७) । ठ् । [ठ्]

[ठ्]—महाप्राण अघोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि में —ठग, ठठेरा, ठीक, ठोकर आदि मे ।
मध्य मे .—कठिन, कठोर, काठ, सोठ, राष्ट्रीय आदि मे ।
अन्त मे :—नही आता ।

(८) । ड् । [ड्]

[ड्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे —मुख्यत स्वर के पूर्व, किन्तु अँगरेजी ऋण शब्दो में य् एव र् के भी पूर्व; यथा—डर, डमरू, डाल, डोर, डाकिनी; ड्यूटी, ड्रामा, ड्रिल, ड्रेन आदि में।

मध्य में :—(१) व्यञ्जन और स्वर अथवा स्वर और व्यञ्जन के वीच, यथा—गण्डा, मण्डी, हड्डी, लड्डू, गड्ढा, आदि मे (२) दो स्वरो के वीच, यथा—आडम्वर, निडर, अडिग, सुडौल, सोडा, रेडियो आदि में।

अन्त मे —नही आता।

(९) । ढ् । [ढ्]

[ढ्]—महाप्राण घोप मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श व्यञ्जन।

आदि में —स्वर के पूर्व; यथा—ढव, ढाल, ढीला, ढोल, ढकना, ढाव आदि मे।

मध्य मे —(१) व्यञ्जन तथा स्वर के वीच, यथा—ठण्ढा, गड्ढा, वुड्ढा आदि मे। (२) दो स्वरो के वीच; यथा—औढर, वेढव, कुढव, निढाल, गढ आदि में।

अन्त में —नही आता।

(१०) । त् । [त्]

[त्]—अल्पप्राण अघोप दन्त्य स्पर्श व्यञ्जन।

आदि में .—तकली, तराजू, ताला, तेल, तोल आदि में।
मध्य में :—शीतल, वतासा, छाता, धोती आदि में।
अन्त में :—केवल सस्कृत तत्सम शब्दो में; यथा—शरत्, साक्षात्, किञ्चित् आदि में।

(११) । थ् । [थ्]

[थ्] महाप्राण अघोप दन्त्य स्पर्श व्यञ्जन।

आदि मे .—थकान, थाली, थाती, थोडा आदि मे।
मध्य में .—स्थिर, चौथाई, कथा, साथी, रथ आदि मे।
अन्त मे ·—नहीं आता।

(१२) ।द्। [द्]

[द्]—अल्पप्राण घोष दन्त्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे :—दल, दाल, दिन, दूध, देन, दोना आदि मे ।

मध्य मे .—आदमी, सुन्दर, यादव, दाद, दीदी आदि मे ।

अन्त मे ·—केवल सस्कृत तत्सम शब्दो मे; यथा—परिषद्, सुहृद्, विद् आदि मे ।

(१३) ।ध्। [ध्]

[ध्]—महाप्राण घोष दन्त्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे ·—धन, धान, धूल, धेला, ध्यान आदि में ।

मध्य मे :—अधम, अधीर, साध, आधा आदि मे ।

अन्त मे :—प्राय: नही आता ।

(१४) ।प्। [प्]

[प्]—अल्पप्राण अघोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे .—पल, पवित्र, पान, पुत्र, पिता आदि मे ।

मध्य मे .—सपना, कपडा, पापी, आप आदि मे ।

अन्त मे —प्राय: नही आता ।

(१५) ।फ्। [फ्]

[फ्]—महाप्राण अघोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे ·—फल, फागुन, फूल, फेन, फोडा आदि में ।

मध्य मे ·—सफल, डफली, सफाई, नफा आदि मे ।

अन्त मे :—प्राय नही आता ।

(१६) ।ब्।... [ब्]

[ब्]—अल्पप्राण घोप ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे ·—बडा, बादल, बीस, बूट, बेटा आदि मे ।

मध्य मे ·—अबीर, टेबुल, तम्बाकू, ताँबा आदि मे ।

अन्त मे :—प्राय. नही आता ।

(१७) ।भ्।... [भ्]

[भ्]—महाप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन ।

आदि मे .—भय, भात, भूत, भाला, भोला आदि में।

मध्य मे —गम्भीर, आभीर, सभा, अभी, लोभ आदि मे।
अन्त में —प्राय नही आता।

स्पर्शघर्षी —

(१८) [च्] [च्]
[च्]—अल्पप्राण अघोष कठोर तालव्य स्पर्श घर्षी व्यञ्जन।
आदि मे —चमक, चाल, चिन्ता, चुम्बन, चोर आदि मे।
मध्य मे —बच्चा, वचन, कचूमर, चाचा, नाच, आदि मे।
अन्त मे —प्राय नही आता।

(१९) [छ] [छ्]
[छ]—महाप्राण अघोष कठोर तालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन।
आदि मे —छत, छाप, छींक, छूत, छोटा आदि में।
मध्य मे —कछुआ, मछली, बिच्छू, रीछ आदि मे।
अन्त मे —प्राय नही आता।

(२०) [ज्] [ज्]
[ज्]—अल्पप्राण घोष कठोर तालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन।
आदि मे —जल, जाल, जीत, जूडा, जोड, जी आदि मे।
मध्य मे —भोजन, पूजा, राजा, तेज आदि मे।
अन्त मे —प्राय नही आता।

(२१) [झ्]…[झ्]
[झ्]—महाप्राण घोष कठोर तालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जन।
आदि मे —झरना, झाल, झील, झूला, झोका आदि मे।
मध्य मे.—मझला, साझा, सांझ, बांझ आदि मे।
अन्त मे —प्राय नही आता।

अनुनासिक स्पर्श .—

(२२) [ङ्]··[ङ्]
(ङ्)—अल्पप्राण घोष कोमल तालव्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।
आदि मे —नहीं आता।
मध्य मे —(१) कवर्गी व्यञ्जनो के पूर्व यथा—शङ्कर, शङ्ख, सङ्ग, सङ्घ आदि मे।

(२) अनुनासिक व्यञ्जनो (केवल न् एवं म्) के पूर्व, यथा—वाङ्मय, पराङ्मुख, दिङ्नाग आदि मे।

(३) तद्भव शब्दो मे जब ग् के पूर्व कोई अनुनासिक स्वर या व्यञ्जन आता है तो दोनो के स्थान पर केवल ङ् ही सुनाई पडता है, यथा—पलङ, लौङ, माङ, सङ, रङना, माङना, ताङा आदि मे। किन्तु, लेखन मे अभी इन रूपो को मान्यता नही मिली है।

अन्त मे : —नही आता।

सूचना (१) लेखन एवं मुद्रणादि मे अनुस्वार-चिह्न का स्वरूप ङ् की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होने के कारण, लोग प्राय ङ् के स्थान पर उस स्थिति मे अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग करते है, जब वह अपने ही वर्ग के अन्य व्यञ्जनो के पूर्व आता है, यथा—रंक, शख, गंगा, सघ आदि मे। इससे लेखन-मुद्रणादि मे चाहे सुविधा जितनी होती हो, किन्तु लिपि के ध्वन्यात्मक स्वरूप की वैज्ञानिकता नष्ट होती है।

सूचना (२) डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया ने डॉ० उदयनारायण तिवारी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा', पृ० २१९ मे ङ् को न् का संस्वन माना है, जो हास्यास्पद है।

(२३) । ण् ।··[ण्, ण॒,]··पूरक वितरण।

[ण्]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि मे :—नही आता।

मध्य मे :—(१) दो स्वरो के बीच, यथा—क्षण, प्रण, प्रणाम, क्षणिक, प्रणीत, प्राणी, रेणु, प्रणेता आदि मे।

(२) स्वर एवं अन्त.स्थ के बीच, यथा—पुण्य, अरण्य, कण्व आदि मे।

(३) स्वर एवं अनुनासिक व्यञ्जन के बीच, यथा—षण्मुख, विषण्ण आदि मे।

अन्त मे —नही आता।

[ण॒]—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि मे :—नही आता।

मध्य मे ·—केवल ट् ठ् ड् ढ् के पूर्व, यथा—कण्टक, कण्ठ, पण्डित, ठण्ढा आदि मे।

अन्त मे —नही आता।

सूचना :—(१) हिन्दी-लेखन मे [ण्] के स्थान पर तो सर्वत्र ण् वर्ण का ही प्रयोग होता है, किन्तु [ण ̣] के स्थान पर प्राय. अनुस्वार-चिह्न का भी प्रयोग प्रचलित है। इससे लेखन-मुद्रणादि मे सुविधा तो होती है, किन्तु ध्वन्यात्मक लेखन की वैज्ञानिकता नष्ट होती है।

सूचना .—(२) ण् का न् से वितरण-व्यतिरेक तथा पृथक् स्वनिमत्व निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो से स्पष्ट हो जाता है —

पान—ताम्बूल-पत्र, जल आदि पेय के पीने की क्रिया आदि अनेक अर्थ।

पाण—व्यापार, जूआ, बाजी, प्रतिज्ञा आदि अनेक अर्थ।

पनिक—शराब बेचनेवाला।

पणिक—व्यापारी, जूए मे प्राप्त, स्कन्द का एक अनुचर आदि।

अनुवाद—भाषान्तर, उलथा आदि।

अणुवाद—अणु को नित्य और प्रपंच का कारण माननेवाला सिद्धान्त, न्यायवैशेषिक दर्शन, वल्लभ का दर्शन आदि।

रन (अँ०)—क्रिकेट के खेल से सम्बद्ध शब्द, दौड़।

रण—युद्धभूमि।

गन (अँ०)—बन्दूक।

गण—मण्ड, समूह आदि।

(२४) । न् । [न्]

[न्]—अल्पप्राण घोष दन्त्य-वर्त्स्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि में —केवल स्वर या अर्द्धस्वर के पूर्व, यथा—नगर, नारी, निर्माण, नीति, नूतन, नेता, नैया, नोक, नौकर, नौआ, न्याय, न्यारा आदि मे।

मध्य मे —(१) स्वरो के बीच, यथा—अनल, अनार, मानव, वनियाँ, मुनीता, कानून, अनेक आदि मे।

(२) स्वर एव अर्द्धस्वर के बीच, यथा—अन्याय, धन्य, अन्वय, अन्वेषण आदि मे।

(३) स्वर एव दन्त्य-वर्त्स्य स्पर्श व्यञ्जनो के बीच; यथा—चिन्ता, सन्याल, मन्दिर, अन्वा, पन्ना आदि मे।

(४) स्वर एव म् के बीच; यथा—चिन्मय, जन्म, तन्मात्रा आदि मे।

(५) व्यञ्जन एव स्वर के वीच, यथा—अग्नि, विघ्न, यत्न, चिह्न आदि मे।

अन्त मे —केवल तत्सम शब्दो मे। यथा—विद्वान्, भगवान्, आदि मे।

सूचना —हिन्दी-लेखन मे त्, थ्, द्, एव ध् के पूर्व न् के स्थान पर भी लोग प्राय सुविधाजनक होने के कारण अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग करते है। किन्तु, इससे नागरी लिपि की वैज्ञानिकता को आघात लगता है।

टिप्पणी .—हिन्दी मे [न्] और [ञ्] मे पूरक वितरण की स्थिति होने के कारण अन्य विद्वानो ने [ञ्] को भी। न्। का ही सस्वन माना है। किन्तु इन ध्वनियो मे स्थान तथा प्रयत्न दोनो ही की भिन्नता है। [न्] स्पर्शदन्त्य है और [ञ्] स्पर्शघर्षी तालव्य। ऐसी स्थिति मे ध्वन्यात्मक दृष्टि से इन दो पूर्णतः असमान ध्वनियो को एक स्वनिम के वर्ग मे नही रक्खा जा सकता[1]। दूसरी वात यह भी है कि भाषा के सङ्घटनात्मक प्रतिरूपता के समनुहार (पैटर्न काङग्रुएंस) अर्थात् भाषा की पद्धति या ढाँचे की दृष्टि से भी [ञ्] को एक पृथक् स्वनिम मानना आवश्यक है, क्योकि हिन्दी मे जव अन्य सभी वर्गीय स्पर्शो का एक-एक अनुनासिक स्वनिम है तो चवर्ग का भी एक होना ही चाहिए। इसीलिए हमने। ञ्। को एक पृथक् स्वनिम माना है।

(२५) । न्ह । .. [न्ह]

[न्ह]—महाप्राण घोष दन्त्य-वर्त्स्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि मे —परिनिष्ठित हिन्दी मे नही आता, किन्तु वोलियो मे आता है।

मध्य मे :—केवल तद्भव शब्दो मे दो स्वरो के वीच, यथा—उन्हे, उन्होने, जिन्हे, कन्हैया, रीन्हना, चीन्हना आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

सूचना —हिन्दी मे न् और ह का सयुक्तरूप भी मिलता है, किन्तु उसका उच्चारण न् के महाप्राण रूप मूल व्यञ्जन [न्ह] से भिन्न होता है, यथा—चिन्ह (चिह्न के लिए), नन्हाँ आदि मे। किन्तु नागरी मे मूल [न्ह] के लिए

---

1 'Every phonetically distinct segment of a language is a seperate phonem' K L Pike, Phonemics 1964, P. 68.

स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान पर भी संयुक्त न्ह् वर्ण का ही प्रयोग होता है।

(२६) ।म्।.. [म्]

[म्]—अल्पप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि मे :—स्वर तथा य्, र्, ल् के पूर्व, यथा—मन, माला, मिलन, मीत, मुक्ति, मूल, मेला, मेल, मोल, मौलवी, मृत्यु; म्यान, म्रियमाण, म्लान आदि मे।

मध्य मे :—स्वर, ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन तथा य्, र्, ल् और ह् के पूर्व; यथा—समय, सामान, समिधा, अमीर, चम्पा, डम्फ, चुम्बक, गम्भीर, सम्मान, सम्यक्, सम्राट्, अम्लान, ब्रम्ह आदि मे।

अन्त मे —केवल तत्सम शब्दो मे, यथा—एवम् (एवं), अहम् (अहं) आदि मे।

सूचना :—हिन्दी-लेखन मे प्, फ्, ब् एवं भ् के पूर्व म् के स्थान पर लोग प्राय: अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग करते है। इसी प्रकार मकारान्त तत्सम शब्दो के अन्त मे भी म् के स्थान पर अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग प्राय: देखा जाता है। इससे लेखन मे सुविधा तो होती है, किन्तु यह स्थिति वैज्ञानिक नहीं है।

(२७) ।म्ह। [म्ह]

[म्ह्]—महाप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन।

आदि मे :—परिनिष्ठित हिन्दी मे नही आता, किन्तु बोलियो मे आता हैं।

मध्य मे —तुम्हे, तुम्हारा, कुम्हार, जम्हाई (जँभाई), सम्हालना (सँभालना) आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

सूचना —हिन्दी मे म् और ह् का संयुक्त रूप भी मिलता है, यथा—ब्रम्ह् (ब्रह्म), ब्राम्हण (ब्राह्मण) आदि मे। किन्तु महाप्राण म्ह, संयुक्त म्ह से भिन्न ध्वनि है। फिर भी, स्वतन्त्र वर्ण के अभाव के कारण हिन्दी-लेखन मे महाप्राण म्ह के लिए भी संयुक्त म्ह् का ही प्रयोग किया जाता है।

अनुनासिक स्पर्शघर्षी—

(२८) ।ञ्।.....[ञ्]

[ञ्]—अल्पप्राण घोष तालव्य स्पर्शघर्षी अनुनासिक व्यञ्जन ।

आदि मे —नही आता ।

मध्य मे —केवल तालव्य स्पर्शघर्षी व्यञ्जनो के पूर्व, यथा—चञ्चल, लाञ्छन, मञ्जन, झञ्झा आदि मे ।

अन्त मे —केवल सस्कृत तत्सम शब्दो मे, यथा—नञ्, घञ् आदि मे ।

टिप्पणी .—हिन्दी के अनेक विद्वानो ने ञ् को स्वनिम न मानकर ।न्। का ही एक सस्वन मान लिया है ।[१] किन्तु इन दोनो ध्वनियो मे स्थान एव प्रयत्न दोनो ही दृष्टियो से इतनी स्पष्ट भिन्नता है कि इन्हे एक स्वनिम वर्ग मे सम्मिलित किया जाना किसी भी प्रकार उचित नही कहा जा सकता । ध्वन्यात्मक दृष्टि से दो पूर्णत. असमान ध्वनियाँ कभी भी एक स्वनिम-वर्ग की नही हो सकती ।[२] इसलिए ।न्। तथा ।ञ्। मे पूरक वितरण की स्थिति होने पर भी हमने दोनो को अलग स्वनिम माना है । इस सम्बन्ध मे ।न्। की टिप्पणी द्रष्टव्य है ।

सूचना .—हिन्दी-लेखन मे सुविधाजनक होने के कारण लोग प्राय· ञ् के स्थान पर भी अनुस्वार-चिह्न का ही प्रयोग करते है । किन्तु, उससे नागरी लिपि और हिन्दी-लेखन की वैज्ञानिकता को आघात लगता है ।

पार्श्विक·—

(२९) ।ल्। .. [ल्]

[ल्]—अल्पप्राण घोष वर्त्स्य पार्श्विक व्यञ्जन ।

आदि मे ·—लडका, लाभ, लिए, लीची, लुभावना, लू, लेख, लोहा, लौह आदि मे ।

मध्य मे .—सोलह, कलह, मिलाप, माला, सम्मिलित, कालीन, शिल्प, शुल्क, शुक्ल, काल आदि मे ।

---

१. डॉ० उदयनारायण तिवारी, भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १२२ । डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, वही, पृ० २१८ ।

२. "Every phonetically distinct segment of a language is a seperate phoneme" K.L. Pike, Phonemics, 1964,P. 62.

अन्त मे —केवल कुछेक संस्कृत तत्सम शब्दो मे, यथा—हल् (व्यञ्जन) आदि मे ।

(३०) ।ल्ह्।   [ल्ह्]

[ल्ह्]—महाप्राण घोष वर्त्स्य पार्श्विक व्यञ्जन ।

आदि मे —नही आता ।

मध्य मे —केवल तद्भव शब्दो मे, यथा—चूल्हा, दूल्हा, आल्हा, कोल्हू आदि मे ।

अन्त मे —नही आता ।

सूचना .—हिन्दी मे ल् और ह् का संयुक्त रूप भी मिलता है, किन्तु वह महाप्राण ल्ह् से भिन्न ध्वनि है । [ल्ह्] मूल व्यञ्जन है और ल्ह् संयुक्त, यथा—जल्हण, कल्हण आदि मे । नागरी मे महाप्राण पार्श्विक मूल व्यञ्जन [ल्ह्] के लिए स्वतन्त्र वर्ण का अभाव होने के कारण इसके स्थान पर हिन्दी-लेखन मे सर्वत्र संयुक्त ल्ह वर्ण का ही प्रयोग होता है ।

लुण्ठित प्रकम्पी —

(३१) ।र्।   [र्]

[र्]—अल्पप्राण घोष वर्त्स्य लुण्ठित प्रकम्पी व्यञ्जन ।

आदि मे —केवल स्वरो के पूर्व; यथा—रस, राम, रिपु, रीति, रुकना, रूप, रेत, रोग आदि मे ।

मध्य मे —सभी स्थितियो मे, यथा—प्यार, धारा, नीरज, आराम, सरिता, शरीर, नारी, तर्क, खर्च, शर्त, सर्प, क्रय, अर्द्ध आदि मे ।

अन्त मे .—नही आता ।

सूचना ·—र् को ड् से पृथक् स्वनिम प्रमाणित करनेवाले स्वल्पान्तर युग्म निम्नलिखित है —

तार—ताड़, हार—हाड, भार—भाड, लार—लाड,

सारी—साडी, नारी—नाडी, वरी—वडी, परती—पडती आदि मे ।

उत्क्षिप्त .—

(३२) । ड् ।   [ड्]

[ड्]—अल्पप्राण घोष मूर्धन्य प्रतिवेष्टित उत्क्षिप्त व्यञ्जन ।

आदि मे ·—नही आता ।

मध्य मे .—दो स्वरो के बीच, यथा—आड, पेड, पीडा, घडी, घोडा, अडियल, कडक, धडकन, पडोस, आदि मे ।

अन्त मे —नही आता ।

सूचना :— । ड़ । का । ड् । से पृथक् स्वनिमत्व केवल व्यतिरेकी वितरण तथा ध्वनिवैज्ञानिक भिन्नता पर आश्रित है । हिन्दी मे ऐसे स्वल्पान्तर युग्मो का अभाव है, जिनसे इनमे पारस्परिक अर्थभेदकता सिद्ध की जा सके । किन्तु, चूँकि ये दोनो समान परिवेश मे आते है और दोनो मे सर्वत्र मुक्त परिवर्तन की स्थिति नही पायी जाती, इसिलिए अर्थभेदकता का अपेक्षित प्रमाण नही रहने पर भी हमने दोनो को अलग-अलग स्वनिम मान लिया है ।

(३३) । ढ़ । [ढ़]

[ढ़]—महाप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित उत्क्षिप्त व्यञ्जन ।
आदि मे —नही आता ।
मध्य मे —दो स्वरो के बीच, यथा—वाढ, बूढा, बढिया, ढाढस, चढाव आदि मे ।
अन्त मे '—नही आता ।

सूचना '— ढ़ और ढ् की हिन्दी मे लगभग वही स्थिति है, जो ड़ और ड् की अस्तु, जिन कारणो से हमने ड़ और ड् को अलग-अलग स्वनिम माना है, उन्ही कारणो से ढ़ और ढ् को भी । ऐसा मानना हिन्दी की सङ्घटनात्मक प्रतिरूपता के समनुहार (पेटर्न काङग्रुएंस) की दृष्टि से भी आवश्यक था ।

सङ्घर्षी :—

(३४) । ह् । [ह़]

[ह्]—घोष महाप्राण स्वरयन्त्रमुखी (या काकल्य) सङ्घर्षी (ऊष्म) व्यञ्जन ।
आदि मे :—हल, हाथ, हिन्दी, होली, हृदय, ह्री, ह्लादिनी, ह्वेल आदि मे ।
मध्य मे '—(१) दो स्वरो के बीच, यथा—यह, राह, कहानी, महेश, सहोदर आदि मे ।

(२) स्वर एव व्यञ्जन, तथा व्यञ्जन एव स्वर के बीच,

यथा—ब्राह्मण, चिह्न, वाह्य, आह्लाद; ब्रह्मा, ब्राह्मन, चिह्न, कल्हण, जल्हण आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

(३५) ।ख़्। [ख़्]

[ख़्]—अघोष महाप्राण अलिजिह्वीय सङ्घर्षी व्यञ्जन।

आदि मे —ख़त, ख़ता, ख़राव, ख़ैर, ख़ुशी, आदि विदेशी ऋण शब्दो मे।

मध्य मे —अख़वार, बुख़ार, दाख़िल, नुख़्'आदि विदेशी ऋण शब्दो मे।

अन्त मे —नही आता।

सूचना :—ख़् को ख् से पृथक् स्वनिम मानने का मुख्य कारण यह है कि इन दोनों मे ध्वन्यात्मक असमानता तथा व्यतिरेकी वितरण के अतिरिक्त परस्पर अर्थभेदकता भी है, जो निम्नलिखित स्वल्पान्तरयुग्मो से स्पष्ट है—

ख़र—तृण, घास।

खर—गदहा, मूर्ख।

खस—गढवाल के उत्तर का प्रदेश और वहाँ की एक विशेष जाति, नेपाल आदि स्थानो मे वसने वाली एक विशेष (व्रात्य) क्षत्रिय जाति, पोस्ते का पौधा आदि।

ख़स—एक विशेष प्रकार की घास (गाडर, कतरा) की जड, जिसकी टट्टियाँ गर्मी के दिनो मे कमरे को ठढा रखने के लिए खिड-कियो एवं दरवाजो पर लगायी जाती हैं।

खसरा—एक तरह की खुजली।

ख़सरा—हिसाव का कच्चा चिट्ठा, पटवारी की वह वही, जिसमे गाँव के हर खेत का नम्बर, क्षेत्रफल आदि लिखा रहता है आदि।

खान—भाण्डार, खजाना, वह जगह जहाँ से धातुएँ खोदकर निकाली जाती हैं आदि।

खान—स्वामी, सरदार, पठान, पठान शासको की उपाधि।
ख़ाना—भोजन।
खाना—घर, स्थान आदि अनेक अर्थ।

इसी प्रकार, खार-ख़ार, खारा-ख़ारा, खाल-ख़ाल, खाला-ख़ाला, खालिक-ख़ालिक, खैर-ख़ैर, खोजा-ख़ोजा आदि अनेक ऐसे स्वल्पान्तर युग्म है, जिनसे ख् और ख़् का पृथक् स्वनिमत्व प्रमाणित होता है।

(३६) । ग़ । [ग़]

[ग़]—घोष अल्पप्राण अलिजिह्वीय सङ्घर्षी व्यञ्जन।

आदि मे :—ग़म, ग़रीब, ग़ालिब, ग़रज, ग़ुल, ग़ौर आदि विदेशी ऋण शब्दो मे।

मध्य मे —चोग़ा, मुग़ल, दाग़ आदि विदेशी ऋण शब्दो मे।

अन्त मे —नही आता।

सूचना :—ग़ को ग् से पृथक् स्वनिम प्रमाणित करनेवाले कुछ स्वल्पान्तर युग्म निम्नलिखित हैं :—
गम—पहुँच, गमन, राह आदि।
ग़म—दुःख, शोक, परवाह आदि।
गरज—गम्भीर ऊँची आवाज, दहाड़, मेघ-ध्वनि आदि।
ग़रज—प्रयोजन, चाह आदि।
गरारा—घमडी, उद्धत।
ग़रारा—कुल्ली, पाजामे की ढीली मोहड़ी आदि।
गुल—फूल आदि।
ग़ुल—शोर, हल्ला।
गोरी—गौर वर्णवाली, सुन्दरी।
ग़ोरी—ग़ोर का रहनेवाला, शाहबुद्दीन ग़ोरी की उपाधि।
गोल—वृत्ताकार, आदि अनेक अर्थ।
ग़ोल—झुण्ड।
गौर—गोरा, श्वेत आदि अनेक अर्थ।
ग़ौर—चिन्तन, ध्यान।

(३७) ।श।····[श्, ष्]—पूरक वितरण।

[श्]—अघोष अल्पप्राण तालव्य सङ्घर्षी व्यञ्जन।

आदि मे :—हिन्दी मे गृहीत सस्कृत तत्सम तथा विदेशी ऋण शब्दो मे, केवल स्वरो तथा सस्कृत अन्त स्थो के पूर्व, यथा—शरीर, शाखा, शिक्षा, शुक्ल, शोषण, शराब, शायद, शौख, शोर, शेयर, श्याम, श्री, श्लेष, श्वेत आदि मे।

मध्य मे :—केवल मूर्द्धन्य व्यञ्जनो के पूर्व नही आता।
अन्यत्र सभी स्थितियो मे, किन्तु केवल सस्कृत तत्सम तथा विदेशी ऋण शब्दो मे ही, यथा—यश, नशा, शशि, पशु, विशेष, लाश; कश्यप, अश्रु, अश्व, निश्चय, अश्क, निश्छल आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

[ष्]—अघोष अल्पप्राण मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित सङ्घर्षी व्यञ्जन।

हिन्दी-लेखन मे ष् वर्ण हिन्दी मे गृहीत सस्कृत तत्सम शब्दो के आदि तथा मध्य मे अनेक स्थितियो मे आता है, यथा—षष्ट, षष्ठ, षण्मुख, विषय, निषेध, विशेष, विष्कम्भक, कुष्माण्ड, विष आदि मे। किन्तु ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ष् का श् से भिन्न उच्चारण केवल एक ही स्थिति मे और वह भी केवल सुशिक्षितो के द्वारा ही होता है, जब ष् किसी मूर्द्धन्य व्यञ्जन के पूर्व आता है; यथा—कष्ट, निष्ठुर, विष्णु आदि मे। अन्यत्र सर्वत्र ष् का उच्चारण श् से अभिन्न होता है।

सूचना — यदि हिन्दी मे गृहीत सस्कृत तत्सम एवं विदेशी तत्सम शब्द हिन्दी के अपने शब्द न माने जायँ, तो श् एवं ष् मे से कोई भी ध्वनि हिन्दी की अपनी नही है, क्योकि ये हिन्दी के अपने अर्थात् तद्भव एव देशज शब्दो मे नही आती। ऐसी स्थिति मे इनके स्वनिम होने या न होने का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु, हिन्दी मे संस्कृत तथा विदेशी तत्सम शब्दो का प्रयोग इतना अधिक बढ गया है कि अब उनकी उपेक्षा सम्भव नही। इस कारण उन शब्दो के साथ आगत ऐसी ध्वनियो को भी जो हिन्दी की अपनी नही हैं, हिन्दी-ध्वनि-समूह

मे सम्मिलित करना तथा हिन्दी-ध्वनियो के विवेचन-क्रम मे सभी दृष्टियो से उनका विवेचन करना अनिवार्य है। कुछ भाषाशास्त्रियो ने हिन्दी के स्वनिमशास्त्रीय विवेचन मे श् की चर्चा तो की है, किन्तु ष् की नही।[1] यह हमारी दृष्टि मे समीचीन नही, क्योकि उक्त दोनो ध्वनियाँ केवल सस्कृत तत्सम या विदेशी शब्दो मे पायी जाती हैं, इस कारण हिन्दी मे यदि विवेच्य है तो दोनो या नही तो कोई भी नही।

सस्कृत मे श् और ष् दोनो पृथक् स्वनिम हैं, जो विशय-विषय, विश-विष आदि स्वल्पान्तर युग्मो के व्यतिरेक से स्पष्ट है। किन्तु हिन्दी मे ष् का श् से भिन्न उच्चारण केवल मूर्द्धन्य ध्वनियो के पूर्व ही होता है, अन्यत्र नही। इस कारण एक ओर जहाँ दोनो मे परिपूरक वितरण की स्थिति है, दूसरी ओर स्वल्पान्तर युग्मो का अभाव भी। इन्ही कारणो से हमने श् और ष् को एक ही स्वनिम के दो सस्वनो के रूप मे विवेचित किया है।

(३८) ।स्। [स्]

[स्]—अघोष अल्पप्राण दन्त्य वर्त्स्य सङ्घर्षी व्यञ्जन।

आदि मे :—सब, साल, सिकता, सीप, सुख, सूत, सेना, सैनिक, सैन्य, सोना, सौरभ, सृष्टि, स्नान, स्रोत, आदि मे।

मध्य मे :—रस, रसाल, रसिक, रसीद, हसुआ, कसूर, पसेरी, कसैली, रासो, कस्तूर, सस्कार, वास्तव, वयस्क, हिस्सा नस्ल, हास्य, आदि मे।

अन्त मे :—केवल कुछेक सस्कृत तत्सम शब्दो मे, यथा—हविस् आदि मे।

सूचना :—स् का श् से पृथक् स्वनिम होना निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मो के व्यतिरेक से स्पष्ट है, यथा— सादी-शादी, सेर-शेर, सान्त-शान्त, साल-शाल, साला-शाला आदि।

(३९) ।ज़्। [ज़्]

[ज़्]—घोष अल्पप्राण वर्त्स्य सङ्घर्षी व्यञ्जन।

यह केवल विदेशी ऋण शब्दो के आदि तथा मध्य मे आता है।

---

१. डा० उ० ना० ति०, भा० रू०, पृ० १२१।

आदि मे :—ज़रा, ज़माना ज़ालिम, ज़ुर्म आदि मे।
मध्य मे :—राज़, सज़ा, गुज़र, गज़ट, ज़ आदि मे।
अन्त मे :—नही आता।

सूचना :—ज़ को ज् से पृथक् स्वनिम प्रमाणित करने वाले कुछ स्वल्पान्तर युग्म निम्नलिखित हैं; यथा—जरा-ज़रा, जमाना-ज़माना, राज-राज़ आदि।

(४०) । फ़ । [फ़]

[फ़]—अघोष महाप्राण दन्तोष्ठ्य सङ्घर्षी व्यञ्जन।

यह केवल विदेशी ऋण शब्दो के आदि और मध्य मे आता है; यथा—
आदि मे :—फ़न, फ़लक, फ़ारसी, फ़ेल आदि मे।
मध्य :—साफ़, साफ़ा, दफ़ा, नफ़ीस, सफ़री आदि मे।
अन्त मे :—नही आता।

सूचना :—फ़ को फ् से पृथक् स्वनिम प्रमाणित करनेवाले कुछ स्वल्पान्तर युग्म निम्नलिखित हैं, यथा—फन-फ़न, फलक-फ़लक, सफरी-सफ़री, दफा-दफ़ा आदि।

मिश्र व्यञ्जन

(१) । क्ष । [क्ष]

[क्ष]—अघोष महाप्राण कोमलतालव्य मूर्द्धन्य सङ्घर्षी मिश्र व्यञ्जन।

यह केवल संस्कृत तत्सम शब्दो मे ही आता है।
आदि मे :—क्षण, क्षर, क्षिति, क्षीण, क्षुधा, क्षेत्र, क्षोभ, क्षेम, क्षमा, क्ष्वे, आदि मे।
मध्य मे :—रक्षक, रक्षा, शिक्षित, मुमुक्षु, आरक्षी, भक्ष्य, आदि मे।
अन्त मे :—नही आता।

(२) । ज्ञ । [ज्ञ]

[ज्ञ] घोष अल्पप्राण तालव्य स्पर्शघर्षी अनुनासिक मिश्र व्यञ्जन।

यह केवल संस्कृत शब्दो मे आता है।
आदि मे :—ज्ञप्ति, ज्ञान, ज्ञेय आदि मे।
मध्य मे :—विज्ञ, विज्ञान, आज्ञा, अज्ञेय, यज्ञोपवीत आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

(ग) अन्तःस्थ :

(१) ।य्। [य्]

[य्] अल्पप्राण घोष तालव्य सघर्षहीन सप्रवाह अर्द्धस्वर।

आदि मे —यह, यहाँ, यदि, याद, योग, ये आदि मे।

मध्य मे :—प्यार, नियम, आयास, वियोग, प्रिय, साया, छाया आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

(२) ।व्। [व्, व़्] मुक्त परिवर्तन।

[व्] अल्पप्राण घोष द्वयोष्ठ्य सङ्घर्षहीन सप्रवाह अर्द्धस्वर।

यह मुख्यत तद्भव तथा विदेशी ऋण शब्दो मे आता है।

आदि मे :—वह, वहाँ, वादा, वे आदि मे।

मध्य मे —देवर, नाव, राव, ज्वार, क्वार आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

[व़्] अल्पप्राण घोष दन्त्योष्ठ्य अल्पसङ्घर्षी सप्रवाह अर्द्धव्यञ्जन।

यह केवल सस्कृत तत्सम और विदेशी ऋण शब्दो मे आता है।

आदि मे —वेद, विष्णु, व्यापार, वजीर, वॉयस, वजन आदि मे।

मध्य मे —सविधान, सवेदना, नैवेद्य, विवाह, देव आदि मे।

अन्त मे —नही आता।

(घ) अयोगवाह :

(१) अनुस्वार।ं। [ं१ ं२ ं३ ं४ ं५]—पूरक वितरण।

[ं१]—अल्पप्राण घोष कण्ठ्यीकृत नासिक्य अयोगवाह।

आदि मे —नही आता।

मध्य मे :—केवल स्वर और ह् के मध्य, यथा—सहार, सिंह, सिहासन आदि मे।

अन्त मे :—नही आता।

[ं२]—अल्पप्राण घोष तालव्यीकृत स्पर्शघर्षी नासिक्य अयोगवाह।

आदि मे —नही आता।

मध्य मे —केवल स्वर तथा य् अथवा श् के मध्य; यथा—सयम, सयोग, सशय आदि मे ।
अन्त मे :—नही आता ।

[ं ३]—अल्पप्राण घोष मूर्धन्यीकृत नासिक्य अयोगवाह ।

आदि मे :—नही आता ।
मध्य मे .—केवल स्वर एवं ष् के मध्य, यथा—दण्ट्रा, दण्ट्रिल, दण्ट्राल आदि मे ।
अन्त मे .—नही आता ।

[ं ४]—अल्पप्राण घोष वर्त्स्यीकृत नासिक्य अयोगवाह ।

आदि मे .—नही आता ।
मध्य मे .—स्वर एव र्, ल् अथवा स् के मध्य; यथा—सरचना, सलाप, संसार आदि मे ।
अन्त मे .—नही आता ।

[ं ५]—अल्पप्राण घोष ओष्ठ्यीकृत नासिक्य अयोगवाह ।
आदि मे .—नही आता ।
मध्य मे —केवल स्वर तथा व् के मध्य, यथा—संवाद, सविधान आदि मे ।
अन्त मे .—नही आता ।

२ विसर्ग [़] [:]

[़]—अघोष महाप्राण (स्वरयन्त्रमुखी) कण्ठ्य सङ्घर्षी अयोगवाह ।
आदि मे —नही आता ।
मध्य मे .—स्वर एवं व्यञ्जन के मध्य, यथा—दु.ख, अन्त.करण, मन.स्थिति आदि सस्कृत तत्सम शब्दो मे ।
अन्त मे :—स्वर के उपरान्त, यथा—प्राय , अत , छि , हः आदि मे ।

हिन्दी के उपरिखण्डीय स्वनिमों का विवेचन .—

(१) अनुनासिकता । ँ । . [ँ]

अनुनासिकता स्वर-सम्बद्ध गुण है, कोई स्वतन्त्र ध्वनि नही । किन्तु इसमे

खण्डीय स्वनिमो के समान अर्थभेदक क्षमता होने के कारण, यह हिन्दी के उपरिखण्डीय स्वनिमो मे परिगणनीय है। इसकी अर्थभेदकता निम्नलिखित स्वल्पान्तर-युग्मो से स्पष्ट है :—

काटा—काटना क्रिया का भूतकालिक कृदन्त रूप।

काँटा—शूल।

चाटा—चाटना क्रिया का भूतकालिक कृदन्त रूप।

चाँटा—तमाचा।

पूछ—पूछना क्रिया की धातु।

पूँछ—दुम।

उपर्युक्त स्वल्पान्तर शब्द-युग्मो मे अर्थभेद का एकमात्र कारण अनुनासिकता ही है। इससे, हिन्दी मे इसका स्वर-सम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम होना सिद्ध है।

सूचना (१) अनुनासिकता का स्वर सम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम सिद्ध हो जाने के बाद हिन्दी के अनुनासिक स्वरो को अलग-अलग स्वनिम मानने की आवश्यकता नही रह जाती।

सूचना (२) हिन्दी के कतिपय नवीन भाषाविज्ञानियो[1] ने अनुनासिकता की तरह अनुस्वार को भी हिन्दी का स्वरसम्बद्ध स्वनिम मान लिया है, जो ठीक नही। कारण यह है कि अनुनासिकता स्वर मे अन्तर्लीन होकर उच्चरित होने वाला एक विशेष गुण मात्र है, जबकि अनुस्वार स्वर से पृथक् एक विशेष ध्वनि है। यह सही है कि अनुस्वार का उच्चारण बिना उसके पूर्व स्वर रहे सम्भव नही, किन्तु अनुस्वार उस स्वर का अङ्ग नही बनता, अपितु स्वतन्त्र ध्वनि के रूप मे ही उच्चरित होता है। इसके अतिरिक्त अनुस्वार ऐसी विशिष्ट ध्वनि है, जिसका किसी व्यञ्जन से भी योग-सयोग नही होता—'न विद्यते योग: सयोगो वर्णान्तरेण येषा ते अयोगवाहा.।' (पा० शि० १६)। ऐसी स्थिति मे उसे स्वर सम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम मानना युक्तिसङ्गत नही।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य उल्लेखनीय बात यह भी है कि अनुनासिकता का एक ओर यदि अनुस्वार से व्यतिरेक है, यथा, हँस-हस मे, तो दूसरी ओर अनु-

---

१ डॉ० मुरारीलाल उप्रैति, हिन्दी में प्रत्यय विचार, पृ० ७।

नासिक व्यञ्जनो से भी, यथा—काँत-कान्त मे। इससे सिद्ध है कि अनुस्वार अनुनासिकता की तरह स्वरसम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम नही।

(२) विराम[1] [।] [- - , , ।]

१—अत्यल्प विराम [- -] (खण्डित शीर्षरेखा)

२—अल्प विराम [,] (अल्पविराम-चिह्न)

३—पूण विराम [।] (पूर्णविराम चिह्न)

हिन्दी मे विराम सङ्क्रमण[2] जन्य उपरिखण्डीय स्वनिम है। इसके उपयुक्त तीन संस्वन है, जिनमे परस्पर पूरक वितरण की स्थिति है।

विराम कोई ध्वनि नही, प्रत्युत् वह भाषा की उच्चार-प्रक्रिया मे शब्द एवं वाक्य के स्तर पर, सङ्क्रमणजनित अन्तराल है।

प्रत्येक भाषा की उच्चार-प्रक्रिया मे सङ्क्रमण की एक प्रकृत व्यवस्था पायी जाती है। उस व्यवस्था से अनभिज्ञ व्यक्ति का उच्चार स्वभावत. दूषित होने के कारण अर्थबोध की दृष्टि से तो अशक्त रहता ही है, उससे अर्थ के अनर्थ होने की भी सम्भावना रहती है। अस्तु सङ्क्रमण किसी न किसी स्तर पर, प्राय सभी भाषाओं मे अर्थभेदक हुआ करता है।

सङ्क्रमण की मुख्यत दो स्थितियाँ होती है—युक्त सङ्क्रमण[3] और मुक्त सङ्क्रमण[4]। युक्त सङ्क्रमण का अर्थ है—दो खण्डो के बीच अन्तराल रहित संङ्क्रमण और मुक्त सङ्क्रमण का अर्थ है—दो खण्डो के बीच अन्तराल सहित सङ्क्रमण। इस आधार पर विराम की भी ऋणात्मक एव धनात्मक दो स्थितियाँ

---

१ विराम शब्द का प्रयोग हमने पाणिनि के 'विरामोऽवसानम्' (अ० १ ४ १०९) से प्रायः मिलते-जुलते अर्थ में ही, जिसे ब्लूमफील्ड ने 'ओपेन ट्रांजीशन' (लैंग्वेज, लदन १९५६, § ७, ९) तथा ब्लॉख एव ट्रेगर ने 'ओपेन जङ्क्चर' (आउटलाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनेलायसिस १९४२, § २ १४ (३), § ३. ७ (१) कहा है; किया है।

२ 'ट्रजीशन', 'जक्चर', वही।

3 'Close transition', Leonard Bloomfield, Language, London, 1956 7. 9 'Juncture', Bernard Bloch & Trager, Outline of Linguistic Analysis, 1942. 2 14 , (3). 3 7. (I)

4. Open Transition', 'Open Juncture', Ibid.

मानी जा सकती है। ऋणात्मक विराम का अर्थ होगा—दो खण्डो के बीच सड्क्रमण मे अन्तराल की अनुपस्थिति अर्थात् युक्तसड्क्रमण। धनात्मक विराम का अर्थ होगा—दो खण्डो के बीच सड्क्रमण मे अन्तराल की उपस्थिति अर्थात् मुक्त सड्क्रमण। परम्परागत पारिभाषिक शब्दावली मे प्राय इन्ही अर्थो मे क्रमश. 'सयोग' एव 'विराम' शब्द का प्रयोग होता आया है।

हिन्दी मे युक्तसड्क्रमण अर्थात् ऋणात्मक विराम (सयोग) की उपस्थिति शब्दान्तर्गत ध्वनियो के बीच पायी जाती है तथा मुक्तसड्क्रमण अर्थात् धनात्मक विराम (विराम) की उपस्थिति शब्दो तथा वाक्यो के बीच।

हिन्दी मे युक्तसड्क्रमण अर्थात् ऋणात्मक विराम (सयोग) के स्थान पर मुक्तसड्क्रमण अर्थात् धनात्मक विराम (विराम) का, या इसके विपरीत प्रयोग करने पर अर्थभेद हो जाता है, यथा —खाली—गोली खाली गयी।

खा ली—गोली खा ली गयी।

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी मे युक्तसड्क्रमण अर्थात् ऋणात्मक विराम (सयोग) तथा मुक्तसड्क्रमण अर्थात् धनात्मक विराम (विराम) मे परस्पर व्यतिरेक है। इस आधार पर इन दोनो को ही हिन्दी का सड्क्रमणजन्य उपरिखण्डीय स्वनिम माना जा सकता है। किन्तु, भाषाविज्ञान के अधिकारी विद्वानो ने इनमे से प्रथम को भाषा के उच्चार की सहज स्वाभाविक प्रकृति मानकर स्वनिम के रूप मे स्वीकार करने की सलाह नही दी है।[1] यही कारण है कि हमने भी केवल मुक्त सड्क्रमण अर्थात् धनात्मक विराम (जिसे हमने केवल 'विराम' ही कहा है) को ही सड्क्रमणजन्य उपरिखण्डीय स्वनिम के रूप मे स्वीकार किया है।

हिन्दी मे विराम के उपर्युक्त तीन सस्वन हैं, जिनका विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है .—

---

1. Muddy transition within a macrosegment is much more common than sharp transition, We do not call it still another phoneme, but simply say that it is the way a speaker gets from one vowel or consonent of a macrosegment to the next when no I x I is present."
Charles F Hockett, 'A Course in Modern Linguistics', 1960 P 55

अत्यल्प विराम [- -]—यह वाक्यान्तर्गत शब्दो के मध्य सामान्य स्थिति मे आता है। हिन्दी-लेखन मे इसे शीर्षरेखा को खण्डित करके सूचित किया जाता है, यथा—राम ने रावण को मारा।

अल्प विराम [,]—इसका कालमान अत्यल्प विराम से कुछ अधिक होता है।

(१) यह सयुक्त तथा मिश्रवाक्यो मे उपवाक्यों या वाक्य-खण्डो के बीच आता है, यथा—उसे रोको मत, जाने दो। उसे रोको, मत जाने दो।

(२) यह वाक्यान्तर्गत पदो के बीच भी आता है, जब वहाँ किसी समुच्चयबोधक शब्द का लोप हो, यथा—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न दशरथ के पुत्र थे। इस वाक्य मे जहाँ-जहाँ अल्प विराम चिह्न का प्रयोग है, वहाँ-वहाँ समुच्चयबोधक 'और' का लोप है।

पूर्णविराम [।]—इसका कालमान अल्पविराम से भी कुछ अधिक होता है। यह वाक्य के अन्त मे आता है, यथा—दशरथ अयोध्या के राजा थे। उनके चार पुत्र थे।

सूचना (१)—हिन्दी-लेखन मे युक्त सङ्क्रमण अर्थात् ऋणात्मक विराम (सयोग) को अखण्डित शीर्ष रेखा के द्वारा सूचित किया जाता है।

सूचना (२)—हिन्दी-लेखन मे कुछ लोग अल्पविराम-चिह्न के प्रयोग की समुचित जानकारी नही रखने के कारण प्राय· ऐसे स्थानो पर भी उसका प्रयोग कर देते है, जहाँ उच्चार मे अल्पविराम की स्थिति नहीं होती।

सूचना (३)—हिन्दी-लेखन मे विराम सम्बन्धी उपर्युक्त चिह्नो के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के चिह्नो का प्रयोग प्रचलित है। किन्तु, उच्चार के स्तर पर उनका कोई स्वनिमात्मक मूल्य नही।

सूचना (४)—वाक्यस्तर पर सुर-भेद से पूर्णविराम चिह्न के हिन्दी लेखन मे दो और रूप मिलते हैं, यथा—प्रश्नवाचक चिह्न [?] तथा विस्मयादिबोधक चिह्न [!]। यह रूपान्तर सुर-लहर की भिन्नता पर आश्रित है, सङ्क्रमण पर नही। अस्तु, इसका विवेचन सुर के विवेचन-प्रसङ्ग में आगे किया जायगा।

(३) सुर-लहर –(⌒⌣⌒⌣)

सुर-लहर से हमारा तात्पर्य वाक्य-स्तर पर सुर (पिच) के विभिन्न धरातलो के एकत्र सङ्घटन से है। सुर के मुख्य तीन धरातल होते हैं, जिन्हे परम्परागत पारिभाषिक शब्दावली मे उदात्त[१], अनुदात्त[२] और स्वरित[३] कहा गया है। इन्हे ही हमने क्रमश. उच्च, निम्न और सम कहा है।

सुर के उपर्युक्त धरातलो की भिन्नता किसी भी भाषा मे प्राय आकस्मिक नही, अपितु उसकी गठन का अङ्ग हुआ करती है।[४] इस कारण, जिस भाषा मे सुर-लहर अर्थभेदक न होकर भाव या आशयभेदक भी होती है, उसमे उसका उपरिखण्डीय स्वनिम के रूप मे परिगणित किया जाना मेरी समझ से आवश्यक है।

यह कोई आवश्यक नही कि किसी भाषा के प्रत्येक वाक्य के उच्चारण मे सुर के तीनो धरातल उपस्थित रहे ही। किन्तु, जिस वाक्य मे एक से अधिक धरातल उपस्थित हो, वहाँ उनके स्थान-परिवर्तन मात्र से ही अर्थभेद या आशय-भेद हो जाया करता है।

हिन्दी मे वाक्यस्तर पर सुर-लहर चाहे अर्थभेदक न हो, किन्तु भाव या आशय-भेदक अवश्य है, क्योकि, हिन्दी-वाक्यो के उच्चारण मे सुर के धरातलो के स्थान-परिवर्तन मात्र से ही भावभेद या आशयभेद हो जाता है, जो निम्नलिखित उदाहरणो से स्पष्ट होगा। यहाँ हम उदाहरणो मे सुर के विभिन्न धरातलो को रेखा तथा अङ्क दोनो से एक साथ इस क्रम मे सूचित कर सकते है :—

१ "उच्चैरुदात्तः"—अ० १. २. २९।
२ 'नीचैरनुदात्तः"—वही, १ २ ३०।
३ "समाहारः स्वरित"—वही; १. २. ३१।
४. डब्ल्यू० नेल्सन फ्रांसिस, "दी स्ट्रक्चर ऑफ अमेरिकन इङ्गलिश', पृ० २१३-२४।

उदाहरण

२ २ २

कैकेयी ने राम को वनवास दिया | १। (सामान्य कथन)

३

|२ २ २

कैकेयी ने राम को वनवास दिया | १। (किसी और ने नहीं)

३

२ | |२ २ २

कैकेयी ने राम को वनवास दिया | १। (किसी और को नहीं)

३

२ | |२

कैकेयी ने | राम को वनवास दिया । (शोक, धिक्कारादि)

१

२ २ २ | ३

कैकेयी ने राम को वनवास दिया ? (सामान्य प्रश्न)

३

|२ २ | ३

कैकेयी ने राम को वनवास दिया ? क्या (क्या कैकेयी ने दिया ?)

३

२ | |२ | ३

कैकेयी ने राम को वनवास दिया ? (क्या राम को दिया ?)

इस प्रकार सुर के धरातलो के परिवर्तन से उदाहृत वाक्य के द्वारा उपर्युक्त आशयो या अर्थों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के आशय या भाव यथा—प्रसन्नतासूचक, विस्मयसूचक आदि व्यक्त किये जा सकते है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन से हिन्दी मे वाक्य-स्तर पर सुर-लहर का उपरि-खण्डीय स्वनिम होना सिद्ध है।

सूचना—१ हिन्दी मे सुर के विभिन्न धरातलो के प्रयोग मे बलाघात (स्ट्रेस) के विभिन्न रूपो (यथा—प्रबल, सामान्य तथा निर्बल) का भी यत्किञ्चित् उपयोग किया जाता है। किन्तु, वहाँ प्रत्यक्ष रूप से प्रधानता

सुर की ही रहती है। इसीलिए हमने केवल सुर-लहर को ही हिन्दी का उपरिखण्डीय स्वनिम माना है, वलाघात को नही।

सूचना—२ हिन्दी मे शब्द-स्तर पर वलाघात का प्रयोग तो होता है, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से अर्थभेदक नही। इस कारण उसे हिन्दी का स्वनिम नही माना जा सकता।

सूचना—३ हिन्दी-लेखन मे प्रश्नसूचक तथा विस्मयादिबोधक वाक्यो के अन्त मे क्रमश. प्रश्नवाचक चिह्न (?) तथा विस्मयादिसूचक चिह्न (!) का प्रयोग किया जाता है, किन्तु अन्यत्र सर्वत्र पूर्णविराम चिह्न (।) का ही प्रयोग होता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी-लेखन मे सुर के विभिन्न धरातलो को सूचित करने की कोई सर्वाङ्गीण व्यवस्था नही। फलत. पाठको के लिए सुर के धरातलो की भिन्नता का पता पाने के लिए एकमात्र सन्दर्भ और अपने विवेक का ही अवलम्ब रहता है। यह दोष या अभाव केवल नागरी का ही नही, लिपि मात्र का है।

सूचना—४ हिन्दी मे मात्रा अर्थभेदक है, किन्तु हिन्दी के ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरो मे केवल मात्रा की ही नही, अपितु स्थानादि की भी भिन्नता है। इसीलिए उन स्वरो को अलग-अलग स्वनिम मान लिया गया है। ऐसी स्थिति मे मात्रा को फिर अलग से एक उपरिखण्डीय स्वनिम मानने की आवश्यकता नही रह जाती। इसीलिए उसे स्वनिम के रूप मे परिगणित नही किया गया है।



अध्याय

: १३ :

नागरी लिपि का प्रतिमानीकरण

प्रतिमानीकरण की आवश्यकता :

प्रस्तुत ग्रन्थ के दसवे अध्याय मे यह विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है कि नागरी-सुधार-आन्दोलन से नागरी को लाभ की तुलना मे हानि ही अधिक हुई है। नागरी के स्वरूप मे सुधार लाने के लिए भिन्न-भिन्न सस्थाओ, समितियो तथा विद्वानो के द्वारा जो तरह-तरह के सुझाव दिये गये या प्रस्ताव पारित किये गये; उनमे ने उपयुक्त, वैज्ञानिक एव सर्वमान्य अश के चुनाव का, देश के विद्वानो के द्वारा, अखिल भारतीय स्तर पर कभी कोई समुचित प्रयास नही हुआ। इसके विपरीत, सरकार ने राज्य-मन्त्रियो का सम्मेलन बुलाकर अपने लिए एक अलग नीति निर्धारित कर ली है और दूसरी ओर, देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तो की साहित्यिक संस्थाएँ, समितियाँ, हिन्दी-प्रचार-सभाएँ तथा भिन्न-भिन्न विद्वान, अपने-अपने सिद्धान्तो द्वारा निर्धारित पृथक्-पृथक् नीतियो पर चलते रहे है।

उपर्युक्त स्थिति का ही यह परिणाम है कि आज नागरी के स्वरूप या प्रयोग मे कही भी एकरूपता दृष्टिगोचर नही होती। कही अ की बारहखड़ी चलती दिखाई देती है, तो कही स्वर वर्णों के परम्परागत रूप का ही प्रचलन दीखता है। कही अ, ६, झ, ण, क्ष आदि का प्रयोग दीखता है तो कही अ, छ, झ, ण, त्र आदि का। किसी पुस्तक मे ख, घ, भ मुद्रित दीखता है तो किसी पुस्तक मे ख, ध, भ। कही अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु दोनो का प्रयोग अपने-अपने स्थानो पर मिलता है तो कही चन्द्रबिन्दु के स्थान पर भी अनुस्वार ही प्रतिष्ठित दिखाई पडता है। कुछ विद्वान अनुस्वार को नासिक्य व्यञ्जनो से नितान्त भिन्न मानकर उनका प्रयोग ध्वनिशास्त्र के नियमानुसार पृथक्-पृथक् स्थानो पर करते हैं तो कुछ अनुस्वार को नासिक्य व्यञ्जनो से अभिन्न समझकर उसे उन्ही का प्रतिनिधि मानते हैं और नासिक्य व्यञ्जनो के स्थान पर भी अनुस्वार के प्रयोग को ही ठीक समझते हैं। शेष कुछ ऐसे भी विद्वान हैं, जो ङ्, ञ् एवं ण् की जगह अनुस्वार का और न् और म् की जगह पर क्रमश न् और म् के ही प्रयोग को उचित मानते हैं। इसी प्रकार नागरी

वर्णो के सयोग की पद्धति मे भी एकरूपता नही पायी जाती। कही प्रेम दिखाई देता है तो कही प्रेम, कही छात्र और कही छात्र, कही खट्टा तो कही खट्टा। संक्षेप मे, आज नागरी के स्वरूप एवं प्रयोग, दोनो मे सर्वत्र अनेकरूपता, अनिश्चितता तथा अनियमितता दृष्टिगोचर होती है। इस विषम स्थिति से नागरी को उबारने का एकमात्र समाधान इसका सर्वमान्य प्रतिमानीकरण ही है।

नागरी भारतवर्ष की राष्ट्रलिपि है। इसके अतिरिक्त, यह विद्वानो के द्वारा ससार की सर्वश्रेष्ठ लिपि मानी गयी है। ऐसी स्थिति मे इसकी वैज्ञानिकता की रक्षा के लिए आज इसके स्वरूप का सभी दृष्टियो से निर्दोष, सुनिश्चित, व्यापक एव सर्वमान्य होना नितान्त आवश्यक है। यह कार्य इसके स्वरूप के प्रतिमानीकरण के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार नागरी का प्रतिमानीकरण आज के युग की माँग है। इसकी उपेक्षा न तो उचित है और न हितकर ही।

प्रतिमानीकरण के सम्बन्ध में कुछ ध्यातव्य बातें :

नागरी के प्रतिमानीकरण से सम्बद्ध कुछ बाते ऐसी हैं, जिनपर समुचित रूप से ध्यान दिये बिना प्रतिमानीकरण का निर्दोष एव सर्वमान्य होना प्राय असम्भव है। वे बातें सक्षेप मे निम्नलिखित है :—

नागरी केवल हिन्दी की ही लिपि नही है। यह एक ओर यदि सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश जैसी समृद्ध प्राचीन भाषाओ के साहित्य की लिपि रही है तो दूसरी ओर मराठी, गुजराती एव नेवारी (नेपाली) से लेकर हिन्दीभाषी प्रान्तो की प्राय अधिकाश आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओ एव बोलियो की भी लिपि है। अतः नागरी के प्रतिमानीकरण के सन्दर्भ मे इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि इसमे जो भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सुधार लाये जायँ, वे न केवल हिन्दी, अपितु उन तमाम भाषाओ के लिए भी उपयोगी एव उपयुक्त हो, जिनसे नागरी का सम्बन्ध है।

यह प्राय सर्वमान्य तथ्य है कि भारतवर्ष मे भाषा, जाति, धर्म एव सम्प्रदाय आदि की भिन्नता रहने पर भी इसकी सास्कृतिक चेतना की अन्तर्धारा पुराकाल से ही एक रही है, जिसमे समस्त भिन्नताओ तथा अनेकताओ का समन्वयात्मक समाहार होता आया है। इस एकता को और अधिक परिपुष्ट एव सुदृढ बनाने के उद्देश्य से, देश के अनेकानेक दूरदर्शी महापुरुषो ने, राष्ट्र के व्यापक हित को ध्यान मे रखकर, स्वतन्त्रता-आन्दोलन के साथ ही साथ नागरी को देश की सभी भाषाओ की लिपि के रूप मे मान्यता दिलाने की दिशा मे भी प्रयत्न प्रारम्भ कर

दिया था। वह प्रयत्न बीच-बीच में अनेकानेक कारणों से शिथिल तो अवश्य पड़ता रहा, किन्तु समाप्त कभी नहीं हुआ। वह आज भी जीवित है और उसे आगे भी अभीष्ट-सिद्धि तक जीवित रखने की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में, नागरी के प्रतिमानीकरण का प्रयत्न केवल उन भाषाओं के सन्दर्भ में करना समीचीन नहीं है, जिनकी लिपि के रूप में इसका प्रयोग पहले से होता आया है या अभी हो रहा है, अपितु यह प्रयत्न देश की उन अन्यान्य भाषाओं को भी दृष्टि में रखकर करना चाहिए, जिनकी लिपि के रूप में इसे अद्यावधि मान्यता नहीं मिल पायी है।

नागरी के प्रतिमानीकरण के सन्दर्भ में इस बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि भाषा के हित में लिपि की वैज्ञानिकता तथा टङ्कन-मुद्रणादि की यान्त्रिक सुविधा, इन दोनों में किसका महत्त्व अधिक है। किसी लिपि की वैज्ञानिकता एक पृथक् गुण है और उसका टङ्कन-मुद्रण-दूरालेखन आदि की यान्त्रिक दृष्टि से सुविधाजनक होना एक पृथक् गुण। यदि लिपि में ये दोनों ही गुण एक साथ हों तो कोई समस्या ही नहीं उठती, किन्तु कहीं-कहीं वैज्ञानिकता और यान्त्रिक सुविधा इन दोनों का एक साथ निर्वाह असम्भव भी हो जाया करता है। उस स्थिति में इन दोनों में से किसी एक का ग्रहण और दूसरे का परित्याग प्रायः अनिवार्य सा हो जाता है। तब वहाँ यह समस्या उठ खड़ी होती है कि वैज्ञानिकता और यान्त्रिक सुविधा में किसको अपनाया और किसको त्यागा जाय? हमारी समझ से यान्त्रिक सुविधा के लिए लिपि की वैज्ञानिकता का परित्याग कथमपि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इस बात को नागरी के प्रतिमानीकरण के सन्दर्भ में भी स्मरण रखना आवश्यक है ताकि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्द्धन या सुधार करते समय उसकी वैज्ञानिकता की रक्षा पर विशेष ध्यान रक्खा जा सके।

नागरी के प्रतिमानीकरण के सन्दर्भ में एक और बात ध्यान देने की यह भी है कि अबतक नागरी जिन भाषाओं की परम्परागत लिपि के रूप में मान्य रही है, उन भाषाओं का प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक सम्पूर्ण साहित्य इसी में लिपिबद्ध है। अतः ऐसी स्थिति में नागरी के प्रचलित स्वरूप में कोई भी ऐसा परिवर्तन वाञ्छनीय नहीं होगा, जिससे उन भाषाओं के लिपिबद्ध साहित्य का वाचन आगे चलकर प्राचीन लिपियों के आलेखों के वाचन की तरह दुरूह या असम्भव हो जाय।

सारांश यह कि नागरी लिपि का प्रतिमानीकरण इस रूप में होना चाहिए कि उसके प्रत्येक वर्ण तथा मात्रा का स्वरूप पृथक्-पृथक् सुनिश्चित हो जाय। उसके अक्षर-विधान तथा संयोगादि की पद्धति में सर्वत्र एकरूपता, निर्भ्रान्तता तथा

निश्चितता आ जाय। वह न केवल हिन्दी, अपितु हिन्दीतर अन्यान्य भारतीय भाषाओ की भी सर्वमान्य वैज्ञानिक लिपि बनने के उपयुक्त हो जाय। प्रतिमानीकरण के फलस्वरूप होनेवाले परिवर्तनो से, उसमे लिपिबद्ध प्राचीन साहित्य का वाचन दुरूह या असम्भव न हो जाय। उसकी वैज्ञानिकता पूर्णत अक्षुण्ण रहे तथा उसका स्वरूप न केवल विशिष्ट जनवर्ग, अपितु सामान्य साक्षर समाज के लोगो के लिए भी सहज एव सहर्ष स्वीकार्य हो।

उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए इस अध्याय मे आगे सर्वप्रथम हिन्दी की लिपि के रूप मे और तदनन्तर भारत की अन्तर्देशीय भाषाओ की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण का एक प्रस्तावित रूप उपस्थित किया जायगा और अन्त मे अन्तरराष्ट्रीय लिपि के रूप मे उसकी योग्यता पर सक्षेप मे विचार किया जायगा।

हिन्दी की लिपि के रूप में नागरी का प्रतिमानीकरण

हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण का प्रयास नागरी-सुधार के रूप मे बहुत पहले से होता आया है, जिसका विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के 'नागरी-सुधार-आन्दोलन' शीर्षक दसवें अध्याय मे किया जा चुका है। किन्तु, अभीतक भिन्न-भिन्न विद्वानो, सस्थाओ या सरकार के द्वारा हिन्दी के वैज्ञानिक लेखन के लिए नागरी के जो पृथक्-पृथक् मानक रूप स्थिर किये गये है, उनमे से कोई भी रूप पूर्णत. मानक कहलाने योग्य नही है। इसका एक कारण तो यह है कि अबतक विद्वानो ने नागरी के प्रतिमानीकरण मे यान्त्रिक सुविधा, लेखन-सुविधा, वर्णो एव मात्राओ के रूप की वैज्ञानिकता, समरूप वर्णों की भ्रमोत्पादकता, कतिपय वर्णों की द्विरूपता या अनेकरूपता तथा कतिपय वर्णो की व्यतिरिक्तता (रिडण्डेंसी) आदि भिन्न-भिन्न पक्षो पर तो पृथक्-पृथक् विचार किया है, किन्तु हिन्दी मे कुल कितनी ऐसी अर्थभेदक ध्वनियाँ अर्थात् स्वनिम (ध्वनिग्राम) है, जिनके लिए नागरी मे वर्णों का अभाव है, इस प्रश्न पर समुचित रूप से विचार नही किया है। नागरी मे जबतक हिन्दी के सभी स्वनिमो के लिए पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र एव सुनिश्चित रूप वाले वर्णो का निर्धारण नही हो जाता, तबतक हिन्दी के सम्यक् लेखन की दृष्टि से नागरी के प्रतिमानीकरण का कार्य अपूर्ण ही माना जाता रहेगा। प्रस्तुत पुस्तक के बारहवें अध्याय मे हमने इसी उद्देश्य से हिन्दी के ध्वनिवैज्ञानिक विवेचन के साथ उसका विस्तृत स्वनिमशास्त्रीय विवेचन भी किया है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि

हिन्दी के सम्यक् लेखन की दृष्टि से नागरी के प्रतिमानीकरण के लिए उसमे वस्तुतः कितने स्वतन्त्र वर्णों, मात्राओं तथा वर्णेतर चिह्नो की आवश्यकता है।

अबतक नागरी के प्रतिमानीकरण के अपूर्ण रहने या सर्वमान्य नही होने का एक कारण यह भी है कि इस दिशा मे भिन्न-भिन्न विद्वानो, संस्थाओ या सरकार के द्वारा किये गये सारे प्रयत्न प्राय पृथक्-पृथक् होते रहे है। अभी तक सरकार या किसी संस्था के द्वारा वैज्ञानिक स्तर पर उन प्रयत्नो के समन्वयात्मक एकीकरण का कोई समुचित एव व्यापक प्रयास नहीं हुआ। अत, इस समय नागरी के सर्वमान्य मानक रूप के निर्धारण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अबतक के सारे प्रस्तावित रूपो को एक साथ सामने रखकर, इस विषय के सभी क्षेत्रे के अधिकारी विद्वान तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक सोच-समझ कर उनमे से सर्वमान्य अश का चुनाव करें तथा अन्यान्य आवश्यक पक्षो पर भी विचार करते हुए सर्वसम्मति से नागरी के पूर्ण मानक रूप को स्थिर करें। किन्तु यह कार्य सरकार या किसी बडी सस्था के प्रयास से ही सम्भव है।

वैयक्तिक दृष्टि मे हिन्दी की मानकलिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण के लिए मैं निम्नलिखित बातें आवश्यक मानता हूँ —

(१) हिन्दी के जिन स्वनिमो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों का अभाव है, उनके लिए वर्णों का निर्धारण नितान्त आवश्यक है। हिन्दी मे यो तो कई स्वनिम ऐसे हैं, जिनके लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण नही हैं; किन्तु उनमे ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ को छोडकर शेष की अर्थभेदकता को सिद्ध करनेवाले स्वल्पान्तर युग्म (मिनिमल पेअर) प्राय. नहीं मिलते। ऐसी स्थिति मे यदि उन स्वनिमो को सन्दिग्ध मानकर छोड भी दिया जाय, तो कम से कम ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ के लिए वर्ण एव मात्राओ का निर्धारण अत्यावश्यक है। ये दोनो स्वनिम ऐसे हैं, जो यहाँ की कतिपय हिन्दीतर भाषाओ मे भी मिलते हैं।

(२) वर्णो की अधिकता को नागरी का दोष नही माना जाना चाहिए; क्योकि किसी लिपि की वर्ण-सख्या उससे सम्बद्ध भाषा की स्वनिम संख्या पर निर्भर होती है। लिपि की वैज्ञानिकता की यह पहली शर्त है कि उसमे सम्बद्ध भाषा के प्रत्येक स्वनिम के लिए स्वतन्त्र वर्ण हो। हिन्दी के स्वनिमो की दृष्टि से नागरी मे केवल ऋ, ॠ, ऌ, ल ्ह, एव ष् ही ऐसे वर्ण हैं, जो प्राय. अनावश्यक या व्यतिरिक्त कहे जा सकते हैं। किन्तु, इनमे से भी ऋ एव ष् दो ऐसे वर्ण है, जिनका तत्सम शब्दो के साथ हिन्दी मे प्रयोग होना आवश्यक ही है। हाँ, ॠ, ऌ, एव ल ्ह का

प्रयोग प्राय: तत्सम शब्दो मे भी विरल ही होता है, इसलिए इन तीनो को वर्णमाला से हटाया जा सकता है। ॡ के लिए स्वतन्त्र वर्ण की आवश्यकता यो भी नही है; क्योकि इसका रूप ल् मे ॠ की मात्रा लगाने से बनता है।

(३) हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे शिरोरेखा के प्रयोग को आवश्यक माना जाना चाहिए; क्योकि शिरोरेखा का प्रयोग नागरी मे मात्र अलङ्करण के लिए नही होता। शिरोरेखा के माध्यम से अनेक समरूप वर्णो का पारस्परिक अन्तर सूचित किया जाता है, जैसे—घ से ध का तथा म से भ का। ध और भ के ऊपर के दोनो छोर शिरोरेखा से सम्बद्ध नही किये जाते, जबकि घ और म के छोरो के शीर्ष शिरोरेखा से मिले रहते हैं। शिरोरेखा के प्रयोग से लेखन मे शब्दो का पार्थक्य भी सूचित किया जाता है। शिरोरेखा न देने पर शब्दो को सटाकर नही लिखा जा सकता, क्योकि उस स्थिति मे दो शब्दो के बीच पर्याप्त अन्तराल नही रहने पर पूर्वशब्द का अन्तिम वर्ण परशब्द के प्रारम्भिक वर्ण के साथ मिलकर भ्रम उत्पन्न कर सकता है, यथा—कम ला कर को कोई कमलाकर भी पढ सकता है। शिरोरेखा शब्दो को अलग-अलग रखकर इस प्रकार के भ्रम की सम्भावना को दूर करती है। इसके अतिरिक्त वह सामासिक शब्दो को स्पष्ट करने का भी कार्य करती है। इस प्रकार शिरोरेखा हिन्दी-लेखन की दृष्टि से मात्र अलङ्करण नही, नागरी की वैज्ञानिकता का अङ्ग है।

(४) नागरी मे ख का प्रचलित रूप हिन्दी-लेखन की दृष्टि से निश्चय ही भ्रमोत्पादक है। उससे रव का भ्रम हो सकता है। इसलिए नागरी के प्रतिमानीकरण मे ख के स्थान पर प्रस्तावित रूप ख को मान्यता दी जानी चाहिए जो सभी दृष्टियो से निर्दोष एव उपयुक्त है।

(५) हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे क्ष्, त्र्, ज्ञ् को यथावत् स्वीकार कर लिया जाना चाहिए, क्योकि जहाँ तक क्ष् और ज्ञ् का प्रश्न है, ये दोनो हिन्दी की दो विशिष्ट मिश्रध्वनियो के सूचक स्वतन्त्र वर्ण है, और त्र् त् एव र् का, त्र की अपेक्षा अधिक, सरल, उपयुक्त एव वैज्ञानिक सयुक्त रूप हैं। इन तीनो का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के 'नागरी-विरोधी आन्दोलन' शीर्षक आठवें अध्याय मे किया जा चुका है।

(६) हिन्दी-लेखन मे प्रचलित नागरी के द्विविध रूप वाले वर्णो के केवल एक-एक रूप को ही मानक रूप मे स्वीकृति मिलनी चाहिए। नागरी का प्रयोग, चूँकि इसके जन्मकाल से ही अनेक भाषाओ की लिपि के रूप मे तथा एक बड़े

व्यापक क्षेत्र मे होता आया है, जिसके फलस्वरूप इसके कई वर्णों के एक से अधिक रूप प्रचलित हो गये हैं, यथा—अ-अ्र, झ्-झ्, ण्-ण्, क्ष्-क्ष् आदि। इनमे झ्,झ् को छोडकर शेष के रूपो मे यद्यपि अति सामान्य भिन्नता है, फिर भी नागरी के प्रतिमानीकरण के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण का केवल एक ही निश्चित रूप हो। हमारी समझ से, उक्त वर्णो के अ, झ, ण् तथा क्ष् रूप अधिक स्पष्ट एव विशेष प्रचलित होने के कारण मानक बनने के अधिक उपयुक्त हैं।

(७) हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे चन्द्रविन्दु, अनुस्वार तथा वर्गीय पञ्चमो मे से प्रत्येक को मान्यता मिलनी चाहिए; साथ ही, प्रत्येक का प्रयोग-क्षेत्र ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से सुनिश्चित होना चाहिए। उदाहरणार्थ, चन्द्रविन्दु का प्रयोग स्वरो की अनुनासिकता के लिए, अनुस्वार का प्रयोग स्वरोपान्त तथा अन्त स्थ और ऊष्म वर्णो के पूर्व केवल अयोगवाह नासिक्य ध्वनि के लिए तथा वर्गीय पञ्चमो का प्रयोग सयुक्ताक्षरो मे स्ववर्गीय वर्णों के पूर्व तथा अन्यत्र जहाँ उनकी स्पष्ट श्रुति हो, किया जाना चाहिए। चन्द्रविन्दु के स्थान पर या वर्गीय पञ्चमो के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग पूर्णत· वर्जित होना चाहिए, क्योकि वैसा प्रयोग ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नही है।

(८) नागरी अक्षरात्मक लिपि है, इसलिए इसमे वर्णो के सयोग की अक्षरात्मक पद्धति को ही मान्यता मिलनी चाहिए, वर्णात्मक पद्धति को नही। नागरी मे वर्ण-संयोग की परम्परागत पद्धति पूर्णत. ध्वनिवैज्ञानिक एव अक्षरात्मक है, जो इस प्रकार है —(क) व्यञ्जन के वाद आने पर स्वर वर्ण का स्थान उसकी मात्रा ले लेती है; यथा—क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+उ=कु आदि। नागरी मे अ के लिए कोई मात्रा नही है। जव कोई व्यञ्जन अ से युक्त होता है तो उसमे हलन्त चिह्न नही लगाया जाता, अर्थात् हलन्त चिह्न से रहित व्यञ्जन वर्ण, जिसमे किसी अन्य स्वर की भी मात्रा न हो, अकारान्त होता है। (ख) व्यञ्जन वर्णो को सुविधानुसार ऊपर-नीचे या आमने-सामने के क्रम मे भी सयुक्त किया जाता है। जव व्यञ्जन वर्ण ऊपर-नीचे के क्रम मे सयुक्त होते हैं, तो उनके रूप केवल र् तथा त् को छोड़कर, प्राय. सबके ज्यो-के-त्यो रहते हैं, यथा—ट्ट, ड्ड आदि मे। किन्तु उक्त स्थिति मे र् का रूप कोणात्मक (‸) तथा त् का रूप, ऊपर रहने पर, न की तरह हो जाता है; यथा—त्र् मे। किन्तु, जव व्यञ्जन वर्ण आमने-सामने संयुक्त होते हैं, तो प्रारम्भिक वर्ण मे खडी पाई रहने पर निकाल दी जाती है और उसका रूप ह्न, च, ज, आदि की तरह हो जाता है और खड़ी पाई यदि वर्ण के मध्य मे रहती है, तो खड़ी पाई के वाद का अश छोटा कर दिया जाता है, यथा—क, फ, आदि मे.।

जिन वर्णों मे खडी पाई नही होती, उन्हे प्राय सदा ऊपर-नीचे के क्रम मे ही सयुक्त किया जाता है, जबकि खड़ी पाई वाले वर्णो को सुविधानुसार दोनो क्रमो मे—ऊपर-नीचे या आमने-सामने-सयुक्त किया जाता है। र् जब किसी व्यञ्जन वर्ण के पहले आता है, तो रेफ के रूप मे उस वर्ण के ऊपर जुडता है, यथा---धर्म, आर्त आदि मे। जब बाद मे आता है तो खडी पाई वाले वर्णो मे अपने कोणात्मक रूप के आगे के अश को खड़ी पाई मे मिलाकर नीचे, यथा--प्रेम, क्रम आदि मे और बिना खडी पाई वाले वर्ण मे अपने पूरे कोणात्मक रूप मे नीचे; यथा--ट्राम, ड्रामा आदि मे। इसी प्रकार त् जब र् या त् के पूर्व आता है तो अपने न रूप मे ऊपर मिलता है, यथा---त्राण, पत्ता आदि मे और अन्यत्र खडी पाई से वियुक्त रूप मे, यथा--सत्य, सत्कार आदि मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे वर्ण-सयोग के इसी प्रचलित रूप को मान्यता मिलनी चाहिए, क्योकि यह पद्धति वैज्ञानिक होने के साथ ही नागरी के अक्षरात्मक स्वरूप के उपयुक्त भी है। हलन्त चिह्न लगाकर वर्णों को सयुक्त करने की पद्धति सन्धि-नियम की दृष्टि से अवैज्ञानिक है।

(९) नागरी के प्रतिमानीकरण मे मात्रा-विधान को यथावत् मान्यता मिलनी चाहिए, क्योकि मात्राओ का विधान इसकी सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। अपनी इसी विशेपता के कारण नागरी वर्णात्मक लिपियो से अधिक विकसित दशा की वैज्ञानिक लिपि बन सकी है। इसकी आक्षरिकता का मूल आधार मात्राएँ ही हैं। मात्राएँ स्वतन्त्र वर्ण नही हैं। वे स्वरो का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे वर्णेतर चिह्न है, जो व्यञ्जन वर्णों के साथ जुडकर अपने से सम्बद्ध स्वरो की उनमे उपस्थिति सूचित करते हैं तथा व्यञ्जनो को अक्षरात्मक रूप देते है। इस प्रकार नागरी के लिए मात्राओ का महत्त्व सर्वोपरि है।

मात्रा-चिह्नो के प्रयोग की पद्धति साङ्केतिक है। वे व्यञ्जन वर्ण के चारो ओर लगते है और प्रत्येक स्थिति मे व्यञ्जन के अन्त मे अपने से सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति के सूचक होते है। इस दृष्टि से वे व्यञ्जन वर्ण के किस ओर लगते हैं, इसका कोई महत्त्व नही होता। ऐसी स्थिति मे मात्रा के स्थान को ही उससे सम्बद्ध स्वर का स्थान मान लेना एक बहुत बडी भूल है। यदि ऐसा होता तो मात्राएँ वर्ण के चारो ओर न लगकर केवल आगे ही आती, जैसा कि वर्णात्मक लिपि मे मात्रा के स्थान पर स्वर आया करते हैं। इसे नही समझ पाने के कारण ही विद्वानो ने ह्रस्व 'इ' की मात्रा की प्रयोग-पद्धति को उसके स्थान की दृष्टि से अवैज्ञानिक समझ लेने की भूल की है, जो वस्तुत अवैज्ञानिक नही, पूर्णत वैज्ञानिक

है। इसका विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे विस्तार के साथ किया जा चुका है। अत· यहाँ सक्षेप मे हमारा कथ्य मात्र इतना ही है कि नागरी का प्रचलित मात्रा-विधान जो सभी दृष्टियो से वैज्ञानिक है, उसे यथावत् रूप मे मान्यता मिलनी चाहिए। उसमे किसी प्रकार का सशोधन वाञ्छनीय नही।

(१०) 'अ' की वारहखडी को पूर्णत अमान्य घोषित कर दिया जाना चाहिए, क्योकि सन्धि-नियम की दृष्टि से वह अवैज्ञानिक है, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। हाँ, उपर्युक्त दृष्टि से प्रचलित स्वर-वर्णों मे 'ओ' का रूप निश्चय ही अवैज्ञानिक है, इसलिए उसके वदले या तो उसके प्राचीन शुद्ध रूप 'उो' को मानक रूप मे स्वीकार कर लिया जाना चाहिए या उसके स्थान पर एक नये वर्ण का निर्धारण किया जाना चाहिए।

(११) हिन्दी मे सस्कृत के अतिरिक्त अँगरेजी, फ़ारसी आदि कतिपय विदेशी भापाओ के तत्सम शब्दो का भी पर्याप्त सख्या मे प्रयोग होता है, जिन्हे अनेकानेक विद्वान प्राय· तत्सम रूप मे ही लिखना भी पसन्द करते है। ऐसी स्थिति मे उक्त भापाओ के प्रचलित तत्सम शब्दो की जिन ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण नही है, उनके लिए या तो नये वर्णों का निर्धारण होना चाहिए या उनकी समकक्ष ध्वनियो के लिए उपलव्ध वर्णो मे कुछ विशेप चिह्न लगाकर उनके स्वरूप को निश्चित किया जाना चाहिए।

सस्कृत के तत्सम शब्दो के यथावत् लेखन की दृष्टि से नागरी मे यो तो ऋ एव ऌ दोनो को मान्यता मिलनी चाहिए, किन्तु इनमे ऌ वस्तुत ल् मे ऋ की मात्रा जोडने से वना रूप है, इसलिए उसको स्वतन्त्र वर्ण के रूप मे मान्यता देना आवश्यक नही। किन्तु, जहाँ तक ऋ का सम्वन्ध है, इसका उच्चारण हिन्दी मे यद्यपि तत्सम शब्दो के अन्तर्गत भी स्वर की तरह नही होता, फिर भी लेखन मे इसको मान्यता देना आवश्यक है, क्योकि एक तो इसका प्रयोग परम्परा से होता आया है और दूसरे, इसके अभाव मे ऋतु, ऋपि, ऋण आदि शब्दो को तत्सम रूप मे लिखना सम्भव नही होगा। यही स्थिति ष् की भी है।

अँगरेजी, फारसी आदि विदेशी भापाओ के हिन्दी मे प्रयुक्त होनेवाले तत्सम शब्दो की जिन ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण नही हैं, उनके लेखनार्थ उनके समकक्ष ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णो के नीचे विन्दी देकर स्वतन्त्र वर्ण वना लेने का प्रचलन हिन्दी-लेखन मे पहले से ही है। हमारी समझ से वैसे पूर्व प्रचलित वर्णों, जैसे—क़, ख़, ग़, ज़, फ़—को भी नागरी के प्रतिमानीकरण मे

मान्यता मिलनी चाहिए। यो, जो लोग हिन्दी मे विदेशी शब्दो को तत्सम रूप मे बोलने तथा लिखने के हिमायती नही है, उनके लिए उक्त वर्णों के प्रयोग की अनिवार्यता निश्चय ही नही है। किन्तु बहुत सारे विद्वान ऐसे भी है, जो हिन्दी मे अनेक विदेशी शब्दो का प्रयोग बोलने तथा लिखने, दोनो मे तत्सम रूप मे ही करना पसन्द करते हैं। वैसे विद्वानो के लिए नागरी मे उक्त वर्णों का रहना नितान्त आवश्यक है।

(१२) हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे पूर्ण विराम के चिह्न के रूप मे परम्परागत खडी पाई (।) के चिह्न को ही मान्यता मिलनी चाहिए, अँगरेजी के विराम-चिह्न बिन्दु (.) को कदापि नही। किन्तु अर्धविराम, अल्पविराम आदि के लिए अँगरेजी के गृहीत चिह्नो को स्वीकार कर लेने मे कोई दोष नही। फिर, व्यञ्जनो के स्वर राहित्य के निर्देशार्थ उनके नीचे हलन्त चिह्न के प्रयोग को भी मान्यता देना आवश्यक हैं।

उपर्युक्त मान्यताओ एव सुझावो के आलोक मे हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण के लिए हम इसकी वर्णमाला को निम्नलिखित रूप मे मान्य स्वीकृत किये जाने का प्रस्ताव करते है। इस सन्दर्भ मे यहाँ यह भी स्मरण दिला देना आवश्यक है कि अक्षरात्मक लिपि होने के कारण नागरी-वर्णमाला परम्परा से आक्षरिक रूप मे ही उपस्थित होती आयी है, जिसे नागराक्षर, नागरी-अक्षर, अक्षरी आदि नामो से अभिहित किया जाता रहा है। अत, हम भी यहाँ उसे आक्षरिक रूप मे ही उपस्थित करना उचित समझते हैं।

हिन्दी के लिए प्रस्तावित मानक नागरी-अक्षरमाला —

(क) स्वराक्षर एव उनकी मात्राएँ :—

परम्परागत मूलस्वर—

ह्रस्व—अ इ उ (ऋ)
मात्राएँ—× ि ु ृ
दीर्घ—आ ई ऊ (ॠ) ए ओ (या ओ)
मात्राएँ— ा ी ू ॄ े ो

मिश्र स्वर—

दीर्घ—ऐ औ

मात्राएँ—ॅ ॉ

नवविकसित मूल स्वर

ह्रस्व—ए ओ (या ऒ)

मात्राएँ—ॖ ॊ (प्रस्तावित रूप)

दीर्घ—ऐ औ ऑ

मात्राएँ—ॗ ौ ॉ (प्रस्तावित रूप)

स्वरानुनासिकता का चिह्न—

चन्द्रबिन्दु—ँ (यथा—अँ आँ आदि मे)

स्वराभाव का अर्थात् हलन्त-चिह्न—् (यथा—क् त् प् आदि में)

सूचना —'ऑ' यद्यपि हिन्दी का स्वनिम नहीं, किन्तु हिन्दी-लेखन मे अँगरेजी के तत्सम शब्दो, जैसे—डॉक्टर, कॉलेज आदि में इसे प्राय मान्यता प्राप्त हो चुकी है। इसीलिए हमने भी इसे स्वराक्षरो में परिगणित कर लिया है।

(ख) अकारान्त व्यञ्जनाक्षर—

परम्परागत मूल व्यञ्जनाक्षर—

स्पर्शवर्गीय—क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म

अन्तःस्थ—य र ल व

ऊष्म—श ष स ह

मिश्र—क्ष (त्र) ज्ञ

अयोगवाह—अनुस्वार ं (अं)
विसर्ग ः (अः)

नवीन मूल व्यञ्जनाक्षर—

उत्क्षिप्त—ड़ ढ़

महाप्राण—न्ह म्ह ल्ह

अन्यान्य—क़ ख़ ग़ ज़ फ़

(ग) विभिन्न स्वरान्त व्यञ्जनाक्षर :—

ह्रस्व स्वरान्त व्यञ्जनाक्षर—

क्+अ=क, क्+इ=कि, क्+उ=कु, (क्+ऋ=कृ), क्+ए=कॆ,

क्+ऒ=कॊ

दीर्घ स्वरान्त व्यञ्जनाक्षर—

क्+आ=का, क्+ई=की, क्+ऊ=कू, (क्+ॠ=कॄ), क्+ए=के,

क्+ओ=को, क्+ऐ=कॆॆ, क्+ऒॆ=कॊॆ, क्+ऑ=कॉ।

मिश्र स्वरान्त व्यञ्जनाक्षर—

क्+ऐ=कै, क्+औ=कौ

सूचना :—व्यञ्जन के साथ स्वर का योग होने पर स्वरो का स्थान मात्राएँ ले लेती है, जो व्यञ्जन के आगे, पीछे, ऊपर और नीचे, चारो ओर लगती है। किन्तु किस स्वर की मात्रा व्यञ्जन मे कहाँ लगेगी, यह पहले से निर्धारित है, उदाहरणार्थ—आ की मात्रा 'ा' आगे, इ की मात्रा 'ि' पीछे से ऊपर तक, ई, ओ, औ तथा ऑ की मात्राएँ— ी, ो, ौ तथा ॉ' आगे से ऊपर तक, ए तथा ऐ की मात्राएँ े, ै, ऊपर और उ, ऊ एव ऋ की मात्राएँ 'ु, ू एव ृ नीचे लगती हैं। उ एव ऊ की मात्राएँ र् के साथ उसके आगे जुडती है, नीचे नही, यथा—रु रू। अ की कोई मात्रा नही है। व्यञ्जन वर्ण के साथ अ स्वर की उपस्थिति हलन्त-चिह्न का लोप करके सूचित की जाती है, जैसे क, च, ट, त, प आदि। स्वर रहित व्यञ्जन वर्ण मे हलन्त-चिह्न नीचे लगाया जाता है, यथा—क्, च्, ट्, त्, प् आदि। व्यञ्जन के साथ किसी भी स्वर की उपस्थिति अन्त मे रहने पर हलन्त-चिह्न का लोप करके ही उस स्वर की मात्रा व्यञ्जन मे लगायी जाती है। मात्रा-सयोग की यह परम्परागत पद्धति नितान्त वैज्ञानिक तथा नागरी लिपि के अक्षरात्मक स्वरूप के उपयुक्त है। अत, हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण मे इसे यथावत् स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

(घ) व्यञ्जनों के संयोगी रूप :

नागरी मे जिस प्रकार व्यञ्जनो के साथ स्वरो के योग के लिए स्वरो के पृथक्-पृथक् प्रतीक के रूप मे मात्राएँ निर्धारित है, उसी प्रकार व्यञ्जनो के साथ व्यञ्जनो के सयोग के लिए भी व्यञ्जनो के पृथक्-पृथक् रूप निर्धारित है। मात्राओं

की तरह ही व्यञ्जनों के सयोगी रूपो का निर्धारण भी पूर्णत. वैज्ञानिक पद्धति मे हुआ है, जो आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

नागरी मे व्यञ्जनो के संयोगी रूपो का निर्धारण निम्नलिखित नियमो के आधार पर हुआ है :—

(१) जिन व्यञ्जन वर्णों के अन्त मे खड़ी पाई है, उनमे से खड़ी पाई को निकाल कर, यथा .—

व्यञ्जन	सयोगी रूप	सयुक्त रूप
ख्	ख	ख्यात, आख्यान।
ग्	ग	ग्यारह।
च्	च	कच्चा, मच्छर।
ज्	ज	ज्वार, ज्यामिति।
ञ्	ञ	चञ्चल, मञ्जन।
ण्	ण	पण्डित, पुण्य।
त्	त	त्याग, पत्थर।
थ्	थ	कथ्य, थ्योरी।
ध्	ध	ध्यान, अध्याय।
न्	न	न्याय, अन्त।
प्	प	प्यार, नप्पल।
ब्	ब	शब्द, कब्जा।
भ्	भ	अभ्यास।
म्	म	म्यान, चम्पा।
ल्	ल	कल्याण, कल्प।
व्	व	व्याकरण, व्यापार।
श्	श	श्लिष्ट, पश्चाताप।
ष्	ष	कष्ट, कृष्ण।
स्	स	व्यस्त, स्थान।
क्ष्	क्ष	भक्ष्य, साक्ष्य।
त्र्	त्र	त्र्यम्बक।

(२) जिन व्यञ्जन वर्णों के मध्य मे खड़ी पाई है, उनमे खड़ी पाई के बाद के अश को अन्त से थोड़ा काटकर; यथा .—

व्यञ्जन	सयोगी रूप	संयुक्त रूप
क्	क	चक्का, मक्खन ।
फ़्	फ	फ्यूचर ।

(३) जिन व्यञ्जन वर्णो मे खडी पाई नही है, उनके रूप को यथावत् रखते हुए नीचे हलन्त-चिह्न लगाकर बाद मे आने वाले व्यञ्जन को उसके बाद लिखकर या नीचे जोड़कर; यथा—

व्यञ्जन	सयोगी रूप	सयुक्त रूप
ङ्	ङ्	अङ्ग, रङ्क, सङ्घ ।
ट्	ट्	सट्टा, नाट्य, पट्टा या पट्ठा ।
ठ्	ठ्	पाठ्य ।
ड्	ड्	हड्डी या हड्डी ।
ढ्	ढ्	ढ्योचा ।
ह्	ह्	बाह्य, आह्लाद ।

(४) र् के 'ˋ' तथा '‸' दो संयोगी रूप हैं। जब 'र्' किसी व्यञ्जन के पूर्व आता है तो वह रेफ 'ˋ' के रूप मे परवर्ती व्यञ्जन के ऊपर जुड़ता है, यथा—शर्म, कर्त्ता, अर्क आदि मे, और जब वह किसी व्यञ्जन के पश्चात् आता है, तो खडी पाई वाले व्यञ्जनो के नीचे अपने कोणात्मक रूप मे इस प्रकार जुडता है कि उसके अन्त की रेखा खड़ी पाई मे मिलकर अन्तर्लीन हो जाती है, जैसे—प्रेम, क्रिया आदि मे। किन्तु जब वह ऐसे व्यञ्जनो के बाद आता है, जिनमे खडी पाई नही होती, तो उनके नीचे अपने पूर्ण कोणात्मक रूप मे मिलता है, यथा—ट्राम, ड्राम आदि मे। ह के बाद आने पर र् अपने कोणात्मक रूप मे ह के पेट मे जुडता है, यथा—ह्रास मे। श् के पश्चात् आने पर दोनो मिलकर श्र का रूप प्राप्त करते है।

(५) त् जब त् या र् के पूर्व आता है, तो उसका सयोगी रूप त जैसा हो जाता है, जैसे—पत्ता, पत्र आदि मे।

सूचना :—व्यञ्जनो के उपर्युक्त सयोगी रूपो का प्रयोग केवल व्यञ्जनो के पूर्व ही होता है। स्वरो के पूर्व व्यञ्जनो के स्वरूप मे कोई विकार नही होता।

(ङ) विराम-चिह्न :

हिन्दी-लेखन में शब्दो के बीच के सङ्क्रमणजन्य विराम (- -), अल्प विराम (,) तथा वाक्यो के अन्त मे आने वाले पूर्ण विराम के सामान्य रूप (।),

विस्मयादिवोधक रूप (!) तथा प्रश्नवाचक रूप (?) के अतिरिक्त अन्य सारे विराम-चिह्न एव विरामेतर चिह्न ऐच्छिक हैं, अर्थभेदक नही। इसलिए वे अनिवार्य नही माने जा सकते। ऐसी स्थिति मे उनका प्रयोग लेखको की अपनी इच्छा पर ही छोड़ देना उचित है।

हमारी समझ से हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी का प्रतिमानीकरण यदि उपर्युक्त रूप मे किया जाय, तो वह सभी दृष्टियो से मानक रूप सिद्ध हो सकता है।

भारतीय भाषाओं की अन्तर्देशीय लिपि के रूप में नागरी

भारतीय भाषाओ की अन्तर्देशीय लिपि के रूप मे नागरी के प्रतिमानीकरण के लिए प्रयत्नशील होते समय, सर्वप्रथम, इस बात की जानकारी अनिवार्य है कि भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओ मे ऐसी कितनी और कौन-कौन सी ध्वनियाँ हैं, जिनके लिए प्रचलित नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों का अभाव है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमे कुछ ही भाषाएँ ऐसी मिलती हैं, जिनकी कुछेक ध्वनियो के लिए प्रचलित नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण नही हैं, अन्यथा अधिकाश भाषाओ की प्राय. सभी अर्थभेदक ध्वनियो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण हैं।

जिन कुछेक भारतीय भाषाओ की कुछ ध्वनियो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णो की वृद्धि की अपेक्षा है, उनमे दक्षिण की चार भाषाएँ—तमिल, तेलुगू, कन्नड एव मलयालम मुख्य हैं। तमिल मे ए और ओ दो ह्रस्व स्वर एवं क़ और ऩ दो विशेष व्यञ्जन ऐसे हैं, जिनके लिए प्रचलित नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों का अभाव है। इसी प्रकार तेलुगू मे ए और ओ दो ह्रस्व स्वर तथा ऱ, च़ एव ज़, तीन व्यञ्जन ऐसे हैं, जिनके लिए नागरी म वर्ण नही हैं। कन्नड मे केवल ए और ओ दो ह्रस्व स्वर ही ऐसे है, जिनके लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णो की आवश्यकता है, किन्तु मलयालम मे फिर ह्रस्व ए और ओ के अतिरिक्त क़, ऱ एवं ट़ तीन व्यञ्जन भी ऐसे हैं, जिनके लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण अपेक्षित हैं।

उत्तर की भाषाओ मे मराठी मे च्, छ्, ज्, झ् का तालव्य के अतिरिक्त दन्तमूलीय उच्चारण भी होता है तथा सिन्धी मे ग्, ज्, ड्, द्, व् का अन्तर्मुखी। इन ध्वनियो के लिए नागरी में स्वतन्त्र वर्ण नही हैं। इसी प्रकार उर्दू की क़, ख़, ग़, ज़ तथा फ़ ध्वनियो के लिए भी नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण नही है। इनके अतिरिक्त अन्य जितनी भी भारतीय भाषाएँ हैं, उनकी प्राय सभी ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण उपलब्ध हैं।

ऊपर जितनी ध्वनियो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों के अभाव की बात कही गयी है, उनमे से भी अधिकाश का मूल्य संस्वनात्मक ही है, स्वनिमात्मक नही, अर्थात् वे अर्थभेदक नही है। उदाहरणार्थ, तमिल मे ऩ, तेलुगू मे च़ और ज़ एव मराठी मे च़, छ़, ज़ और झ़।

इन सस्वनो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों की आवश्यकता नही। यो यदि इन्हे लिखना आवश्यक ही माना जाय, तो नागरी मे उपलब्ध इनकी समकक्ष ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णों के नीचे बिन्दी या कुछ अन्य चिह्न लगाकर इन्हे सूचित किया जा सकता है। इसी प्रकार सिन्धी की अन्तर्मुखी ध्वनियो ग्, ज्, ड्, द्, व् को भी नागरी मे इनके समकक्ष वहिर्मुखी ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णों के नीचे शून्य देकर रूपायित किया जा सकता है, यथा—ग॒, ज॒, ड॒, द॒ और ब॒।

अन्त मे भारतीय भाषाओ मे कुल ए ओ क़ ऱ ट़, ये पाँच ध्वनियाँ ऐसी बच रहती है, जिनके लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णों की अपेक्षा है। इनमे से ए ओ की आवश्यकता हिन्दी के लिए भी है, जिसका विवेचन हिन्दी की लिपि के प्रसङ्ग मे पहले किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में हिन्दी के लिए प्रस्तावित नागरी-अक्षर-माला में यदि क, र और ट तीन अक्षर और जोड दिये जायँ, तो वह समस्त भारतीय भाषाओ की अक्षर-माला बन जायगी।

समस्त भारतीय भाषाओ के लिए प्रस्तावित मानक नागरी-अक्षर-माला :—

स्वर :—

ह्रस्व— अ इ उ (ऋ) ए़ ओ
दीर्घ— आ ई ऊ (ॠ) ए ओ ऐ़ औ ऑ
मिश्र— ऐ औ
अनुनासिक—अँ आँ इँ ईं आदि।

व्यञ्जन :—

स्पर्शवर्गीय— क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म

अन्त.स्थ— य र ल व
ऊष्म— श ष स ह
मिश्र— क्ष (त्र) ज्ञ
अयोगवाह—अनुस्वार (अं)
विसर्ग . (अ)
उत्क्षिप्त—ड ढ
अन्यान्य व्यञ्जन—क ख ग ज फ र ट ऌ न्ह म्ह ल्ह ।

सूचना '—स्वरो की मात्राओ के जो रूप हिन्दी के लिए प्रस्तावित मानक नागरी-अक्षर-माला मे दिये गये है, उन्हे ही प्रस्तुत सन्दर्भ मे भी हम प्रस्तावित करते हैं ।

अन्तरराष्ट्रीय लिपि के रूप में नागरी

नागरी मे ससार की समस्त उपलव्व लिपियो की अपेक्षा अविक वर्ण है । ससार की किसी भी भापा मे शायद ही ऐसी कुछ ध्वनियाँ होगी, जिनसे मिलती-जुलती या समकक्ष ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्णो का अभाव हो । यो, यदि किसी भापा मे कुछेक ऐसी ध्वनियाँ हो भी, तो नागरी के उपलव्ध वर्णो मे ही कुछ विशेप चिह्नो का प्रयोग कर उनके लिए सरलता से वर्णो का निर्वारण किया जा सकता है ।

नागरी का स्वरूप एक साथ ही वर्णात्मक एव अक्षरात्मक दोनो है । यह विशेपता संसार की अन्य किसी भी लिपि मे नही पायी जाती ।

नागरी मे स्वरो की मात्राओ का वैज्ञानिक विघान एक ऐसी अनोखी विशेपता है, जो इसे ससार की सभी लिपियो से अधिक विकसित दशा की लिपि सिद्ध करती है ।

नागरी एक ओर जहाँ संस्कृत-जैसी प्राचीन योगात्मक भाषा की सफल लिपि रही है, वही यह हिन्दी, मराठी, नेपाली आदि कतिपय आधुनिक अयोगात्मक प्रवृत्ति की भापाओ की भी सफल वाहिका है ।

लिपि-विज्ञान के आचार्यो ने इस वात को मुक्तकण्ठ से घोपित किया है कि नागरी मे आदर्श वैज्ञानिक लिपि के प्राय. सभी गुण हैं ।

विद्वानो के अनुसार नागरी चीनी एव जापानी-जैसी भाषाओ की भी अन्य किसी भी लिपि की अपेक्षा, अधिक सफल लिपि वन सकती है ।

नागरी मे अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद् की वर्ण तालिका (आइ० पी० ए० चार्ट) रोमन की अपेक्षा अधिक सरलता से प्रस्तुत की जा सकती है। यह बात इस अध्याय के अन्त मे दी गयी तालिका को रोमन मे उपस्थित प्रचलित तालिका के साथ मिलाकर देखने से स्वतः स्पष्ट हो जायगी।

नागरी की उपर्युक्त विशेषताओ तथा पूर्व विवेचित कतिपय अन्यान्य विशेषताओ पर तटस्थ दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर लिपिशास्त्र का कोई भी पूर्वाग्रहरहित अधिकारी विद्वान यह सहज ही मान लेगा कि ससार की समस्त लिपियो मे अन्तरराष्ट्रीय लिपि बनने की सबसे अधिक योग्यता यदि किसी लिपि मे है, तो वह लिपि नागरी ही है।

अन्तरराष्ट्रीय ध्वनि परिषद् की नागरी वर्ण-तालिका :—

अ० ।०ए० चार्ट का हिन्दी संस्करण

(THE INTERNATIONAL PHONETIC ALPHABET)

	द्वयोष्ठ्य Bi-labial	दन्त्योष्ठ्य Labio-dental	दन्त्यवर्त्स्य Dental & Alveolar	मूर्धन्य Retroflex	तालुवर्त्स्य Palato-alveolar	वर्त्स्यतालव्य Alveolo-palatal	तालव्य Palatal	कण्ठ्य Velar	अलिजिह्व Uvular	उपालिजिह्व Pharyngal	काकल्य Glottal
स्पर्श	प ब		त द	ट ड			कॅ गॅ	क ग	क ग		?
Plosive	p b		t d	ʈ ɖ			c ɟ	k g	q G		ʔ
नासिक्य	म	नु	न	ण			ञ	ङ	ङ		
Nasal	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	N		
पार्श्विक सङ्घर्षी			ल [illegible]								
Lateral Fricative			ɬ ɮ								
पार्श्विक सङ्घर्षी			ड्ल	ळ			ल्यँ				
Lateral Non-fricative			l	ɭ			ʎ				
लुण्ठित			र						र		
Rolled			r						R		
उत्क्षिप्त			ड़	ड़					र		
Flapped			ɾ	ɽ					ʀ		
सङ्घर्षी	प ब	फ व़	थ द्र, स ज, र	ष ज़	श झ़	श्र य	च श	ख ग़	ख़ ग़	ह ९	ह ह
Fricative	ɸ β	f v	θ ð, s z, ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç ʝ	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
सङ्घर्षहीनसप्रवाहतथाअर्द्धस्वर	फ	व	[illegible]				य				
Frictionless Continuants and Semi-vowels	w ɥ	ʋ	ɹ				j (ɥ)	(w)	ʁ		

		अग्र Front	मध्य Central	पश्च Back
स्वृत	(इ ऊ ऊ)	इ ऊ	इ ऊ	ऊ उ
Close	(y ʉ u)	i y	ɨ ʉ	ɯ u
अर्द्ध स्वृत	(ए ओ)	ए ए		ओ ओ,
Half-close	(ø o)	e ø	अ	ɤ o
अर्द्ध विवृत	(ऍ ऑ)	ऍ ऍ	ə	ऑ ऑ
Half-open	(œ ɔ)	ɛ œ	अ	ʌ ɔ
विवृत	(आ)	आ ऍ	ɐ	आ आ
Open	(ɒ)	a		ɑ ɒ

अध्याय
१४

हिन्दी-वर्तनी

वर्तनी का स्वरूप-विवेचन —

परिभाषा —भाषा के शिष्ट उच्चारणानुरूप लेखन-विधान को वर्तनी कहते हैं।

भाषा अपने प्रकृत रूप मे श्रुतिग्राह्य ही होती है, चक्षुग्राह्य नही। लिपि के माध्यम से उसके श्रव्य रूप को दृश्य रूप मे परिणत किया जाता है। उस प्रक्रिया मे लेखन के कतिपय ध्वनिशास्त्रीय तथा लिपिशास्त्रीय नियमो, यथा—अनुक्रम[1] सयोग[2], द्वित्व[3], मिश्रण[4] तथा सन्धि[5] आदि का पालन अनिवार्य होता है। लेखन की यही नियमानुकूल प्रविधि लेखन-विधान या वर्तनी कहलाती है, जिसे अन्य शब्दो मे लेख-नियम, हिज्जे, अक्षरी, अक्षर-विन्यास, वर्ण-विन्यास आदि भिन्न-भिन्न पर्यायो से भी अभिहित किया जाता है।

---

१ शब्दान्तर्गत युक्तसङ्क्रमणात्मक स्थिति में उच्चरित ध्वनियों अथवा अक्षरों के पूर्वापर क्रम को 'अनुक्रम' कहा जाता है।

२ ध्वनियो के अनुक्रम के उस विशेष रूप को, जिसमें स्वर के बाद स्वर अथवा व्यञ्जन के बाद व्यञ्जन ही हो सयोग कहते है। सयोग की यह परिभाषा पाणिनि की 'हलोऽनन्तरा॰ सयोग॰ (अ० ११७) से व्यापक है। सस्कृत में व्यञ्जन के पश्चात् व्यञ्जन आता था, किन्तु स्वर के पश्चात् स्वर प्राय॰ नहीं। हिन्दी तथा अन्यान्य आधुनिक आर्यभाषाओं में यह स्थिति नहीं है। इनमें स्वर के पश्चात् स्वर भी प्राय॰ उसी प्रकार आता है, जिस प्रकार व्यञ्जन के पश्चात् व्यञ्जन। इसीलिए आधुनिक भाषाओं के सन्दर्भ में सयोग की परिभाषा को पूर्वापेक्षया अधिक व्याप्ति देने की आवश्यकता हुई है।

३ सयोग का वह विशेष रूप, जहाँ एक ही ध्वनि की आवृत्ति हो, 'द्वित्व' कहलाता है।

४. दो ध्वनियों के युगपत् उच्चारण को 'मिश्रण' कहते हैं।

५ शब्दों मे परसन्निकर्ष के कारण उत्पन्न ध्वन्यात्मक परिवर्तन की प्रकिया को 'सन्धि' कहते है।

किसी भी भाषा का प्रयोग एक विस्तृत क्षेत्र के व्यापक जनसमुदाय के बीच होता है, जिसके अन्तर्गत शिक्षित, अल्पशिक्षित, अशिक्षित सभी प्रकार के लोग होते हैं। इस कारण किसी एक काल मे भी स्थानभेद, व्यक्तिभेद तथा कतिपय अन्यान्य कारणो से भिन्न-भिन्न शब्दो के उच्चारण मे भिन्नरूपता होना एक सामान्य एवं स्वाभाविक बात है। उदाहरणार्थ; आज यदि कोई व्यक्ति भिन्न-भिन्न हिन्दी वक्ताओ के भाषण मे केवल एक 'यद्यपि' शब्द के उच्चारण को ही ध्यान से सुने, तो उसे पता चलेगा कि हिन्दी मे इस शब्द का उच्चारण यद्यपि,यद्पि, जद्यपि, जद्पि, जदपी, जदपि आदि अनेक रूपो मे होता है। इस प्रकार हिन्दी या किसी भी भाषा मे ऐसे हजारो-हजार शब्द मिलेंगे, जिनका उच्चारण उस भाषा के बोलने वाले सभी लोग समान रूप से नही करते। भाषा के सामान्य बोलचाल मे तो शब्दो के उच्चारण की यह भिन्नरूपता, किसी तरह खप भी जाती है। किन्तु, लेखन मे इस प्रकार की अनेकरूपता को प्रश्रय देना—खासकर जहाँ भाषा का प्रयोग साहित्यिक या शास्त्रीय विवेचन के माध्यम के रूप मे हो—श्रेयस्कर नही माना जाता। इसका कारण यह है कि वर्तनी की अनेकरूपता न केवल विवेचन की स्पष्टता के लिए बाधक होती है, अपितु वह अनेक प्रकार के भ्रमो, उलझनो तथा अर्थभेदो का कारण बन जाया करती है। इसीलिए, वर्तनी की यह अनिवार्य शर्त होती है कि वह शिष्ट उच्चारणानुरूप ही हो। दूसरे शब्दो मे, किसी भाषा के शिष्ट भाषित रूप मे उसके शब्दो के अन्तर्गत ध्वनियो तथा अक्षरो का जो अनुक्रम होता है, लिखित रूप मे तदनुरूप वर्णों एव अक्षरो का उसी क्रम से नियोजन, वर्तनी का मुख्य उद्देश्य होता हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तनी, वस्तुत. भाषा को लिपिबद्ध करने का वह प्रक्रियागत विधान है, जिसकी शुद्धता या वैज्ञानिकता मुख्य रूप से शब्दो के शिष्ट उच्चारण की अनुरूपता पर निर्भर होती है।

इस प्रसङ्ग मे यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से वर्तनी की शुद्धता की मुख्य कसौटी यद्यपि शिष्ट उच्चारण की अनुरूपता ही है, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर कतिपय भाषाओ मे अनेकानेक शब्दो की वर्तनी की शुद्धता समकालीन शिष्ट उच्चारण की अनुरूपता पर निर्भर न होकर परम्परा के अनुगमन पर ही निर्भर होती है। रोमन मे लिखित अँगरेजी के अनेकानेक शब्दो की वर्तनी इस कथन के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अँगरेजी मे हजारो-हजार शब्द ऐसे हैं, जिनका उच्चारण आज वैसा नही होता, जैसा कुछ शताब्दी पूर्व हुआ करता था। किन्तु उन शब्दो की वर्तनी आज भी वही है, जो शताब्दियों पहले प्रचलित थी, उदाहरणार्थ, Though. Neighbour, Eight, Knowledge Psychology,

Half आदि जैसे शब्दो की एक लम्बी सूची उपस्थित की जा सकती है, जिनके आधुनिक शिष्ट उच्चारण के साथ प्रचलित वर्तनी का यथोचित तालमेल नही वैठता। हिन्दी मे भी ऐसे अनेको शब्द है, जो लिखे तो तत्सम रूप मे जाते हैं, किन्तु जिनके उच्चारण आज तत्सम नही रह गये है। उदाहरणार्थ, लिखा जाता है—ऋषि, ऋतु, कृपा, ज्ञान, यज्ञ, रक्षा, विष आदि और उच्चरित होता है—रिशि, रितु, क्रिपा, ग्याँन, यग्यँ, रक्छा, विश आदि। साराश यह कि वर्तनी की शुद्धता सैद्धान्तिक दृष्टि से यद्यपि मुख्यत शिष्ट उच्चारण की अनुरूपता पर भी निर्भर होती है, किन्तु व्यवहार मे वह कही-कही परम्परा के अनुगमन पर भी निर्भर होती है, जो भाषाशास्त्र एवं लिपिशास्त्र की दृष्टि से ही समीचीन नही है।

वर्तनी के स्वरूप से सम्बद्ध एक ज्ञातव्य बात यह भी है कि वर्णात्मक लिपि से अक्षरात्मक लिपि की वर्तनी का स्वरूप भिन्न होता है। यो तो स्वरो एव व्यञ्जनो के लिए पृथक्-पृथक् वर्ण उक्त दोनो ही प्रकार की लिपियो मे होते हैं, किन्तु अक्षरात्मक लिपि मे स्वर वर्णों के पृथक्-पृथक् साङ्केतिक चिह्न भी होते है, जो वर्णात्मक लिपि मे नही होते। नागरी मे 'आ' के लिए 'ा', 'इ' के लिए 'ि', 'ई' के लिए 'ी' आदि ऐसे ही चिह्न है, जिन्हे मात्रा कहा जाता है। अक्षरात्मक लिपि मे स्वर वर्णों का प्रयोग केवल वहाँ होता है, जहाँ स्वर स्वतन्त्र रूप मे या किसी व्यञ्जन के पूर्व आकर अक्षर का निर्माण करता है, जबकि स्वर वर्णों के साङ्केतिक चिह्नो अर्थात् मात्राओ का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ स्वर किसी व्यञ्जन के पश्चात् आकर व्यञ्जनाक्षरो का निर्माण करता है, यथा—'आधा' मे 'आ' स्वतन्त्र स्वराक्षर है, इसलिए उसके स्थान पर स्वर वर्ण का प्रयोग हुआ है, जबकि 'धा' मे भी 'आ' स्वर ही है, किन्तु वह ध् व्यञ्जन के अन्त मे उच्चरित होकर व्यञ्जनाक्षर 'धा' का निर्माण करता है, इसलिए उसके स्थान पर स्वर वर्ण 'आ' का प्रयोग नही होकर उसके सङ्केत चिह्न अर्थात् मात्रा 'ा' का प्रयोग हुआ है।

अक्षरात्मक लिपि मे स्वर वर्णों के साङ्केतिक चिह्न की ही तरह व्यञ्जन वर्णों के सयोगीरूप भी पृथक्-पृथक् होते है, यथा—क् के लिए क, च् के लिए च, प् के लिए प, त् के लिए त आदि। व्यञ्जन के साथ व्यञ्जन के सयोग मे, पूर्व व्यञ्जन के लिए, इन संयोगी रूपो का प्रयोग होता है। अक्षरात्मक लिपि मे स्वर वर्णों के सङ्केत-चिह्न अर्थात् मात्राएँ यद्यपि अपने पृथक्-पृथक् नियमानुसार व्यञ्जन वर्ण के आगे, पीछे, ऊपर, नीचे सब ओर जुडती हैं, किन्तु उनसे सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति सदा व्यञ्जन के पश्चात् ही समझी जाती है। यही कारण है कि अक्ष-

रात्मक लिपि मे अक्षरो की सङ्घटक ध्वनियो के पूर्वापर क्रम का निर्धारण मात्राओ के स्थान के आधार पर नही किया जा सकता। इसके विपरीत वर्णात्मक लिपि मे स्वरवर्णो के पृथक् सङ्केत होते ही नही, इस कारण उसमे प्रत्येक स्वर तथा व्यञ्जन के लिए पृथक्-पृथक् वर्णो का ही प्रयोग होता है। फलत उसमे ध्वनियो के पूर्वापर क्रम का निर्वाह प्राय यथावत् बना रहता है।

उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही वर्णात्मक लिपि मे लेखन की इकाई वर्ण होता है और अक्षरात्मक लिपि मे अक्षर। अक्षरात्मक लिपि मे मात्राओं का विधान तथा व्यञ्जनो के सयोगी रूपो का विधान ही वस्तुत वे मुख्य विशेषताएँ है, जो उसकी वर्तनी को अक्षरात्मक रूप प्रदान करती है, साथ ही इन्ही विशेषताओ के कारण वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक लिपि की वर्तनी का स्वरूप भी परस्पर भिन्न हो जाता है।

हिन्दी की लिपि नागरी अक्षरात्मक लिपि है, इस कारण इसकी वर्तनी का भी स्वरूप अक्षरात्मक है। इससे भिन्न, अँगरेजी की लिपि रोमन वर्णात्मक है, इस कारण उसकी वर्तनी का स्वरूप वर्णात्मक है। वर्तनी के उक्त अक्षरात्मक और वर्णात्मक स्वरूप की भिन्नता को निम्नलिखित उदाहरणो से अच्छी तरह समझा जा सकता है। यदि हम नागरी लिपि मे, जिसका स्वरूप अक्षरात्मक है, 'चन्द्रिका' शब्द को वर्णात्मक वर्तनी मे लिखें तो इसका रूप होगा—'च् अ न् द् र् इ क् आ'। अगर नागरी वर्णात्मक लिपि होती तो इसमे हिन्दी के चन्द्रिका शब्द की वर्तनी उपर्युक्त वर्णात्मक रूप मे ही होती, जैसा कि रोमन मे लिखित CHANDRIKA मे पायी जाती है। किन्तु, नागरी चूँकि अक्षरात्मक लिपि है, इसलिए इसमे खण्डो शब्द 'च् अ न् द् र इ क आ' के आठ वर्ण-खण्डो मे नही लिखा जाकर, 'चन्द्रिका' के कुल तीन ही अक्षर खण्डो मे लेखबद्ध हो जाता है। ऐसा केवल नागरी के स्वर वर्णो के मात्रा-विधान तथा व्यञ्जन वर्णो के संयोगी रूपो के विधान के कारण सम्भव होता है। वर्णात्मक लिपि मे उक्त दो बाते नही पायी जाती। इसीलिए उसमे अक्षरात्मक रूप का लेखन सम्भव नही हो सकता, जो रोमन की लेखन-पद्धति को देखकर सहज ही समझा जा सकता है। इसके विपरीत अक्षरात्मक लिपि का उपयोग वर्णात्मक लेखन के रूप मे भी किया जा सकता है, जो नागरी के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक लिपि की वर्तनी के स्वरूप की मूलभूत भिन्नता यही है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अक्षरात्मक लिपि और उसकी वर्तनी, वर्णात्मक लिपि और उसकी वर्तनी मे अधिक विकसित दशा की लिपि और वर्तनी है।

वर्तनी की अनेकरूपता

किसी भी भाषा के लेखन मे वर्तनी की अनेकरूपता को हम लेखन का सबसे बड़ा दोष मान सकते है। इससे न केवल लेखन की शुद्धता को आँच आती है, अपितु यह अर्थबोध की सहजता और विवेचन की स्पष्टता को भी नष्ट कर देती है। यह भाषा के प्रकृत रूप की वैज्ञानिकता को दूपित करती है तथा उसके अध्ययन को जटिल बना देती है। इसलिए इसके परिहार का प्रयास प्रत्येक भाषा के प्रबुद्ध लेखको का प्रधान कर्त्तव्य माना जाता है।

वर्तनी की अनेकरूपता का एक दूसरा पक्ष भी है। उस पर भी यहाँ सक्षेप मे प्रकाश डाल देना आवश्यक है। वर्तनी के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग मे यह बताया जा चुका है कि वर्तनी की शुद्धता मुख्यत शिष्ट उच्चारण की अनुरूपता पर निर्भर होती है। तात्पर्य यह कि हम शुद्ध वर्तनी उसे ही कह सकते है, जिसमे शिष्ट उच्चारण का अनुगमन हो। किन्तु भापा मे कभी-कभी कतिपय शब्द ऐसे भी मिलते हैं, जिनके शिष्ट उच्चारण मे भी भिन्नरूपता श्रुतिगोचर होती है। उस स्थिति मे वैसे शब्दो के सर्वमान्य शिष्ट उच्चारण का निर्धारण प्राय दुष्कर-सा हो जाया करता है और तब वहाँ वर्तनी की अनेकरूपता एक स्वाभाविक अपरिहार्यता बन जाया करती है। यही कारण है कि सस्कृत-जैसी समृद्ध और अँगरेजी-जैसी विश्वव्यापी भाषा का लेखन भी वर्तनी की अनेकरूपता से पूर्णत मुक्त नही है। किन्तु, इससे वर्तनी की अनेकरूपता का औचित्य नही सिद्ध होता। वर्तनी की अनेकरूपता की उपस्थिति किसी भी भाषा के लेखन में, चाहे वह सस्कृत या अँगरेजी ही क्यो न हो, हितकर नही मानी जा सकती।

वर्तनी की अनेकरूपता के दोप से हिन्दी का लेखन भी ग्रस्त है, जो हिन्दी-लेखन के लिए एक ग्लानिजनक स्थिति है। इस विषय पर हिन्दी के भिन्न-भिन्न विद्वानो ने विस्तार से प्रकाश डाला है, जिससे एतद्विषयक अनेक तथ्य सामने आये हैं। यहाँ हम उनमे से कुछेक के विचार सक्षेप मे उपस्थित कर रहे है।

हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता की चर्चा करते हुए आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि "हिन्दी वर्तनी मे एकरूपता का अभाव बहुतो को खटकता है। वस्तुत. वह खटकने की चीज भी है, क्योकि एकरूपता न रहने से यह सशय सदा बना रहता है कि कौन प्रयोग ग्राह्य है और कौन अग्राह्य। वर्तनी की अनेकरूपता के चलते सबसे अधिक उलझन उनको होती है जो भाषा सीखने का उपक्रम करते हैं। एक ही शब्द के विविध रूप भ्रम मे डाल देते है और वे यह निर्णय नही कर

पाते कि किसे स्वीकार करना चाहिए। उसके चलते मुद्रण मे भी कठिनाइयाँ होती हैं। जिस उलझन का अनुभव लिखने वाले को होता है, उसी का कम्पोजीटर को भी। वह अपनी धारणा के अनुसार किसी शब्द को एक रूप मे कम्पोज कर भेजता है और प्रूफ देखने वाला जो सम्भवत दूसरे रूप का आग्रही है, दूसरे रूप मे संशोधन कर देता है। उदाहरणार्थ, यदि कम्पोज़ीटर ने 'चाहिये' कम्पोज़ कर दिया, तो प्रूफ़रीडर ने उसका संशोधन 'चाहिए' कर दिया। इसी तरह कोई 'जायगे' लिखता है तो कोई जायँगे, कोई 'जायेंगे' तो कोई जाएँगे। कभी-कभी 'जावेंगे' लिखने वाले भी मिल जाते हैं। यदि इन पर अनुस्वार और चन्द्रविन्दु के प्रयोग-विकल्प को सामने रखें, तो नौ-दस रूप हो जाते हैं। एक व्यक्ति 'गयी' लिखता है तो दूसरा 'गई'। जहाँ 'गये' लिखा जाता है, वहाँ 'गए' भी। लेखन की यह अनेकरूपता निश्चय ही श्लाघ्य नही कही जा सकती।"[१]

इस विषय को और अधिक विस्तार देते हुए डॉ० कामेश्वर शर्मा ने लिखा है कि "हिन्दी देवनागरी लिपि मे लिखी जाती है, जो अतिशय ध्वन्यात्मक मानी जाती है। इसलिए इस लिपि मे वर्तनी की विविधता जिस हद तक कयामत ढा सकती है, उस हद तक किसी और लिपि मे नही। 'शंकर' को 'संकर' लिख देने मात्र से अनर्थ हो जा सकता है, अवढर शिव भी अपना तीसरा नेत्र खोलने को बाध्य हो जा सकते हैं। उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी मे कई शब्दो के अनेक रूप उपलब्ध हैं—रखा—रक्खा, दीखते—दिखते, दुःख—दुख, पहिले—पहले, पढ़िये—पढ़िए, नयी—नई आदि ऐसे हजारो शब्द हैं, जो धडल्ले से प्रयुक्त हैं। उस दिन कोरिया मे युद्ध का नगाडा बजा, मेरे एक तमिल-भाषी मित्र और सहयोगी ने हिन्दी के कई पत्र खरीदे। एक पत्र मे छपा था—'दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण', दूसरे मे छपा था—'दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया की चढाई' और यह रहा तीसरा—'इन दोउन राह न पाई' का फतवा देता हुआ अपनी डफली अलग बजा रहा था—'द० कोरिया पर उ० कोरिया का धावा'। चलो छुट्टी, द० के लिए दक्षिण अर्थ लो या दक्षिणी, दक्खिन या दक्खिनी। एक पत्र दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति का नाम 'सिगमन री' बतला रहा है, दूसरा 'सियोगमन र्ही'। दक्षिण कोरिया की राजधानी तो एक ही रही होगी, पर ज़रा इन पत्रो की ओर देखिये तो 'सिऊल', 'सियोल', 'स्योल' और 'सिओल' आदि छपे हैं, रेडियो एक पाँचवाँ नाम रट रहा है—'साऊल'। आज भी हिन्दी के पत्रो पर सरसरी निगाह दौडा जाइये—आप कह नही सकते कि 'कम्युनिस्ट' या 'कम्यूनिस्ट', 'चीन' या 'चाइना' का अधिकार

१ दे० ना० श०, रा० हि० स० स०, पृ० ९९।

'फरमोसा' पर होना चाहिये कि 'फारमोसा' या 'फोरमोसा' पर। और यह 'री' महोदय आखिर क्या हैं ? 'प्रेसिडेण्ट', 'प्रेसीडेट' या 'प्रेजिडेण्ट' ? क्या आप बता सकते है कि 'ट्रूमैन', 'ट्रूमन' और 'ट्रमैन' एक ही व्यक्ति का नाम है या तीन का ? रूस का सर्वेसर्वा 'स्टालिन' था कि 'स्तालिन' ? यह रूस, 'सोवियट' है कि 'सोवियत या 'सोभियट' ? दुनिया का सबसे धनी राष्ट्र है 'अमेरिका' कि 'अमरिका' या 'अमरीका' ? इगलैंड की राजधानी 'लंडन' है कि 'लदन' या 'लण्डन' ? प्रयाग हमारा पवित्र तीर्थस्थान है, तो 'इलाहाबाद', 'अलाहाबाद' या 'एलाहाबाद' किस-किस लोक मे है ? केरल, केरल है कि केराला' कि 'कराला' ? केरल की राजधानी 'तिरुवाकुर' है कि 'त्रावणकोर', 'त्रावनकोर' या 'ट्रावनकोर' ? हिन्दी पत्रो को पढिये तो यह विविधता हैरान कर देनेवाली सिद्ध होगी। 'हिन्देशिया' के भूतपूर्व राष्ट्रपति का नाम है 'सुकर्ण' और 'इण्डोनेशिया' के राष्ट्राध्यक्ष का नाम है 'स्योकारनो'। जमशेदपुर को बसाया था 'टाटा' ने और वहाँ लोहे का कारखाना खोला था 'ताता' ने। किंवहुना—रूस और चीन के प्रधान मन्त्रियो के नाम तो दूर, भारत के मन्त्रियो तक के नाम की वर्तनी मे एकरूपता नही मिलती। शब्दो के अधिकृत उच्चारण उनके परिनिष्ठित रूप तथा उनसे सम्बन्धित स्वीकृत शब्दकोश के अभाव मे वक्ताओ की स्वाभाविक भिन्नता तथा स्वच्छन्दता आज अराजकता का रूप धारण कर रही है। वस्तुत, उच्चारण की त्रुटियाँ ही (नागरी लिपि की ध्वन्यात्मकता के कारण) हिन्दी मे वर्तनी की त्रुटियो के प्रमुख कारण है।"[१]

वर्तनी की अनेकरूपता केवल हिन्दी मे पायी जाती हो, अन्य भाषाओ मे नही, ऐसी बात नही है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि 'वर्तनी या लेखन की अनेकरूपता की चर्चा दो दृष्टियो से की जाती है—एक तो हिन्दी की अवैज्ञानिकता दिखाने के लिए और दूसरे सद्भावपूर्ण सुधार के लिए। वर्त्तमान समय मे अधिकतर लोग पहली श्रेणी के ही मिलते है, जो सदा हिन्दी की आलोचना का अवसर ढूँढने को उत्सुक रहते है। उनके सन्तोष और समाधान के लिए यह दिखाना आवश्यक है कि यह अनेकरूपता एकमात्र हिन्दी की ही विशेषता या त्रुटि नहीं है। जो लोग हिन्दी की निन्दा के लिए अवसर ढूँढते रहते है, उन्हे या तो दूसरी भाषाओ का ज्ञान नही है या जानबूझकर उस ओर से आँखें फेर लेते हैं। ऐसे लोगो मे अंग्रेजी के समर्थक भी हैं, इसीलिए कुछ अंग्रेजी की वर्तनी की चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

---

१ का०, श०, हि० की स०, पृ० १०९-१०।

अंग्रेजी की वर्तनी नितान्त दोषपूर्ण और अवैज्ञानिक है, इसमे आजतक दो रायें नही हुई । स्वय अंग्रेजो ने भी इसे नि.सकोच स्वीकार किया है । अंग्रेजी ध्वनि-विज्ञान की शायद ही कोई पुस्तक मिलेगी, जिसमे अंग्रेजी वर्तनी की दोषपूर्णता का उल्लेख न किया गया हो । कुछ लेखको ने तो वडे उग्र शब्दो मे इसकी भर्त्सना की है । यहाँ चूँकि अनेकरूपता का प्रसग है, इसलिए यह देख लेना अच्छा होगा कि वह दोप अंग्रेजी मे है या नही और यदि है तो कितना है । वात यह है कि अंग्रेजी के हजारो शब्दो का उच्चारण वदल गया, किन्तु उनकी वर्तनी आज भी वही है, जो आज से शताब्दियो पहले प्रचलित थी । उदाहरणार्थ, Daughter, Laugh, Eight, Through, Thought, Though, Neighbour, Thorough आदि शब्दो को ले ले । इनके आज के उच्चारण और वर्तनी मे कितना अन्तर पड़ गया है ! इसका कारण यह है कि पहले ये शब्द जिस रूप मे वोले जाते थे, उसी रूप मे लिखे जाते थे । आज उनके लिखने का रूप तो वही रह गया है, किन्तु उच्चारण वदल गया है । उच्चारण और लिखने का यह भेद हिन्दी के कितने शब्दो मे मिलता है !

देश-भेद, काल-भेद, उच्चारण-भेद से एक शब्द के अनेक रूप हो जाना विल्कुल स्वाभाविक है । दूसरी वात यह है कि उच्चारण का यथावत् अकन किसी भी लिपि के लिए सम्भव नही है । लिपि मे उच्चारण को निकटतम रूप मे अकित करने की चेष्टा की जाती है, मगर वह रूप निकटतम ही है, विलकुल वही नहीं । अत जहाँ उच्चारण मे भेद होता है, वहाँ लेखन (वर्तनी) मे भेद अनिवार्य हो जाता है । शेक्सपियर के समय मे अंग्रेजी वर्तनी का कोई रूप निश्चित नही था । स्वयं शेक्सपियर अपना नाम विभिन्न रूपो मे लिखा करता था । मिल्टन सर्वनामो के प्रयोग मे वल की विभिन्न मात्राओ को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न वर्तनियो से काम लेता था, जैसे—Me और Mee, She और Shee, Ye और Yee । इस युग मे कोई Many लिखता था तो कोई Manie । कही—less का प्रयोग होता था तो कही—les का, कही—ness का तो कही—nes का । सेमुअल जॉनसन के Dictionary of the English Language, (१७५५ ई०) मे एक शब्द के अनेक रूप उल्लिखित हैं, जैसे—Moveable किन्तु immovable; downhil किन्तु uphill, distil किन्तु instill, install, किन्तु reinstal, sliness किन्तु slyly, interiour और interiour किन्तु exterior और Posterior । ये विकल्प आज भी लुप्त नही हो गए है । ऑक्सफोर्ड मे abridgement, acknowledgement और judgement प्रयोग प्रचलित है तो केम्ब्रिज मे abridg-

ment, acknowledgment और judgment। इन विभिन्न प्रयोगो को देख कर किसी अन्य भाषा-भाषी का भ्रम मे पडना अनिवार्य है। इसी तरह कुछ लोग biased लिखते है तो कुछ लोग biassed, कुछ focusing तो कुछ focussing। इगलैंड और अमेरिका की वर्तनी मे जो अन्तर हो गया है, उससे सभी अग्रेजीदाँ परिचित है। जैसे इंगलैंड मे Programme, dialogue, Centre, labour, traveller, आदि प्रयोग चलते हैं तो अमेरिका मे Programe, dialog, center, labor और traveler। Full और fill मे दो 'l' तो fulfil मे एक रह जाता है, fulfillment मे कोई दो 'l' लिखता है तो कोई केवल fulfilment। हम हिन्दी-भाषियो के लिए यह तय करना बहुत कठिन है कि इसमे किसको अपनाएँ। कही fantasy लिखा मिलता है तो कही Phantasy। कुछ ही दिन पहले तक horror, terror, music, physic, chemical आदि शब्द horrour, terrour, musick, physick, chymical लिखे जाते थे। किस क्रिया मे -ise लगता है और किस मे -ize, इसके निर्धारण का कोई आधार नही है। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस और टाइम्स (समाचार-पत्र) जहाँ एक ओर apologize, realize, characterize, economize, sympathize, organize, authorize, civilize, fertilize, nationalize, scrutinize, galvonize आदि प्रयोगो को स्वीकार करते है तो दूसरी ओर वे ही निम्नलिखित शब्दो को -ise से लिखते हैं—apprise, comprise, enterprise, surprise, devise, improvise, supervise, despise, disguise, surmise। ये कतिपय उदाहरण केवल यह दिखाने के लिए दिये गए कि वर्तनी की अनेकरूपता केवल हिन्दी की ही विशेषता नही है, वह उस भाषा मे भी विद्यमान है, जिसकी वैज्ञानिकता का उद्घोष करने मे इस देश के बहुत सारे लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे है। इसे पृष्ठभूमि मे रखकर देखने पर हिन्दी की वर्तनी की अनेकरूपता किसी को नही खटकनी चाहिए।[१]

और तो और, वर्तनी की अनेकरूपता से सस्कृत भी मुक्त नही है। 'संस्कृत भाषा की, और विशेषत पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता सर्वसम्मत है, किन्तु वहाँ भी एक शब्द के अनेक रूपो की स्वीकृति दीखती है। जैसे, सँस्कर्त्ता, सस्कर्त्ता, सँस्स्कर्त्ता, सस्सकर्ता। इनमे 'त' के वैकल्पिक द्वित्व को छोड दें और एक 'त' का प्रयोग करें तो उपर्युक्त चार रूप आठ बन जाएँगे। इस तरह एक सस्कर्त्ता शब्द आठ विभिन्न प्रकारो से लिखा जा सकता है और ये सभी प्रयोग पाणिनि-सम्मत

१ दे० ना० श०, रा० हि० स० स०, पृ० १०१-२।

है। इसी प्रकार पुंस्कोकिल, पुंस्कोकिल दोनों प्रयोग शुद्ध हैं। एक ही वाक्य तीन प्रकार से लिखा जा सकता है—नॄँ पाहि, नॄं पाहि और नृन्पाहि। सत्शम्भु: की सन्धि चार रूपों में हो सकती है अर्थात् उसे चार प्रकार से लिख सकते हैं—सञ्च्छम्भु, सञ्च्शम्भु, सञ्छम्भु और सञ्शम्भु। अर्क-अर्क्क, ब्रह्मा-ब्रह्म्मा, कर्म-कर्म्म, शय्या-शय्य्या आदि दोनों प्रयोग साधु हैं। वैसे ही अप्सरा, अप्स्सरा: तथा अफ्सरा तीनों में जो चाहिए लिखिये। सुधी उपास्य', सुध्युपास्य', सुध्य्युपास्य: तथा सुद्ध्युपास्य. ये चारों सन्धि-रूप व्याकरण-सम्मत हैं, लेखक अपनी इच्छा से जिसका प्रयोग चाहे कर सकता है। आप वाग्दरि और तद्धवि. भी लिख सकते हैं और वाग्हरि और तद्हवि भी। सन्धि और कुछ नहीं, उच्चारण की सुविधा के अनुसार किया गया वर्ण-विकार है और चूँकि वह वर्ण-विकार कई रूपों में हो सकता है, इसलिए उच्चारण के अनुकूल उसके लिखने के भी अनेक रूप हो जाते हैं। संस्कृत के सन्धि-प्रकरण से ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें एक ही शब्द के अनेक रूपों की स्वीकृति पायी जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि लेखन पर उच्चारण का प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव सभी भाषाओं में देखा जा सकता है। अंग्रेजी और संस्कृत के उपरिनिर्दिष्ट प्रयोगों को देखने पर हिन्दी की वर्तनी की अनेकरूपता खीझने की वस्तु नहीं रह जाती।'[१]

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं कि हम हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता का समर्थन करें। निश्चय ही वर्तनी की अनेकरूपता किसी भी भाषा के लिए स्वाभाविक होने पर भी साधक नहीं बाधक ही मानी जायगी। यह सही है कि वर्तनी में अनेकरूपता का होना अस्वाभाविक या आश्चर्यकर नहीं है, क्योंकि उसके पीछे भाषावैज्ञानिक कारण है। पर भ्रम या संशय की स्थिति उत्पन्न न हो और भाषा में अधिक से अधिक सरलता बनी रहे, इस दृष्टि से अधिक अभ्यर्हित एकरूपता का पक्ष ही माना जायगा, अनेकरूपता का नहीं। अत वाञ्छनीय यह है कि जहाँ तक सम्भव हो, अनेकरूपता को दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

१. दे० ना० श०, रा० हि० स० स०, पृ० १०२।

अध्याय
: १५

हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण का ऐतिहासिक विवेचन

सामान्य परिचय —

हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता की ओर विद्वानो का ध्यान उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण से ही आकृष्ट होने लगा था। फलत. तभी से इसके स्वरूप के प्रतिमानीकरण की दिशा मे प्रयत्न भी होने लगे थे।

प्रारम्भ मे 'काशी पत्रिका', 'वैष्णव पत्रिका', 'विहार बन्धु', 'हिन्दी बङ्गवासी' आदि भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादको तथा कतिपय अन्यान्य विद्वानो के बीच सर्वप्रथम इस बात को लेकर विवाद चला था कि हिन्दी मे विभक्तियो (परसर्गों)को शब्दो से हटाकर लिखना चाहिए या सटाकर। उस विवाद से आसङ्गिक रूप मे, हिन्दी-वर्तनी के कतिपय अन्य प्रश्नो पर भी प्रकाश पडा था। सन् १८८६ ई० मे पटने के क्षत्रधारी सिंह ने 'लेखनियम' नाम की एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमे उन्होने उक्त विषय पर उस समय तक हुए विवाद का साराश सङ्कलित करते हुए उस पर अपना भी निर्णय दिया था।

हिन्दी-वर्तनी विषयक उपर्युक्त विवाद मे देश के जिन तत्कालीन विशिष्ट विद्वानो ने भाग लिया था, उनमे भागलपुर के प० अम्बिकादत्त व्यास का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। व्यास जी का कलकत्ते के 'हिन्दी बङ्गवासी' के सम्पादक के साथ उपर्युक्त विषय पर जम कर विवाद हुआ था। इस प्रसङ्ग मे उन्होने देश के प्राय सभी तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ हिन्दी विद्वानो के पास पत्र भेजकर उनकी सम्मति माँगी थी, जिनमे से अधिकाश ने व्यास जी के मत का ही समर्थन किया था। सन् १८९० ई० मे व्यास जी ने 'विभक्ति-विभाग' नाम की एक पुस्तिका भी प्रकाशित की थी, जिसमे उन्होने उक्त विवाद के दोनो पक्षो के तर्कों को अविकल रूप मे सङ्कलित किया था।

उन्नीसवी शताब्दी के समाप्त होते-होते हिन्दी-वर्तनी सम्बन्धी अनेकरूपता विषयक विवाद पर्याप्त जोर पकड चुका था और विद्वानो के बीच उसके प्राय: सभी पक्षो पर सोचने-विचारने की शुरुआत हो चुकी थी। उन दिनो काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी-वर्तनी तथा व्याकरण सम्बन्धी कतिपय प्रश्नो पर देश के अधिकारी विद्वानो की सम्मति एकत्र करने तथा उसी आधार पर अपना निर्णय देने के उद्देश्य से सन् १८९८ ई० मे एक उपसमिति का सङ्घटन किया था। बाद मे उस समिति के अभिस्तावो को सभा ने भी स्वीकार कर लिया था तथा उन्हे सभा के वर्तनी विषयक निर्णय के रूप मे सन् १९०० ई० मे सर्वप्रथम हिन्दी मे, और फिर कुछ अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ सन् १९०२ ई० मे अँगरेजी मे प्रकाशित किया था।

उन्ही दिनो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी अपनी 'सरस्वती' के माध्यम से खडी हिन्दी के स्वरूप के साथ ही साथ उसकी वर्तनी के स्वरूप को भी स्थिर करने की दिशा मे प्रयत्नशील थे। वस्तुत यह उनका तथा उनके युग के महान लेखको, कवियो, समीक्षको, पत्रकारो तथा वैयाकरणो के अथक प्रयत्नो का ही परिणाम था कि बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण के समाप्त होते-होते हिन्दी भाषा तथा वर्तनी, इन दोनो के स्वरूप मे बहुत कुछ स्थिरता आ गयी थी। उस युग मे पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, तथा पं० कामता प्रसाद गुरु जैसे गम्भीर वैयाकरणो, गुप्त एवं हरिऔध प्रभृति कवियो तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे समीक्षको ने अपनी सन्तुलित लेखनी से हिन्दी भाषा और साहित्य के साथ ही साथ हिन्दी-वर्तनी के स्वरूप को भी मर्यादित करने मे अपना अमूल्य योगदान दिया था। यही कारण था कि द्विवेदी-युग के पश्चात् छायावाद युग के आते-आते हिन्दी-वर्तनी के स्वरूप मे बहुत कुछ निखार एव स्वच्छता आ गयी।

आगे चलकर जैसे-जैसे साहित्य की विविध विधाओ का विकास होता गया और लेखको एवं कवियो की सख्या मे वृद्धि होती गयी, वर्तनी के क्षेत्र मे शनैः शनैः पुन. अनेकरूपता एव अराजकता बढने लगी। इसका एक कारण तो हिन्दी का देश के व्यापक क्षेत्र मे प्रचार एव प्रसार पाना था और दूसरा कारण लेखको मे भाषा-लेखन की शुद्धता एव वैज्ञानिकता के प्रति जागरूकता का अभाव था। यह स्थिति धीरे-धीरे जब अधिक जटिल होने लगी तो कुछ पत्र-पत्रिकाओ, यथा—'कल्पना', 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी अनुशीलन', 'परिषद-पत्रिका', 'भाषा', आदि ने पुन इस विषय की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया। 'कल्पना' ने विशेष विवाद मे न पडकर, अपनी मान्यताओ के अनुसार अपने लिए एतद्विषयक एक

स्वतन्त्र नीति निर्धारित करली, जिसपर वह आज भी चल रही है। उन्ही दिनो अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-सङ्घ ने श्री देवराज के सयोजन मे एक उपसमिति सङ्घटित की, जिसके सुझावो का प्रारूप सन् १९६० ई० मे प्रकाशित हुआ। उस प्रारूप पर देश के अनेकानेक विद्वानो की तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ सामने आयी।

उन्ही दिनो भारतीय हिन्दी-परिषद् का भी ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट हुआ था, जिसके फलस्वरूप आनन्द-अधिवेशन मे इस विषय पर सुझावो का एक प्रारूप तैयार करने के लिए डॉ० रघुवश के सयोजन मे एक समिति सङ्घटित की गयी, जिसके सदस्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा डॉ० हरदेव बाहरी थे। उस समिति के सुझावो का प्रारूप सन् १९६१ ई० मे प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय का भी वर्तनी-विषयक निर्णय प्रकाश मे आया। तब से अध्यावधि भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे देश के अनेकानेक विद्वानो के विचार एव प्रतिक्रियाएँ छिटपुट रूप मे प्रकाशित होती रही है। किन्तु अभी तक हिन्दी-वर्तनी का कोई एक ऐसा मानक रूप निर्धारित नही हो पाया है जो सर्वमान्य हो।

आज प्रकाशक वर्ग अपने सङ्घ की मान्यताओ के अनुसार, सरकारी कार्यालय शिक्षा-मन्त्रालय के निर्णयो के अनुसार तथा हिन्दी-लेखको मे से कुछ 'हिन्दी परिषद्', कुछ 'सभा', कुछ 'कल्पना', कुछ 'प्रकाशक सङ्घ' एव कुछ अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार हिन्दी-वर्तनी का प्रयोग करते है, जबकि शेष अधिकाश लोग वर्तनी की एकरूपता अथवा वैज्ञानिकता से लापरवाह होकर हिन्दी के लेखन, टङ्कन एवं मुद्रणादि सभी मे हिन्दी-वर्तनी को मनमाना रूप दे रहे हैं। फलत हिन्दी-लेखन के क्षेत्र मे वर्तनी की जैसी अनेकरूपता एव अराजकता आज दृष्टिगोचर हो रही है, वैसी पहले कभी न थी। यह स्थिति हिन्दी के वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से नितान्त घातक है। इस स्थिति से हिन्दी की रक्षा का एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि अबतक भिन्न-भिन्न विद्वानो, संस्थाओ तथा सरकार की ओर से हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण के लिए जितने सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबको एक साथ सामने रखकर इस विषय के सभी क्षेत्रो एवं वर्गों के विद्वान एक साथ उच्चारण, परम्परा, सुविधा तथा वैज्ञानिकता, सभी दृष्टियो से तटस्थ रूप मे विचार करे और उनमे से सर्वमान्य अशो का समन्वयात्मक पद्धति से चयन करके पारस्परिक सहमति से हिन्दी-वर्तनी के एक ऐसे मानक रूप का निर्धारण करें, जो प्राय: सबके लिए मान्य हो तथा जिसके प्रयोग को सबके लिए सभी क्षेत्रो मे अनि-

वार्य क़रार दिया जा सके। किन्तु यह महत् आयोजन सरकार या किसी बडी संस्था के द्वारा ही सम्भव है।

यहाँ पाठको की जानकारी के लिए हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण के सम्बन्ध मे प्रारम्भ से लेकर आज तक के सारे विवादो, सुझावो तथा निर्णयो के उल्लेख्य अंश ऐतिहासिक क्रम से अविकल रूप मे उपस्थित किये जा रहे है।

बाबू क्षत्रधारी सिह का 'लेखनियम'

'लेखनियम' सन् १८८४ ई० मे खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। यह कोई स्वतन्त्र कृति नही थी। इसे 'साधारण लोगो का हित विचार 'काशीपत्रिका', 'वैष्णवपत्रिका' आदि से बाबू क्षत्रधारी सिंह ने संग्रह किया' था। यह कुल १५-१६ पृष्ठो की लघु पुस्तिका थी, जिसका मूल्य मात्र दो आने रक्खा गया था। फिर भी, इससे हिन्दी-वर्तनी सम्बन्धी अनेक प्रश्नो पर तत्कालीन विद्वानो के मत-मतान्तरो का समुचित परिचय मिल जाता है। इसी दृष्टि से हम यहाँ विवेच्य पुस्तक के कुछ उल्लेख्य अंश को जिज्ञासुओ के अवलोकनार्थ अविकल रूप मे उपस्थित कर रहे हैं। बाबू क्षत्रधारी सिंह ने पुस्तक का प्रारम्भ करते हुए लिखा था —

" 'बिहार बन्धु' के सम्पादक महाशय ने हमे एक चिट्ठी लिखी है जिसका अभिप्राय यह है कि लिखने का कोई नियम होता तो अच्छा था।

समझना चाहिये कि संस्कृत सी भाषा और देवनागरी सी लिपि आज ब्रह्माण्ड मे ढूँढने से भी न निकलेगी। इसकी इतनी प्रतिष्ठा इसी कारण से हुई कि जो इसमे लिखा जाता है वही पढा जाता है और अर्थ मे कोई अनर्थ कदापि नही निकलता। बस यह गुण इसी भाषा और लिपि का माना गया है। यद्यपि इस भाषा और लिपि का देहान्त हुए बहुत दिन हो चुके थे तथापि ईश्वर की कृपा से अँगरेजी राज्य की सुधावृष्टि सी पाकर कुछ-कुछ हरी हो चली है। अब इसकी अनुवादक हिन्दीभाषा के समाचारपत्र और पुस्तकें जो छपती हैं उनमे से इस लिपि का वह गुण भी नष्ट होता जाता है। कोई किसी शब्द को विभक्ति के साथ लिखता है, कोई शब्द और विभक्तियो मे अन्तर देता है। कोई एक शब्द को तालव्य शकार से लिखता है, कोई उसे दन्त्य बनाकर शुद्ध ठहराता है। कोई किसी शब्द को केवल स्वर से लिखकर कृतकृत्य हो जाता है, कोई उसी मे य व्यंजन भी मिला देता है। बहुतेरे इकारान्त अपभ्रंश अकारान्त कर लेते हैं दूसरे उसी को

संस्कृत की रीति पर लिखते है। इसी प्रकार अब इस लिपि मे कोई नियम नहीं रहा कि कौन शब्द कैसे लिखा जाय। सक्षेप जब ऐसा ही ठहरा तो इस बिचारी फारसी लिपि ने क्या अपराध किया था कि जो दण्डनीय समझकर यहाँ से निकाली जाती है। कुछ काल मे यही दशा हिन्दी की भी हो जाय इस कारण आगे के लिए कोई नियम रहने के निमित्त सबको प्रयत्न करना उचित है, क्योकि अभी यह मिट्टी के कच्चे वासन के समान है। जैसा संस्कार इस समय मे हो वह अमिट रहेगा। कहा है 'यन्नवे भाजने लग्न संस्कारो नान्यथा भवेत्' नही तो ऐसा न हो कि सोच हाथ रहे और समय निकल जाय।"

बिहारबन्धु-सम्पादक के पत्र मे पहले इस बात के विषय मे लिखा है कि शब्दो को विभक्तियो के साथ मिलाकर लिखना अथवा नही ? हमारी समझ में इसका उत्तर यही आता है कि नही, शब्दो के साथ विभक्तियो को मिलाकर कदापि लिखना न चाहिये, क्योकि विभक्तियो के कारण न तो शब्द मे कोई आदेश अर्थात् विकार होता न विभक्तियो मे किसी अक्षर की अदल-बदल होती है, तो फिर क्यो एक मे लिखें। जहाँ शब्द अथवा विभक्ति मे परस्पर संयोग होने के कारण कुछ विकार होता है वहाँ अवश्य शब्द और विभक्ति दोनो मिलाकर लिखते हैं, जैसे उत्तम पुरुष सर्वनाम को कर्म, सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक की विभक्तियो के कारण आदेश होता है। कर्म के चिह्न 'को' को 'एँ' और सम्प्रदान के चिह्न 'के लिये' के 'क' को 'रे' और सम्बन्ध के चिह्न 'का' को 'रा' से बदलकर हमे, हमारे लिये और हमारा बना लिया। ये तीनो विभक्तियो के साथ लिखे जाते हैं। इस से सिद्ध हुआ कि शब्द और विभक्ति के मिलाने वा अलग लिखने का तत्व इतना ही है कि जो विभक्तियो के कारण शब्द वा विभक्ति मे किसी को कुछ आदेश किया जाय तो अवश्य दोनो एक मे लिखे जायँ, नही तो नही। यद्यपि श्रीयुत राजा शिव प्रसाद सी० एस० आई० कृत (हिन्दी व्याकरण) इस नवीन अद्भुत व्याकरण के मत से सम्बन्ध का चिन्ह शब्द के साथ लिखना चाहिये क्योकि ६ प्रकार के व्यक्तिवाचक मे से सम्बन्ध सम्बन्धवान मिलकर एक प्रकार का व्यक्तिवाचक होता है, तो भी आदेश न होने के कारण अलग लिखना उत्तम है, क्योकि और कारको की विभक्तियो को इस मत वाले भी अलग ही लिखते हैं और सम्बन्ध के चिह्न को भी कुछ न कुछ अन्तर देते ही हैं। यह बात और भी दो प्रमाणो से सिद्ध हो सकती है (१) समास मे शब्द सब एक मे मिलाकर लिखे जाते हैं परन्तु जहाँ-जहाँ विभक्तियाँ आकर निकल जाती है वहाँ कुछ न कुछ अन्तर शब्दो के बीच रखते ही है नही तो रामजीवन को कोई राम जी वन न पढले और अर्थ समझे कि राम जी

वन मे गये अथवा रामजी का जगल। (२) देखो संस्कृत मे विभक्तियाँ मिलाकर शब्द लिखते है, कारण यही है कि विभक्तियो के आने से कुछ न कुछ किसी न किसी को प्रत्येक शब्द मे आदेश हो ही रहता है और इसके सिवाय सधियाँ भी अवश्य होती है, इस कारण शब्द और विभक्ति दोनो मिलकर एक रूप हो जाते हैं फिर उन्हे एक मे क्यो न लिखें।

पहले हम लिख चुके है कि जब कोई आदेश होता है और शब्द के साथ विभक्ति मिलकर दोनो एक वचन बन जाते हैं तो अवश्य उन्हे एक मे मिला कर लिखते है। अब इसी क्रम के अनुसार इस बात को लिखते है कि बहुधा लोग सज्ञा और क्रिया दोनो मे व्यजन को सयुक्त करके लिखते है, जैसे उस्का, इस्मे, जिस्को, सक्ता है, बक्ता है, इत्यादि। हमारी समझ मे यह रीत अच्छी नही है, क्योकि इन्ही के बहुवचन मे उनका, इनमे, जिनको, इत्यादि लिखने मे नकार को 'का, मे और को' के साथ मिलाकर नही लिखते। सोचना चाहिये कि वह, यह, और जो को बहुवचन मे जब आदेश हो तब पहले व्यञ्जन मे 'का, मे, को' न मिले और पहला 'न' नहल् हो, तो इन्ही वह यह और जो के एकवचन के समान आदेश मे पहला व्यञ्जन 'का, मे, को' से क्यो मिले और स क्यो हल् हो ?

इसी प्रकार 'सकना' 'बकना' दो धातु है। सब धातुओ मे सामान्य वर्तमान काल की क्रिया बनाने का एक ही नियम है कि धातु के चिह्न 'ना' को 'ता' बनाकर उसके आगे 'है' लगा देते है, जैसे 'सकता है' 'बकता' है इसके सिवाय शक्ति के अर्थ मे 'सक्ता' और बोलने के अर्थ मे 'बक्ता' की भाँति क्रिया मे भी यदि 'क' और 'त' मिला के लिखा जाय तो फिर दोनो के अर्थ मे लोगो को कैसा भ्रम होगा। ऐसे ही 'करता' है वर्तमान काल की क्रिया को कितने लोग 'कर्ता' की तरह लिखते हैं समझने की बात है कि 'करता हैं' 'करना' धातु के 'ना' को 'ता' करके 'है' लगा देने से बना है, तो जब पहले ही से 'र' और 'ना' अलग अलग है तो अब किस नाते मिलाये जायँ। यदि इन दोनो शब्दो को एक ही भाँति लिखे तो लिपि-नियम न रहने से आकाश और पाताल का अन्तर मिट जायगा और अर्थ मे भी अनर्थ निकलेगा। देखो इसीलिये हिन्दी वालो ने हिन्दी शब्दो के बीच विशेष करके हल् का चिह्न ही नही माना और कदाचित् लगाते भी है, तो भाषान्तर के शब्दो मे लगाया करते हैं।

'बिहारबन्धु' के १२ वें नम्बर मे जो हमारे मत का खण्डन छपा था उसके उत्तर मे हमे कुछ लिखना पडता है। पद-विभाग की रीति जो इस समय बहुधा सरकारी पुस्तक और पत्रो मे प्रचलित है किसी न किसी बडे प्रयोजन से निकली

होगी। इसके बरतने का कोई न कोई नियम भी अवश्य बांधा गया होगा। क्योकि सरकारी राज के पहले जवतक यहाँ वालो ने छापने की युक्ति नही देखी सीखी थी, बराबर सहिता की रीति पर पद-विभाग का ध्यान न रखकर सबको एक ही साथ मिलाकर लिखते थे। डेढ वा दो सौ बरस की लिखी हुई पुस्तक के देखने से यह बात भली भाँति सिद्ध हो सकती है। इसके सिवाय जो लोग अँगरेजी स्कूल और पाठशाला से सम्वन्ध नही रखते वे अवश्य अबतक भी उसी अन्धपरम्परा पर चले जाते है।

एक मे मिला के वा अन्तर देकर शब्दो के लिखने मे कुछ न कुछ नियम अवश्य पूछा जायगा और वह आदेश छोडकर दूसरा क्या ठहरेगा, क्योकि सधि का अर्थ मेल-मिलावट है और इस सन्धि का प्रयोजन तभी पडता है जब अक्षरो मे कुछ अदल-बदल होती है।

हमारे सम्पादक महाशय यदि सावधान होकर केवल विभक्ति शब्द के अर्थ पर भी ध्यान देते तो सहज मे जान लेते कि आदेश बिना हुए विभक्ति किसी शब्द मे नही मिलती। क्योकि वि पूर्वक भज् धातु से करण मे क्तिन् प्रत्यय है और विग्रह उसका इस प्रकार करते हैं कि 'विभज्यन्ते अनया इति विभक्ति.।' यदि भाव मे प्रत्यय माने तौ भी विभाग ही का अर्थ होगा। अच्छा इसे भी जाने दो। अब यह कहो कि क्यो अगले पद मे पिछले शब्द को मिलाकर नही लिखते, विभक्ति को तो विभाजक मानते ही नही? प्राय सब शब्दो और धातुओ का शुद्ध रूप कर्त्ता कारक और विधि के एक वचनो मे देख पडता है इस कारण नदियाँ तो आप कर्त्ता के बहुवचन मे दीर्घ ईकार पर ह्रस्व इ आदेश और याँ बढाने से बना है और व्याकरण मे सत्कृतप्रवृत्ति के लिए एक न्याय है कि जिस अक्षर मे किसी सूत्र से एक बार आदेश हो चुका फिर उस सूत्र से उसी वर्ण पर आदेश नही होता, परन्तु महाशय 'याँ' पर 'यों' आदेश करते हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि यह आदेश वचन-प्रयुक्त है विभक्ति के कारण नही हुआ। यही दशा सर्वनामो की भी समझनी चाहिये।

संस्कृत मे ऐसा कही होता ही नही कि सयोग होने पर विभक्ति और शब्द मे से किसी को कुछ विकार न हो।

अब एक बडी विचित्रता है कि महाशय राम मे विसर्ग को राम के साथ मिला हुआ बतलाते हैं। यह तो सस्कृत के छोटे विद्यार्थी भी जानते हैं कि विसर्ग अपने रूप मे किसी से नही मिलता क्योकि कौमुदी मे लिखा है कि अ अ इत्यच. परावनुस्वार विसर्गौ।

प्रत्यय निश्चय को कहते हैं और यह प्रतिपूर्वक अय् धातु से बना है। फिर विभक्ति और प्रत्यय के अर्थ मे अन्तर क्यो न होगा? प्रत्यय कर्ता, कर्म और भाव आदि अनेक अर्थ मे होते हैं और विभक्तियाँ आठो कारको ही मे होती है। क्रिया मे कारक नही होता। इस कारण इन सभो के नियम भिन्न-भिन्न रहते हैं।

सोचने की बात है कि बहुधा लोग इस पर भली भाँति ध्यान नही देते कि जहाँ 'य' व्यञ्जन सहित 'ई' लिखना आवश्यक होता है वहाँ भी केवल स्वर 'ई' लिख देते है जैसे 'विजयी' और 'वाजपेयी', के बदले 'विजई' और 'वाजपेई' यह अत्यन्त अनुचित है। पहला दोप तो इसमे यह आ पडता है कि जिस प्रकृति और प्रत्यय से मिलकर शब्द बना रहता है उसकी ओर कदापि ध्यान नही जाने पाता, दूसरे परिपाटी बिगड़ती है। जिनकी सामान्य भूत क्रिया मे 'य' व्यञ्जन रहता है उन्हे यदि लाघव के लिए केवल स्वर 'ई' मे लिखें तो कोई बडा दोप न होगा जैसा कि राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई के बनाये हुए व्याकरण मे भी लिखा है, जैसे पाया से पाई, गया से गई, पर बहुतेरे ऐसा गडबड करते हैं कि भाववाचक का ध्यान न करके जहाँ किसी प्रकार 'य' व्यञ्जन का सभव नही है वहाँ भी उसे लगाकर लिखते हैं जैसे 'भलाई' का 'भलायी' इत्यादि। वह सर्वथा अनुचित है।

अब प्रत्यय और विभक्ति के अन्तर को स्पष्ट दिखलाते है। देखो प्रत्यय किसी सज्ञा वा धातु के आगे कर्त्ता, कर्म, और भाव मे जहाँ कही आवे (चाहे आदेश हो वा न हुआ हो) उसे शब्द के साथ मिलाकर अवश्य लिखना चाहिये, क्योकि यौगिक शब्दो की उत्पत्ति प्राय. प्रकृति और प्रत्यय मिलकर होती है इस कारण प्रत्यय भी उस शब्द का एक अग ही ठहरता है, फिर उसे शब्द के साथ मिलाकर क्यो न लिखें, जैसे कर्त्ता मे 'मारनेवाला', 'होनहार', इत्यादि, कर्म मे 'काटा हुआ', 'लिखा हुआ', इत्यादि, भाव मे 'लडकपन, बुढापा, रुकावट इत्यादि। परन्तु गुण वाचक बनाने मे उपमा के लिये जो सा, सी, और से माना गया है वह प्रत्यय नही किन्तु 'ऐसा' का सक्षेप करके 'सा' बना लिया है। इसलिये यह एक अलग ही शब्द हुआ। इसी प्रकार 'होता है', 'करता था,, 'खा गया', 'मार चुका', 'जाना पडा', 'रोने लगा' इत्यादि मे है, था, गया, चुका, पडा, लगा, आदि अलग-अलग शब्द हैं, इस कारण मिलाकर नही लिखे जाते पर यदि बोलेगा, खोलेगा आदि मे कोई गा को अलग लिखा चाहे तो अनुचित है क्योकि यह प्रत्यय है शब्द नही ठहरता। कदाचित् कोई कहे कि है, था, गा, वर्तमान, भूत और भविष्यत् के समान चिह्न हैं तो पहले दो को क्यो जुदा लिखें, और तीसरे को एक मे मिलावें?

इसका उत्तर हम यही देंगे कि 'गा' है और था की तरह काल का चिह्न तो है पर शब्द नही क्योकि यह अकेला सार्थक नही होता। ऐसा तो बोलते हैं कि यह बात है, वह खेल था, पर यह किसी को कहते न सुना कि 'यह खेल गा।' इस कारण 'गा' प्रत्यय छोडकर शब्द कदापि नही ठहर सकता।

फिर विकृतियो को एक साथ मिलाकर लिखने मे बहुत से दोष भी निकलते है। देखो भूमि, मन, तिन आदि शब्दो के साथ यदि 'का' मिलाकर लिखा जाय तो भूमिका (दीवाचा), मनका (माले का दाना), तिनका (तृण) आदि शब्दान्तरो का भ्रम होगा।

सस्कृत मे अनुस्वार के दो भेद और किये है, एक सानुनासिक, दूसरा परसवर्ण। ये तीनो जुदी जुदी तरह पर लिखे जाते है। अनुस्वार का स्वरूप स्वर के ऊपर की एक बिंदी है, जैसे—कस, वश, सहार, ससार आदि मे। सानुनासिक अनुस्वार के नीचे अर्द्धचन्द्र लगाकर लिखा जाता है, जैसे डाँक, बाँस आदि मे। परसवर्ण के लिए यह नियम है कि अनुस्वार के आगे यदि वर्गों का कोई अक्षर होता है तो अनुस्वार को उसी वर्ग का पचम अक्षर बनाकर लिखते है जैसे अङ्कुर, अञ्चल आदि। आजकल हिन्दी मे परसवर्ण को तो कोई-कोई मानते हैं पर सानुनासिक का पूरा अभाव है। हमारी समझ मे यह अनुचित है क्योकि आनुनासिक और अनुस्वार के उच्चारण मे बडा अन्तर है; और जिस दशा मे इनके चिह्न अलग-अलग पहले से नियत हैं तो इस पकी-पकाई खिचडी को हम किस दोष से छोडें और देव-नागरी लिपि के उस उत्तम गुण को कि जो इसमे लिखा जाता है वही पढा भी जाता है नष्ट करे।"[१]

पुस्तक के अन्त मे कुछ शब्दो के शुद्ध-अशुद्ध रूप की वर्तनी की सक्षिप्त तालिका भी दी गयी थी, यथा—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
ऐक्य	ऐक्यता	एकता
धैर्य	धैर्यता	धीरता
सौजन्य	सौजन्यता	सुजनता
जाड्य	जाड्यता	जडता

१ बाबू क्षत्रधारी सिंह, लेखनियम, पृ० १ से १४।

५० अम्बिकादत्त व्यास का 'विभक्ति-विभाग'

साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास विरचित 'विभक्ति-विभाग' नामक पुस्तक १८९० ई० मे व्यास प्रेस, भागलपुर से प्रकाशित हुई थी। यह कुल २८ पृष्ठो की पतली सी पुस्तक थी, जिसका मूल्य मात्र दो आने रक्खा गया था। इसमे मुख्यत 'हिन्दी भाषा मे विभक्तियो को अलग लिखना कि नही ? इस विषय का विचार' किया गया था। यहाँ हम विवेच्य पुस्तक के कुछ अश को अविकल रूप मे उपस्थित कर रहे हैं ताकि जिज्ञासु पाठक यह जान सकें कि हिन्दी-वर्तनी के विभिन्न पक्षो पर उन्नीसवी शताब्दी के विद्वानो की चिन्तन-धारा तथा मान्यताएँ क्या और कैसी थी।

पुस्तक के प्रारम्भ मे व्यास जी ने सर्वप्रथम संसार की परिवर्तनशीलता का विस्तृत वर्णन किया था। तदनन्तर शब्द-परिवर्तन तथा भाषा-परिवर्तन के कारण नवीन भाषाओ के जन्म की चर्चा करते हुए लिखा था—

"देखिये तो कैसा आश्चर्य है कि किसी एक शब्द को दूसरे ढग से प्रचार करने के लिए यदि चक्रवर्ती महाराज भी यत्न करे तो वह घर-घर आपामर के स्वाभाविक भाषण मे नही आ सकता पर प्रकृति का ऐसा बल है कि बाल से वृद्ध तक को बिना सिखलाये एक नयी भाषा बुलवा देती है।

यह काम तो इतना भारी है कि सर्वांग सुन्दर एक नवीन भाषा की सृष्टि होना और उसका एक प्रदेश मे घर-घर व्यवहार होना पर इसके प्रचारक एक साधारण लोग हैं अर्थात् बालक और मूर्ख ! कैसा आश्चर्य है कि विद्वान् लोग तो बनी बनाई भाषा ही को पढ उसी के नियम और साहित्य मे उलझे-पुलझे वहाँ ही रह जाते हैं और बालक तथा मूर्खगण नवीन भाषा बनाने की नीव डालते रहते हैं। विद्वानो का व्याकरण आदि द्वारा सदा यही उद्योग रहता है कि बस जो हुआ सो हुआ अब इतने ही पर रहो इसी नियम के अनुसार बोलो चालो और नवीन ढंग न निकालो। पर बालमूर्ख सुनते सुनाते भी भगवती प्रकृति की सहायता से एक नयी भाषा बना ही डालते हैं।

भाषा शब्दो का केवल रूपान्तर ही नहीं करती है परन्तु दो अलग शब्दो को धीरे-धीरे जोड भी डालती है और फिर एक को कभी-कभी पहले शब्द का ऐसा दास बना देती है कि वह उस शब्द का प्रत्यय कहाने लगता है।

किसी-किसी की तो यह राय है कि सब भाषाओ मे जितने प्रत्यय हैं वे किसी समय भिन्न शब्द ही थे पर मिलते-मिलते और प्रकृति के रगड़ से घसते-

घसते अब ऐसे छोटे और विचित्र हो गये है कि वे अकेले प्रयुक्त भी नही होते और बिचारें क्रीतदास की भाँति कोरे प्रत्यय कहलाते है।

कौन जानता है कि यही बात ठीक हो और गम् और इष् दोनो धातुओ ने आपस मे गट्ट पट्ट हो एक ही जिगमिष् विचित्र आकार धारण कर लिया हो और विचारा द्वितीय धातु कोरा प्रत्यय कहला गया होगा। जो कुछ हो इस समय यही चित्त मे आ गया कि देखें तो बाबा हमारी अपनी हिन्दी भाषा मे 'मे, से' आदि स्वतन्त्र अव्यय है कि पूर्व शब्दो के अनुचर हो गये ?

पहले यह देखा कि ये किसी भाषा के प्रत्ययो से उत्पन्न है कि स्वतत्र शब्दो से, क्योकि यदि प्रत्ययो से उत्पन्न हो तब तो ये अनुचर शब्दो के वशपरम्परा ही मे हुए, पर नही वहाँ प्राय यही पता लगा कि सस्कृत भाषा के स्वतत्र शब्दो के विशुद्ध वशो मे इनकी उत्पत्ति है। तब देखा कि प्राचीन पुस्तको मे लेख का व्यवहार क्या है, तब उधर तो कोरी शब्दध्वनि ही मिली क्योकि प्राचीन लेख मे शब्दो को अलग-अलग लिखना था ही नही। यहाँ तक कि महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने ग्रन्थ मे कही अवकाश (Space) नही लिखा [यह उनके स्वयं लिखित ग्रन्थ के अवलोकन से विदित होगा—जिसके नमूने का चित्र बाँकीपुर निवासी महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह ने छापा है] यदि बोलचाल मे यह बात ढूँढी जाय तो हमारा स्वदेशीय तो हिचकी, खाँसी, छीक आदि के कारण से रुके तो रुके नही क्यो रुक-रुक के बोलैगा ? पर यदि विदेशी बोले तो न जानने के कारण से सोच-सोच के बोलैगा नही तो वह भी प्रतिशब्द पर क्यो रुकेगा ?

तब यह विचारा कि आजकल अँगरेजी भाषा की बासना से जो हमलोगो ने प्रतिशब्द भिन्न-भिन्न कर लिखना सीखा है इस अनुसार छपी पोथियो मे क्या डौलडाल है। तो देखा कि जो पुस्तक सामने आवे उसमे अलग ही अलग। हाँ सौ मै पाँच अथवा सात शब्द ऐसे मिलने लगे कि जो एक मे मिला के लिखे गये हैं। तब यह निश्चय हुआ कि शब्द अलग है इसमे सन्देह नही पर यह विचार शेष रह गया कि जिनके कर कमलो से मिला के लिखे जाते है उनपर उस प्रकृति भगवती की मेलनी शक्ति का प्रभाव है अथवा असावधानता है ?

विशेष अनुसन्धान से यही विदित हुआ कि कितनो को तो इसकी आशङ्का भी नही कि दो शब्द है अथवा एक है जो हाथ आया लिख मारा, कितने प्राचीन लिखित पुस्तको के पढने-पढाने वाले शब्दो को उसी सस्कार से ऐसा फसाफसा के लिखते है जैसे मकर के मेले मे प्रयाग की गाडी पर यात्री ठूँसे जाँय और कितने ही इन चिह्नो का नाम विभक्ति सुनते ही सस्कृत का स्मरण कर मिलाने लगते है और

कितने अल्पज्ञ उनी की लकीर पर फकीर होते है। पाठकगण से यह कहना व्यर्थ है कि इन वर्ग वालो का लेख प्रामाणिक नही हो सकता। जब समझ के लिखने वालो के ग्रन्थ छानना आरम्भ किया तो एक दो उनमे भी कट्टर मिले जो भूल के नही, अज्ञता से नही, देखादेखी नही किन्तु अपने गम्भीर विचार से मिलाकर लिखना आरम्भ करते है। सर्वज्ञ कौन है, पर हमारी साधारण समझ मे कदाचित् रेवरेण्ड जे पार्मन साहब सब का सङ्ग छोड मिला के लिखने मे अग्रणी हुए और अनन्तर काशीवासी रेवरेण्ड डब्लू एथरेण्टन (मेरे परिचयी) ने अपने व्याकरण मे इसे मिलाने पर बल दिया। और अपनी पुस्तक मे एक छोटी टिप्पणी यो लिखी।'

The signs of the cases being mere particles having now no meaning apart from the words whose cases they indicate, there seems to be no reason why the common method of writing them seperate from their words should be adhered to. Like the Latin enclitics que, ae, ne, etc , they might be conveniently joined to their words The Rev. j Parsons, however, is the only writer, that I am aware of, who has ventured to depart from the common usage in regard to this matter In his excellent versions of the New Testament, the Pilgrim's progress, and other books, the signs of the cases are joined to the nouns

[Students grammar 2nd Edition of 1873-P. 44]

इस लेख से स्पष्ट प्रगट होता है कि इनी दोनो विद्वान पादरी साहबो ने 'मे से' आदि स्वतत्र अव्ययो को प्रत्यय बनाकर शब्दो का गुलाम बनाने का साहस किया परन्तु उसी समय के वहाँ ही रहने वाले जगत् प्रसिद्ध हिन्दी लेखक बाबू हरिश्चन्द्र और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द आदि महामहोदयो ने इसे अस्वीकार किया और अपने ग्र थ मे अलग ही का प्रचार रक्खा।

एथरेण्टन साहब ने ४४ वें पृष्ठ मे तो मिला के लिखने का लेक्चर झाड़ा है और ४५ वें पृष्ठ मे लिखते है[१] (ब्राह्मण का पुत्र) चाहे यह मेल भ्रम हो अथवा सूक्ष्म बुद्धि हो पर इस मेल को हम प्रकृति कृत ही मान लेते हैं और यह नियम

१ पहले एडिशन में अलग ही अलग है पर दूसरे में सब मेलजोल है।

१ हे, अरे, पर आदि को भी वे मिलाना चाहते हैं इसका कारण वे ही समझें अथवा उनके शिष्य लोग जानें।

प्रचार करना उचित समझते हैं कि अलग लिखना बहुत उत्तम है और मिल जाय तो साधारण है।

मैंने सोचा कि जैसे सस्कृत मे "लोप शाकल्यस्य" "अवड स्फोटायनस्य" आदि द्वारा भिन्न सम्मति दिखाकर पाणिनीय ने कई विकल्प ओ विकल्प के कारण दिखला दिये वैसे ही महाशयो की सम्मति ले सम्मतिसहित नियम प्रकाशित किया जाय इस पर मैंने कई प्रधान पुरुषो को पत्र भेजा और उत्तर पाया सो अलग प्रकाशित किया है।

'हिन्दी बङ्गवासी' नामक कलकत्ते के प्रसिद्ध मासिक पत्र ने हमारे पत्र पर एक लेख लिखा सो हमे विदित होता है कि लेखक ने कुछ शीघ्रता से गम्भीरता बिना सोचे लिखा है वे और चार हाथ लम्बा लेख लिखते तो भी हम इतना ही अर्थ निकालते कि उनकी सम्मति मिला के लिखने की है। हम इतना ही सार ग्रहण कर लेते परन्तु ऐसे बडे पत्र का लेख है क्या जाने उसी का कथन ठीक हो और हमी लोग भूलते हो इसके परीक्षणार्थ हम वह लेख ज्यो का त्यो कुछ अपनी टिप्पणी सहित आगे प्रकाशित करते है, आशा है कि हमारे सहयोगिगण, तथा पाठकगण हमारे इस लेख का सदसद्विवेक करेंगे और 'हिन्दी वङ्गवासी' के सम्पादक ने जैसे अबकी परिश्रम किया वैसे ही सदा हमारे ऐसो के अज्ञानोन्मूलन का यत्न करते रहेगे।

महाशयो की सेवा मे जो पत्र भेजा गया सो यह है :—

हेमचन्द्र आदिक कोऊ पण्डित नहिं दरसात।
तब भाषहु तजि आह को कासो पूछिय बात।।

करुणा निधान्,

विनयपूर्वक आपसे प्रार्थना करता हूँ कि निम्नलिखित विषय पर अपनी सम्मति देकर जितना शीघ्र हो सके मुझे कृतार्थ कीजिये और मैं ने जो आपको इस विषय मे कष्ट दिया है सो क्षमा कीजिये।

हिन्दी भाषा मे 'मे से के' आदि विभक्तिचिह्न शब्दो के साथ मिला के लिखना चाहिये अथवा अलग-अलग ? मेरी समझ मे ये स्वतन्त्र विभक्ति नामक अव्यय है सो इनका अलग ही रहना उचित है। इनके अलग रहने का और भी एक कारण देख पडता है कि इनकी उत्पत्ति भिन्न शब्दो ही से है जैसे मध्यम्, मज्झम्, माझ, मधि, माहि, महिं—मे इत्यादि।

आपका अनुग्रहभिक्षु

भागलपुर अम्बिकादत्त व्यास

इस प्रश्न पर महाशयों की सम्मति का साराश ।

नाम	सम्मति
[एसियाटिक सोसाइटी से]—	ठीक है अलग ही
महाशय रुडल्फ हारनली—	अलग लिखना चाहिये
महाशय जी, ऐ० ग्रेयर्सन—	,,
रेवरेण्ड जे जे जान्सन—	,,
राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द—	,,
एडिटर क्षत्रिय पत्रिका—	,,
,, विहार बन्धु	,,
,, खिचरी समाचार—	,,
,, हिन्दी प्रदीप—	,
,, द्विज पत्रिका—	,,
,, भारत जीवन—	,,
,, हिन्दोस्थान—	,,
,, कवि व चित्रकार—	,,
,, मित्र विलास—	,,
(पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० बनारस के स्कूलों के इन्सपेक्टर)	अलग ही लिखना चाहिए जो मिला के लिखेगा उसे मैं पण्डित न समझूँगा ।
मुन्शी नवलकिशोर साहब—	अलग ही लिखना चाहिये
पण्डित सुखवासी तिवारी—	,,
बाबू अयोध्या प्रसाद—	,,
श्री राधाचरण गोस्वामी—	विभाषा से काम लिया जाय ।
बाबूरामचरण सिंह—	अलग ही लिखना चाहिए ।
बाबू तारापद घोषाल—	एक ही मे लिखना चाहिये अथवा कुछ अलग ही सही अथवा एक छोटा [-] डैस देके लिखा जाय ।
हिन्दी बङ्गवासी —	मिला ही के लिखना चाहिये
मौलवी यासिन[१] —	अलग लिखना चाहिये ।

१ इस बात पर बहुतों की सम्मति मिलती है कि सर्वनाम में मिला के लिखना चाहिये । यह सम्मति इनकी भी है ।

सम्पादक 'ब्राह्मण'	—	अलग लिखना चाहिए।	
व्यास रामशङ्कर शर्मा	—	,,	,,
बाबू बदरीनारायण चौधरी			
(स० आनन्द कादम्बिनी)	—	,,	,,
बाबू दुर्गा-प्रसाद मिश्र	—	,,	,,

'वङ्गवासी' ने घटाटोप लेख लिखा है सो टिप्पणी सहित यह है।

"उक्त चिट्ठी मे पण्डित जी ने लिखा है, कि 'रामने' 'कृष्णको' आदि पदो को 'राम ने' 'कृष्ण को' आदि रूप से लिखना चाहिये और इस व्यवस्था को समर्थन करने के लिए दो युक्तियाँ वतायी है (१) ने, को आदि विभक्ति स्वतन्त्र अव्यय है, और (२) उनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र सस्कृत शब्दो से है। बडे शोक के साथ हमको कहना पडता है कि पण्डित जी की इस व्यवस्था का हम समर्थन नही कर सकते है।

पाठको ने देखा होगा, कि 'हिन्दी वङ्गवासी' मे सदा[१] शब्द और विभक्ति एकत्र ही लिखे जाते है, और शायद इसी कारण[२] पण्डित जी ने इस विषय का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त करने की इच्छा से यह छपी चिट्ठी वितरित की है। इस प्रकार अन्यान्य लेखको के विपरीत एक भिन्न ही प्रणाली अवलम्वन करने के समय हमलोगो को जो कारण सूझे थे, उनको आज अवसर पाकर यहाँ प्रकाशित करते है।

सबसे पहले हम एक वात चेता देना चाहते है कि हम उनलोगो मे नही है, जो हिन्दी को सस्कृत के पैर मे वाँधकर उसे उसकी दासी वनाये रखना चाहते है।[३]

---

१ सदा !!! शिव शिव इससे वढके अनर्गल क्या होगा ? आप इधर की कई सख्या छोड उधर की फाइल तो उलटिये, देखिये तो कि हजारों शब्द आपने अलग-अलग लिखे है और कै गण्डा मिलाये है अथवा सो भी नहीं। छोटे अक्षर शीघ्र दृष्टिगोचर न हों तो मोटे-मोटे अक्षर "टाइप का कारखाना" यह आप प्रतिवार छापते आये है देखिए तो ? यों सीधा-सीधा कहिये न साहब कि हमारा वडा आफिस है सदा लेखकों का हेरफेर रहता है, पुराने लेखक सदा वैसा ही लिखते थे नये लेखक सदा ऐसा ही लिखते है औ और नये आवेगे तो और भी नये ढग निकालेगे।

२. नही नहीं, यह कुछ भी कारण नहीं है, ऐसा होता तो में आपसे गुप्त पत्रो ही में वात चीत करता, प्रत्युत स्वय इसके सिद्धान्त की आवश्यकता है और ऐसे ही जव जव आवश्यकता होगी तव-तव मै ऐसी वातें पूछूँगा, तव जिनकी सम्मति मुझसे न मिलती हो वे स्वप्न मे भी ऐसा न समझें कि उनी पर आक्षेप के लिए यह पत्र गया है।

३. तव क्यों सस्कृत के प्रातिपदिक और विभक्ति के नियमो के अनुसार हिन्दो में विभक्ति मिलाने का हठ करते है ?

इसमे कुछ शङ्का नही, कि हिन्दी के बहुत से शब्द तथा उसके बहुत से नियम संस्कृत भाषा से लिये गये हैं, हम यह भी मानते हैं कि संस्कृत हिन्दी की माता है, परन्तु इसीलिये हिन्दी को सदा संस्कृत के अधीन रखना हमारी राय नहीं है।[1] लङ्गडे मनुष्य का पैर जबतक सीधा नही हो जाय और जबतक वह अपने पैर के बल नही चल सके, तबतक उसे लाठी पर भार देके चलना आवश्यक और उचित है, पर जब उसकी टङ्गडी सीधी हो जाय और वह बिना छडी कोसो दौड़ सके तब भी उसे लाठियो का गुलाम बनाये रखना किस सच्चे डाक्टर का उपदेश होगा ? सो हिन्दी की भी वही दशा है। जिस दिन इसके शब्द नही थे, इसका व्याकरण नही था, उस दिन अलबत्ते यह संस्कृत की शरण मे गयी थी[2] पर अब तो इसमे हजारो शब्द हैं, इसका स्वतन्त्र व्याकरण है,[3] सब प्रकार के भाव इसमे प्रगट हो सकते हैं, तब भी यह संस्कृत के भरोसे या किसी अन्य भाषा के भरोसे क्यो रहे ? आजकल इसे जितना सम्पर्क फारसी, अङ्गरेजी आदि भाषाओ से है उतना ही संस्कृत से भी है।[4] संस्कृत के बहुत से शब्दो का रूप तथा लिङ्ग हिन्दी मे बदलकर ग्रहण किया गया है, बहुत सी बातें इसमे ऐसी विचित्र पैठ गयी हैं कि उनके सामने संस्कृत व्याकरण कोई काम नही कर सकता, और नित्य इसमे विविध भाषाओ के इतने शब्द सम्मिलित हो रहे हैं कि 'कौमुदी' और 'मुग्धबोध' उनके लिये बेकार हैं। संस्कृत के 'मुख' का हिन्दी रूप 'मुहँ' और 'प्रावृट्' का 'पावस' तथा संस्कृत के पुल्लिङ्ग शब्द 'अग्नि' को हिन्दी मे स्त्रीलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग 'देवता' शब्द को पुलिङ्ग देखकर पाठक लोग हमारे कहने का अभिप्राय समझ जायँगे।[5] ऐसी अवस्था में हिन्दी भाषा सम्बन्धी नवीन परिवर्त्तनो के विषय मे संस्कृत व्याकरण की सहायता

---

१. इस समय तो हिन्दी को संस्कृत के पैर मे बाँधने को केवल आपही अग्रसर हुये हैं।

२. वह कौन दिन था जब शरण में गई ? क्या रोई झींखी और अब क्यो संस्कृत की अकृतज्ञ हुई ? कुछ स्पष्ट तो लिखिये।

३. किस व्याकरण को आप हिन्दी का पूरा व्याकरण समझते है, जिसके अनुसार आपने इस परिपाटी की शिक्षा पाई।

४ हा ! जिस 'हिन्दी बङ्गवासी' से हमलोग अपने गौरव की आशा करते थे उसकी यह समझ कि हिन्दी भाषा का जितना सम्बन्ध संस्कृत से है उतना ही अँगरेजी फारसी से। हिन्दी भाषा जानने वाला संस्कृत के 'जल, आकाश, भूमि आदि सहस्त्रों शब्द जानता है पर अङ्गरेजी वाला सौ भी नहीं जानता। पर हमारे बङ्गवासी के लेखक कौन जाने कैसी हिन्दी को लक्ष्य किये बैठे है।

५ आप ही के ऐसे महामहोपाध्याय आपके तात्पर्य समझे होंगे पर हमारे ऐसे साधारण लोगों की समझ ही कितनी कि समझे ?

लेना हमारी समझ से उचित नही है।[१] परन्तु जहाँ तक हम जानते है, पण्डित जी ऐसा नही समझते है। उनकी राय है कि सस्कृत सूत्रो के अनुसार ही हिन्दी लिखी और बोली जाय।[२] शायद 'भाषा प्रभाकर' नामक हिन्दी व्याकरण मे पण्डित जी ने इस बात को प्रगट रूप से लिखा है और[३] उक्त सूत्रो का एक हिन्दी व्याकरण बनाने की प्रतिज्ञा भी की है, परन्तु आज तक उस सूत्रवाले हिन्दी व्याकरण को देखने का अवसर हमलोगो को नही मिला।[४] यदि उस भविष्यत् व्याकरण मे पण्डित जी कुछ नवीन युक्ति के द्वारा हमलोगो की युक्ति का खण्डन कर सके,[५] तो अलबत्ते हमलोग उनकी बात मान सकेंगे, परन्तु अभी पण्डित जी की बात इस विषय मे नही मान सकते। इसलिये विभक्तियो को शब्द से अलग लिखने के विषय मे जो उनकी दूसरी युक्ति है, सो हमारी समझ से उपयुक्त नही है।[६]

---

१ सब अलग लिखते हैं आप हो मिला के लिखने का नवीन परिवर्तन करते है, सब अपने अनुभव से लिखते है आप ही सस्कृत की शरण लेते है। आप ही वही करते है जो आप ही की समझ में उचित नही।

२ छी छी यह आपसे किसने कहा? क्या आपने इसी दीन की वह सम्मति समझी है कि "मेरी अपनी उत्तम पोथी ऊपर आलमारी में अलग रक्खी है।" इस वाक्य को सस्कृत के व्याकरण सूत्र लगाकर "मेर्यपन्युत्तम पोथ्युपरालमारेमयलगरक्खी है" यों बोलना चाहिये? नहीं नहीं। सस्कृत से हिन्दी का जो सम्बन्ध आप समझते है वही उतना ही वैसा ही मैं भी समझता हूँ। भेद इतना है कि आप हिन्दी का अङ्गरेजी, फारसी, सस्कृत सबसे समान सम्बन्ध समझते है और मैं सस्कृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि भाषाओ से इसका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध समझता हूँ और यह भी मुझे निश्चय है कि सोचिये-समझियेगा तो आप भी इसको स्वीकार कीजिएगा।

३ किन सूत्रों का?

४ महामान्य, आप ऐसे उदार प्रकृति पुरुष उसका कारण स्वय स्वय समझ सकते है। यदि ऐसे ही मेरे स्वच्छ हृदय के लेखों पर निरर्थ खड्ग उठाइयेगा तो देखने का अवसर कभी नहीं मिलेगा।

५. खण्डन को आवश्यकता नहीं, आपही ऐसे निष्पक्षपाती महाशयो की सम्मति से वह व्याकरण पूरा और साङ्ग होगा। आप हमारी बात अवश्य माने इसकी क्या आवश्यकता है? जिस विषय में दो आचार्यों की भिन्न दो सम्मति होती है वही विषय वैकल्पिक हो जाता है यह प्रकृति है। यदि हम आपके लेख पर कुछ लिखे भी तो औरों के लिये पर आपको समझाने की न हममें शक्ति ही है न हम उसका ठीका ही ले सकते हैं।

६. लेखक की समझ में तो उपयुक्त नहीं है पर क्या यह लेख पाठकों को भी कुछ समझा सका?

बाकी रही उनकी पहिली युक्ति। सो, 'ने' 'को' आदि शब्द स्वतन्त्र अव्यय हो, परन्तु जब शब्दो के साथ विभक्ति होकर आते हैं, तो वे उन शब्दों के एक अङ्ग हो जाते, उनकी स्वतन्त्रता जाती रहती है, और उनके अलग लिखे जाने का कारण मिट जाता है।[1] हाँ, अगर वाक्य मे विभक्ति होकर वे नहीं आवें, तो स्वतन्त्र अव्यय होने के कारण स्वतन्त्र लिखे जा सकते हैं।[2]

अलावे इसके, वाक्य मे शब्दो का अर्थ विभक्तियो पर निर्भर करता है और विभक्तियाँ उन्हीं शब्दो के कारण आती है। विभक्ति के विना शब्दो मे कुछ काम नही चल सकता और शब्दो के विना विभक्तियो का कुछ अर्थ ही नही होगा। इसमे प्रत्यक्ष है कि शब्द और विभक्ति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। शब्दों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध वाक्य मे और किसी पद के साथ नही रहता। सो यह सम्बन्ध उनको एकत्र ही लिखने से प्रगट होता है। उन्हे अलग-अलग लिखने से वाक्य के सब शब्दो का सम्बन्ध समान ही हो जाता है।[3]

हिन्दी के सर्वनाम शब्दो मे 'हमे, हमारा, हमारी, हमारे', शब्दो मे विभक्ति और शब्द दोनो एकत्र ही रहते हैं, तब 'हमको, तुमको' आदि शब्दो को एकत्र लिखने मे विघ्न डालने का क्या कारण है?[4] गौर करके विचारने से मालूम होता है कि वाक्य के उच्चारण करने मे भी शब्द और विभक्ति का उच्चारण एक ही बार होता है, तब उन्हे एकत्र लिखते क्यो नही? क्या उच्चारण और लिखावट मे भेद रखना ही उचित है।[5]

---

१ क्यों? क्यों? क्यो?

२. क्या कारण?

३ यह क्या! क्या कर्त्ता और क्रिया से सम्बन्ध नहीं है अथवा कर्म और क्रिया से सम्बन्ध नहीं है? कुछ-कुछ वैशिष्ट्य तो सभी के सम्बन्ध में है। यह कौन कहता है कि इन विभक्ति नामक अव्ययों का कुछ अर्थ नहीं है? 'ऊपर, नीचे, लिये, भीतर' आदि अव्ययों का तो स्वतन्त्र अर्थ है और विभक्ति अव्ययो का नहीं!! क्यों? आप अपनी इसी सख्या में 'लिये' को शब्द से अलग लिखते है पर कौन जाने आपने जिस व्याकरण को प्रामाणिक समझा हो उसने 'के लिये' एक ही विभक्ति मानी हो।। 'भी, ही,' आदि तो विभक्ति नहीं है, इन्हें आप क्यों मिला के लिखते हैं, आपके ऐसे शब्द रेखाङ्कित है देख लीजिये।

४. सब शब्द एक ही प्रकार के हों इस आग्रह का भी क्या कारण है? क्या जिस कारण से वहाँ 'क' से 'र' हो गया वह कारण कहाँ चला गया है?

५ आप हीरे के मुकदमे के लेख में (लाख पर) (विश्वास पर) इत्यादि अलग अलग-लिखते हैं वहाँ कितनी देर में उच्चारण करना आपको अच्छा लगता है और (लाख में) मे कितनी शीघ्रता अच्छी लगती है यह आप ही समझें।

पण्डितजी सस्कृत की शरण लेते है, पर यदि वह सस्कृत भापा ही का उदाहरण लें, तो हमारी व्यवस्था का उत्तम समर्थन हो जायगा। कहने की जरूरत नही है कि सस्कृत मे विभक्ति सदा शब्दो मे सटे रहने की कौन बात है, मिले लिखे जाते है।[1] अङ्गरेजी, वङ्गला आदि प्राय सब भाषाओ का भी यही नियम है; सो हिन्दी क्यो सबसे विलग नियम के अनुसार चले ?[2]

इन्ही सब कारणो से हम समझते है कि शब्दो को और उनकी विभक्तियो को अलग अलग नही लिखना चाहिये।[3]"

हिन्दी भापा के विद्वान् लोग जानते ही है कि 'बङ्गवासी' के इस लेख को किसी अच्छे पत्र-सम्पादक ने समर्थित न किया पर 'बङ्गवासी' के मान्य किसी पण्डित ने एक लम्बा-चौडा लेख भेजा उसे 'वङ्गवासी' ने बडे बडे झोक-झाक से छापा और यह दिखलाया मानो हमलोग परम मूर्ख है और 'वङ्गवासी' और उनके परममान्य पण्डितजी दो ही विद्वान् है और दो ही हिन्दी भाषा-रक्षक हैं। हमे इस विषय मे कुछ नही कहना है, हम उनकी विद्वत्ता और अपनी मूर्खता ही का स्वीकार करते है और भापा तत्ववेत्ताओ के चरणो मे उनकी विद्वत्ता और अपनी मूर्खता प्रगट करते है।

उनके पण्डितजी का लेख भी अपनी टिप्पणी सहित प्रकाशित किया जाता है रसिक जन एक वेर पढ जाने का कष्ट उठावे।

---

१ सस्कृत की शरण नही लेते है यह तो आप ही सिद्ध कर रहे है। और मुझे सस्कृत की ही शरण लेनी होती तो मै अपने पत्र के आरम्भ में 'पाणिनीय आदिक कोऊ पण्डित नहिं दरसात" लिखता परन्तु हेमचन्द्र का नाम लिख मैं तो स्वय दिखलाता हूँ कि प्राकृत, शौरसैनी, पैशाची आदि भाषाओं के मर्मज्ञ से इन वातों का निर्णय होगा। क्या आप कह सके है! वताइए तो मेरी चिट्ठी के किस अक्षर से सस्कृत का आग्रह झलका? और यह भी तो देखिये यदि सस्कृत के अनुसार भी विभक्ति रख दे तो विभक्ति और प्राति पदिक के वीच में दूसरा अव्यय कैसे आवेगा जैसा आपने लिखा है (भाषा ही का)।

२. सस्कृत में विभक्ति ही के भाई कर्मप्रवचनीय नामक अव्यय भी है जो अलग है और अगरेजी की भाँति द्वितीयान्त के साथ प्रयुक्त होते है। और अगरेजी वगला आदि सव भाषा पर हाथ फेरना आप ऐसे पुरुष को उचित नहीं। इन दिनो और लोग भी इन भाषाओं को कुछ-कुछ जानते है। हाँ वगला के लिये कुछ आपका कहना सज सकता है सो अपनी ही प्रकाशित पोथियाँ एक बेर भली भाँति देख तो लीजिए।

३ हिन्दी के रसिक लोग न्यायपूर्वक देखे कि वङ्गवासी ने कहाँ तक ठीक कारण दिखलाये। महाशयगण हमने यह लेख केवल आप ही लोगों को अपक्षपात दृष्टि के लिये लिखा है बङ्गवासी के हठीले लेखक को समझाने से हमें कुछ फल नहीं।

हिन्दी वङ्गवासी ता० ४. १, ९२.

हिन्दी भाषा के परम प्रेमी एक पण्डित जी महाशय ने विभक्ति-बखेडो के विषय मे यह लेख भेजा है। हम उसे ज्यो का त्यो यहाँ प्रकाशित कर देते है।[१] लेख इस प्रकार है —

पूर्व ऋषिन के ग्रन्थ सो कीजै शब्द-विवेक।
हिन्दी गन्दी होय नहि यही हमारा टेक॥

परम सुजान!

पण्डित अम्बिका दत्त व्यास जी ने यह विचार आरम्भ किया है कि हिन्दी की लेख-प्रणाली मे विभक्ति शब्दो से भिन्न लिखी जानी चाहिये वा शब्दो मे मिलाकर? पण्डित जी की सम्मति मे शब्दो से भिन्न ही विभक्ति लिखनी उचित है, क्योकि हिन्दी 'को, मे' आदि विभक्तियाँ स्वतन्त्र अव्यय है जैसा कि उनके मूल 'मध्यम' आदि को विचारने मे सिद्ध होता है।

किन्तु पण्डित जी की सम्मति व्याकरण से विरुद्ध होने के कारण मानने के योग्य नही जान पडती है। क्योकि भगवान् पाणिनि ने दो प्रकार की विभक्ति मानी है, एक सुबादि जो प्रातिपदिक अर्थात् नाम के पश्चात् लगायी जाती है और दूसरी तिबादि जो क्रिया के पीछे लगायी जाती है। संस्कृत की लेख-प्रणाली मे कोई विभक्ति शब्दो से जुदी नही लिखी जाती है, क्योकि सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा है, और भाष्यकार की आज्ञा है कि 'अपदन्नप्रयुञ्जीत', विभक्ति रहित शब्द का प्रयोग मत करो।[२] यदि व्यास जी 'सुप्तिङन्तम्पदम्' इस सूत्र का अर्थ सुप् है अन्त मे (परे) जिसके ऐसा करे और रामेण आदि प्रयोगो मे विभक्ति रहित राम की पदसंज्ञा मानें, तो संहिता के अभाव से सन्धि नही हो सकेगी।[३] यदि व्यास जी हिन्दी की कारक विभक्तियो को भिन्न लिखने की व्यवस्था करते हैं, तो क्रिया की विभक्ति भी जुदी ही लिखनी चाहिये, जैसे गमनार्थक हिन्दी की 'जा' धातु से

१ देखिये बंगशर्मा जी संस्कृत से भागते हैं और उनके परम प्रेमी पण्डित जी महाशय यों लिखते हैं।

२ आपके मत से 'दूध पीओ' यहाँ अपद प्रयोग कैसे हुआ? कोई युक्ति है तो वही अन्यत्र क्यो नहीं लगती?

३ लीजिये साहब हिन्दी वङ्गवासी के महामहोपाध्याय की यह सम्मति है कि संस्कृत में भिन्न पद होने से सन्धि नहीं हो सकती। उनकी समझ में प्रकृति-प्रत्यय ही से सन्धि ठीक है और भिन्न पदों में सन्धिवाले आज तक के संस्कृत ग्रंथ सब अशुद्ध है। हमको वङ्गवासी के अध्यक्षों की असावधानता पर दुःख होता है कि इतने बडे आदमी होके ऐसी भद्दी और तुच्छ बात छापते हैं

भविष्यत् काल मे 'जायगा' ऐसा रूप बनता है, तो इसको ऐसा लिखना होगा जाय—गा, इसी की विधिलिङ् मे जा—ओ। परन्तु यह लेख-प्रणाली सर्वथा अशुद्ध और हिन्दी को बिगाडनेवाली है।[1]

व्यास जी ने जो हिन्दी विभक्तियो को प्रकृति से पृथक लिखने मे यह हेतु दिया है कि यह स्वतन्त्र अव्यय है और उनकी पृथक्ता मे मध्यम, माँझ, माँहि आदि से बनाना प्रमाण लिखा है, वह भी विचारने योग्य है। क्योकि हिन्दी के प्राचीन और नवीन लेखो मे जहाँ देखते है वहाँ माँझ और माँहि शब्दो के पूर्व-पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है, परन्तु जहाँ 'मे' लिखा रहता है, वहाँ दूसरी विभक्ति का प्रयोग कदापि नही रहता है, जैसे "पावस के माँझ' 'पावस मे'।[2] इससे जान पडता है कि 'मे' 'माझ' आदि का अपभ्रंश नही किन्तु सप्तमी विभक्ति का चिह्न है। अतएव उसे शब्द से भिन्न लिखना अशुद्ध है। यदि व्यासजी के वचनानुसार हिन्दी विभक्तियो को किसी शब्द का अपभ्रंश भी मान लिया जाय तो भी उन्हे प्रकृति से जुदा लिखना अशुद्ध होगा, क्योकि ऐसे मूल संस्कृत विभक्तियो के भी निकल सक्ते है, जैसे, सु उत्तमार्थक उपसर्ग, और अव्यय, यश का अपभ्रंश जस, आम् का ऊम इत्यादि। तव तो चाहिये कि राम को राम और रामौ को राम—ौ सब लोग लिखा करैं। जहाँ कही माँझ आदि शब्दो के पूर्व पद मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नही होता, वहाँ समास समझा जाता है। यदि हिन्दी की विभक्तियो को भिन्न पद (अव्यय) मानके दूर लिखने की व्यवस्था की जायगी तो मध्यम पदलोपी समास के अतिरिक्त हिन्दी मे कोई दूसरा समास नही हो सकेगा, परन्तु हिन्दी व्याकरणो मे तत्पुरुषादि समासो का विधान भी है; अतएव विभक्ति पद से अलग नही लिखी जा सकती।[3]

जान पडता है कि व्यास जी अँगरेजी चाल पर हिन्दी को बनाना चाहते हैं। जैसे अँगरेजी मे फ्रोम और टू आदि शब्द भिन्न लिखे जाते है, ऐसे ही से और को आदि को शब्द से अलग रखने का विचार करते है। परन्तु यह भी उनकी भूल

---

१ हम जो युक्ति प्रातिपदिक विभक्ति में दिखलाते है वह क्रिया विभक्ति में नही बैठ सकती।

२ "घर माँहि घनश्याम" "को बाँचत ब्रज माँही" इत्यादि जै सौ उदाहरण चाहिये तै सौ निकाल दिये जाँय॥

३ इसका अर्थ उनी छोकड़ो को समझाइये जो झूठी डाह से जल भुन कर पागल हो गये हों और आपने हमें तो प्रतिपक्षी हो समझा है पर भला अपने पत्र के मालिक को ही तो समझाइये॥

ही जान पडती है, क्योकि अँगरेजी व्याकरण मे फ्रोम और टू आदि को विभक्ति नही माना है, वरन्[1] प्रीपोजीशन ही लिखा है। वास्तव मे अँगरेजी मे तीन ही कारक होते है, उनमे से कर्त्ता और कर्म की कोई विभक्ति नही होती, केवल सम्बन्ध की विभक्ति आपस्ट्राफी और एस है सो शब्द से मिलाकर लिखी जाती है। वह रीति अँगरेजी मे ही शोभा देती है, हिन्दी को उस रीति पर चलाना स्वयम् दूसरे के दोष को ग्रहण करने के समान है। भला यह तो समझिये, कि अस्मद् शब्द के षष्ठी विभक्ति मे जो मेरा और मेरे वा हमारा और हमारी प्रयोग बनते है, उनमे कौन से भाग को जुदा लिखियेगा ? ऐसे ही 'हमे' इस द्वितीयान्त को भी लिखना कठिन होगा[2]—समासक्रम तभी ठीक हो सकता है, जब विभक्ति शब्द मे युक्त समझा जायगा। 'युक्ति का खण्डन' इन दो शब्दो को एकत्र लिखने की जो आपत्ति देते है उन्हे सोचना चाहिये कि वह समास होने के पूर्व एक पद नही हो सकते है, एक सग क्यो लिखे जाएँगे ? व्याकरण के अनुसार कदापि एक शब्द नही ठहर सकते है।[3] समास सिद्धि के वास्ते विभक्ति को शब्द के सग ही लिखना उचित है।"[4]

इसे भी पढ लीजिये।

(१) यदि 'मे' आदि विभक्ति सज्ञक प्रत्यय होते और भिन्न अव्यय न होते तो —

(क) एक शब्द के आगे ये एक से अधिक कभी न होते जैसे 'जल मे से सीप निकालो'।

(ख) वचन विकार इनके पूर्व वाले शब्द मे न होता किन्तु इन्ही मे होता जैसे 'बालक को, बालको को'।

(ग) इनके और इनके पूर्व शब्द के बीच मे तीसरा अव्यय न आता जैसे 'घर ही मे रहो'।

(घ) क्रिया विशेषण अव्ययो के साथ ये न आते जैसे 'झट से'।

(च) इनका अपने पूर्व शब्दो ही से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता न कि पर शब्दो से जैसे 'घोडा का कान, घोडे की आँख, घोडे के बच्चे'।

---

१ जी हाँ महाराज व्यास जी तो हिन्दी और सस्कृत भी नही जानते और अँगरेजी की तो चर्चा ही क्या है पर प्री-पो-जी श-न का मर्म तो आप ही समझे है।

२ सर्वनामो के तो विलक्षण रूप सभी भाषाओ मे होते है।

३ किस व्याकरण के अनुसार ?

४ आप लोगों के आग्रह से ?

(छ) बहुवचनान्त प्रकृति मे एक वचनान्त और एक वचनान्त प्रकृति मे बहुवचनान्त प्रत्यय न होते, जैसे 'लडके के खिलौने, लडको की पोथी' इत्यादि।

अम्बिकादत्त व्यास

प्रार्थना

आरम्भ मे भी मैंने अपनी सम्मति प्रगट कर विद्वानो की सम्मति की भिक्षा माँगी थी, मध्य मे भी मैं 'वङ्गवासी' को पत्र लिख चुका हूँ कि मैं व्यवस्था नही देता हूँ, मैं आपकी सम्मति माँगता हूँ और अब अत मे भी आप सबकी सेवा मे यही निवेदन करता हूँ कि जो मैंने समझा सो लिखा और कुछ भूलता हूँ तो बतला दीजियेगा, अप्रसन्न न होइएगा। 'वङ्गवासी' के आचार्यों से मेरा इतना ही निवेदन है कि मेरे ऊपर क्रोध शान्त करे और फिर भी क्रोध नही मिटे तो बाबा यह दास उपस्थित है जो हुकुम, परन्तु अपने अध्यक्ष और हमलोगो के परम मान्य भारत के भूपण मर्यादासागर श्रीयुत् योगीन्द्र बाबू महाशय से पूछ के। क्योकि हमे पूर्ण विश्वास है कि जो कुछ लिखा पढी हुई है वह उनकी सम्मति से नही हुई है।

इस इतनी लिखा पढी से हम इतना ही निचोड निकालना चाहते हैं कि—

विभक्ति और उनके पूर्व के शब्दो को अलग ही लिखना उत्तम है और मिला के लिखना साधारण है, परन्तु जहाँ विभक्ति का रूपान्तर हो गया हो वहाँ अलग नही लिखना और जहाँ विभक्ति के पहले कोई दूसरी विभक्ति अथवा अव्यय हो वहाँ मिला के नही लिखना चाहिये।"[१]

निवेदक
अम्बिकादत्त व्यास

नागरी प्रचारिणी सभा के वर्तनीविषयक निर्णय[२]

हिन्दी की वर्तनी तथा व्याकरण से सम्वद्ध कतिपय प्रश्नो पर अधिकारी विद्वानो की सम्मति एकत्र कराने के उद्देश्य से सभा ने सन् १८९८ ई० मे एक उप-

---

१ प० अम्बिकादत्त व्यास, विभक्ति विभाग, पृ० १२८

2 Conclusions arrived at by the Nagari Pracharini Sabha, Benaras, On certain questions, connected with the style and grammar of Hindi. Published by the Nagari Pracharini Sabha, Benaras Printed at the Lahiri Press, Benaras, 1902.

समिति का सङ्घटन किया था। उस समिति ने विद्वानो से प्राप्त सम्मतियो पर गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार करने के उपरान्त अपने कतिपय अभिस्ताव सभा के सम्मुख उपस्थित किये थे, जिन पर सभा ने भी अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी थी। सन् १९०० ई० मे सभा ने उक्त समिति के प्रतिवेदन को पहले हिन्दी मे छपाकर प्रकाशित किया था। किन्तु, उस प्रतिवेदन मे हिन्दी-वर्तनी के सम्बन्ध मे सभा के मन्तव्य पर विस्तृत एव समुचित प्रकाश नही पडता था। इसलिए, सन् १९०२ ई० मे सभा ने सरकार, शिक्षाधिकारियो तथा हिन्दी के उत्थान एव विकास मे रुचि रखने वाले लोगो को हिन्दी वर्तनी तथा व्याकरण के कतिपय प्रश्नो से सम्बद्ध अपने निर्णयो से सम्यक्‌रूपेण अवगत कराने के उद्देश्य से एक दूसरी पुस्तिका अँगरेजी मे प्रकाशित की। यह प्रश्नोत्तरी शैली मे लिखी गयी कुल सोलह पृष्ठो की पुस्तिका थी, जिसमे वर्तनी तथा व्याकरण से सम्बद्ध कुल आठ प्रश्नो पर सभा के निर्णय उपस्थित किये गये थे। पुस्तिका के अन्त मे निर्णायक समिति के सदस्यो की नामावली भी दी गयी थी, जिनमे श्यामसुन्दर दास, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, इन्द्रनारायण सिंह, एडविन ग्रीव्स, सुधाकर द्विवेदी, कार्तिक प्रसाद, हनुमन्त सिंह, लक्ष्मीशङ्कर मिश्र तथा जगन्नाथ दास के नाम थे। पुस्तिका की भूमिका सभा के तत्कालीन अध्यक्ष लक्ष्मीशङ्कर मिश्र ने लिखी थी, जिसमे उन्होने उपर्युक्त सारी बातो की सूचना दी थी।[1]

---

1 "About 4 years ago, a sub committee was appointed by the Sabha for the purpose of collecting the opinion of competent persons regarding certain questions connected with the style and grammar of Hindi The sub committee carefully considered the opinion received and made certain recommendations to the Sabha, which were duly accepted. In 1900 the report of the subcommittee was published in Hindi However, the attitude of the Nagari Pracharini Sabha with reference to the style in which Hindi shouid be written has not been widely explained Hence in order that no sorts of doubts regarding the definite opinions of the Sabha be entertained, it has been decided to publish an English Translation of the sub committee's Hindi report for the information of the government, educational

(१) पुस्तिका मे विवेचित आठ प्रश्नो मे से पहले प्रश्न का सम्बन्ध, हिन्दी वर्तनी से न होकर हिन्दी के स्वरूप से था। 'हिन्दी का स्वरूप कैसा हो ? इसमे अधिक सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग किया जाय या केवल ठेठ (तद्भव) शब्दो का, या इसमे फारसी के शब्दो का भी मिश्रण अपेक्षित है ?'[१]

उपर्युक्त प्रश्न से सम्बद्ध अपने निर्णय के प्रारम्भ मे समिति ने हिन्दी गद्य के विकास का सक्षिप्त परिचय देते हुए यह स्पष्ट किया था कि हिन्दी के स्वरूप से सम्बद्ध प्रस्तुत प्रश्न पर सर्वप्रथम १८६६-६७ ई० मे कुछ अँगरेज विद्वानो का ध्यान गया था, जिनमे बीम्स तथा ग्राउज मुख्य थे। बीम्स हिन्दी मे अधिकाधिक विदेशी शब्दो के प्रयोग के पक्ष मे थे, किन्तु ग्राउज का मत था कि अरबी फारसी के ऐसे शब्दो का, जो हिन्दी मे घुल-मिलकर उसके अपने रूप मे नही ढल गये है, हिन्दी मे कतई प्रयोग नही होना चाहिए। यदि हिन्दी के लिए किसी अन्य भाषा से शब्द लेना अनिवार्य ही हो जाय तो उसे निश्चय ही, केवल सस्कृत से सहायता लेनी चाहिए, किसी अन्य भाषा से नही। विद्वानो के बीच यह विवाद वर्षों तक चलता रहा था और अन्त मे निर्णय यह हुआ था कि इस प्रश्न को हिन्दी के सुधी लेखको पर ही छोड देना उचित है।[२]

---

officers and others who take an interest in the growth and development of the Hindi language" Conclusions arrived at Nagari Pracharini Sabha, etc 1902 prefatory note

1 Q 1 "What should be the language of Hindi ? Should it contain more of sanskrit words or should it be homely or should it contain an admixture of Persian ?"—Ibid

2 No sooner was the prose style born than it had its votaries, who all commenced to write according to their own fancies. Seeing this state of confusion, Europian Hindi scholars began to discuss whether this language should import its words from Persian or Sanskrit The chief persons among those scholars were Beams and Growse and the controversy between, the Parties commenced in 1866-67 Beams was in favour of importing Persian and Arabic words, where as Growse supported the view that those Persian and Arabic words which have not

समिति के मतानुसार किसी भी साहित्य के लिए भाषा का कोई एक निर्धारित रूप नही हो सकता। विषय तथा लेखक की रुचि के अनुसार भाषा का रूप परिवर्तित होता रहता है। साहित्य मे सरल और क्लिष्ट दोनो प्रकार की भाषा रहती है। इसलिए भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे किसी निश्चित नियम का निर्धारण नही किया जा सकता'।

इस प्रकार विवेच्य प्रश्न से सम्बद्ध सारी बातो पर पूर्ण रूप मे सोच-विचार करने के बाद समिति ने अन्त मे अपना यह निर्णय दिया था कि हिन्दी-लेखन मे उन विदेशी शब्दो का, जिनके पर्याय हिन्दी मे उपलब्ध है, प्रयोग नही किया जाना चाहिए। किन्तु, वे विदेशी शब्द, जो हिन्दी के सामान्य व्यवहार मे प्रचलित हो चुके हैं और उनके पर्याय हिन्दी मे नही है, तथा जिनके स्थान पर यदि सस्कृत शब्दो का प्रयोग किया जाय तो वे सरलता से बोधगम्य होनेवाले नही हो, उन्हे निश्चय ही हिन्दी मे यथावत् ग्रहण कर लेना चाहिए। साराश यह कि प्रथम स्थान और महत्त्व तो शुद्ध हिन्दी शब्दो को दिया जाना चाहिए, फिर बहुप्रचलित सरल सस्कृत शब्दो को, तब समान्य व्यवहार मे प्रचलित विदेशी शब्दो को और अन्त मे कठिन संस्कृत शब्दो को। अरबी, फारसी या अन्य विदेशी भाषाओ के

---

assumed, so to say, a Hindi form, should not be used and incase the Hindi vocabulary should fail to supply words necessary for the exegencis of the language and help be required from another source then surely Sanskrit alone should be the helper This controversy between the scholars raged for some time and finally it was resolved that good writers of Hindi would themselves dacide the question as the occasion would arise —Ibid P 3.

१. There can never be one fixad form of language for any literature The language varies according to the subject matter and the taste of the writer In the world of letters there is an easy and a difficult language of writing No hard and fast rules can be laid down for the standard of a language —Ibid. P. 6

कठिन शब्दो का प्रयोग हिन्दी मे किसी भी स्थिति मे नही होना चाहिए।[1]

(२) समिति द्वारा विवेचित दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध वर्तनी से था, जिसमे पूछा गया था कि परसर्गो को शब्दो के साथ मिला कर लिखा जाना चाहिये या अलग ? इस सम्बन्ध मे सज्ञा और सर्वनाम दोनो के लिए एक ही नियम होना चाहिए या पृथक्-पृथक् ? फिर, सामासिक शब्दो के सङ्घटक खण्डो को पृथक्-पृथक् लिखा जाना चाहिए या एक साथ ?[२]

उक्त प्रश्न पर तत्कालीन विद्वानो की मत-भिन्नता की चर्चा करते हुए समिति ने अपने प्रतिवेदन मे पहले तो यह स्पष्ट किया था कि कतिपय विद्वानो के

---

1. Fully considering the question in all its bearings, the conclusion arrived at is that in writing Hindi attention should be directed to the fact that, as far as possible the use of those Persian, Arabic and foreign words which have a vernacular equivalent should be avoided, but that those words of a foreign origin which have come into common use in the language and which have no Hindi equivalent aad which would not be easily understood if Sanskrit word is used in their stood, should surely be bodily retained in the language In short, the first consideration and Place should be given to pure Hindi words, then to easy Sanskrit words of frequent use and then to words of Persian and Arabic that are in common use and lastely to unusual words of Sanskrit No difficult and uncommon words of Persian Arabic or foreign languages should on any account be used.—Ibid, P. 9.

२. Q २ Should the ending be written with the words to which they belong or should they be written seperately ? Is the same rule to be observed in case of both nouns and pronouns or should there be some difference ? Are compound words to be written in one or are the components to be seperated ?"—Ibid, P 10.

मतानुसार परसर्गों को संज्ञा और सर्वनाम दोनों से अलग लिखा जाना चाहिए तथा कुछ के अनुसार उन्हें उनके साथ ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि परसर्ग सम्बद्ध शब्दों के अङ्ग होते हैं, उनसे पृथक् स्वतन्त्र शब्द नहीं। किन्तु विद्वानों के एक तीसरे वर्ग के मतानुसार परसर्गों को संज्ञा से अलग और सर्वनाम के साथ लिखना उचित है, क्योंकि मेरा, तेरा, हमारा, तुम्हारा आदि सर्वनाम रूपों में परसर्ग जिस प्रकार सर्वनामों के साथ एकीभूत हो चुके हैं, वैसा रूप-परिवर्तन संज्ञाओं के साथ कहीं नहीं देखा जाता। अधिकांश विद्वान इस तीसरे मत का ही समर्थन करते हैं। इस प्रश्न को एक बार प० अम्बिकादत्त व्यास ने भी उठाया था और उस समय भी अधिकांश विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया था। अतः इस विषय में समिति का भी निर्णय यही है कि परसर्गों को संज्ञा से अलग, किन्तु सर्वनाम से मिलाकर लिखा जाना चाहिए। जहाँ सर्वनाम के साथ दो परसर्ग हों, वहाँ एक को मिलाकर और दूसरे को अलग और जहाँ शब्द और परसर्ग के बीच 'ही' निपात का प्रयोग हो, वहाँ परसर्ग को 'ही' से भी अलग ही लिखा जाना चाहिए।[1]

---

1 "Opinion —On this point the opinion of some people is that the endings should be written seperate from both, noun and pronouns; according to others they should not be written apart from the words, being not seperate words in themselves but only a part of and thus belonging to the words with which they come There is also a third party who says that the endings should be written with the pronouns but not with the nouns, for as regards pronouns in some of the words as मेरा, तेरा, हमारा, तुम्हारा etc They have become incorporated with the words, where as with nouns the endings should be written seperately in as much as they have in no case changed there forms. This third view has the majority in its favour The above question was once raised by Pandit Ambika Dutta Vyasa and even then the majority was of the same opinion. The conclusion arrived at on this point is that in connection with nouns the case endings should be written seperately but

इसी प्रकार, सामासिक शब्दो के विषय मे समिति ने अपने निर्णय मे यह बताया था कि दो-एक को छोडकर अन्य सभी विद्वानो का यही मत है कि जहाँ सामासिक शब्द केवल दो सङ्घटक खण्डो का हो, वहाँ दोनो को एक ही साथ, किन्तु जहाँ दो से अधिक खण्डो का हो, वहाँ उनके बीच सयोजक चिह्न देकर प्रत्येक खण्ड को अलग-अलग लिखा जाना चाहिए।[१]

(३) समिति के सम्मुख तीसरा प्रश्न था कि 'होना' और 'जाना' क्रिया के पुलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग तथा एकवचन-बहुवचन मे पाये जाने वाले हुआ-हुवा, हुए-हुवे, हुई-हुवी और इसी प्रकार गई-गयी आदि रूपो मे से किस रूप को और उसे किस सिद्धान्त के अनुसार लिखा जाना चाहिए।[२]

उक्त प्रश्न के सम्बन्ध मे समिति ने यह निर्णय दिया था कि यदि उच्चारण एव अर्थ मे भ्रम की सम्भावना न हो तो व्यञ्जन की अपेक्षा स्वर को ही प्राथमिकता देना अधिक उपयुक्त है, क्योकि स्वर ही वे मूल ध्वनियाँ हैं, जिनकी सहायता से व्यञ्जनो का भी उच्चारण सम्भव होता है। कोई भी व्यक्ति हुवा, हुवी या गयी

---

that they should be incorporated with the pronouns and whenever there may come two case endings with pronouns one of them should be incorporated with the word and the other written seperately or whereever the particle ही should intervene between the word and the case ending, the case ending should be written seperate from ही"—Ibid P 10.

1. "With regards to compound words all the opinions agree with the exception of one or two The majority hold that when the components are two words only they should be written in one, but in case of more words than two, each of the components should be seperated by a hyphen This seems to be right view." Ibid P 10-11.

2. Q. 3. "Which form of हुआ or हुवा, हुए or हुवे, हुई or हुवी and similarly गई or गयी etc Should be written for the masculine, feminine, singular and plural of the verbs होना and जाना, and according to what principle ?"—Ibid, P. 11.

का उच्चारण अन्तिम व्यञ्जन पर स्पष्ट रूप से बल देकर नही करता। अत. उनके स्थान पर यदि 'आ' या 'ई' लिखा जाय तो उच्चारण मे कोई भिन्नता नहीं होगी।[१]

(४) समिति के सम्मुख चौथा प्रश्न यह था कि सस्कृत के वे शब्द जो हिन्दी मे परिवर्तित होकर तद्भव रूप मे गृहीत हो चुके हैं, उन्हे तद्भव रूप मे ही लिखा जाना चाहिए या शुद्ध तत्सम रूप मे ? इस प्रश्न पर विचार करते समय हिन्दी-कविता मे प्रयुक्त शब्दो के रूप पर भी ध्यान रखना अपेक्षित है।[२]

इस प्रश्न पर दिये गये अपने निर्णय मे समिति ने लिखा था कि प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ पूर्व विवेचित प्रथम प्रश्न के उत्तर मे सम्बद्ध है। हिन्दी मे सस्कृत से परिवर्तित होकर आनेवाले शब्द मुख्यत (तद्भव एव अर्द्धतत्सम) दो प्रकार के है। उनमे से एक प्रकार के शब्द वे हैं, जिनका रूप पूर्णत परिवर्तित हो चुका है, यथा—हाथी, घी, दही आदि और दूसरे प्रकार के शब्द वे है, जिनके उच्चारण मे नाम मात्र का परिवर्तन हुआ है, यथा—कारन, जसोदा आदि। विवेच्य प्रश्न मे हमलोगो का सम्बन्ध मुख्यत. पहले प्रकार के (तद्भव) शब्दो से है। इस विषय पर पहले प्रश्न के सन्दर्भ मे जो निर्णय दिया जा चुका है, उसके अनुसार यह नही कहा जा सकता कि हिन्दी मे सस्कृत के केवल शुद्ध तत्सम शब्दों

---

1. "Opinion '—The conclusion arrived at on this point is that if there be no confusion in pronunciation and meaning, preference should be given to vowels over the consonants, in as much as the former are the primary sounds and it is with their help alone that the latter can be pronounced No one pronounces हुवा or हुवी or गयी with a distinct stress on the last consonant and so if they are written with आ or ई, there would be no difference in pronunciation" Ibid, P 11

2 "Q 4. Should those Sanskrit words which appear in Hindi in a degenerate form as heretofore, or should they be written in their correct Sanskrit form ? In answereing this question the form of words in Hindi poetry should also be taken into consideration" Ibid, P. 11.

का प्रयोग हो या केवल तद्भव शब्दो का। यह बहुत कुछ लेखक की भाषा के रुख या शैली पर निर्भर करता है।[1]

दूसरे प्रकार के (अर्द्धतत्सम) शब्दो के सम्बन्ध मे यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि गद्य मे उनका प्रयोग श्रेयस्कर नही है। जहाँ तक पद्य मे उनके प्रयोग का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे आगे निर्णय दिया जायगा।[2]

(५) समिति के सम्मुख पाँचवाँ प्रश्न यह था कि हिन्दी कविता मे सस्कृत-तद्भव शब्दो का प्रयोग तद्भव रूप मे ही होना चाहिए या तत्सम रूप मे ? उदाहरणार्थ, यश, यशोदा, यमुना, कारण, कुशल आदि शब्दो का प्रयोग तत्सम रूप मे किया जाना चाहिए या इनके तद्भव रूप जस, जसोदा, जमुना, कारन, कुसल आदि के रूप मे ? फिर, गद्य मे इन शब्दो का प्रयोग किस रूप मे होना चाहिए ?[3]

---

1 "Opinion —The answer to this question is related in a great measure to the answer to question 1. In Hindi there are two principal sorts of degenerate Sanskrit words, one of whom have completely changed their forms (for instance हाथी, घी, दही etc). In the other sort there is only a change in the pronunciation as for instance in कारन, जसोदा etc In this question we are chiefly concerned with the first sort of degenate words only. In acordance with our opinion as laid down in the answer to Q 1 it can not be positively said whether only pure Sanskrit words should be used in Hindi or their degenerate forms. Much depends on the general drift of the language of the author." Ibid, P. 11.

2 "With regard to the second sorts of degnerate words it is enough to state here that in prose the use of this form of words is not preferable. We shall give further on our opinion with regard to the use of the words in poetry" Ibid P. 12.

3. "Q 5 Should Sanskrit words in their degenerate forms be used in poetry or should they be used in their correct form ? For instance, should such skt words as यश, यशोदा, यमुना, कारण, कुशल etc be used in their original forms or should the Hindi form जस, जसोदा, जमुना, कारन, कुसल etc be used ? How should such words be used in prose ?"—Ibid P. 12

यह प्रश्न प्राय चौथे प्रश्न के समान ही था। इसके सम्बन्ध मे समिति ने अपने निर्णय मे यह बताया था कि कवियो को शब्द-प्रयोग मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है, इसलिए उन्हे नियमो के बन्धन मे बाधना उचित नही। उनका शब्द-ग्रहण या शब्दो का चुनाव अपनी कविता के रसगत भाव से सम्बद्ध छन्दगत उपयुक्तता तथा भावगत अनुरूपता पर निर्भर होता है। जहाँ तक गद्य मे इस तरह के शब्दो के प्रयोग का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध मे चौथे प्रश्न के उत्तर में विवेचन किया जा चुका है।[1]

(६) समिति के सम्मुख छठा प्रश्न था कि प्रतिरूप पर्याय वाले शब्दो के किस रूप का प्रयोग कहाँ होना चाहिए ? उदाहरणार्थ, 'और' तथा 'औ', 'न' तथा 'नही' आदि मे से किस रूप का प्रयोग कहाँ करना चाहिए ?[2]

इस प्रश्न से सम्बद्ध अपने निर्णय मे समिति ने लिखा था कि 'औ' एक सयोजक मात्र है, जबकि 'और' सयोजक एव सर्वनाम दोनो है। 'औ' का प्रयोग प्राय कविता मे होता है तथा 'और' का गद्य मे। ऐसा उचित भी है, क्योंकि कविता मे छन्द को निर्दोष बनाने के लिए कभी-कभी (किसी शब्द मे) एकाध वर्ण घटा या बढा देना आवश्यक हो जाया करता है, जबकि गद्य मे इसकी आवश्यकता नहीं पडती। इसीलिए गद्य मे केवल 'और' का प्रयोग होता है और पद्य मे जहाँ छन्द की जैसी माँग रहती है, तदनुसार 'औ' तथा 'और' दोनो का प्रयोग होता है।[3]

1. "Opinion —Poets have a free license and to fetter them with rules is improper. Their choice of words depends on the appropriateness of words as regards their fittings as well as on the suitability of the sense which they bear to the idea of the Poet. As regards the use of such words in prose, it has already been discussed in the answer of Q. 4."—Ibid P. 12-13.

2 Q 6 Which one of the forms of words having a duplicate should be used and in what place ? For instance, where should और be used and where औ, where नही and where न, and so forth." Ibid, P 13.

3. "Opinion .—औ is a conjunction where as और is both a conjunction and pronoun. औ is frequently used in poetry and और in Prose. This is proper, for in poetry it is often found

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् 'न' और 'नही' के सम्बन्ध मे समिति ने अपने निर्णय मे प० अम्बिका दत्त व्यास का मत उद्धृत करते हुए लिखा था कि उनके अनुसार 'न' का प्रयोग वर्तमान, पूर्णवर्तमान, अपूर्णभूत तथा आसन्न भूत मे नही होता और इसी प्रकार 'नही' का प्रयोग आज्ञार्थ मे नही होता। अन्यत्र दोनो का प्रयोग वैकल्पिक अर्थात् ऐच्छिक होता है। अन्त मे इस विषय पर अपना विचार व्यक्त करते हुए समिति ने लिखा था कि 'न' तथा 'नही' का प्रयोग वस्तुतः निश्चित नियमो पर उतना निर्भर नही करता, जितना अच्छे लेखको के प्रयोगो पर तथा प्रयोगकर्त्ताओ को विवेक-युक्त-रुचि या पसन्द पर। इस कारण से विवेच्य शब्दो के प्रयोग की समुचित जानकारी हिन्दी साहित्य के सम्यक् ज्ञान से ही प्राप्त की जा सकती है, उसके लिए किसी निश्चित नियम का निर्धारण सम्भव नही।[1]

(७) समिति के निर्णयार्थ सातवाँ प्रश्न यह था कि अङ्क—अक, अञ्जन—अजन, सम्भव—सभव, परन्तु—परतु, तुम्हारा—तुमारा, उसने—उस्ने, सभी—सब ही, आप ने ही—आप ही ने, देखैं—देखें, सोचैं—सोचें, पावें—पाएँ, आवें—आएँ, होवै—होए, कोशाध्यक्ष—कोषाध्यक्ष, उनने—उन्होने, इनने—इन्होने आदि जैसे द्विविध रूप वाले शब्दो के किस रूप को मान्यता दी जाय? अनुस्वार तथा चन्द्रविन्दु का प्रयोग कहाँ और कैसे किया जाय? क्या अनुस्वार का प्रयोग, 'म'

---

necessary to slid or insert a letter for the sake of metre. But such is not the case with Prose. और is used in prose and both औ and और in verse as exegencies of metre demand"—Ibid, P. 13.

1. "Pandit Ambika Dutta's opinion with regard to the use of न and नही are given below. न is not used in Present, Present perfect, Past imperfect and immediate Past. In the imperative mood नही is not used. In other places the usage of these two are optional The use of न and नही does not depend so much on fixed rules as on the uses of them by good writers and the descriminating choice of the person using them. For this reason since a knowledge of their use depends on a thorough acquaitance of the Hindi literature, no hard and fast rule can be laid down." Ibid, P. 13.

तथा 'न' जैसे अनुनासिक वर्णो के साथ करना उचित है ?[१]

समिति ने उपर्युक्त प्रश्न के तीनो खण्डो का एक-एक कर विवेचन किया था और अपने निर्णय मे सर्वप्रथम 'अङ्क' और 'अक' जैसे शब्दो के सम्बन्ध मे तत्कालीन विद्वानो के मत-मतान्तर का उल्लेख करते हुए लिखा था कि सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार अनुस्वार जिस वर्ण के पूर्व आता है, उसके वर्ग के (पञ्चम) नासिक्य वर्ण मे परिवर्तित हो जाता है। कुछ लोग हिन्दी-लेखन मे सर्वत्र इसी नियम के पालन का समर्थन करते हैं। किन्तु, कुछ अन्य विद्वानो के मतानुसार हिन्दी मे उक्त नियम का पालन नही करके सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग होना चाहिए। तदनन्तर समिति ने 'तुम्हारा' 'उसने' आदि रूपो को शुद्ध और उनसे भिन्न रूपो को अशुद्ध बताया था। इसी प्रकार 'आप ने ही' और 'आप ही ने', इन दोनो प्रयोगो को शुद्ध तथा 'इनने', 'उनने' जैसे प्रयोगो को अशुद्ध करार दिया था। इसके अतिरिक्त, समिति ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि इस प्रकार के सन्देहास्पद समरूप शब्द और भी अनेक हैं, जिनके शुद्ध रूप का निर्णय उनके उच्चारण तथा सुधी लेखकों के प्रयोग को देखकर करना चाहिए।[२]

---

1. "Q. 7 How should the following and similar words be written ?—अङ्क, or अंक, अञ्जन or अजन, सम्भव or संभव, परन्तु or परंतु, तुम्हारा or तुमारा, उसने or उस्ने, सभी or सब ही, आपने ही or आपही ने, देखैं or देखें, सोचैं or सोचें, पावें or पाएँ, आवें or आएँ, होवै or होए, कोशाध्यक्ष or कोषाध्यक्ष, उनने or उन्होने, इनने or इन्होंने etc. How should the nasal dot and the dot with the circumflex be used ? Should the dot be used with the nasal letters like म and न ?"—Ibid, P. 13.
2. "According to Sanskrit grammar, the rule is to change the nasal dot into the nasal letter of the same class of letter which follows it and this is the opinion of some of the people. There are others who urge that this rule should not be observed in Hindi but that the nasal dot alone should be used. Both the views are correct, but we would advise writers to edhere to any one of the forms throughout the whole of their composition and not to mix up the two together तुम्हारा, उसने etc are

चन्द्रविन्दु के प्रयोग के सम्बन्ध मे समिति ने अपने निर्णय मे बताया था कि हिन्दी मे निश्चय ही इसका प्रयोग होना चाहिए। किन्तु इसके सम्बन्ध मे कोई नियम नही बनाया जा सकता। इसका प्रयोग पूर्णत. इसके उच्चारण पर निर्भर करता है। हिन्दी के शब्द-कोश मे इस बात पर समुचित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि अनुस्वार एव चन्द्रबिन्दु मे, उच्चारण के आधार पर, किसका प्रयोग किस शब्द मे कहाँ हो।[1]

अन्त मे 'म' तथा 'न' के साथ अनुस्वार तथा चन्द्रविन्दु के प्रयोग के सम्वन्ध मे समिति ने अपने निर्णय मे लिखा था कि ये दोनो वर्ण स्वयं नासिक्य है, ऐसी स्थिति मे उनके साथ अनुस्वार या चन्द्रविन्दु का प्रयोग कर उन्हे पुन. नासिक्य बनाना कोई अर्थ नही रखता। किन्तु, लेखन मे ऐसा प्रयोग वहुत पहले से होता आया है। ऐसी स्थिति मे इस दिशा मे कुछ भी अन्यथा करना वाञ्छनीय नही है।[2]

(८) समिति के सम्मुख आठवाँ प्रश्न यह था कि हिन्दी-वर्णमाला मे कतिपय विदेशी शब्दो की जिन ध्वनियो, यथा—अँगरेजी A, E, O, फारसी ﺉ ﺉ

correct, then other forms are incorrect आप ने ही and आप ही ने etc, are both of them correct इनने and उनने are not correct. There are similar doubtful words Any decision with regard to them should be based on their pronunciation and their use by good writers "—Ibid, P 14

1. ' In Hindi the nasal dot with their cercumflex should certainly be used, but we can not make any rule about it. Its use wholly depends upon pronuciation It would be proper in a Hindi dictionary to pay attention to the fact that words should be differentiated according to pronunciation into those with nasal dot and those with nasal dot with circumflex "—Ibid, P. 14.

2 "म and न are usnally nasals and to make them nasal again by adding the anuswar or the anunasika would be tantalogous, but this mode of writing has come down from a long time and for this reason it is not advisable to do anything in this direction " Ibid, P 14

आदि के लिए वर्ण नही है, उन्हे हिन्दी-लेखन मे किन चिह्नो के माध्यम से प्रकट किया जाय ? क्या हिन्दी मे अँगरेजी के विराम-चिह्नो का प्रयोग वाञ्छनीय हैं ?[१]

उक्त प्रश्न से सम्बद्ध अपने निर्णय मे समिति ने लिखा था कि किसी-किसी भापा मे कुछ विगिष्ट ध्वनियाँ होती हैं, जिन्हे केवल उस भापा की वर्णमाला मे उनके लिए निर्वारित वर्णों से ही प्रकट किया जा सकता है। किन्तु, कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो उन विदेशी ध्वनियो को अपनी भाषाओ मे प्रकट करने का प्रयास करते है। वैसी स्थिति मे उनके लिए कुछ नये वर्णों (या चिह्नो) का आविष्कार आवश्यक हो जाता है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ हिन्दी मे कुछ विदेशी ध्वनियो के सूचक चिह्नो की सारिणी नीचे उपस्थित की जा रही है[२] :—

a	—	Cat	—	कैट
,,	—	Cart	—	कार्ट
,,	—	Cater	—	केटर
,,	—	Care	—	केर
,,	—	Call	—	कॉल
e	—	Red	—	रेड
ea	—	Read	—	रीड
,,	—	Read	—	रेड

1. "Q. 8 There are in Hindi no representations of certain sounds of certain letters, as for instance A, E and O of English and of and of Persian, as well as of certain sounds of foreign languages By what signs these be denoted in Hindi ? Should the English marks of punctuation be adopted in Hindi ?"—Ibid, P. 14

2. "Opinion —The fact is that certain sounds are peculiar to certain languages and can be represented by the letters of the alphabet of that language alone. But there are people who try to denote these foreign sounds in their own vernaculars. This necessitates the invention of certain signs In accordence with this view we append below a table of representations of certain sounds in Hindi."—Ibid, P. 15.

ee	—	Reed	—	रीढ
ie	—	Recipt	—	रेसीट
i	—	Pin	—	पिन
	—	Pint	—	पॅण्ट
ie	—	Pier	—	पिअर
o	—	Not	—	नाट
,,	—	None	—	नन्
,,	—	Note	—	नोट
oa	—	Moat	—	मोट
oi	—	Moist	—	मोइष्ट
ou	—	Mouse	—	मॉउस
u	—	But	—	वट्
,,	—	Pull	—	पुल्ल
,,	—	Truth	—	ट्रूथ
,,	—	Tutor	—	ट्यूटर
ue	—	Sue	—	स्यू
x	—	Box	—	बाक्स
v	—	Five	—	फाइव
		ز ذ ض ظ	—	ज
		ژ	—	ज
		س ص ث	—	स
		ش	—	श
		غ	—	ग़
		ف	—	फ
		ق	—	क

अन्त मे अँगरेजी के विराम-चिह्नो के सम्बन्ध मे अपना निर्णय देते हुए समिति ने यह सलाह दी थी कि हिन्दी में, केवल कोलन को छोडकर, जिससे निश्चय ही विसर्ग का भ्रम हो सकता है, अँगरेजी के अन्य सारे चिह्नो को ले लिया जाना चाहिए।[1]

1. "As regards the use of English marks of Punctuation in Hindi we would advise the adoption of all of them except the colon which is sure to be mistaken for visarga"—Ibid, P. 16.

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-सङ्घ के सुझाव

हिन्दी-लेखन-मुद्रण मे वर्तनी की एकरूपता लाने के उद्देश्य से अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-सङ्घ ने श्री देवराज के सयोजन मे नीति-निर्धारणार्थ एक उपसमिति सङ्घटित की थी। उस समिति की ओर से उसके सयोजक ने अगस्त, १९६० ई० के 'प्रकाशन समाचार' तथा 'पुस्तक जगत' मे हिन्दी-वर्तनी सम्बन्धी सुझावो का एक प्रारूप प्रकाशित किया था तथा देश के विद्वानो से उन सुझावो के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी सम्मति सङ्घ के कार्यालय, ८ फैज बाजार, दिल्ली के पते पर भेजने का आग्रह किया था।

उक्त प्रारूप को हम यहाँ अविकल रूप मे उपस्थित करने के साथ ही भिन्न-भिन्न विद्वानो की तत्सम्बन्धी सम्मतियो को भी सक्षेप मे उपस्थित कर रहे हैं।

सुझावों का प्रारूप —

१ संयुक्त और वियुक्त (पृथक्) शब्द

(क) विभक्तियाँ शब्दो से अलग लिखी जानी चाहिएँ, जैसे 'इन्सान ने', कुतूहल से', 'घर पर', 'दीवार मे' आदि।

किन्तु स्थानबोधक सर्वनामो को छोडकर (उदाहरण, 'वहाँ की', 'यहाँ से',) शेष सर्वनामो के साथ ('पर' के अलावा शेष, उदाहरण, 'उस पर') विभक्तियाँ जुडी रहनी चाहिएँ, जैसे 'हमको', 'उसने', 'इसीलिए', 'सबके', 'उन्हीका' आदि।

(ख) पूर्वकालिक क्रियाओ का 'कर' साथ मे जुडा रहना चाहिए, जैसे 'पीकर'. 'खोलकर', समझाकर', आदि।

(ग) सयुक्त क्रियाओ के दोनो अश अलग-अलग लिखे जाने चाहिएँ, जैसे 'जी गया', 'ले आए', 'कह बैठा', 'कर देगा' आदि।

(घ) हीन, विहीन, रहित, सहित, युक्त, दायक, ग्रस्त, पूर्वक, चकित, जनक, जन्य, जनित, परक, पूर्ण, कृत, चिन्तक, स्वरूप, निष्ठ, गत, प्रद, मय, च्युत, सूचक, सिद्ध आदि शब्द किसी दूसरे शब्द के साथ लगाए जाने पर उसके साथ जुडे रहने चाहिएँ, जैसे 'पदच्युत', 'हितचिन्तक', 'कोलाहल-मय', 'उपहारस्वरूप', 'कलापूर्ण', 'शान्तिपरक', 'तुलसीकृत', 'शोकग्रस्त', 'भावहीन', आदि।

(ङ) संख्यावाचक विशेषण 'प्रति' संज्ञा के साथ जुडा रहना चाहिए, जैसे 'प्रतिक्षण', 'प्रतिदिन', 'प्रतिशत' प्रतिव्यक्ति' आदि।

(च) 'वाला' के प्रयोग से बनी कर्तृवाचक संज्ञा के दोनो खण्ड अलग-अलग लिखे जाने चाहिएँ, जैसे 'बांसुरी वाला', दौडने वाला', 'दुपट्टे वाली' आदि।

(छ) आदरसूचक 'जी' मूल संज्ञा के साथ जुडा रहना चाहिए, जैसे 'महात्माजी', 'वहनजी', 'हंसराजजी', वावूजी' आदि।

(ज) दो भिन्न शब्दो के संयोग से बने हुए प्रचलित शब्द जुडे रहने चाहिएँ, जैसे 'वादविवाद', 'निम्नलिखित' 'चालचलन', 'ग्रामवासी', 'यथास्थान', 'आत्महत्या', 'देखभाल' आदि।

(ञ) निम्न परिस्थितियो मे शब्दो के बीच मे हाइफन (-) का प्रयोग होना चाहिए .

(१) जव दो शब्दो का सम्बन्ध दिखाते हुए बीच की विभक्ति का लोप कर दिया जाए, जैसे 'स्वरूप-विश्लेपण', 'कृपि-मन्त्री', नदी-किनारे', 'साहित्य-समारोह', 'अशोक-सम्बन्धी', 'शब्द-चमत्कार', 'ममता-भरी', 'सिगरेट-केस', 'पाँव-तले', 'सरकार-विरोधी' आदि।

(२) जव अतिरिक्त प्रभाव के लिए किसी विशेषण को दोहराया जाए अथवा समानार्थक या विपरीतार्थक शब्दो को मिलाकर चमत्कार की सृष्टि की जाए, जैसे 'कैसे-कैसे', 'दो-चार', 'किसी-न-किसी', 'रोज-रोज', 'पति-पत्नी', 'सव-के-सव', 'पढ-लिखकर', 'हँसी-मजाक', 'निराशा-पर-निराशा', 'झुक-झुककर', 'लिया-दिया', 'आचार-विचार', 'नये-से-नये', 'थोडा-वहुत', 'लेन-देन' आदि।

(३) जव 'विशेष' विशेषण को संज्ञा से मिलाकर एक ही संज्ञा की रचना की जाए, जैसे 'व्यक्ति-विशेष', 'कार्य-विशेष' आदि।

(४) जब किसी शब्द के साथ 'भर' अथवा 'मात्र' लगाकर पूर्णता या सीमा का आभास दिया जाए, जैसे 'दिन-भर', जीवन-भर', 'शक्ति-भर', 'भर-पेट', 'घर-भर मे', 'अनुभूति-मात्र', 'स्वप्न-मात्र' आदि।

(५) जव किसी शब्द के साथ 'जैसा', या 'जैसे, जैसी', के अर्थ मे 'सा', 'से', या 'सी' का प्रयोग किया जाए, जैसे 'फूल-सी कोमल', 'एक-से चेहरे', 'सागर-सा गहन', 'गेंद-सा गोल', 'पत्थर-सा अटल' आदि।

२. शब्दो मे प्रयुक्त 'ये', 'यी', अथवा 'ए', 'ई'

(क) 'या' से अन्त होने वाली भूतकालिक कृदन्त क्रियाओ के स्त्रीलिंग और बहुवचन रूप मे 'ये' और 'यी' का प्रयोग होना चाहिए, जैसे 'आये', 'गयी', 'किये', 'गये', 'दिये', 'पिलायी', 'दिखायी' (क्रिया), 'ललचायी' (क्रिया) आदि ।

किन्तु सयुक्त क्रियाओ के अन्त मे 'ए' और 'ई' का ही प्रयोग होना चाहिए, जैसे 'हँसते गए', 'रोती आई' 'रख दिए', 'चली गई' आदि । जहाँ-कही सयुक्त क्रिया के दोनो शब्दो के अन्त मे 'ये', 'ए' अथवा 'यी', 'ई' ध्वनि हो वहाँ पहले शब्द मे 'ये' और 'यी' तथा दूसरे मे 'ए' और 'ई' का प्रयोग होना चाहिए, जैसे 'बताये गए', 'उठायी गई', आदि ।

(ख) जिन विशेषणो का अन्त 'या' से होता है उनके स्त्रीलिंग और बहुवचन रूप मे 'यी' और 'ये' का प्रयोग होना चाहिए, जैसे 'नयी', 'नये', 'परायी' आदि ।

(घ) 'लिये' और 'लिए' मे विभक्ति के रूप मे प्रयुक्त होने पर 'ए' तथा क्रिया 'लिया' के बहुवचन के रूप मे 'ये' रहना चाहिए, जैसे 'आपके लिए यह मधुर आम', 'हाथ मे पुस्तक लिये पहुँचा' आदि ।

(घ) उपर्युक्त नियमो को ध्यान मे रखते हुए 'ए' तथा 'ई' ध्वनि से युक्त सब शब्दो मे, चाहे वे आज्ञार्थक व संभावनार्थक क्रियाएँ हो अथवा आदरसूचक आज्ञा के या क्रियाओ के भविष्यत् रूप हो, 'ए' और 'ई' का ही प्रयोग होना चाहिए, जैसे 'आइए', 'जाएगा', 'खाएँगे', 'चाहिए', 'पिएँ', 'हँसिएगा', 'दीजिए', 'जाइए', 'जगहँसाई', 'अच्छाई', 'ललचाई' (विशेषण), 'दिखाई' (सज्ञा-रूप) आदि ।

३ हिन्दी मे सस्कृत के शब्द

(क) जो सस्कृत-शब्द हिन्दी मे कुछ रूप बदलकर प्रचलित हैं उन्हे (शास्त्रीय लेखन को छोडकर) उनके हिन्दी रूप मे ही लिखा जाना चाहिए, जैसे 'महत्व', 'कर्तव्य', 'उज्वल', 'तत्व', 'दुख', 'निस्सकोच' आदि, न कि महत्त्व, कर्त्तव्य, उज्ज्वल, तत्त्व, दु ख, नि सकोच आदि ।

(ख) सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'हल्' का प्रयोग यथास्थान अवश्य होना चाहिए, जैसे 'भगवान्', 'महान्', 'विद्वान्, 'किंचित्, 'पृथक्' आदि।

४. हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्द और ध्वनि-चिह्न

(क) साधारणतया 'ज' और 'ज़' ध्वनि मे भेद करने के लिए नुक्ते का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। विशेष रूप से जहाँ-कही मिलते-जुलते हिन्दी शब्दो के कारण अर्थ-भेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो, उर्दू के शब्दो मे नुक्तो का प्रयोग होना ही चाहिए, जैसे 'तेज़', 'बाज़', 'ताक़', 'ज़रा, 'ज़ीना', 'राज़ आदि।

(ख) अन्य भाषाओ के अनेक शब्द, जिनके उच्चारण मे बीच के अक्षर की अर्ध-ध्वनि और पूर्ण-ध्वनि सन्देहास्पद हो, पूरे अक्षर से ही लिखे जाने चाहिएँ, जैसे 'गरमी, 'सरदी', 'शरम', 'बरफ', 'बिलकुल, 'कुरसी', 'बरामदा, 'भरती, बरदाश्त', 'हलका', 'गरदन', 'बरतन', फ़ुरसत', आदि।

(ग) अग्रेजी शब्दो मे उच्चारण की आवश्यकताओ को देखते हुए अर्धचन्द्र का प्रयोग अवश्य होना चाहिए, जैसे 'कॉफी', 'नॉर्मल', 'डॉक्टर', 'ऑपरेशन' आदि।

५. अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु

(क) जहाँ कही अनुस्वार-ध्वनि से अगला अक्षर टवर्ग तवर्ग या पवर्ग का हो वहाँ विशिष्ट प्रचलित शब्दो को छोडकर (विशेपकर सस्कृतजनित शब्द, उदाहरण, सत्रस्त', 'ससभ्रम) शेप मे अनुस्वार के स्थान पर उस वर्ग के पाँचवे वर्ण के अर्धाक्षर का प्रयोग करना चाहिए, अन्य सब परिस्थितियो मे अनुस्वार का, जैसे 'पगु', 'अकिंचन', 'सुन्दर', 'सम्बन्ध', 'संवर्धन', 'अन्त', 'गुण्ठन' आदि।

(ख) अनुस्वार से ध्वनि-भेद को स्पष्ट करने के लिए चन्द्रबिन्दु का प्रयोग यथास्थान अवश्य किया जाना चाहिए, जैसे, 'हँसमुख', 'जाएँगे', 'दिखाएँ', सँवारकर', 'दाँयाँ', 'चाहिएँ' (बहुवचन), महँगा', आदि। किन्तु मुद्रण और लेखन की असुविधा को देखते हुए ' ि', ' ी', ' े', ' ै', ' ो', और ' ौ', की मात्राओ के साथ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

प्रारूप पर विद्वानों की सम्मतियाँ

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र ने प्रकाशक-सङ्घ के हिन्दी-वर्तनी सम्बन्धी सुझावो के प्रारूप की केवल तीन बातो पर अपनी असहमति प्रकट करते हुए उनके सम्बन्ध मे अपने निम्नलिखित सुझाव दिये थे —

१ 'सयुक्त और वियुक्त शब्द' के अन्तर्गत (च) मे 'वाला' से बनी कर्तृवाचक सज्ञा अलग-अलग न लिखकर, वाला शब्द के साथ जुडनी चाहिए।

२. शब्दो मे प्रयुक्त 'ये', 'यी', अथवा 'ए', 'ई' के अन्तर्गत (क) मे संयुक्त क्रियाओ के अन्त मे तथा सयुक्त क्रियाओ के दोनो शब्दो के अन्त मे 'ये', 'यी', ही होना चाहिए।

३. 'हिन्दी मे सस्कृत शब्द' के अन्तर्गत (क) मे 'उज्ज्वल' के उच्चारण के अनुसार भी 'ज' मे द्वित्व है—ज्ज्व अत· 'उज्ज्वल' ही शुद्ध है। दु ख और दुख, दोनो ही हिन्दी मे प्रचलित हैं। केवल दुख लिखने मे छन्दोभङ्ग होगा।

इसी शीर्षक के (ख) मे जिन शब्दो का सस्कृतत्व प्रायः लुप्त हो चुका है और जो सामान्य हिन्दी-शब्द बन चुके हैं, उनमे हल् का प्रयोग व्यर्थ है। 'भगवान' 'महान', 'विद्वान' लिखना ही उचित होगा।

उपर्युक्त बातो को छोडकर सङ्घ के अन्य सभी सुझावो के प्रति डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की थी।

श्रीरामलाल पुरी

आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली के व्यवस्थापक श्री रामलाल पुरी ने अपनी प्रतिक्रिया निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त की थी —

१ 'सयुक्त और वियुक्त शब्द' शीर्षक के अन्तर्गत नियम झ (३) और (४) से हम सहमत नही हैं। हमारे विचार मे हिन्दी को सरल बनाने के लिए और मुद्रण की सुविधा के लिए भी हाइफन का प्रयोग कम-से-कम होना चाहिए। 'विशेष' विशेषण को सज्ञा से मिलाकर एक ही सज्ञा की रचना की जाए तो उसमे हाइफन' न लगाया जाए। आज भी कई पत्र-पत्रिकाओ मे 'कार्यविशेष' और 'व्यक्तिविशेष' छपता है। 'भर' अथवा 'मात्र' किसी शब्द के बाद आएँ तो उन्हे

अलग ही रखा जाए। अधिकतर व्याकरण-सम्बन्धी पुस्तको मे इनको अलग ही लिखा गया है।

२. नियम २ (ग) के अन्तर्गत कही पर 'लिये' और कही 'लिए' चलाना सर्वथा अनुचित होगा। प्रूफ रीडिंग करने वालो के लिए यह शब्द सिर-दर्द बन जाएगा। साथ ही लिपि मे एकरूपता भी न आ सकेगी। सर्वत्र 'लिए' का ही प्रयोग होना चाहिए।

३. नियम ३ (क) के अनुसार 'महत्त्व', 'उज्ज्वल', और 'तत्त्व' शब्द हिन्दी मे 'महत्व', 'उज्ज्वल' और 'तत्व' नही लिखे जाते। उनका शुद्ध रूप ही चलना चाहिए।

४. नियम ४ (क) के अन्तर्गत उर्दू तथा अन्य भाषाओ के शब्दो मे नीचे नुक्तो का प्रयोग अनावश्यक है। प० किशोरी दास वाजपेयी तथा रामचन्द्र वर्मा दोनों ही इसके विरोधी है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला अधिवेशन मे भी इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया था कि हिन्दी मे ऐसे शब्दो के नीचे बिन्दी लगाकर लिखना गलती है। केवल जहाँ उर्दू-फारसी का शेर आये वही पर नुक्ता लगाया जाए। ४ (ग) के अनुसार अर्धचन्द्र का भी प्रयोग आवश्यक नही।

५. नियम ५ (ख) के अनुसार चन्द्रबिन्दु का प्रयोग आवश्यक नही माना जाना चाहिए। आजकल प्रमुख पत्रिकाओ मे केवल बिन्दी का प्रयोग होता है। कई प्रकाशको ने भी अपने यहाँ नियम बना रखा है कि चन्द्रबिन्दु की जगह केवल बिन्दी ही लगायी जाए।

बलराम शास्त्री

'बुक्स एण्ड बुक्स', पटना-४ से बलराम शास्त्री ने विवेच्य प्रारूप पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था :—

मेरी समझ मे यह नही आता कि व्याकरण से सम्बन्धित किसी मामले में 'क्यो, किसलिए' की सफाई को बिना प्रस्तुत किये ही कुल दो छपे पृष्ठो पर हिन्दी की धातु, नाम, सर्वनाम, समास, कृदन्त, प्रत्यय, उपसर्ग आदि सभी विषयो पर ये निष्कर्ष क्योकर दिये गये है? पचास पृष्ठ की अष्टाध्यायी को भी विषद करने के लिए महाभाष्य-सारस्वतादि बडे-बडे विवाद-ग्रन्थ बने। मगर प्रकाशक-सङ्घ के ये सूत्र तो इतने अध्याहार-व्यवहार विहीन है कि इन्हे पढकर समझना भी दुरूह है।

मसलन, शुरू होता है 'सयुक्त और वियुक्त शब्द' से। 'शब्द' शब्द का अर्थ बिना समझे ही उसे 'सयुक्त और वियुक्त' समझने का साहस किया गया है,

यद्यपि हर शब्द अपने उपसर्ग-परसर्ग को लेकर ही वाक्य मे एक समूचा शब्द होता है और उसमे सयुक्त-वियुक्त जैसा प्रश्न नही हुआ करता। यह नियम तो समझ मे आता है कि उपसर्ग को शब्द मे एक ही शिरोरेखा के अतर्गत होना चाहिए और परसर्ग को भी, तथा जहाँ दो परसर्ग हो, वहाँ अतिम को शिरोरेखा से अलग किया जा सकता है, किन्तु यह समझ मे नही आता कि 'यहाँ' 'वहाँ' जैसे 'स्थानवोधक' (यद्यपि ये 'स्थानवोधक' नही भी हैं—जैसे, 'वहाँ वहुत कहा गया मगर यहाँ कुछ पल्ले ही नही पडा' आदि) शब्दो की शिरोरेखा के अतर्गत किसी काम्य परसर्ग को दे देने से हिन्दी को क्या कष्ट हो जायगा ? शायद उक्त 'एकरूपता' की वात करनेवालो ने उपसर्ग का भी तात्पर्य नहीं समझा है, तभी तो धारा १ के (ङ) खड मे 'प्रति' को 'सख्यावाचक' कहते हुए कह देते हैं कि इसे अपने परवर्ती की शिरोरेखा के अतर्गत ही रह जाना चाहिये। जवकि सीधी वात यह है कि सभी उपसर्गो को ही ऐसे प्रयुक्त होना चाहिये; चाहे वह 'प्रति' हो, 'परा' हो या 'उप' हो। इसी धारा के (घ) खड का अर्थ समझ मे नहीं आता है, क्योकि 'हीन, विहीन, रहित' वगैरह शब्दो के वाद 'आदि' की छूट को जोडते हुये कहा गया है कि ये सारे शब्द अपने साथ मिलनेवाले शब्दो की शिरोरेखा के अतर्गत ही रहेंगे। यहाँ एक यह प्रश्न पैदा होता है कि नियम या व्याकरण मे 'आदि', की छूट देने से कितनी दूर तक कौन-कौन से शब्द समेटे जायेंगे ? दूसरा प्रश्न पैदा होता है कि इस धारा मे किन विशिष्ट समासो के उदाहरण दिये गये है ? चाहिये तो यह था कि अव्ययीभाव, कर्मधारय, वहुव्रीहि, द्विगु जैसे समासो के लिए यह तरीका निश्चित किया जाना न कि शब्द गिनाये जाने चाहिये। नियम वनाने के लिये लक्षणलघु सिद्धात नहीं देने से सारी वात अनाप-सनाप कही जायेगी। इस धारा मे उपधारा (ख) के देने का कोई अर्थ नही है, जवकि 'त्वा' और 'तुमुन' जैसे परसर्गों का अपने शब्दो की शिरोरेखा के अतर्गत होने का स्पष्ट निर्देश ही वाछित था, जैसे 'कहकर' 'कहने को' आदि। इस धारा की (ग) उपधारा मे कहा गया है कि 'सयुक्त क्रिया' के दोनो अश अलग-अलग रहेंगे, जैसे—कह वैठा, कह चुका, कहने लगा, ले वैठा, ले चुका, लेने लगा आदि। हिन्दी क्रिया की इस विशेषता का लक्षण न देकर अपनी वात सिद्ध करने मे 'क्यो' का प्रश्न लगा करता है। हिन्दी मे या किसी भाषा मे क्रियायें ही होती हैं, उनकी धातु के वाद लगे हुये शब्दो को अधिक-से-अधिक परसर्ग कह सकते हैं। धातु और परसर्ग समेत जो क्रियारूप वनते हैं, उन्हे 'सयुक्त क्रिया', से नामाकित करना नितात परिभाषा-विहीनता ही कही जायेगी। हम इस धारा का समर्थन इसलिए करते हैं कि हिन्दी धातुरूपो मे धातुरूप और उसके परसर्ग दो अलग शिरोरेखाओ मे होने चाहिये, क्योकि लिङ्ग, काल, वचन और पुरुष का

दोनो पर अलग-अलग आरोप होता है, और इसका प्रमुख कारण यह है कि क्रियाओ के पुरुष बनानेवाले सर्वनामो मे हिन्दी मे लिङ्ग नही हुआ करता तथा विशेषणो मे भी लिङ्ग नही देने की छूट है, और इस अभाव और छूट की पूर्ति क्रिया अपने लिङ्गो द्वारा करती है। यह बात कृदंत मे भी लागू होती है, जैसे 'दौड़ता हुआ' दौडती हुयी', दौडते हुये'; अत इस प्रथा को निर्दिष्ट करने के लिते अलग से (च) उपधारा को जोडना निरर्थक ही है। इस धारा की (झ) उपधारा मे षष्ठी-तत्पुरुष के उदाहरण दिये गये हैं, जिसे अवैयाकरणी ढंग पर बच्चो की तरह आदेशित किया गया है कि 'जब दो शब्दो का संबध दिखाते हुए बीच की विभक्ति का लोप कर दिया जाय'। हम मानते हैं कि तत्पुरुष मे हर हालत मे समस्त शब्दो को हाइफन के द्वारा जोडा जाय, बल्कि हम इस विषय मे सबध या षष्ठी को ही नही प्रत्युत हर विभक्ति को ही इस पद्धति के अतर्गत लाना चाहते हैं। हाँ, जहाँ ऐसे समास मे सधि पड जाय वहाँ इस हाइफन से उतना ही अनर्थ होगा, जैसे 'पटाक्षेप'। द्वद्व मे तो हाइफन होना ही चाहिये ; जैसे 'शिव-पार्वती' और इसका भी निर्देश उपर्युक्त धारा मे अपेक्षित था। इस उपधारा (झ) मे यह बात समझ मे नही आयी कि 'कृषी-मत्री' मे 'कृषी' का अत्य ईकार किन कारणो से ह्रस्व नही किया गया। उपधारा (झ) के खड दो मे वीप्सा-विवीप्सा वाले हिन्दी समासो मे हाइफन का निर्देश किया गया है, जैसे 'कैसे-कैसे', 'लिया-दिया', 'किसी-न-किसी' आदि मे। किन्तु 'बारंबार' के लिए वहाँ क्या निर्देश है? यहाँ चाहिये तो था कि संधि की स्थिति मे हाइफन नही देने का भी स्पष्ट निर्देश कर दिया जाता। 'बारबार' तो सस्कृत की सधि है, मगर 'कुछेक' 'हरेक' जैसी हिन्दी सधियो का भी इससे समाधान हो जाता। उपधारा (झ) का खड तीन और चार एक ही बात है, क्योकि दोनो खडो मे सामाजिक उदाहरण एक ही हैं। मेरे विचार से तो दोनो खडो के उदाहरणो मे बीचवाले हाइफन का कोई अर्थ नही है, क्योकि इस समास के शब्द यदि एक ही शिरोरेखा मे आवें तो इस लाघव से कोई भी अर्थहानि नहीं होने जाती है। जैसे, व्यक्तिविशेष, दिनभर जैसे समास तो क्या 'देनेभर' जैसे कृदंत को भी एक शिरोरेखा मे दिये जाने से शब्द, धातु, लिङ्ग या वचन आदि के द्वारा कोई व्याघात नही होने जा रहा है। इस उपधारा के पाँचवें खड के तात्पर्य का मैं समर्थन करता हूँ, किन्तु वहाँ मैं, व्याकरण-नियम के ही नाते, हाइफन देने की बात का समर्थन नही करूँगा बल्कि अँगरेजी मे पड़नेवाले लुप्तिचिह्न को ही हाइफन के बजाय उचित समझूँगा। वहाँ यह प्रणाली होनी चाहिए : मूल कथ्य है—'फूल के जैसा', समासरूप हुआ—'फूल-जैसा', समास-लाघव हुआ—'फूल' सा'। मेरा तर्क यह है कि यहाँ षष्ठी विभक्ति के लोप के नाते जबकि समास को

व्यक्त करने के लिये हाइफन दिये जाने की प्रथा है, तो समास को व्यक्त करने के साथ-साथ मात्रा या शब्द के लोप जैसे लाघव को व्यक्त करनेवाला, जैसे कि 'जैसा' से 'जै' का लोप 'सा'-मात्र शेष से प्रकट करने के लिये 'सा' के पहले ' ' ' लुप्ति-चिह्न भी आवश्यक है।

दूसरी धारा मे उपधारा (क) और (ख) नितात नियमविहीन है, क्योंकि पहले तो मैं कह ही चुका हूँ कि हिन्दी क्रियायें धातुरूप के साथ-साथ अपने परसर्ग-रूपो को लेकर ही पूर्ण होती है, अत. उनकी मूलधातु और परसर्ग मे लिङ्ग-वचन-पुरुषादि के कारण अलग-अलग अतर पडता है और इस अंतर के आने के ही कारण उन्हे 'संयुक्त क्रिया' कह देने मे कोई तुक नही है। रूपावली के अनुसार 'दिखायी दिये' को 'दिखाई दिए' या 'दिखायी दिए' या 'दिखाई दिये' लिखने का, धातुरूप चलाने का, कोई नियम नही बन सकता है। अत. धातुरूप के परसर्ग के अंतिम यकारापात का 'ए' या 'ई' मे लाघव करना निरर्थक और साथ-ही-साथ निर्नियम भी है। यह सत्य है कि ससे मुद्रण या लेखन मे लाघव होता है, किन्तु इस लाघव को व्याकरण मे सुचारु सिद्ध करते समय जितने अपवादसाधक सूत्र बनाने पड़ेंगे और उनकी फक्किकायें देनी पड़ेगी, उसकी स्थूलता पर शायद बिना सोचे ही यह धारा बना दी गयी है। यदि इस धारा की उपधारा (क) मे धातुरूप के परसर्ग के अंत को ये-यी की जगह ए-ई के आपात द्वारा लघु करने की बात की जाती है, तो क्या कारण है कि उपधारा (ख) मे कृदत के साथ वैसी ही बात क्यो नही की जाती, जबकि धातुरूप के मुकाबले कृदत मे ऐसा करने से इतनी अधिक आसानी होती है कि उसके लिये कम या नही के बराबर ही अपवादसाधक सूत्र बनते हैं। इस धारा की उपधारा (ग) का भी अर्थ समझ मे नही आता है। क्योंकि विभक्ति के अर्थ मे या क्रिया के अर्थ मे आनेवाले 'लेना' धातु के अर्थ मे कही भी कोई अतर नही है। जैसे, 'राम के लिये' मे 'लेना' धातु के अर्थ मे ही के 'लिये' विभक्ति बनी है, दूसरे अर्थ मे नही, यह बात तात्पर्यगत है। इसलिये, कोई कारण नही है कि धातुरूप मे 'लिये' और विभक्तिरूप मे 'लिए' का प्रयोग किया जाय। इस धारा की उपधारा (घ) मे भी वैसे ही अनत-अव्याख्य अपवादो की सृष्टि की गयी है। 'आइये', 'पिये', 'हँसियेगा'—इस प्रकार के यकारी प्रत्ययो मे ही लोट या विधि के रूप चलाने मे आसानी है, न कि 'आइए', 'पिएँ', 'हँसिएगा' जैसे एकारी प्रत्ययो मे। यदि लोट या विधि मे एकारी प्रत्यय चलाये जा सकें तो इस अपवाद को भी सिद्ध करने के बहुतेरे अनुशासन-सूत्र और अलग से उनकी फक्किकायें देनी पड़ेंगी। हाँ, जब धातु से कृदत या तद्धित रूप बनें तो वह गुणवाची सज्ञा के रूप मे हो जाता है,

और तब यकार प्रत्यय को एकार किया जा सकता है, क्योंकि तब एक ही अपवाद-साधक सूत्र इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है, जैसे 'जगहँसाई' 'मुँहदिखाई' आदि। इस उपधारा को देने मे, 'आइये' और 'जगहँसाई' के प्रत्ययार्थी मे फर्क को बिना समझे, एक ही नियम की लाठी से दोनो रूपो को हाँकने जैसी भूल अक्षम्य ही कही जायेगी।

धारा तीन की उपधारा (क) तो हिन्दी के नाते अवश्य-मान्य है, जहाँ कि सस्कृत के 'उज्ज्वल' को हिन्दी का 'उज्वल' और 'दु ख' को 'दुख' किया है। किन्तु यहाँ भी, छदो के लिये 'दु ख' जैसे त्रिमात्रिक की गु जाइश छोडनी चाहिये थी। और, हिन्दी के इसी प्रचलन की शर्त के नाते, कोई कारण नही है कि इस धारा की उपधारा (ख) के द्वारा सस्कृत के हलत शब्दो को हलत मे ही लिखा-पढा जाय। क्योकि, मान लीजिये कि हमने इस शर्त के अनुसार 'विद्वान' को 'विद्वान्' लिखना ही उचित ठहराया, तो इसमे शब्दरूपो वाले हिन्दी के परसर्ग अर्थात् विभक्तियाँ कैसे जुटेंगी ? क्या 'विद्वान्से' 'विद्वान्मे' 'विद्वान्पर' या 'विद्वान्के लिये' लिखा जायगा ? इस उपधारा मे दूसरा मजाक तो यह है कि 'महान' और 'विद्वान' जैसे शब्दो को इस नियम मे भुक्त करने के साथ-साथ 'किञ्चित्' और 'पृथक्' जैसे अव्ययो को भी भुक्त कर दिया गया है, जबकि अव्ययो मे हलत रहने से, उनमे परसर्ग लगने की कोई गु जाइश न होने के कारण, कुछ आता-जाता नही, बल्कि परसर्ग लगने की योग्यता वाले शब्दो मे ऐसी विधि से बहुत-कुछ बुद्धिविभ्रम का घाटा है। धन्य है ऐसे नियम बनानेवाले जो अनेकाकारी शब्दो और एकाकारी अव्ययो तक का प्रायोगिक अंतर नही समझ सकते।

धारा चार की उपधारा (क) और (ग) के विषय मे हमारा मतभेद यह है कि हिन्दी के अक्षर स्वस्थ कठ के उच्चारण के आधार पर ही बने है, वातज, पित्तज, कफज उच्चारण-विकारो को लेकर नही। कठ की जिस कफात्मक गल-गलाहट को लेकर उर्दू के ख, ग, फ, ज आदि अक्षर बनते है या अगरेजी के वातज कठ-विकार के कारण जो अर्धोकारी उच्चारण बना करता है, यदि उन तमाम के लिये अपनी चलती भाषा मे चिह्न जारी किये जायें, तो चार दिन के बाद फ्रेंच, लैटिन, दक्षिण अफ्रीकी, चीनी आदि जितने पक्षी-चतुष्पदो जैसे विकारी उच्चारण हिन्दी मे आने लगेंगे, सबके लिये चिह्न-विशेष नियुक्त करना असभव ही होगा। यदि यह देश यो ही स्वतत्र और सर्व सह रहा तो अँगरेजी और उर्दू के अलावा दूसरी भाषाओ के शब्द तो अपने यहाँ आयेंगे ही। हाँ, शब्द-कोषो मे या व्याकरण मे उच्चारण-अपभ्र शो के चिह्न देने की बात सोची जा सकती है। जहाँ तक अर्थ-

अनर्थ का प्रश्न है, वह तो वहुतेरे बह्वर्थको के साथ जिस तरह प्रसंग-सापेक्ष है, उसी तरह इनमे भी होगा। इस धारा की उपधारा (ख) ठीक ही है, मगर वहाँ भी हठ से काम नही चलेगा, क्योकि कविता की प्रसंग-प्रमुख शब्दध्वनि के नाते 'शर्म' और 'शरम' दोनो के प्रयोग का विकल्प तो देना ही होगा।

धारा पाँच के विषय मे मेरा विचार यह है कि 'पगु' 'अकिचन' या 'अत' मे सभी शब्द 'संस्कृत-जनित' नही, बल्कि संस्कृत के ही हैं और इन जैसे सभी शब्दो मे अनुनासिक हलाक्षरो की जगह अनुस्वार ही प्रयुक्त होना चाहिये। यदि इसमे कही छूट या अपवाद किया जा सकता है तो वह मात्रोत्तर अनुनासिक हलाक्षरो के लिये ही। क्योकि मात्रा के बगल मे अनुस्वार, छपाई के बीच टूटने या दबने के कारण, अस्पष्ट हो जाता है, इसलिये उसे अगले अक्षर के वर्ग का पचम कर सयुक्त किया जाय। 'मैं' 'है' आदि शब्दरूप या क्रियारूप, स्वयपूर्णत्व की लाचारी के नाते, अपवाद किये जा सकते है। इस प्रकार 'सुंदर', 'अत', अकिचन', 'मैं' आदि रूप ही अनुस्वार-प्रयोग के सही रूप होगे।

अगस्त ६० वाले 'प्रकाशन-समाचार' मे डॉ० नगेन्द्र के इस विषय के विचार मे मेरे विचार से दो-एक दोष हैं। उन्होने 'सयुक्त और वियुक्त शब्द' वाले उक्त प्रस्ताव मे एक सशोधन उपस्थित किया है कि हिन्दी के 'वाला' जैसे कृदंत परसर्ग को धातुरूप से अलग न रखकर साथ कर देना चाहिये। यहाँ मैं कुछ उदाहरण रखता हूँ। 'नामवाला' मे तो डाक्टर साहब की बात सगत लगती है, किन्तु 'देखने वाला' 'देख लेने वाला' 'दिखवा लेने वाला' जैसे कृदतो को क्या 'देखनेवाला' 'देखलेनेवाला' 'दिखवालेनेवाला' या 'देखने वाला' 'देख लेनेवाला' 'दिखवा लेनेवाला' इस प्रकार लिखा जायगा? चाहिये तो यह कि ऐसे प्रयोगो मे आये हुये शब्दो के सभी टुकड़े अलग-अलग ही रखे जायें, क्योकि धातु और उसके सभी परसर्गो में लिङ्ग-वचन-पुरुष-काल के अनुसार स्वतत्र प्रत्ययो के लगाने की जबकि गु जाइश बनी रहती है, तो उन्हें प्रत्ययो के समेत समस्त पद बनाना व्याकरण के हिसाब से ठीक नहीं होता।

'प्रकाशन-समाचार' के उक्त अक मे ही रामलाल पुरी जी का एक यह विचार है कि नियम ५ (ख) के अनुसार चंद्रबिंदु का प्रयोग आवश्यक नही माना जाना चाहिये'। मुझे इस विचार से विरोध है, क्योकि एक शब्द है 'मँदरा'। यदि इसे 'मदरा' लिखा जाय तो इसका उच्चारण 'मन्दरा' होगा जो कि 'मँदरा' वाला उच्चारण कतई नही हैं। 'मँदरा' मे जो एक छादसिक मिठास के साथ-साथ चार मात्रा वाला लाघव है, वह मंदरा' मे पाँच-मात्रकता जैसी-गुरुता तथा उच्चारण

मे आये हुये झटके के कारण; अपने स्थान पर कदापि शुद्ध नही है। वेदमन्त्रो की बात तो विशेष है, हिन्दी के साधारण लोकगीतो या लोकोक्तियो की ह्रस्वात्मकता की हानि, शायद पुरीजी भी, अपने उक्त विचार को लागू करते हुये, नही करना चाहेगे।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

पञ्जाब विश्वविद्यालय से डॉ० मदान ने लिखा था .—

'पुस्तक-जगत' मे प्रकाशित अक्षरी नियमो के सम्बन्ध मे मेरा विचार है कि .—

२ (क) गया का गये ही होना चाहिये। इससे जटिलता कम होती है। गया का गए होने से जटिलता बढती है।

३ (ख) सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार हलन्त का यथास्थान प्रयोग करने से कोई लाभ नही है, हानि है। महान् के स्थान पर महान, जगत् के स्थान पर जगत, वरन् के स्थान पर वरन, किञ्चित् के स्थान पर किंचित होना चाहिये।

आप 'पुस्तक-जगत' को 'पुस्तक-जगत्' क्यो नही लिखते ? नही लिखते तो ठीक करते हैं। श्री देवराज के सुझाव परम्परावादी न होकर हिन्दी के लिये रूढिवादी है। एकरूपता ही उद्देश्य नही है, प्रगतिशीलता भी होनी चाहिए।

श्री सुधीरचन्द्र मजूमदार

रामदयालु उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, गगेया, मुजफ्फरपुर के प्राचार्य सुधीरचन्द्र मजूमदार ने लिखा था —

अब हिन्दी सर्व-भारतीय भाषा बन गई। अतः इसे सर्वमान्य करने के लिए तथा इसमे एकरूपता लाने के लिए तत्सम शब्दो का शुद्ध सस्कृत विवरण रखना चाहिए। हिन्दी भी अपने शब्द-भडार के लिए सस्कृत की ही अधिक ऋणी है और वही हिन्दी से दूसरी भारतीय भाषाओ का योगसूत्र है। सस्कृत-व्याकरणानुसार जब दो पदो मे सन्धि होनी है तो अनुस्वार या परसवर्ण दोनो शुद्ध हैं, परतु लिखने की सुविधा के लिए लोग अनुस्वार ही अधिक लिखते हैं। यथा, अलकार, भयंकर, धनजय, किंतु। किंतु जब एक ही पद के भीतर सन्धि हो तो केवल परसवर्ण ही विहित है। अत शका, शात आदि भूल है।

यहाँ, हूँ आदि मे चन्द्रविन्दु सब कोई लिखते हैं, किंतु घरो, मे, नही, हैं आदि लिखने मे अनुनासिक स्वरमात्र के उच्चारण होने पर भी चन्द्रविन्दु के स्थान-

भाव के कारण अनुस्वार लिखा जाता है। अत: एकरूपता के लिए अनुस्वार का दूसरा रूप सोचना चाहिए।

हिन्दी मे हल्-चिह्न का भी निर्विचार प्रयोग होता है। स्मरण रहे कि क=क्+अ है और इस अन्तिम अकार को काटने के लिए ही हल्-चिह्न का प्रयोग होता है। प्राय: देखा जाता है कि श्रीमान्, भगवान्, जगत् लिखने मे लोग हल्-चिह्न देते ही नही (यथा, 'पुस्तक-जगत'), पर उधर गत, सन, दशम, मध्यम लिखने मे कसकर हल्-चिह्न दे देते है।

सस्कृत के नियमानुसार रोदन, मनस्काम, अन्ताराष्ट्रीय तथा रणजित् शुद्ध प्रयोग है। इनके हिन्दी रूप रुदन, मनोकाम, अन्तर्राष्ट्रीय तथा रणजीत दूसरे प्रान्तो के लोगो को जरूर खटकेंगे।

एकबार मुजफ्फरपुर से पटने तक जाते-जाते ही ऐसी नोटिसे नज़र आई—स्टेशन पर 'मुफ्त सेवा प्राप्त किजिए' ट्रेन पर 'पैखाना मुफ्त सफाई किया जाता है', फिर स्टीमर पर 'मध्यम् श्रेणी'। अगरेजी राज्य मे अथवा आज भी नोटिसो मे कभी गलत अँगरेजी देखी, ऐसा ख्याल नही होता है। क्या यह हिन्दी-प्रान्तो के लिए लज्जा की बात नही है?

श्री देवनारायण द्विवेदी

ज्ञानमण्डल, वाराणसी के श्री देवनारायण द्विवेदी ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे :—

१ (क) विभक्तियाँ मिलाकर लिखी जानी चाहिए। यह सिद्धान्त ठीक नही है कि सर्वनामो के साथ विभक्तियाँ जुड़ी रहे और अन्यत्र वे अलग रहे। हर जगह जुडी रहना ही सङ्गत है। (च) 'वाला', 'वाली' आदि शब्द से जुडा रहना चाहिए। (ज) जहाँ तक हो सके हाइफन का प्रयोग कम होना चाहिए।

२ (क) प्राय हर जगह 'ये', 'यी' का ही प्रयोग होना चाहिए। 'हँसता गया', 'हँसते गये', बस यही ठीक है। किन्तु कुछ स्थानो मे 'ए' अथवा 'ई' का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे—'इसलिए', 'दिखाई पड़ना' आदि मे।

३ (क) यदि कोई सस्कृत शब्दो को शुद्ध रूप मे लिखना पसन्द करे तो उसका विरोध नही होना चाहिए।

४ (क) अक्षर के नीचे नुक्ते का प्रयोग नही होना चाहिए। हाँ, जहाँ अर्थ मे भ्रम हो, वहाँ किया जा सकता है। (ग) जो शब्द हिन्दी मे घुलमिल गये है, उनके लिए अर्द्धचन्द्र लगाना उचित नही, जैसे—'डाक्टर'।

५ (क) अनुस्वार के आगे का अक्षर जिस वर्ग का हो उसके पञ्चम वर्ण के रूप मे अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए। पर ऐसे स्थानो पर, जहाँ पञ्चम वर्ण मिलाने मे अधिक अड गा सा हो; जैसे गङ्गा। पर अनुस्वार लगाने से उस शब्द के यथार्थ उच्चारण मे किसी तरह का भ्रम न हो, वहाँ अनुस्वार से काम लेना उत्तम है, जैसे गगा।

श्री हर्षनारायण

२०, शिवगढ क्वाटर्स, शिवाजी मार्ग, लखनऊ से श्री हर्षनारायण जी ने लिखा था —

१. (क) विभक्तियाँ सर्वनामो से भी असयुक्त ही रहनी चाहिए। (ख) पूर्वकालिक क्रियाओ का 'कर' भी उनसे असयुक्त रहना चाहिए, अन्यथा एक के वाद एक कई पूर्वकालिक क्रियाओ का प्रयोग करने पर प्रत्येक के साथ अनावश्यक रूप से 'कर' की आवृति करनी पडेगी। हम 'खा, पी और खेल कर सोया' लिख सकते है, तब 'खाकर, पीकर और खेलकर सोया' क्यो लिखें ? 'कर' के क्रिया का अग बन जाने पर तो इसे 'खा' और 'पी' से वियुक्त किया ही नही जा सकता। और 'कर' तो एक स्वतत्र क्रिया ही है। वह अन्य क्रियाओ के साथ पर्याप्त कारण के अभाव मे क्यो मिले ? (ड) मैं सख्यावाचक 'प्रति' को भी सज्ञा के साथ मिलाकर लिखने का औचित्य नही देखता। 'प्रतिक्षण' और 'प्रतिदिन' जैसे शब्दो मे तो ऐसा करने मे कठिनाई नही जान पडती, किन्तु 'प्रति दो सहस्र' मे क्या करेंगे ? इन तीन शब्दो को मिलाये विना प्रारूपस्थ सुझाव का पालन होगा नही और इन्हे मिलाकर लिखने मे 'प्रतिदोसहस्र' जैसा वेडौल पद वनता है, अत. प्रति को पृथक् ही रहने दीजिए। अग्रेजी मे भी तो 'per' पृथक् ही रहता है। (च) 'बाँसुरी वाला', 'दौडने वाला', आदि मे 'वाला' पृथक् ही रहना चाहिए। डॉ० नगेन्द्र का मिलाकर लिखनेवाला सुझाव मान लेने पर 'मैं ही गाने, वजाने और नृत्य करने वाला हूँ' मे 'वाला' किस शब्द के साथ मिलायेंगे ? क्या उसकी तीन वार आवृत्ति करेंगे ? लेखक, पाठक और मुद्रक को आवश्यक कष्ट क्यो दिया जाय ? (छ) 'जी' को मूल सज्ञा से पृथक् रखना ही श्रेयष्कर है। अन्यथा कही 'पखावजी', 'भट्टाचारजी', जैसे शब्दो के 'जी' को आदर सूचक न समझ लिया जाय। इसके अतिरिक्त 'मोहन दास करमचन्द गाधी', मे 'जी' कहाँ किस शब्द के साथ मिलाकर लिखेंगे ? आलोच्य सज्ञा के तीनो शब्द अलग-अलग लिखे जाते हैं, जिनमे से किसी एक शब्द के साथ 'जी' लगाना 'असमीचीन' होगा। (ज) निम्नलिखित और 'यथास्थान' जैसे विशेषण और क्रियाविशेपणो में युग्रेखा (हाइफन) की

आवश्यकता नही, उनके सघटक शब्दो को मिलाकर ही लिखना चाहिए। 'आत्महत्या' जैसी सज्ञा के संघटक शब्द भी मिले ही रहने चाहिए। किन्तु 'रहन-सहन' जैसी सज्ञाओ के सघटक शब्द युग्रेखा से ही जुडे हो तो अच्छा। 'रहन-सहन' और 'आत्महत्या' मे अन्तर यह है कि पहले मे 'रहन' और 'सहन' दोनो शब्द अपने मूल रूप मे सुरक्षित और पहचाने जाने योग्य है, जबकि दूसरे मे 'आत्मा' अथवा 'आत्मन्' 'हत्या' से समस्त होने के साथ ही अपना मूलरूप खोकर 'आत्म' बन चुका है और इसी कारण अपनी पूर्णता मे पहचाने जाने योग्य नही है। अत उसे युग्रेखा द्वारा सयुक्त करना व्यर्थ है। युग्रेखा तो वहाँ आवश्यक है, जहाँ शब्द अपने प्रकृत रूप मे स्थित हो।

२. (क) 'या' से अन्त होनेवाली सभी क्रियाओ के स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन रूप मे 'यी' और 'ये' का प्रयोग होना चाहिए, 'ई' और 'ए' का नही। जब 'हँसता गया' लिखते है तो 'हँसते गये' क्यो नही? (ग) इस सुझाव से मै सर्वथा सहमत हूँ कि क्रिया और विभक्ति के रूप मे क्रमश 'लिये' और 'लिए' होने चाहिए।

३. (क) 'महत्त्व', 'तत्त्व' और 'उज्ज्वल' ही शुद्ध रूप है, सस्कृत ही मे नही, हिन्दी मे भी। हाँ, 'कर्त्तव्य' लिखना आवश्यक नही, क्योकि यहाँ 'त' का द्वित्व इस प्रकार के किसी समास का परिणाम नही। 'दु:ख' ही ठीक है, 'दुख' नही।

४ (क) उर्दू तथा अन्य भाषाओ के शब्दो के नीचे यथावसर बिन्दु का प्रयोग सर्वथा श्लाघ्य है, अन्यथा हम 'ज़लील' (नीच) को 'जलील' (श्रेष्ठ) लिखने की भूल कर बैठेंगे। हम हिन्दी वाले अन्य भाषाओ से गृहीत शब्दो की ध्वनि जान बूझकर क्यो विकृत करे, जबकि हमारी लिपि, केवल बिन्दु का प्रयोग कर, उसे अक्षुण्ण रखने मे समर्थ है।

५ (क) अनुस्वार का ही सर्वत्र प्रयोग होना चाहिए न कि ण, म और ञ के अर्धांशो का। (ख) चन्द्रबिन्दु अनावश्यक है, अनुस्वार ही पर्याप्त है। ध्वनि-भेद तो पाठक स्वयमेव, अनायास ही कर लेगा। आखिर कतिपय मात्राओ के साथ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग प्रारूप मे भी वर्जित किया ही गया है।

प० मु० डाँगरे

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति से पं० मु० डाँगरे ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे :—

अब हिन्दी भाषा तथा लिपि से सम्बन्धित विषयो पर प्रदेश-सीमित असंलिप्तता से सोचने के दिन नही रहे है। विभक्तियाँ सटाकर लिखी जायँ या अलग से, इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारे लिए अन्य भाषाओ की लेखन-परिपाटियो पर भी विचार करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, मराठी मे विभक्ति प्रत्यय शब्दो से सटाकर ही लिखे जाते है, वैसे ही गुजराती, बगला आदि भाषाओ की परिपाटियो को बारीकी से, भाषाविज्ञान की दृष्टि से देखलेना लाभकारी है। अखिल भारतीय ढग से सोच-सुलझा लेना परम आवश्यक हो गया है, नही तो प्रदेश-प्रदेश के अपने अलग-अलग राग सुनने को मिल जाते है।

१. (घ) सस्कृत की सामासिकता हिन्दी मे नही लानी चाहिए। 'पदच्युत', 'हितचिन्तक' आदि शब्द बीच मे हाइफन देकर ही लिखे जाने चाहिए। जैसे 'पद-च्युत', 'हित-चिन्तक' आदि। (ङ) 'प्रतिक्षण', 'प्रतिदिन' शब्द भी अलग-अलग ही लिखे जायँ। (च) 'वाला' के प्रयोग से बनी कर्तृवाचक सज्ञाओ के दोनो खड सयुक्त लिखे जायँ, जैसे—दौड़नेवाला। (ज) वाद-विवाद, चाल-चलन आदि शब्द हाइफन देकर लिखे जायँ।

२. (क) सर्वत्र एक ही रूप का निश्चय होना जरूरी है।

३. (क) हिन्दी मे सस्कृत के शब्द शुद्ध रूप मे ही लिखने चाहिए। महत्त्व, उज्ज्वल, तत्त्व, नि सकोच ही ठीक हैं। तत्सम की ओर प्रवृत्ति ही ठीक है।

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्त शास्त्री

श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्त शास्त्री (वाराणसी) के सुझाव इस प्रकार थे :—

१. (क) 'चाहिए' शब्द अव्यय है। जिसका व्यय, क्षय परिवर्तन या वृद्धि न हो वही अव्यय है। 'आम खाना चाहिए', 'आम खाने चाहिए', 'लीची खानी चाहिए', 'लीचियाँ खानी चाहिए'। यहाँ 'खाने' और लीचियाँ शब्दो से बहुत्व प्रकट हो गया है। 'चाहिए' शब्द मे चन्द्रबिन्दु देना अनावश्यक है, बल्कि व्याकरण के नियम से वह अशुद्ध है। जिस शब्द की वह विभक्ति है, उसके साथ उसे सयुक्त रखना ही उचित है। सस्कृत और बँगला मे यही नियम है। सर्वनाम के साथ विभक्ति युक्त रहेगी, सज्ञा के साथ अलग—इस मत के पक्ष मे कोई युक्ति नही है, 'राम ही को' न लिखकर 'राम को ही' लिखने से भाव मे कोई अन्तर नहीं पडता। सस्कृत वाले विभक्तियो को शब्द मे मिलाकर ही लिखते हैं।

(घ) समास युक्त पद मिलित रहेंगे—इतना कहने से ही काम चल सकता है। बीच की विभक्ति या शब्द का लोप करके ही समास बनता है। जैसे—पद से च्युत=पदच्युत, हित का चिन्तक=हितचिन्तक, कला से पूर्ण=कलापूर्ण, तुलसी द्वारा कृत=तुलसीकृत, शोक से ग्रस्त=शोकग्रस्त, भाव से हीन=भावहीन, सास और ससुर के पदों की पूजा=सासससुरपदपूजा।

प्रत्यय भी शब्द से मिले रहते हैं—जैसे—कोलाहलमय, द्रुततर, चपलतम, पागलपन, समझदार, मकानवाला, बाबूगीरी, मददगार, पीलवान आदि।

(ङ) उपसर्ग भी शब्द से संयुक्त रहते हैं। जैसे प्रशिक्षण, प्रतिदिन, अपवाद, निर्लोभ, दुर्दशा, विपक्ष, अधिरथी, सन्यास आदि।

(च) (ज)—नियम (घ) में दिया गया है।

(झ)—(घ) में लिखित समासयुक्त शब्दों में भी (-) हाइफन लिखा जा सकता है, जैसे—कला-पूर्ण, शान्ति-रक्षक, तुलसी-कृत, शोक-ग्रस्त, भाव-हीन आदि तथा कृपिमश्री, शब्दसागर, सिगरेटकेस आदि हाइफन न देकर मिलाकर भी लिखे जा सकते हैं।

(२) (क) गया से गये, गयी और हुआ से हुए, हुई होना ही स्वाभाविक है। गए, गई, या हुया, हुयी लिखना अशुद्ध है। गया से 'य' उड जाए, और स्वर का 'ए' या 'ई' आ जाए तथा 'हुआ' से 'अ' उड जाए और व्यंजन का 'ये' या 'यी' आ जाए, इसे व्याकरण के किसी नियम से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बच्चे को चुप करने के 'लिए' माँ उसे गोदी में 'लिये' टहल रही है—इस प्रकार दो प्रकार के 'लिए' में रूप-भेद होना ही चाहिए। लिये क्रिया है, माने—'लेकर' है। 'एक आम लिया', 'दो आम लिये', यहाँ 'लिए' लिखना अशुद्ध है।

३. (क) तत्+त्व=तत्त्व, सत्+त्व=सत्त्व, महत्+त्व महत्त्व भी शुद्ध रूप है। त, स, या मह कोई सार्थक शब्द या उपसर्ग नहीं है कि उनमें त्व जोड दिया जाए। संस्कृत से केवल तीन ही तो त—कारान्त शब्द हिन्दी में आये हैं। इन्हें याद रखना कोई कठिन बात नहीं है।

'उत्' उपसर्ग है। उसमें 'ज्वल' शब्द लगने से उज्ज्वल होता है। त् उड नहीं जा सकता, केवल उ उपसर्ग भी नहीं है। प्र+उत्+ज्वल=प्रोज्ज्वल। किन्तु प्र+ज्वलित=प्रज्वलित शुद्ध है। रेफाक्रान्त वर्ण विकल्प में द्विगुणित होता है। एक वर्ण लिखने से ही काम चल सकता है। जैसे—कर्म, धर्म, कार्य, पर्वत, कर्त्तव्य आदि।

(ख) हिन्दी मे अकारान्त शब्द हलन्त उच्चारित होता है। अतः भगवान, श्री मान, किंचित, पृथक आदि शब्दो मे 'हल' चिह्न लगाकर—रूप, सूचक, अलग, शरीर, आदि से पृथक करना अनावश्यक है।

५. (क) हिन्दी शब्द मे अनुस्वार और संस्कृत शब्द मे पचम वर्ण—ऐसा एक नियम बन जाए तो हजारो शब्दो को छाँटना न पड़ेगा। जैसे—अंडबड, ऊटपटाग, ढंग, तग, नगा, पखा, गज, झंझट, अदाज, फदा, खंडहर, आदि तथा गङ्गा, मङ्गल, शङ्ख, शङ्का, काञ्चन, लाञ्छना, पञ्चाङ्ग, कण्ठ, दण्ड, पण्डित, अन्त, चन्द्र, मन्दिर, अन्ध, गन्ध, कम्पन, दम्भ, सम्बन्ध, आदि। शुद्ध और सुन्दर शब्द सस्कृत के है, यह सहज ही जाना जा सकता है।

क्रिया के भविष्यत् काल मे 'ग' के पूर्व अनुस्वार लिखना ही उचित है। वहाँ 'ङ' का ही उच्चारण होता है। जैसे खाऊँगा, जायेंगे, आयेंगी। खाऊँ, जाये, आयँ आदि मे चन्द्रबिन्दु का जैसा उच्चारण है, इसके आगे 'गा' उच्चारण करने से भविष्यत् काल का ठीक उच्चारण नही होता, 'ग' के पूर्व स्पष्ट ङ् की ध्वनि निकलती है।

श्री कृष्ण विकल

विवेच्य प्रारूप पर श्री कृष्ण 'विकल' ने कुछ विस्तार से विचार करते हुए लिखा था :—

हिन्दी मे लेखन-मुद्रण की जो बहुरूपता चल रही है। उससे न केवल प्रेस और प्रकाशक को दिक्कत होती है, बल्कि हिन्दी सीखने वालो को बडी भारी दुविधा का सामना करना पडता है। अभी तक अपनी डफली अपना राग चल रहा था। इधर अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सघ ने इस ओर ध्यान देकर बडी भारी खटक को सुधारने की जो कोशिश की है, वह स्वागत-योग्य है।

१. 'उसपर' आदि को मिलाने की बात समझ मे नही आई, यह भी तो 'ने' की तरह अधिकरण की विभक्ति है।

घ, ड, ज ओर झ पाँच (१-५) उपभागो मे समस्त शब्दो पर विचार किया गया है। पर सभी कुछ गड्डमगड्ड है। क्या सख्यार्थक 'प्रति' उपसर्ग से बने शब्द ही मिले रहेगे, 'प्रतिकूल, 'प्रतिदान, प्रतिरूप आदि विपरीतार्थक प्रति उपसर्ग से बने हुए शब्द नही ? क्या 'यथास्थान' 'अनुक्षण' आदि सभी सोपसर्ग शब्द इस नियम मे नही आ सकते थे ? घ मे जो शब्द गिनाये गये हैं, उनके रटने से क्या काम बन सकता है ? चाहिए तो यह था कि समस्त शब्दो की स्थिति पर गभीरता

पूर्वक विचार करके, समास की प्रकृति को देखकर एक शिरोरेखा मे रखने या युग्रेखा (-) डालने का विधान किया जाता।

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी मे समास हो जाने पर पृथक्-पृथक् शब्दो के स्थान पर मिलित रूप एक शब्द बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी मे समस्त शब्द मिले रहने चाहिएँ या उससे वे हाइफन से परस्पर सम्बद्ध बने रहने चाहिएँ।

सस्कृत मे समस्त शब्दो को मिलाकर लिखने का ही विधान है। सस्कृत मे भी युग्रेखा का प्रयोग दिखाई देता है, पर वही जहाँ कोई शब्द या समस्त शब्द एक ही पक्ति मे पूरा न आकर दूसरी पक्ति मे उसका शेष भाग चला जाता है। युग्रेखा के अन्यान्य प्रयोग हिन्दी मे अग्रेजी से आये हैं। पर अंग्रेजी मे हाइफन का वैसा प्रयोग बाहुल्य नही है, जैसा हिन्दी मे है। वे 'पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट', 'ह्यूमैन सर्विस', 'स्लोली स्लोली' आदि अनेकानेक समस्त शब्दो मे हाइफन नहीं लगाते, पर हिन्दी मे प्रकाशन-विभाग, मानव-सेवा, धीरे-धीरे आदि मे युग्रेखा लगाने का आग्रह है।

यहाँ किसी भाषा के अधानुकरण से काम नही चलेगा। हिन्दी भाषा की प्रकृति मे समस्त शब्दों की समस्तता तबतक अखडित रहेगी, जबतक उन्हे एक शिरोरेखा मे रखा जायगा अथवा उन्हे युग्रेखा से सम्बद्ध रखा जायगा।

अब प्रश्न यह है कि कहाँ समस्त शब्द को एक शिरोरेखा मे रखा जाए और कहाँ युग्रेखा से सम्बद्ध किया जाय।

यद्यपि समग्र रूप से इसके लिए कोई अपरिवर्तनीय विधान लागू नही किया जा सकता, फिर भी कई दशाएँ ऐसी है, जहाँ समस्त पद को अनिवार्य रूप से एक शिरोरेखा मे रखना ही उचित है या अनिवार्य रूप से युग्रेखा से ही सम्बद्ध किया जाना चाहिए। उस पर विचार करने से पहले मोटे रूप से हमे यह जान लेना चाहिए कि एक शिरोरेखा मे रखने का और युग्रेखा देने का मूल उद्देश्य क्या है।

स्मरण रखना चाहिए कि समस्त शब्दो मे युग्रेखा वही दी जानी चाहिए, जहाँ समास करते हुए भी उन्हे पृथक् दीखने वाले शब्दो के रूप मे रखना अभीष्ट हो। इसी प्रकार वही शब्द एक शिरोरेखा मे मिले हुए आते है, जो या तो सन्धि से जुड़े रहते हैं या फिर बहुधा जो मिलकर एक अलग अथवा विशिष्ट अर्थ प्रस्तुत करते हैं।

इस विषय पर समास-भेद की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

(१) बहुव्रीहि समास एक शिरोरेखा के भीतर लिखा जाना चाहिए, क्योकि वहाँ किसी पद-विशेष का महत्त्व नही होता, वल्कि उन पदो को मिलाने पर एक पृथक् अर्थ निकलता है। जैसे दशमुख, चतुर्भज, कमलनेत्र, घनश्याम, बारहसिंगा, सरलहृदय आदि।

(२) इसके विपरीत द्वन्द्व की प्रकृति ऐसी है कि इसमे अनिवार्य रूप से युग्रेखा का प्रयोग करना चाहिए—जैसे, पति-पत्नी, लेन-देन आदि।

(३) अव्ययीभाव समास मे जब अव्यय जुडता है तो शब्द एक ही शिरोरेखा मे मिले रहने चाहिएँ। जैसे :—यथाशक्ति, अनुक्षण, आजीवन, प्रतिकूल आदि। किन्तु जब अव्यय या शब्द, शब्द के बाद जुड़ता है तो हाइफन लगाना उपयुक्त रहेगा। जैसे—दिन-भर, स्वप्न-मात्र, साफ-साफ, रोज-रोज आदि।

(४) तत्सुरुप समास के बारे मे .

कर्मधारय समास मे जहाँ (क) विशेषण विशेष्य मे समास किया जाता है, वहाँ मिला रहना चाहिए। क्योकि इस समास के हो जाने पर दोनो पद आपस मे घुलमिल जाते है। जैसे लालमिर्च, शीतयुद्ध, उषाकाल, उभयपद आदि।

(ख) पर जहाँ उपमान-उपमेय मे समास किया जाता है, वहाँ युग्रेखा प्रयोग करना अधिक संगत है। क्योकि यहाँ समास हो जाने पर भी दोनो शब्दो का 'पृथकत्व' बना रहता है। जैसे—चरण-कमल, मुख-चन्द्र आदि।

द्विगु समास मे समस्त पद शिरोरेखा मे रहना चाहिए। [क्योकि प्राय. इस समास में पूर्व सख्या पद मे कुछ विकार हो जाता है या परस्पर सन्धि हो जाती है, जिससे दोनो पद पृथक्-पृथक् नहो रह पाते।] जैसे · इकन्नी. दुवन्नी, अठन्नी, त्रिलोकी, तिराहा, इकहरा, दुहरा, पसेरी, आदि। इसमे पदसमूह मिलकर ऐसे एकरूप हो गये हैं कि युग्रेखा की गु जाइश ही नही रह पाई।

अब रह गया तत्पुरुप (कारको मे) समास। ऐसे तत्पुरुष मे जो शब्द परस्पर बहुत घुले मिले न हो, उनमे हाइफन का प्रयोग अच्छा रहेगा। जैसे—हवन-सामग्री, देश-निकाला, कृषि-मन्त्री, शब्द-चमत्कार, सिग्रेट-केस, पॉव-तले, सरकार-विरोधी, नदी-किनारे, मुझ-सा, उस-जैसा आदि।

किन्तु उक्त समास मे ऊपर शब्द या शब्दाश जब पूर्वपद के अर्थ से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते हैं, वहाँ समस्त पद एक शिरोरेखा मे आने चाहिएँ। जैसे—रसहीन, न्याययुक्त, फलप्रद, लाभदायक, क्षतिग्रस्त, स्नेहपूर्वक, आश्चर्यजनक, साहसपूर्ण, परिणामस्वरूप, एकनिष्ठ, प्रेममय, पदच्युत, हानिकारक, जलद आदि।

साथ ही जहाँ समस्त पद में सन्धि रहती है, वहाँ हाइफन नहीं आ सकता। जैसे वज्राहत, प्राणाधार, कथनानुसार।

जहाँ तत्पुरुष मे समस्त पद के पूर्व पद मे विकार आ जाता है, वहाँ हाइफन की गुंजाइश नहीं रह जाती, जैसे घुड़दौड़, लखपति, राजपुरुष आदि।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि तत्पुरुष समास मे न तो अपरिहार्य रूप से युग्रेखा का विधान ही किया जा सकता है और न ही बहिष्कार। इसके लिए दृष्टि ही प्रधान है। इसके मूल मे यही सिद्धान्त काम करता है कि समस्त पद घुले-मिले हो तो एक शिरोरेखा मे दे देने चाहिएँ। और यदि अप्रचलित या लम्बे-लम्बे समस्त पद हो तो सुविधा के लिए उनमे हाइफन का प्रयोग करना चाहिए जैसे—

एक शिरोरेखा मे—मातृसेवा, देशप्रेम, अनारदाना, जेबखर्च, मोरपंख, तत्संबंधी आदि।

युग्रेखा से सम्बद्ध —समाज-सुधारक, मानवता-प्रेम, होटल-खर्च, शिल्प-कला-विशारद आदि।

(२) क्रिया के रूपो के सम्बन्ध मे—संयुक्त क्रियाओ के अंत मे 'ए' और 'ई' का प्रयोग उचित नहीं। 'रोती गयी' 'रख दिये' को 'रोती गई' 'रख दिए' लिखने से अव्यवस्था और बढ़ेगी।

(३) महत्त्व, कर्त्तव्य, उज्ज्वल, तत्त्व, दुःख, किंचित्, पृथक्, ये रूप ही शुद्ध है। हाँ भगवान, महान, विद्वान इन शब्दो मे हल् न करना अधिक व्यवहार्य है।

(४) अंग्रेजी शब्दो मे अर्ध चन्द्राकार (˘) लगाने की आवश्यकता नहीं – जैसे 'डॉक्टर, कॉफी' को डाक्टर, काफी लिखना ही ठीक है, क्योंकि उच्चारण इसी रूप मे होता है।

अनुस्वार और पंचमाक्षर प्रयोग दोनो ही विकल्प से चलने देने चाहिएँ, इससे उच्चारण की सही विधि का ज्ञान सरलता से हो जायगा। 'ङ्, ञ्' के स्थान पर अनुस्वार लगा देने से ङ् और ञ् बिल्कुल निरर्थक हो जाएँगे। तब तो वर्ण-माला मे उनका कोई स्थान ही नहीं रह जायगा। मान लीजिए, उन्हे वर्णमाला से ही निकाल दिया गया तो पंचमाक्षर नियम से अनुस्वार जो ङ् और ञ् की ध्वनि देता है, उसको किसी वर्ण की अभिधा न दी जा सकेगी या उच्चारण ही भ्रष्ट हो जाएगा।

रह गई चन्द्रबिन्दु की बात। सो चन्द्रबिन्दु का पूरा लाभ नागरी लिपि मे प्राप्त किया नही जा सकता। ि ी े ै ो ौ पर इन्हे फिट नही किया जा सकता, तो फिर जिस अन्दाजे से 'खिच' भिच', 'खेच' 'होठ' आदि ठीक पढ लिये जाते हैं वैसे ही हस, उंह, फाक, माग, मुंह, मूंग आदि शुद्ध पढ लिये जा सकते है। स्पष्ट हैं कि चन्द्रबिन्दु के प्रयोग से कोई विशेष लाभ नही।

भारतीय हिन्दी परिषद् :

वर्तनी की एकरूपता के लिए प्रस्तावित नियमों का प्रारूप

[फरवरी, १९६१ ई० मे परिषद् का वर्तनी विषयक यह 'प्रारूप' प्रकाशन समाचार तथा अन्य कई पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुआ था—लेखक]

प्रस्तावना—अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सघ ने लेखन-मुद्रण मे एकरूपता के लिए वर्तनी सम्बन्धी नियमो का एक प्रारूप प्रचारित किया है। भारतीय हिन्दी परिषद् का ध्यान भापा की एकरूपता तथा स्थिरीकरण की व्यापक समस्या पर आज से दस वर्ष पहले ही गया था। उसके पटना अधिवेशन मे इस विषय की विभिन्न समस्याओ पर विस्तार से विचार भी किया गया था। हिन्दी अनुशीलन का भाषा-अंक भापा और लेखन-शैली के स्थिरीकरण के उद्देश्य से ही निकाला गया था। परन्तु इस विषय मे भारतीय हिन्दी परिपद् ने अब तक अपना कोई निश्चय नही प्रकट किया है। प्रकाशक-सघ के उपर्युक्त प्रारूप के प्रचारित होने पर परिषद् की कार्यकारिणी का ध्यान इस ओर विशेप रूप से गया कि कम-से-कम उन समस्याओ पर भारतीय हिन्दी परिषद् को अपना मत निर्धारित कर ही लेना चाहिए जिनके बारे मे प्रकाशक सघ निर्णय कर लेना चाहता है। और इस उद्देश्य से उसने एक प्रारूप तैयार करने का कार्य एक समिति को सौपा, जिसके सदस्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० हरदेव बाहरी और डॉ० रघुवश (सयोजक) रखे गए। समिति ने कुछ बैठकें कर निम्नलिखित प्रारूप परिषद् के विचारार्थ निर्मित किया है।

उद्देश्य—वस्तुत वर्तनी के प्रश्न पर केवल यान्त्रिक सुविधा तथा उपयोगिता की दृष्टियो से विचार करना उचित नही माना जा सकता। वर्तनी भापा से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होती है और भाषा की शैली तथा प्रवाह पर भी उसका प्रभाव पडता है। वर्तनी के नियमो का निर्धारण करने मे इस कारण भाषा की मौलिक प्रकृति को ध्यान मे रखना अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ साहित्यिक प्रकाशन

संस्थाएँ छपाई की सुविधा के नाम पर वर्तनी की जिस पद्धति का अनुसरण कर रही हैं, वह भाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल नहीं है और उसमें भाषा की शैली बोझिल होती है तथा गति रुद्ध होती है। लेखन-शैली अथवा वर्तनी में संशोधन करने का एक मात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह भाषा की मूल प्रकृति को अक्षरों तथा अंकों के माध्यम से व्यक्त करने में अधिक-से-अधिक सहायक हो सके।

नियमों का आधार—भाषा की मूल प्रकृति की रक्षा करते हुए इस सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण १—भाषा वैज्ञानिक प्रमाण २—स्पष्टता—वर्तनी के साथ अर्थ की ३—परम्परा तथा ४—सुविधा के आधार पर किया जाना अपेक्षित है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि भाषा का मूल रूप उसके प्रयोग करने वाले लेखकों, विचारकों, साहित्यिकों के द्वारा निरूपित होता है, नियमों को बनाने वाले वैयाकरणों से नहीं, वे उनके निरूपक मात्र होते हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त आधारों का निरूपण भाषा का प्रयोग करने वालों की दृष्टि से ही होना चाहिए।

नियमावली

१. वियुक्त शब्द, संयुक्त शब्द या हाइफन का प्रयोग

१—हिन्दी की मूल प्रकृति विश्लेषणात्मक है, संस्कृत के समान संश्लिष्ट नहीं। समास-युक्त शब्दों का प्रयोग भी संस्कृत की शैली है, हिन्दी की नहीं। हिन्दी में संज्ञा शब्दों का विशेषण रूप में प्रयोग सर्व प्रचलित है, इस कारण संस्कृत के समान दो संज्ञा शब्दों में विभक्ति चिह्नों का प्रयोग हुए बिना भी उनका समास-युक्त होना उसमें आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में इस सम्बन्ध में हिन्दी में प्रयोग के आधार पर संस्कृत से भिन्न नियमों का अनुसरण आवश्यक है।

(क) हिन्दी की परम्परा कर्मधारय समास से शब्दों को पृथक्-पृथक् रखने की है। जैसे कृष्ण सर्प, गम्भीर पुरुष, शुद्ध जल। यह हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के अनुकूल है, साथ ही विशेषण तथा विशेष्य की स्पष्ट अलग स्थिति को भी व्यक्त करती है। अतः इसे ही मान्य माना जाय।

(ख) हिन्दी की इसी प्रकृति के अनुसार द्वन्द्व समास की स्थिति में भी शब्दों को अलग-अलग (कामा देकर) रखना उचित है, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि।

(ग) तत्पुरुष समास की वर्तनी प्रयोग के अनुसार विविध रहनी चाहिए, यथा

(अ) दो छोटे-छोटे शब्दो को जोड देना अपेक्षित होगा—जैसे, भूदेव, नरपति आदि।

(आ) पहला तत्त्व यदि विकृत है या अपने मूल रूप मे है तो भी दोनो शब्दो को जोडकर लिखना उचित है—जैसे, वाक्कलह, द्विजार्थ, राजपुरुष, पितृसम आदि। वास्तव मे ऐसे शब्द सस्कृत के नियमानुसार ही सिद्ध हैं, अतः इनका प्रयोग उसी रूप मे करना चाहिए।

(इ) दो बडे-बडे शब्दो को अलग रखना ही उचित होगा—जैसे, साहित्य समारोह, शब्द चमत्कार आदि। उन्हे मिलाकर लिखने से भाषा बोझिल होगी। (कर्मधारय)

(ई) दो से अधिक शब्दो के समासयुक्त शब्द पृथक् ही रखे जाएँ—जैसे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा।

(घ) द्विगु समास जोड़कर लिखना उचित होगा—जैसे पंचजन्य, त्रिभुवन आदि। ये शब्द भी सस्कृत से ही सिद्ध हैं, हिन्दी मे भी इस प्रकार समास जुडकर एक शब्द बन गए है, जैसे दुचिता, चौराहा, छपेटी, सतनजा आदि।

(ङ) बहुव्रीहि समास तो वास्तव मे सस्कृत मे भी अर्थ की दृष्टि से एक ही शब्द हो जाता है, हिन्दी मे तो वह इस रूप मे माना ही जाना चाहिए—जैसे, मेघनाद, महाबाहु, जलजात, अपुत्र, सपत्नीय आदि।

(च) अव्ययीभाव समास की स्थिति मे भी शब्दो को जुडा ही रखना चाहिए—जैसे, यथास्थान, यथासम्भव आदि।

२—(क) हिन्दी के अपने शब्दो मे इस प्रकार का समास करना उसकी अपनी प्रकृति के विरुद्ध होगा। हिन्दी मे ऐसे शब्द अलग-अलग रहेगे अथवा हाइफन से जोडे जाएँगे, जैसे सिगरेट-केस, देख-भाल।

(ख) प्रति (अलग)—प्रति दिन, हर रोज।

वाला (अलग)—बाँसुरी वाला, दौडने वाला।

अपवाद—किन्तु जब 'वाला' लगाकर एक वस्तु या व्यक्ति का अर्थ घोषित होता हो, तो उसे मिलाकर लिखना चाहिए, जैसे झुन-झुनवाला, शोरेवाला, अगर-वाला।

(ग) 'जी' का प्रयोग अलग होना चाहिए, जैसे हिन्दी मे 'श्री' का हो रहा है।

३—(क) परसर्ग अलग रहने चाहिए। वास्तव मे इनको विभक्ति कहना गलत है। हिन्दी मे कारको को गलत ढग से कहा जाता रहा है। वस्तुत ये अन्य परसर्गों के समान ही है। अन्य परसर्गो को अलग रखने के बारे मे कोई समस्या नही है—जैसे, समान, नीचे, ऊपर, तले, भर आदि। अत. ने, को, से, के लिए, का, की, के, मे, पर आदि को सज्ञा और सर्वनाम दोनो से अलग रखा जाना चाहिए।

(ख) पूर्वकालिक क्रियाओ का 'कर' अलग रहना चाहिए। ऐसा करने से अधिक स्पष्टता रहेगी, क्योकि इस प्रकार के अन्य शब्द भी बनते हैं जिनमे भ्रम हो सकता है। साथ ही, उच्चारण मे आघात का अन्तर पडता है। पूर्वकालिक क्रियाओ के रूप मे 'कर' का उच्चारण क्रिया के अश के बाद अलग, स्वतन्त्र हो जाता है—जैसे, सी कर, और सीकर के उच्चारण मे अन्तर है, यहाँ अर्थ मे भी अन्तर है। मिला देने से उच्चारण स्पष्ट नही होगा। मिला देने से 'कर' के 'क' का उच्चारण हिन्दी की प्रकृति के अनुसार स्वरहीन हो जायगा और यहाँ 'कर' का स्पष्ट उच्चारण आवश्यक है—जैसे जा कर, खा कर, पी कर, सो कर।

(ग) सयुक्त क्रियाओ मे दोनो क्रियाएँ अलग होती है, उनको अलग रखना चाहिए। वस्तुत. ऐसा ही होता है, यहाँ कोई समस्या नही है।

२ या, ये, अथवा आ, ए, ई अन्त्य ध्वनियो के रखने की समस्या

इस विषय मे पहले हिन्दी मे लगभग सर्वमान्य मत था कि इनका वर्तनी मे प्रयोग उच्चारण के अनुसार किया जाय। अर्थात् बिना इस बात को ध्यान दिए कि सज्ञा, विशेषण अथवा भूतकालिक कृदन्त आदि का पुलिग या एकवचन रूप केवल स्वर मे अन्त होता है अथवा 'य' के साथ, इसकी बहुवचन तथा स्त्रीलिंग की वर्तनी मे उच्चारण के अनुसार स्वर का ही प्रयोग किया जाता था—अर्थात्, गाय-गाएँ, नया-नई, गया-गए। इधर वर्तनी की एकरूपता की दृष्टि से यह नियम प्रतिपादित किया गया कि जो शब्द पुलिग एकवचन मे केवल स्वरात हो, वे बहुवचन और स्त्रीलिग रूपो मे भी स्वरात रहने चाहिए, किन्तु जिनके पुलिग एकवचन रूप मे अत मे—'य' अथवा 'या' आता हो, उनके बहुवचन और स्त्रीलिग रूपो मे 'ये'-'यी' होना चाहिए। यह नियम अपनी स्पष्टता के कारण इधर कुछ स्वीकृति भी पा रहा है।

परन्तु ध्वनियो के नियम तथा उच्चारण की स्पष्टता की दृष्टि से उच्चारण के अनुसार वर्तनी मे अन्त्य स्वरो का ही प्रयोग अधिक संगत जान पडता है। अन्ततः यह नियम ही अधिक सुगम सिद्ध होगा, क्योकि वर्तनी का सम्बन्ध उच्चारण से भी

मानना पड़ेगा। वर्तनी के आधार मे सुविधा हो, यह भी एक विचारणीय बात है। साथ ही, य-या के स्थान पर -ई-ए का परिवर्तन समझना भी कठिन नही है। क्योकि अर्धस्वर 'य' और स्वर 'इ' मे निकटता का सम्बन्ध है।

(इस सम्बन्ध मे अखिल भारतीय प्रकाशक सघ के प्रस्ताव तो और भी अधिक भ्रम उत्पन्न करने वाले है)

३. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दो का प्रयोग

१—हिन्दी मे सस्कृत मूल के तद्भव शब्दो का प्रयोग होना तो स्वाभाविक ही है, और इस प्रवृत्ति पर बल देना चाहिए।

२—सस्कृत तत्सम रूपो का प्रयोग शुद्ध रूप मे ही होना चाहिए। इससे शब्द-रूपो को भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से समझने मे आसानी होगी, सम्पूर्ण भारतीय भाषाओ मे प्रयुक्त तत्सम शब्दो मे एकरूपता रहेगी तथा शब्दो की व्याख्या करना आसान होगा—यथा

महत् + त्व प्रत्यय = महत्त्व, न कि महत्व
उत् + ज्वल प्रत्यय = उज्ज्वल न कि उज्वल
तत् + त्व प्रत्यय = तत्त्व, न कि तत्व

३—हलन्त शब्दो मे हलन्त रखना भी उपर्युक्त दृष्टि से आवश्यक होगा। यथा, विद्वान्, महान् आदि।

४. विदेशी ध्वनियो की समस्या

१—फारसी-अरबी की कुछ ध्वनियाँ हिन्दी मे आ गई है। विशेषकर उत्तर-भारत के पश्चिमी क्षेत्रो मे उनका प्रयोग बहुत होता है। यो फारसी-अरबी की सारी ध्वनियाँ उर्दू मे भी तद्वत् नही रही है। जैसे 'क' ध्वनि का उच्चारण उर्दू मे भी शुद्धतावादी ही बोलते हैं। ऐसी स्थिति मे ख, ज, ग, फ, ध्वनियो को हिन्दी मे स्वीकार कर लेना चाहिए। इनके विरोधी जोड़े भी हिन्दी मे हैं। ज, फ, अग्रेजी से भी प्राप्त है। अत. शुद्धता के नाते इन ध्वनियो को हिन्दी मे रखना चाहिए।

२—अन्य भाषाओ के अनेक शब्द जिनके उच्चारण मे बीच के अक्षर की अर्ध-ध्वनि और पूर्ण-ध्वनि सन्देहास्पद हो, उन्हे पूरे अक्षर से ही लिखना चाहिए—जैसे, गरमी, सरदी, शरम, बरफ़, गरदन, बरतन, फ़ुरसत आदि।

३—शुद्धता की दृष्टि से अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण की आवश्यकता के अनुसार वर्तनी में अर्धचन्द्र का प्रयोग करना अपेक्षित है—जैसे, डॉक्टर, नॉर्मल, ऑपरेशन आदि।

५. अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु

१—संस्कृत मे अनुस्वार तथा पंचम वर्ण का विकल्प से प्रयोग होता है। हिन्दी मे भी यही पद्धति प्रचलित है। परन्तु लेखन तथा छपाई मे अनुस्वार की बिन्दी के छूट जाने, मिट जाने तथा गिर जाने की बहुत सम्भावना रहती है। हिन्दी मे अनुनासिक ध्वनियो के प्रयोग की वैसे भी बहुत प्रवृत्ति है, इस कारण भी यदि वर्तनी मे बिन्दुओ का प्रयोग कम किया जा सके तो सुविधाजनक होगा।

(क) पचमवर्गीय व्यजनो की अनुनासिक ध्वनियो मे ङ तथा ञ का यो भी ह्रास हो चुका है, ऐसी स्थिति मे इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाना चाहिए—जैसे, अकिंचन, पंगु आदि।

(ख) अन्य पचमवर्गीय व्यंजनो की अनुनासिक ध्वनियो ण, न तथा म का प्रयोग इसी रूप (पंचम वर्ण) मे किया जाना चाहिए—जैसे, सम्बन्ध, अन्त, गुण्ठन।

(ग) अन्यत्र (ऊष्म तथा अन्तस्थ व्यजनो के पूर्व) अनुस्वार के रूप मे अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग होना चाहिए—जैसे, संयम, संरक्षण आदि।

(घ) अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी शब्दों मे उच्चारण के अनुसार वर्गों के पंचम वर्ण का प्रयोग किया जा सकता है—जैसे, सेन्ट, पेन्टर आदि।

२—अनुस्वार तथा चन्द्रबिन्दु का अन्तर उच्चारण के कारण है और वह रहना चाहिए। अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से भी आवश्यक है—जैसे, संवार-सँवार हंस-हँस आदि।

परन्तु सुविधा की दृष्टि से स्वरो मे अ, आ, उ, ऊ, के साथ, जिनकी मात्राएँ ऊपर नही लगती है, चन्द्रबिन्दु आना चाहिए, परन्तु अन्य स्वरो मे बिन्दु से चन्द्रबिन्दु का काम लिया जा सकता है। स्वरो मे अनुनासिकता की समस्या हिन्दी की अपनी है, इस कारण इस विषय मे भ्रम की गुंजाइश नही होगी—जैसे, हँस, काँस, कुंअर, सूँस, जाएँगी, नहीं, साईं आदि।

भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा नियुक्त

वर्तनी-समिति के निर्णय

शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा नियुक्त वर्तनी समिति की अन्तिम बैठक शिक्षा-मन्त्रालय के सयुक्त सचिव श्री रमाप्रसन्न नायक के कमरे मे तारीख १९-४-६१ को हुई।

बैठक मे सर्वप्रथम गत बैठक का कार्य-वृत्त पढकर सुनाया गया, जो स्वीकृत हुआ। इसके बाद सक्षेप मे गत दोनो बैठको मे हुए सभी निर्णयो पर एक बार पुनर्विचार हुआ और अन्तिम रूप से निम्नलिखित निर्णय स्वीकृत किये गए :

(१) हिन्दी के विभक्ति-चिह्न सर्वनामो के अतिरिक्त सभी प्रसंगो मे प्रातिपदिक से पृथक् लिखे जाएँ, जैसे राम ने, स्त्री को, उससे, मुझको। परन्तु प्रेस की सुविधाओ को ध्यान मे रखकर पत्र-प्रत्रिकाओ मे सज्ञादि शब्दो मे भी विभक्तियाँ मिलाने की छूट रहेगी।

अपवाद : (क) सर्वनामो के साथ यदि दो विभक्ति-चिह्न हो तो उनमे से पहला मिलाकर और दूसरा पृथक् लिखा जाए, जैसे उसके लिए, इसमे से।

(ख) सर्वनाम और विभक्ति के बीच 'ही', 'तक' आदि निपात हो तो विभक्ति को पृथक् लिखा जाए, जैसे आप ही के लिए, मुझ तक को।

(२) सयुक्त क्रियाओ की सभी अगभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जाएँ, जैसे पढा करता है, आ सकता है।

(३) 'तक', 'साथ' आदि अव्यय सदा पृथक् लिखे जाएँ, जैसे आपके साथ, यहाँ तक।

(४) पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' क्रिया से मिलाकर लिखा जाए, जैसे मिलाकर, खा-पीकर, रो-रोकर।

(५) द्वन्द्व समास मे हाइफन रखा जाए, जैसे राम-लक्ष्मण, शिव-पार्वती सवाद।

(६) 'सा', 'जैसा' आदि से पूर्व हाइफन रखा जाए, जैसे तुम-सा, राम-जैसा।

(७) तत्पुरुष समास मे हाइफन का प्रयोग केवल वहाँ किया जाए, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की सम्भावना हो, अन्यथा नहीं।

(८) जहाँ श्रुतिमूलक य-व का प्रयोग विकल्प से होता है वहाँ न किया जाए, अर्थात् गए-गये, नई-नयी, लिए-लिये आदि मे से पहले (स्वरात्मक) रूपो का ही प्रयोग किया जाए। यह नियम क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि सभी रूपो मे माना जाए।

(९) हिन्दी मे ऐ (ै), औ (ौ) का प्रयोग दो प्रकार की ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए होता है। पहले प्रकार की ध्वनि 'है', 'और' आदि मे है तथा दूसरे प्रकार की 'गवैया', 'कौआ' आदि मे। इस विषय मे यह निर्णय हुआ कि दोनो ही प्रकार की ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए इन्हीं चिह्नो का प्रयोग किया जाए। 'गवइया', 'कव्वा' आदि संशोधनो की आवश्यकता नही।

(१०) संस्कृत-मूलक तत्सम शब्दो की वर्तनी के विषय मे यह निर्णय हुआ कि उन्हे सामान्यत संस्कृत-रूप मे ही लिखा जाए। परन्तु जिन शब्दो के प्रयोग मे हिन्दी मे हलन्त चिह्न लुप्त हो चुका है उनमे उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाए, जैसे 'महान्', 'विद्वान्' आदि मे।

(११) पंचमाक्षर और अनुस्वार के प्रयोग के विषय मे यह निर्णय हुआ कि जहाँ पंचमाक्षर के बाद उसीके वर्ग के शेष चार वर्णों मे से कोई वर्ण हो तो अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाए, अन्यथा उस व्यंजन का यथावत् प्रयोग किया जाए; जैसे अंत, अन्य, गंगा, वाङ्मय, संपादक, साम्य, सम्मति।

(१२) चन्द्रबिंदु के विषय मे यह निर्णय हुआ कि चन्द्रबिंदु का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्राय अर्थ मे भ्रम की गुंजाइश रहती है; जैसे हंस-हँस अथवा अंगना-अँगना आदि मे। अतएव ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए चन्द्रबिंदु का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु जहाँ चन्द्रबिंदु के प्रयोग मे छपाई आदि मे बहुत कठिनाई हो और चन्द्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करे वहाँ चन्द्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग की भी छूट दी जा सकती है। जैसे नही, मैं, मे, परन्तु कविता आदि के ग्रन्थो मे छन्द की दृष्टि से चन्द्रबिंदु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए, जैसे नंदनंदन।

(१३) हलका, हल्का, भरती, भर्ती, एकाई, इकाई, ठंडा, ठंढा; गर्मी, गरमी, गर्दन, गरदन आदि शब्दो की अक्षरी के विषय मे विचार करने के बाद यह निर्णय किया गया कि हिन्दी की वर्तमान प्रवृत्तियो का विचारपूर्वक अध्ययन करने के बाद ही यह निर्णय सम्भव है कि इन शब्दो के प्रचलित एकाधिक रूपो मे से किस रूप को अधिक प्रामाणिक माना जाए।

(१४) अरबी-फारसीमूलक वे शब्द, जो हिन्दी के अग बन चुके है और जिनकी विदेशी ध्वनियो का हिन्दी ध्वनियो में रूपान्तर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किये जाएँ, जैसे जरूर। परन्तु जहाँ पर उनका शुद्ध विदेशी रूप मे प्रयोग अभीष्ट हो वहाँ उनके हिन्दी मे प्रचलित रूपो मे यथास्थान नुक्ते लगाएँ जाए, जिससे उनका विदेशीपन स्पष्ट रहे, जैसे राज, गज़ल।

(१५) अग्रेजी के जिन शब्दो मे अर्ध-विवृत 'ऑ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप का हिन्दी मे प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' (ा) की मात्रा के ऊपर अर्ध-चन्द्र का प्रयोग किया जाए=ऑ, ॉ।

(१६) संस्कृत के जिन शब्दो मे विसर्ग का प्रयोग होता है वे यदि तत्सम रूप मे प्रयुक्त हो तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए, जैसे 'दु:खानुभूति' मे। परन्तु यदि उस शब्द के तद्भव रूप मे विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप मे विसर्ग के बिना भी काम चल जाएगा, जैसे 'दुख-सुख के साथी'।

समिति की बैठक सभापति को धन्यवाद देकर विसर्जित हुई।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी

'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण'

वाजपेयी जी की 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण' शीर्षक पुस्तक मार्च, १९६८ ई० मे राजधानी ग्रन्थागार, ५९ एच० ४ लाजपत नगर, नयी दिल्ली-१४ से प्रकाशित हुई। इसमे कुल नौ अध्याय है, जिनमे क्रमश. १. हिन्दी की वर्तनी और वाक्य-विन्यास-पद्धति, २. हिन्दी की कुछ क्रियाएँ, ३ नाम, यानी सज्ञाएँ, ४ कुछ तद्धितीय शब्द, ५ हिन्दी मे अनुनासिक वर्ण और अनुस्वार, ६. कुछ अव्ययो की वर्तनी, ७ समास मे वर्तनी की स्थिति, ८ अन्यत्र से शब्द ग्रहण करने की विधि और ९. वाक्य-विन्यास मे वर्तनी का विवेचन है। उक्त पुस्तक मे वाजपेयी जी की वर्तनी विषयक मान्यताएँ सक्षेप मे इस प्रकार हैं :—

१ फारसी लिपि के बन्धन से छूटकर जब हिन्दी अपने परिधान (नागरी लिपि) मे आयी और फारसी-अरबी आदि शब्दो की जगह सस्कृत शब्द दिये जाने लगे, तब कुछ उत्साही हिन्दी-प्रेमी हिन्दी को सस्कृत के नियमो का अनुसरण कराने की सोचने लगे। वे संस्कृत व्याकरण के अनुसार हिन्दी मे 'ष्टेशन माष्टर', 'मजिष्ट्रेट', 'मिष्टर' जैसे शब्द लिखने-चलाने लगे। परन्तु हिन्दी ने अपना रूप स्वत. निखार लिया और देश भर मे अन्तत. 'स्टेशन मास्टर' 'मजिस्ट्रेट', 'मिस्टर'

जैसे रूप गृहीत हुए। कारण, हिन्दी की प्रकृति ने 'ष' को स्वीकार ही नहीं किया है। 'षष्टि' को 'साठ' बना लिया और 'षट्' के प्रातिपदिक 'षष्' को 'सस' करके 'छह' बना लिया है। हिन्दी मे सस्कृत के सिक्के चलते हैं, आदर के साथ। परन्तु संस्कृत का व्याकरण यहाँ न चलेगा।[१]

२. 'आये'—'आयी' और 'आए'—'आई' '—यो दोनो तरह की वर्तनी (प्रयोग) शुद्ध है। परन्तु दोनो मे से एक ही अभीष्ट—अपेक्षित हो—एकरूपता चाहिए; तो फिर 'आए'—'आई' और 'रोए'—'रोई' जैसे प्रयोग ही रहेगे; 'आये' —'आयी' आदि नही, क्योकि की, ली, दी, पी आदि क्रियाओं मे 'य' का लोप अनिवार्य है।

'उठिए' और 'उठिये' आदि :—प्रार्थना या निवेदन करने के लिए ऐसी क्रियाएँ द्विविध वर्तनी मे चल रही हैं। उठिये, बैठिये, लीजिये, पीजिये, कीजिये, चाहिये आदि और उठिए, बैठिए, लीजिए, पीजिए, कीजिए, चाहिए आदि। इनमे से दूसरी तरह की क्रियाएँ शुद्ध है और पहली शृङ्खला की अशुद्ध। हमने गये-गयी और गए-गई जैसे प्रयोगो को वैकल्पिक बतलाया है, क्योकि य' प्रमाण-प्राप्त है, 'गया' के बहुवचन और स्त्रीवर्गीय प्रयोगो मे 'य' का होना ठीक है और उसका लोप होकर 'गए'—'गई' रूप भी ठीक है, प्रवाह-प्राप्त हैं, वैज्ञानिक पद्धति पर है और एकरूपता लाने की अपेक्षा होने पर ये ही रहेगे। साधारणतः दोनो तरह के प्रयोग सही हैं। परन्तु 'उठिये' बैठिये' आदि प्रयोग एकदम गलत है, प्रामादिक है। यहाँ 'य्' बीच मे यो ही आ कूदा है, न जाने कैसे। इसे हटाकर 'उठिए' बैठिए' जैसे पदो की अर्चना करनी चाहिए।[२]

३ नाम यानी सज्ञाओ मे कभी रद्दोबदल नही होता। 'विश्वामित्र' और 'बैजू बावरे' शुद्ध, 'विश्वमित्र' और 'बैजू बावरा' अशुद्ध।

सज्ञाओ के बहुवचन सभी भाषाओ की तरह हिन्दी भी अपने विशेष ढग पर बनाती है। चार फुट, इन्द्रियाँ, दर्शन हुए, दम्पति आए, राष्ट्रीय, विस्तार, जरूरी, एकत्रित (विशेषण), राजनैतिक, छह तथा दस शुद्ध और चार फीट, इन्द्रियें, दर्शन हुआ, दम्पती आए, राष्ट्रिय, विस्तर, जरूरी, एकत्र (विशेषण), राजनीतिक, छः तथा दश अशुद्ध।

---

१ 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेपण', आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृ० ३-४।

२ 'हिन्दी की वर्तनी और शब्द विश्लेपण', आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृ० १६-१७।

नये—नए और नयी—नई .—यो इस शब्द के बहुवचन मे द्विधा वर्तनी चलती है। 'नूतन' का पर्याय सस्कृत मे 'नव' है। इसमे पुंप्रत्यय लगकर 'नवा' रूप पूरब मे चलता है, पर हिन्दी ने 'व' की जगह 'य' कर लिया है—'नया रूप'। बहुवचन मे 'नये छात्र'। स्त्रीवर्ग मे 'नयी समस्या'। परन्तु 'य' का वैकल्पिक लोप होकर 'नए छात्र', 'नई समस्या' रूप। ये दोनो तरह के विन्यास ठीक है। परन्तु एकरूपता अपेक्षित हो तो 'नए—नई' रूप ही रहेगे। परन्तु यह लोप-व्यवस्था हिन्दी विशेषणो के ही लिए है, संज्ञा शब्दो के लिए नही। 'गाय' का बहुवचन 'गायें' होगा, 'गाएँ' नही।

अनेक—अनेको :—कुछ लोगो ने भ्रम फैलाया है कि 'अनेको' गलत है, क्योकि 'अनेक' शब्द तो स्वय बहुत्व का वाचक है, तब उसमे 'ओ' लगाने की क्या जरूरत? सीधा सा उत्तर तो यह है कि 'दवा' शब्द स्वत· स्त्रीवर्गीय है, तब फिर उसमे स्त्री प्रत्यय 'ई' लगाकर 'दवाई' बनाना जैसे गलती नही है, उसी तरह 'अनेक' मे 'ओ' लगाकर 'अनेको' बनाना भी गलती नही है। यह तो हुआ सीधा सा उत्तर। परन्तु इसे विशेष समझना भी चाहिए। हिन्दी के दो तद्धितीय प्रत्यय है—'ओ' तथा 'क'। 'ओ' का प्रयोग कुछ आधिक्य सूचित करता है—'बीसो लोग जमा थे', 'पचासो लोग इकट्ठे हो गए' इत्यादि। गिनती कर ली हो तो बीस। गिनती न की हो तो बीसो। इसी तरह 'पचासो' और 'पचासक'। सैकडो, हजारो, और करोडो का भी प्रयोग इसी तरह होता है, पर 'सैकडाक', 'करोडक' नही होता 'हजारक' तो चलता है—'सभा मे हजारक उपस्थिति थी'। 'हजारक'—लगभग एक हजार। 'हजार-एक' अशुद्ध प्रयोग है। संस्कृत मे 'क' प्रत्यय अल्पार्थक है—'हरिणः'—हिरन और 'हरिणक.'—छोटा सा हिरन। हिन्दी मे भी यह है। 'ढोल' का छोटा रूप 'ढोलक'। साथ ही हिन्दी इसे न्यूनार्थक रूप मे भी लेती है—'पचासक जन'। इसी तरह 'अनेक' का तर्कसगत अर्थ 'दो' ही होगा। परन्तु सामीप्य लक्षण के बल पर चार, पाँच, छह तक दौड़ लग सकती है। क्योकि दो संख्या ही अभिप्रेत हो, तो अनेक कोई कहेगा क्यो? सीधे 'दो' कहेगा—'दो बगीचे देखें'। चार-छह बगीचे देखे हो, तो कहेगा 'अनेक बाग-बगीचे देखे'। और अधिक सख्या बतलानी हो, तो 'अनेको बाग-बगीचे देखे'। सीधी बात यह कि 'अनेक' और 'अनेको' दोनो ठीक है। यथास्थान इन दोनो का प्रयोग होता है।[1]

---

१. 'हिन्दी की वर्तनी और शब्द विश्लेषण', आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृ० २१-५२।

४. तद्धितीय प्रयोगो मे प्रकृति का प्रथम दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। 'ऊँचा' से 'उँचाई' और 'नीचा' से 'निचाई'। ऊँचाई, नीचाई, मीठाई, मीठास आदि जैसे प्रयोग अशुद्ध हैं और उँचाई, निचाई, मिठाई, मिठास आदि शुद्ध। इसी प्रकार—

शुद्ध	अशुद्ध
दुपहर	दोपहर
दुपहरी	दोपहरी
इकमुश्त	एकमुश्त
इकतरफा	एकतरफा
इकतारा	एकतारा
इकलौता	एकलौता
इकबारगी	एकबारगी
उपरला	ऊपरला
निचला	नीचला
पिछला	पीछला
पिछडा वर्ग	पीछडा वर्ग आदि।

'इक्का और 'एका' दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। 'इक्का' को पूरब मे एक्का' बोलते है। यहाँ भी 'ए' ह्रस्व उच्चरित होता है, पर अर्द्ध ह्रस्व। चेहरा, मोहरा, मेहरा, खेतिहर आदि मे 'ए' का जैसा उच्चारण है, वैसा ही 'एक्का' का 'ए' पूरब मे उच्चरित होता है। हिन्दी मे 'ए' को 'इ' और 'ओ' को 'उ' हो जाता है—यानी पूर्ण ह्रस्वता। सम्भव है, कभी सस्कृत भाषा का भी कोई प्रादेशिक उच्चारण अर्द्ध ह्रस्व होता हो और तभी सार्वदेशिक उच्चारण तथा लेखन की व्यवस्था पाणिनि को करनी पडी हो। एक सूत्र है पाणिनि का—'एच इग् ह्रस्वादेशे।' इसका अर्थ है कि 'ए' को ह्रस्व हो तो पूर्ण हो—'इ' और 'ओ' को ह्रस्व रूप देना हो, तो भी पूर्ण ह्रस्व 'उ'।

एशियाई, हिन्दूसभाई, भाषाई आदि जैसे प्रयोग शुद्ध हैं और एशियायी, हिन्दूसभायी, भाषायी आदि जैसे प्रयोग अशुद्ध।

'महँगाई, और महँगी' .—'महँगाई' भाववाचक सज्ञा है और 'महँगी' 'महँगा' विशेषण का स्त्री रूप। सो, 'महँगी बढ रही है', इस तरह के प्रयोग गलत है। शुद्ध प्रयोग होगा—'महँगाई बढ रही है', 'सभी चीजें महँगी हो रही हैं।

'तत्व' और 'तत्त्व' '—शुद्ध सस्कृत तद्रूप शब्द है—'तत्त्व'। 'तत् शब्द मे 'त्व' प्रत्यय होकर 'तत्त्व' बना है। 'तत्त्व' भाववाचक सज्ञा है—'तत्त्व इसमे यह है'—सार इसमे यह है। परन्तु सब लोग तत्त्व से परिचित नही। वे 'तत्व' लिख देते हैं। उन्हे यह समझ कर माफ किया जा सकता है कि इसे 'तत्त्व' का हिन्दी मे तद्भव रूप समझ ले। सस्कृत मे शब्द है 'चञ्चल', 'चचल' वहाँ गलत है। परन्तु हिन्दी के अपने गठन मे ङ, ञ तथा ण इन तीनो अनुनासिक वर्णो का कोई योग नही है। इसलिए यहाँ 'चचल' तद्भव-रूप मे गृहीत है। कोई तद्रूप 'चञ्चल' लिखे, तो उसकी इच्छा। इसी तरह 'तत्व' का भी समर्थन कर दें, सरलता के लिए।[1]

५. हिन्दी मे 'अनुनासिक वर्ण' और 'अनुस्वार' —'अनुनासिक वर्ण।' अनुनासिक विशेषण है 'वर्ण' का। 'अनुस्वार वर्ण' नही कह सकते, क्योकि 'अनुस्वार' विशेपण नही, सज्ञा है, एक स्वतन्त्र ध्वनि का नाम है—'अनुस्वार'। अनुस्वार का उच्चारण स्वरो के बाद ही होता है, इसीलिए नाम 'अनुस्वार'। 'स्वरात् अनु'—'अनुस्वर'। स्वरो के अनन्तर आनेवाली स्वतन्त्र ध्वनि। 'अनुस्वर' ही फिर 'अनुस्वार'।

'अँ' अनुनासिक है। यानी, अनुनासिकता वर्ण-धर्म है। 'हँसमुख' को 'हंसमुख' कहना-लिखना गलत है। 'हँसमुख' मे 'अँ' अनुनासिक है और 'हसमुख' मे 'अ' सानुस्वार है।

अनुनासिकता प्रकट करने के लिए 'चन्द्रबिन्दु' ऊपर दिया जाता है, परन्तु जो मात्राएँ शिरोरेखा के ऊपर जाती है, उनके साथ केवल बिन्दु का ही प्रयोग होता है जैसे 'छींट', 'ईंट' आदि मे। यहाँ यह बिन्दु अनुस्वार नही है, अनुनासिकता प्रकट करने का चिह्न है। सो, कही-कही चन्द्रबिन्दु की जगह केवल बिन्दु से ही अनुनासिकता प्रकट होती हैं।

अनुनासिक व्यञ्जन हिन्दी की वर्णमाला मे पाँच है—ङ, ञ, ण, न, म। प्रारम्भ के तीनो व्यञ्जन संस्कृत तद्रूप शब्दो मे ही काम आते हैं—हिन्दी के अपने रूप-गठन मे उनका कोई योग नही है। अन्त के दोनो वर्ण हिन्दी के गठन मे सम्मिलित हैं। परन्तु 'वाङ्मय', 'पाञ्चजन्य', 'षाण्मासिक' जैसे संस्कृत शब्द तद्रूप ही हिन्दी मे लिखे जाते हैं, किसी भी तरह इन्हे बदल नही सकते, तद्भव रूप दे ही नही सकते, इसलिए हिन्दी वर्णमाला मे इनका सन्निवेश है।

---

१. 'हिन्दी की वर्तनी और शब्द-विश्लेषण', आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, पृ० ५३-६३।

कभी-कभी व्यञ्जन अनुनासिक और उसका स्वर भी अनुनासिक होता है। कुछ लोग कहते है कि 'मा' की जगह 'माँ' लिखना गलत है, क्योकि 'मा' तो स्वयं अनुनासिक है। वे नही जानते कि अनुनासिक व्यञ्जन के साथ अनुनासिक स्वर भी काम आता है, जैसे—

व्यञ्जन मात्र अनुनासिक	व्यञ्जन और स्वर दोनो अनुनासिक
१ नाद	१. नाँद
२. माद	२ माँद
३ नीव	३ नींद
४ माला	४ माँगना आदि।

अनुस्वार और अनुनासिक व्यञ्जन —दन्त, कन्त, सन्त, हिन्दी, हिन्दू आदि को दंत, कंत, संत, हिंदी, हिंदू आदि रूपो मे तथा कम्पन, चम्पू, लम्प, पम्प, चम्पा आदि को कंपन, चंपू, लंप, पंप, चंपा आदि रूपो मे लिखना ठीक नही। इसी तरह कङ्घा, ठण्डा, जञ्जीर, टण्डन वर्तनी गलत है, ठीक वर्तनी है—कंघा, ठंडा, जंजीर, टंडन आदि।

संस्कृत मे अनुस्वार सभी अनुनासिक व्यंजनो की जगह काम देता है, दे सकता है और इसीलिए उसका परिवर्तन ङ्, ञ्, ण् न् और म् के रूप मे क्वचित् हो जाता है। 'प्रणामं करोति' की जगह वैकल्पिक रूप 'प्रणामङ्करोति' भी होता है और इसी तरह देशं जयति—देशञ्जयति, देशं पालयति—देशम्पालयति यो द्विविध प्रयोग होते है। परन्तु 'चन्द्र' का रूप 'चंद्र' कभी नही होता और न 'चम्पकम्' का ही रूप 'चंपकम्' होगा। इसी तरह 'कङ्कणम्' का रूप 'कंकणम्' वहाँ न होगा।

हिन्दी मे ङ, ञ, ण की वह स्थिति नही है, जो 'न' और 'म' की है। हिन्दी मे 'कंघा' मे पूरा काम चल जाता है, तब फिर 'कङ्घा' की कोई जरूरत नही। और 'ठण्डा' लिखने मे 'ण' अपनी श्रुति देता है क्या ? स्पष्ट ही 'न्' की श्रुति है और जञ्जीर मे 'ञ्' भी 'न' की श्रुति देता है। टण्डन मे भी 'ण्' न् जैसी श्रुति देता है। जब इनकी कोई अपनी आवाज ही नही, तब इन्हे रखना बेकार है।

प्रश्न हो सकता है कि जब 'न' की ही श्रुति है, तब फिर (अनुस्वार न रखकर) 'ठन्डा', 'जन्जीर' आदि ही क्यो न लिखा जाय ? उत्तर मे निवेदन है कि संस्कृत मे 'न' का योग परवर्ती तवर्ग के ही किसी वर्ण मे होता है; अपने वर्ग मे

मेल होता है। अन्य किसी 'वर्ग' के वर्ण से उसका योग नही होता। इसी पद्धति का ध्यान रखकर 'न्' का योग हिन्दी भी किसी अन्य वर्ग के वर्ण से नही पसन्द करती।

अनुस्वार और अनुनासिक स्वर —संस्कृत मे अनुनासिक व्यजनो का अधिक प्रयोग होता है, हिन्दी मे अनुनासिक स्वरो का जोर है। सस्कृत 'दन्त' यहाँ 'दाँत' हो गया है, और 'अन्त्र' का रूपान्तर आँत है। लोग भूल से कभी-कभी अनुनासिक स्वर के स्थल मे अनुनासिक व्यजन काम मे ले आते है। 'दाँत' को 'दान्त' लिखा मैंने देखा है, पर कभी किसी लेखक ने ऐसा नही लिखा। बाजारू प्रयोग है। किन्तु, 'हँसी आती है' की जगह 'हसी आती है' जैसे प्रयोग तो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे पत्र मे भी आप नित्य देख सकते है। ऐसा जान पडता है कि वहाँ अनुस्वार मे और अनुनासिक स्वर मे कोई भेद ही नही समझा जाता। 'हँसी आती है' की जगह 'हसी आती है' जैसे प्रयोग कितने भद्दे है।

'कँगना' को 'कंगना' और 'अँगूठी' को 'अगूठी' लोग लिख देते है। 'रँग-ढँग' को 'रग-ढग' लिखते है। शब्द 'ढँग' है, 'ढंग' नही। 'रग' और 'रँग' मे भी अन्तर है। 'क्या रंग है' ? मतलब मौज-बहार से है। रग-रजन। रगशाला—मनोरजन की जगह। 'रँग' दूसरी चीज है।

६. कुछ अव्ययो की वर्तनी .—लिए-लिये—'राम के लिए'—'राम के लिये', यो 'लिए' अव्यय को 'लिये' भी लिखते है। परन्तु प्रकृत रूप है—'लिए'। 'लिये' गलती से चल पडा है। 'लिए' शुद्ध है, 'लिये' सविकार है।

किए-किये .—'किए' कृदन्त अव्यय है, जैसे कि जब, तब, जहाँ, तहाँ आदि तद्धितीय अव्यय है। अव्ययो के रूप मे कभी कोई परिवर्तन नही होता—

लडका काम किए ही जा रहा है।
लडके क्रियाएँ किए ही जा रहे है।
लडकी काम किए ही जा रही है।
लडकियाँ काम किए ही जा रही है।
इसी तरह—लडकी फल लिए ही जा रही है।
वह मूर्ख शराब पिए ही जा रहा है।

ये सब—किए, लिए, पिए, दिए आदि कृदन्त अव्यय है। 'दान दिए ही चला गया'—'दान दिए ही चली गई' आदि। इनमे 'य' लगाकर किये, लिये, पिये, दिये जैसी वर्तनी मे लिखना भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है।

७. समास मे वर्तनी की स्थिति —'ससत्सदस्य' और 'ससद्सदस्य' दोनो तरह की वर्तनी शुद्ध है, परन्तु ससद् सदस्य लिखना अधिक अच्छा। मस्कृत व्याकरण के अनुसार समास-विधि मे 'सन्धि' का होना जरूरी है—'ससत्सदस्य'। 'द्' को 'त्' हो गया है। यानी 'ससत्सदस्य' सम्कृत का वना-वनाया सामासिक पद हिन्दी मे तद्रूप चलता है। परन्तु 'मसद्' तथा 'सदस्य' इन दोनो संस्कृत शब्दो को लेकर हिन्दी अपने ढग से भी समास करती है। वीच मे आडी योजक-रेखा (हायफन) देने की मरल विधि समास की सरलता के लिए हिन्दी ने ग्रहण कर ली है और अपने ढंग से मामासिक पद 'ससद्सदस्य' आदि वनाती चलती है। 'ससद्' स्पष्ट है। 'ससत्सदस्य' मे 'मसत्' रूप उनको अट पटा जान पड़ता है, जो सस्कृत व्याकरण के इस सन्धि-नियम से अपरिचित हैं। और संस्कृत पद्धति से ही, योजक-रेखा के विना ही, समास चलाना है, तो फिर 'मसदविवेशन' जैसे पद भी चलेंगे, जो और कठिन जान पडेगे। 'ससद्-अधिवेशन' एकदम साफ है।

'शरच्चन्द्र' को कभी भी 'शरद्-चन्द्र' न लिखा जाएगा। इसी तरह 'रामेश्वर' को कभी भी 'राम-ईश्वर' न लिखा जाएगा। 'मधुवन' आदि सज्ञाएँ शिरोरेखा अविच्छिन्न रखती हैं; पर 'गोविन्द दास' आदि मे शिरोरेखा विच्छिन्न भी लिखते हैं, पर योजक-रेखा (हायफन) नही दे सकते। पहले तो कही भी शिरोरेखा के वारे मे कोई पावन्दी न थी। 'पिता वचन मनतेउँ नहि ओहू' जैसी वर्तनी पुरानी प्रतियो मे उपलव्ध हैं और यह भी स्पष्ट है कि 'पिता वचन' समस्त पद है—पिता का वचन—'पिता वचन'। शिरोरेखा के वारे मे सस्कृत व्याकरण मे भी कोई विधान नही है, पर चलन है अविच्छिन्न शिरोरेखा देने का। वात समझ मे आ जाए, इतने मे प्रयोजन। 'पिता वचन' का मनलव सव समझ लेते है। विच्छिन्न शिरोरेखा कोई गडवडी नही डालनी। परन्तु 'पितृवचन' लिखना ठीक नही, 'पितृ-वचन' ठीक है।

'नेतृ विश्वास', 'नेतृ निर्वाचन' या 'नेतृ-विश्वास', 'नेतृ-निर्वाचन' जैसे सामासिक पद ठीक नहीं। हिन्दी मे 'नेता' प्रातिपदिक है। सो, हिन्दी अपने प्रातिपदिक 'नेता' से ममास करके 'नेता-विश्वास', 'नेता-निर्वाचन' जैसे सामासिक पद वनाती है। 'नेतृ-निर्वाचन' लोग न समझेंगे, क्योकि सव यह नहीं जानते कि 'नेता' का प्रातिपदिक 'नेतृ' है। पितृ-वचन, मातृ-पूजन, पितृ-पक्ष आदि सस्कृत के समस्त पद तो अनन्त काल मे चले आ रहे हैं, रम गये है। सव आसानी से समझ लेते हैं। 'नेतृ' ममझना कठिन है।

प्रचलित शब्द 'मन्त्रि-परिषद', 'मन्त्रि-मडल' आदि ठीक, पर 'विद्यार्थि-जीवन' ठीक न रहेगा। हिन्दी का अपना प्रातिपदिक 'विद्यार्थी' है, जिसका समास मे प्रयोग 'विद्यार्थी-जीवन' होगा।

धातुओ का भी परस्पर समास होता है और क्रियाओ का भी—खा-पीकर चलेंगे। खूब खाएँ-पिएँगे। 'खा' और 'पी' का समास पहले वाक्य मे है और 'खाएँ-पिएँ' क्रियाओ का समास दूसरे मे। 'आवाजाई' लगी है। 'आव' धातु अवधी ब्रजभाषा आदि मे चलती है। 'आव' के साथ हिन्दी की 'जा' धातु का समास है—'आवाजाई', एक कृदन्त भाववाचक सज्ञा। 'आव' धातु का सस्कृत 'गमन' कृदन्त शब्द से समास होकर—'आवागमन' हिन्दी का अपना शब्द। पूर्वधातु के अन्त्य स्वर को दीर्घता मिल जाती है—आवाजाई, लिखापढी, खावापी आदि। 'खावापी' मे 'व' का आगम हो गया है, क्योकि धातु 'खा' है। 'आवाजाई' के वजन पर 'खावापी'।

सज्ञाओ मे भी कही-कही (पूर्व सज्ञा का) अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है—दीनानाथ, मूसलाधार, सत्यानाश आदि इसके उदाहरण है। समास मे कभी-कभी बडे उलट-फेर हो जाते हैं। 'पीहर' और 'नैहर' उदाहरण है। 'पितृ-गृह'—'पीहर'। पृथक् 'घर' के अर्थ मे 'हर' नही चल सकता और न 'पितृ' के लिए 'पी' आ सकता। ब्रजभाषा आदि मे 'प्रिय' का विकास जरूर 'पी' चलता है। इसी तरह 'नैहर' है। सस्कृत मे एक शब्द है 'ज्ञाति'। 'ज्ञाति' का अर्थ है—मा-बाप, भाई-बन्धु आदि। इस 'ज्ञाति' का रूपान्तर 'नै' है और 'गृह' का 'हर' है—'नैहर'। ज्ञाति > नाति > नाइ7 नै। पृथक् 'नै' का प्रयोग कही देखा-सुना नही गया। इसी तरह 'धौरहरा' है। 'धवल' का रूपान्तर 'धौर' है। 'धवलगृह'—'धौरहरा'। कह सकते है कि ये शब्द हिन्दी की समास-रचनाएँ नही हैं, संस्कृत के 'ज्ञातिगृह', 'पितृगृह' तथा 'धवलगृह' के विकास हैं। ठीक है, पर है समास की ही विचित्रता।

हिन्दी-टकसाल के भी सामासिक शब्दो मे बहुत परिवर्तन देखा जाता है—'भगदड' है—'भाग + दौड'। 'हुडदग'—होली का सा दगा। 'होली' का रूप 'हुड' हो गया है। सस्कृत मे 'नभोमण्डल' सामासिक पद है, हिन्दी मे 'नभ-मडल' है। 'नभोमण्डल' हिन्दी मे नही चलता। हिन्दी मे 'नभ' प्रातिपदिक है, 'नभस्' नही कि यहाँ भी 'नभोमण्डल' चले। इसी तरह सस्कृत मे 'छन्दोनिर्णय' नाम किसी कृति का ठीक, पर हिन्दी मे नाम होगा—'छन्द-निर्णय'।

'छन्दोनिर्णय', 'नभोमण्डल' तो नही, पर 'मनोदशा', मन.स्थिति' आदि साहित्य मे चलते हैं। 'मनोरथ' खूब चलता है। अपना शब्द 'मनोकामना' है।

'उपर्युक्त' शब्द भी हिन्दी मे चलता है, तद्रूप संस्कृत सामासिक शब्द। परन्तु 'उपरोक्त' भी गलत नही है। यदि 'उपर्युक्त' का ही रूपान्तर 'उपरोक्त' होता तो भी गलत न कहा जाता।

हिन्दी की यह पद्धति है कि प्रयोग भेद के लिए शब्द-भेद कर लेती है। 'द्वौ' का रूपान्तर 'दो' स्वतन्त्र प्रयोग के लिए और बचे हुए 'व' को सस्वर करके 'ब' रूप समासार्थ—बारह, बयालीस, बत्तीस आदि मे 'ब' उसी 'द्वौ' का अवशेष है।

हिन्दी मे 'अन्त राष्ट्रीय', 'अन्तर्राष्ट्रीय', या 'अन्ताराष्ट्रीय' प्रयोग गलत हैं, शुद्ध प्रयोग 'अन्तर-राष्ट्रीय', अन्तर-प्रान्तीय' आदि हैं। 'अन्तर' शब्द अब किसी शब्द के अन्त से लगता है तो 'अन्य' अर्थ देता है—'ज्ञानु देशान्तरीया पद्धति'—वह तो दूसरे देशो की पद्धति है। परन्तु जब अन्तर का पूर्व प्रयोग हो, तो 'अन्य' अर्थ रहते हुए भी विशेषता आ जाती है—'यह अन्तरदेशीय व्यवस्था है, ऐसी व्यवस्था है, जिसका सम्बन्ध इस देश से भी है, और अन्य देशो से भी। अर्थ 'अन्तर-राष्ट्रीय' का है।

८ अन्यत्र से शब्द ग्रहण करने की विधि :—जब किसी भाषा का कोई शब्द दूसरी भाषा मे जाता है, तो वहाँ के नियमो का—व्याकरण का—पालन तो करता ही है, साथ ही अपना रंग-रूप भी कुछ बदल देता है, यदि ग्राहक भाषा की प्रकृति से अलग पड़ता हो। 'कोट' और 'बटन' आदि हिन्दी ने ज्यो के त्यो ले लिए; पर 'लैनटर्न' और 'हॉस्पिटल' बेमेल पड़ते थे। इन्हे 'लालटेन' और 'अस्पताल' जैसे रूप देकर अपनाया गया। इसी तरह अग्रेजी मे हमारे 'घी', 'धोती' आदि शब्द ज्यों-के-त्यो गए, पर गगाजी' को ,गैंजिज' रूप मिला। संस्कृत के 'जल', 'फल' आदि शब्द जनभाषा मे ज्यो-के-त्यो गृहीत हुए, पर 'पृष्ठ' को 'पीठ' रूप मे लिया गया।

संस्कृत मे शब्द-ग्रहण :—हिन्दी मे अपने सभी शब्द स्वारान्त है और इसी लिए संस्कृत के स्वारान्त शब्द ही गृहीत हुए हैं। संस्कृत का 'नभस्' कट-छँट कर 'नभ' बन गया है। इसी तरह 'कर्मन्' के 'न्' को हटाकर 'कर्म' हिन्दी का प्रातिपदिक है। न यहाँ 'नभस् मे' होता है और न 'कर्मन् मे'। भाषा की यह प्रकृति न मानने के कारण ही पाश्चात्य भाषा विज्ञानियो ने हिन्दी मे 'घास' तथा 'मान' जैसे शब्दो को व्यजनान्त मान लिया है। उनके अनुयायी भारतीय भाषा विज्ञानी भी कहते हैं कि 'घास' आदि है तो हिन्दी मे व्यजनान्त 'घास्' आदि ही, परन्तु प्रयोग-अवस्था मे अकारान्त 'घास' जैसे हो जाते हैं।

व्यजनान्त की तरह ही ऋकारान्त प्रातिपदिक भी हिन्दी नही रखती, यद्यपि संस्कृत के 'ऋण' आदि चलते हैं। अन्त मे 'ऋ' नही गृहीत है। संस्कृत प्रातिपदिको

से बने पद—माता, पिता, नेता आदि यहाँ प्रातिपदिक है, 'मातृ' आदि नही। परन्तु कई पण्डितम्मन्य 'आधृत' जैसे शब्दो की जो नई भरती कर रहे है, हिन्दी ने उन्हे स्वीकार नही किया है। 'अधृत' तो सस्कृत मे भी 'दुर्दर्श' है। 'आश्रित' जरूर चलता है, हिन्दी मे भी। 'आधृत' गलत प्रयोग है। 'आधारित' चाहिए। विसर्गान्त भी प्रातिपदिक हिन्दी मे नहीं लिए गए हैं। 'राजन्' का प्रथमा एकवचन 'राजा' यहाँ प्रातिपदिक है, इसी तरह 'पयस्' तथा 'नभस्' का प्रथमा-एकवचन 'पय' और 'नभ.' भी प्रातिपदिक बनने के दावेदार है; परन्तु विसर्गान्त होने से गृहीत नही। विसर्ग हटा देने पर 'पय'—'नभ' रह जाते है, जो हिन्दी के प्रातिपदिक हैं ही। सो, सस्कृत तद्रूप शब्द हिन्दी लेती है, पर वे यदि व्यजनान्त या विसर्गान्त हुए, तो काट-छाँट कर के स्वरान्त बना लिए जाते है।

ऊपर जो कुछ प्रातिपदिको के बारे मे कहा गया है वही धातु-व्यवस्था मे भी है। सब धातु स्वरान्त हैं। ऋकारान्त कोई चीज हिन्दी नही रखती, पर शब्द मे अन्यत्र कहीं 'ऋ' हो, तो उसे हटाती नही हैं। ऋण, कृपा आदि तदवस्थ चलते हैं।

अव्ययो मे विसर्ग गृहीत हैं—प्राय:, पुन: आदि हिन्दी मे विसर्गान्त चलते है और 'पश्चात्' आदि व्यजनान्त भी। 'भगवान्' और 'भगवान' दोनो चलते हैं। स्वतन्त्र रूप से 'भगवान्', और समास मे 'भगवान'—भगवान दास। इसी तरह 'भगवत्' भी तकारान्त होकर चलता है—'भगवत शरण'। परन्तु 'सद्गुरु प्रसाद' "सत्' सस्वर नही और इसीलिए सस्कृत-व्याकरण के अनुसार वह 'द्' बन गया है—'सद्गुरु'। यह 'सद्गुरु' सस्कृत का सामासिक शब्द है। हिन्दी ने वहीं से तद्रूप ले लिया है। कही 'सतगुरु' भी चलता है।

उच्चारण और वर्तनी —किसी भी व्यापक भाषा की वर्तनी सबसे अधिक महत्त्व की चीज है। उच्चारण-भेद भले ही हो, वर्तनी-भेद ठीक नही। सस्कृत के अनेक शब्दो का उच्चारण सस्कृत के विद्वानो मे भी अनेक रूप होता है। उत्तरप्रदेश के पूर्वाञ्चल मे—काशी आदि मे बडे-बडे सस्कृत के विद्वान् भी शब्द के आदि मे आए हुए 'य' का उच्चारण 'ज' जैसा करते है। परन्तु लिखने मे 'यव' को 'जव' नही करते। बगाली विद्वान् भी 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते' का उच्चारण 'जे जोथा मा प्रोपद्यन्ते' जैसा करते हैं, परन्तु लिखते वैसा ही है, जैसा कि हम सब। परन्तु वर्तनी मे यदि भेद हो जाए, तो फिर सब गया। सस्कृत 'ऋ' का उच्चारण हमलोग 'रि' जैसा करते है, गुजरात-महराष्ट्र आदि मे लोग 'रु' जैसा उसका उच्चारण करते हैं, किन्तु लिखते सर्वत्र 'ऋ' ही हैं।

विदेशी भाषाओं के शब्द —फारसी, अंग्रेजी आदि के बहुत-से शब्द हिन्दी ने लिए हैं—कागज, बाजार, गरीब, डाक्टर, कालेज आदि। कुछ लोग कहते हैं, इन्हें यों लिखो—कागज, बाजार, गरीब, डॉक्टर, कॉलेज आदि। वाजपेयी जी के अनुसार यदि नागरी में उर्दू भाषा लिखनी हो तो कागज, बाजार, गरीब आदि ठीक है, इसी तरह यदि नागरी में अंग्रेजी भाषा लिखनी हो तो डॉक्टर, कॉलेज लिखेंगे? किन्तु हिन्दी में जरूर, बाजार, कागज, डाक्टर, कालेज आदि ही शुद्ध वर्तनी है और ज़रूर, बाज़ार, कागज, डॉक्टर, कॉलेज आदि गलत वर्तनी है।

९. वाक्य-विन्यास में वर्तनी :—संस्कृत में विभक्तियाँ सटाकर लिखी जाती हैं, इसलिए हिन्दी में भी वही पद्धति चले, यह कोई तर्क नहीं है। परन्तु विभक्तियों को कोई सटाकर लिखता है, तो हमें कोई एतराज नहीं। हाँ एक ही पद्धति रखनी हो, तो व्यंजनादि विभक्तियाँ हटाकर और स्वरादि विभक्तियाँ सटाकर लिखी जाएँगी—'उस के' और 'उसे' तथा 'उस का' और 'तेरा' आदि।

'आपकी आज्ञानुसार' और 'आपके आज्ञानुसार' में वाजपेयी जी के अनुसार पहला ही ठीक है, क्योंकि 'आप की आज्ञानुसार', 'अपनी इच्छानुसार' जैसे प्रयोगों में भेदक 'की' स्त्रीवर्गीय भेद्य 'आज्ञा' तथा 'इच्छा' के अनुसार है। इनमें तत्पुरुष समास नहीं, अव्ययीभाव समास है। संस्कृत के 'यथा' अव्यय की जगह हिन्दी का 'अनुसार' अव्यय है। 'यथादेश सर्वं भविष्यति'—'आदेशानुसार सब होगा'। संस्कृत अव्यय 'यथा' का पूर्वप्रयोग है और हिन्दी अव्यय 'अनुसार' का पर प्रयोग।

'राम के बगल में गोविन्द बैठा था'—'राम की बगल में गोविन्द बैठा था' में पहला प्रयोग ही शुद्ध है। 'बगल' शब्द निश्चय ही स्त्रीवर्गीय है और इसीलिए उनका 'भेदक' स्त्रीवर्गीय—'राम की बगल में' लोग बोलते हैं। परन्तु प्रयोग-भेद में कुछ और चीज है। 'राम की बगल में फोड़ा हो गया है', 'रावण की बगल में वालि दबा रहा था'—यहाँ भेदक में स्त्रीत्व ठीक है—'राम की', 'रावण की'। रावण का जो रूप प्रकट किया गया है, उसके अनुसार वालि का उसकी बगल में दबा रहना ठीक, परन्तु राम की 'बगल' में गोविन्द कैसे बैठेगा? 'बगल' कुछ इंचों की जगह और गोविन्द का आकार-प्रकार कई गज-मीटरों का। वह 'बगल' में कैसे बैठेगा? गलत प्रयोग है—'राम की बगल में गोविन्द बैठा है'। शुद्ध प्रयोग है—'राम के बगल में गोविन्द बैठा है'। 'बगल' का प्रयोग अंग-विशेष के रूप में हो, तो 'राम की बगल में फोड़ा' और 'दिशा' के रूप में हो, तो 'राम के बगल में गोविन्द', इस तरह प्रयोग-व्यवस्था है। इसी तरह जिसके 'दाहिनी ओर' या 'बाईं ओर' कहना हो, उसका प्रयोग 'के' विभक्ति के साथ होता है—'राम के दाहिनी

ओर', 'गोविन्द के बाईं ओर', यानी 'राम' तथा 'गोविन्द' यहाँ 'ओर' के विशेषण नहीं है। विशेषण तो 'दाहिनी', 'बाईं' है। परन्तु 'राम की ओर वह देख रहा हैं', यहाँ 'राम' का प्रयोग एक दिशा के रूप मे है। इसीलिए स्त्रीवर्गीय प्रयोग है, 'ओर' विशेष्य के अनुसार। 'उसकी ओर' भी ऐसा ही है।

'सुमित्रा के कन्या हुई है'—'सुमित्रा की कन्या हुई है' मे पहला प्रयोग ही शुद्ध है। यहाँ कन्या 'भेद्य' नही है कि उसके अनुसार 'भेदक' रूप से 'सुमित्रा की' प्रयोग हो। यहाँ 'सम्बन्ध' के दो भेद समझने के लिए प्रयोगो के दो वर्ग देखें—

१. राम के एक भैस है। गोविन्द के दो घोडे हैं। सीता के दो पुत्र थे। सुशीला के चार लडकियाँ है। तेरे भी गौ है। मेरे न गौ है, न बकरी है। राम के एक पुत्र हुआ। गोविन्द के एक लडकी हुई।

२. राम की भैस खूब दूध देती है। गोविन्द का एक घोडा ठीक है। सीता की पुत्री पढती है। तेरी गौ कितना दूध देती है? मेरी गौएँ अच्छी है। राम का लडका खेलता बहुत है। गोविन्द की चारो लडकियाँ ब्याही गईं। सीता का लडका चतुर है।

प्रयोग के उपर्युक्त दोनो वर्गो मे अन्तर हैं। एक वर्ग मे के' तथा 'रे' विभक्तियाँ हैं। विभक्ति सदा एकरस रहती है। 'वचन' या 'वर्ग'-भेद नही करती। प्रथम वर्ग के प्रयोगो मे 'के' तथा 'रे' विभक्तियाँ हैं। दूसरे वर्ग के प्रयोगो मे 'क' तथा 'र' सम्बन्ध-प्रत्यय हैं, जो कि भेद्य के अनुसार बदलते हैं। 'क', 'र' तथा 'न' सम्बन्ध प्रत्यय है—तद्धितीय सम्बन्ध-प्रत्यय। भेद्य-भेदक भाव जहाँ सम्बन्ध मे हो, प्रत्यय लगते है और जहाँ भेद्य-भेदक भाव न हो, वहाँ 'के', 'रे' तथा 'ने' विभक्तियाँ लगती है—'अपने तो चार गौएँ है', 'तेरे कितनी है'? संस्कृत मे भी यही स्थिति है। वहाँ भी प्रयोग-भेद है। भेद्य-भेदक भाव न होने पर विभक्ति से सम्बन्ध-प्रकटन—

तव पुत्रः जातः—तेरे लडका हुआ है।
तव कन्या जाता—तेरे लडकी हुई है।
तव एक गौ अस्ति—तेरे एक गौ है।
तव चत्वारः अश्वा· सन्ति—तेरे चार घोडे है।
तस्य एक. पुत्र आसीत्—उसके एक लडका था।
तस्य चतस्त्र. कन्या अभवन्—उसके चार लडकियाँ हुईं।

परन्तु भेद्य-भेदक भाव से भेदक भेद्य के अनुसार रहेगा। ऐसी जगह तद्धितीय प्रत्यय लगते हैं—

त्वदीय. पुत्र पठति—तेरा लडका पढता है।
त्वदीया कन्या पठति—तेरी लडकी पढती है।
युष्मदीय. अश्व· क्व गत·—तुम्हारा घोडा कहाँ गया ?
अस्मदीयानि भवनानि जीर्णानि—हमारे घर पुराने हो गये।

सो, 'राम के लडकी हुई' प्रयोग शुद्ध है, 'राम की लडकी हुई' गलत है। हां 'राम की लडकी कही गई है', 'यह राम की लडकी नही है' ये प्रयोग शुद्ध हैं—भेद्य-भेदक भाव है। भेद्य 'लडकी' के अनुसार भेदक 'राम की' है।

'हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनेगा'—'हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनेगी', इनमे से दूसरा प्रयोग ही शुद्ध है। 'हिन्दी' उद्देश्य है, 'माध्यम' विधेय है। जिसका विधान किया जाता है, उसे विधेय कहते हैं। क्रिया के वर्ग-वचन आदि उद्देश्य के अनुसार रहते हैं—'मिट्टी सोना बन जाती है', 'सोना राख बन जाता है', 'वह राख फिर सोना बन जाती है'। सर्वत्र 'उद्देश्य' के अनुसार क्रिया है। इसी तरह 'हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनेगी', 'शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रहेगी', ये प्रयोग हैं।

'कलम मेज पर रखी है', 'कलम मेज पर रक्खी है', मे पहला प्रयोग ही शुद्ध है, क्योकि क्रिया का मूलरूप 'रख' है, 'रक्ख' नहीं।

'हमे कुछ नौकर चाहिए', 'हमे कुछ नौकर चाहिएँ' मे पहला प्रयोग ही शुद्ध है। 'चाहिए' भाववाचक क्रिया है। इसमे कभी कोई परिवर्तन नही होता—हमे एक नौकर चाहिए, हमे एक धाय चाहिए, हमे एक गाडी चाहिए, हमे चार गाडियाँ चाहिए। इस तरह भाववाचक क्रिया सदा एकरूप रहती है—'लडको ने बहनों को बुलाया', लडकियो ने सहेलियो को बुलाया'। यह कृदन्त भाववाच्य है और 'चाहिए' तिङन्त भाववाच्य—हमे नौकर चाहिए', 'तुम्हें नौकर चाहिए', 'मालिकों को नौकर चाहिए'।

डॉ० बाबूराम सक्सेना

'भाषा', १९६२ ई० के वसन्त अङ्क मे डॉ० सक्सेना ने ध्वनि अनुरूप वर्तनी की समस्या पर विचार करते हुए लिखा था कि 'सबसे भारी भ्रम व्यजन वर्णो के विषय मे सम्भव है। उदाहरणार्थ 'क' का अभिप्राय (मूल्य) कही क्+अ (कमल) है तो कहीं केवल क् (कि)। यदि ह्रस्व अकार स्वर की भी कोई मात्रा होती तो

हम इतना कहकर समाधान कर लेते कि यदि व्यजन के साथ स्वर-मात्रा लगी हो तो उस व्यजन का मूल्य स्वररहित समझना चाहिए । पर अकार की कोई मात्रा अभी तक नही खोजी जा सकी है ।

एक पुराना सुझाव यह है कि व्यजन वर्णों को हम नि स्वर समझे और अकार को बराबर लेख मे प्रकट करें (क अ म अ ल अ)। किन्तु इसका कार्य मे परिणत होना दु साध्य है ।

यह भी प्रस्ताव किया गया था कि जहाँ 'अ' का उच्चारण न होता हो, वहाँ हल् का चिह्न लगाया जाया करे, जैसे 'सकता' के स्थान पर 'सक्ता' ।

हिन्दी के परिनिष्ठित रूप मे शब्दो के अन्त का अकार उच्चरित नही होता, केवल सयोग (सयुक्त व्यजन) के उपरान्त सुनाई पडता है , इसलिए लेखन मे विना सशोधन किए हम हिन्दी के उच्चारण का, शब्दान्त 'अ' के विपय मे, यह नियम स्पष्ट रूप से समझा दे, तो हिन्दी भाषा-भाषी अथवा हिन्दीतर भाषा-भाषी को कोई कठिनाई नही होगी ।

जटिल समस्या शब्द के मध्य के अकार की है, जहाँ कभी तो उसका उच्चारण होता है, कभी नही । उदाहरणार्थ 'कमल' मे 'क' और 'म' दोनो के अकार का उच्चारण होता है, किन्तु 'बकता', 'सकता' में 'क' के अकार का नही । सूक्ष्म अध्ययन करके शायद यह कह सकते हैं कि विवृत अक्षर के व्यजन के अकार का कही उच्चारण होता है, कही नही, पर सवृत अक्षरो मे अकार का उच्चारण नही होता । इस भेद को भी अक्षर की मात्रा (लघु, गुरु) और शब्द के अक्षरो की सख्या के निर्धारण पर कस कर नियमबद्ध कर सकते है, पर वे नियम ऐसे होगे, जिनका बोध सामान्य जन को कराना मुश्किल होगा । इसलिए मेरी समझ मे तो यही आता है कि शब्द के मध्य मे आनेवाले व्यजन की वर्तनी उच्चारणानुकूल हो, तथा शब्दान्त के विपय मे हम नियम बता दें और परम्परागत वर्तनी चलने दें' ।

डॉ० भोलानाथ तिवारी

'भाषा', १९६१ ई० के अगस्त अङ्क मे हिन्दी की एकरूपता के प्रश्न पर विचार करते हुए डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लिखा था कि 'किसी भाषा का ज्यो ज्यो प्रचार-प्रसार एव विकास होता जाता है, त्यो-त्यो उसमे विभिन्न प्रकार की अनेकरूपताएँ विकसित होती जाती हे । हिन्दी भी इस समय इसी स्थिति मे है । उसकी कुछ अनेकरूपताएँ तो परम्परागत है, जिनके पीछे अज्ञान एव अनियमन का हाथ है और कुछ ऐसी हे, जो प्रचार-प्रसार के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशो से रिक्ष

रूप मे प्राप्त हो रही है। इस सदी के प्रारम्भ मे आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा ने नाना रूपो मे हिन्दी के तत्कालीन स्वरूप को व्यवस्थित और प्रतिष्ठित किया था; किन्तु, आज फिर वह व्यवस्था समाप्त होती दिखाई देती है और कई स्त्रोतो से अनेकरूपताएँ प्रवेश करती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राय' सभी दृष्टियो से इसमे एकरूपता लाकर इसके मानक रूप निश्चित कर दिये जाएँ।

हिन्दी की वर्तमान अनेकरूपताएँ प्रमुखत तीन प्रकार की कही जा सकती है—लेखन सम्बन्धी, शब्द-रूप सम्बन्धी एव प्रयोग सम्बन्धी।

लेखन सम्बन्धी एकरूपता —कोई शिरोरेखा विहीन लिखता है तो कोई शिरोरेखा युक्त, कोई 'अ' लिखता है तो कोई 'अ', कोई अ-इ-उ तो कोई अ-अि-अु, इसी प्रकार कोई ङ् ञ् ण् न् म् लिखता है तो कोई उनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करता है। किशोरी दास जी तत्सम मे पञ्चमाक्षर और शेष मे अनुस्वार का प्रयोग उचित मानते है। अङ्को के प्रयोग मे भी एकरूपता नही है। कोई नागरी के साथ नागरी अङ्क लिखता है तो कोई अन्तरराष्ट्रीय अङ्क का प्रयोग करता है। नागरी मे भी ७, ८, ९ आदि के कई रूप मिलते हैं।

हिन्दी-लेखन मे शिरोरेखा को नही छोडा जा सकता, क्योकि उससे भ, ध आदि मे म, घ के भ्रम की सम्भावना हो सकती है। अ इ उ की अपेक्षा अ अि अु सम्भवत. अधिक अच्छा होगा। ल ण क्ष अपने अन्य प्रतिरूप की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हैं।

लेखन से सम्बद्ध अन्तिम मुख्य समस्या वर्तनी की है, जिसमे सर्वत्र अव्यवस्था है। इसके लिए ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन अच्छा होगा, यथा—ऋषि, पुल्लिङ्ग, कर्त्ता, संन्यासी, ज्ञान, बलदेव, उज्ज्वल, सीग, प्राय , हरदम, चिह्न, ब्रह्म, कृपया, छह, झूठ, शेष, पक्ष, भूख, दु ख आदि के स्थान पर क्रमश· रिशि, पुँलिग, कर्ता, सन्यासी, ग्यान, बल्देव, उज्वल, सीट्, प्रायह्, हर्दम, चिन्ह, ब्रम्ह, क्रिप्या, छे, झूट, शेश, पक्श, भूक, दुख आदि लिखना अच्छा होगा।

परसर्ग प्राय. तीन प्रकार से लिखे जाते है—

१. सज्ञा से मिलाकर सर्वनाम से अलग।

२. सज्ञा और सर्वनाम दोनो से मिलाकर।

३. दोनो से अलग।

इनमे तीसरी पद्धति सर्वाधिक वैज्ञानिक है। सयोगात्मक भाषाओ मे विभक्तियाँ मिलाकर और वियोगात्मक मे अलग लिखी जाती है। हिन्दी वियोगात्मक भाषा है,

इसलिए इसमे परसर्गों को अलग लिखना ही उपयुक्त है। प्राचीन जर्मन की तुलना मे अँगरेजी इसी प्रकार वियोगात्मक भाषा है, इसीलिए उसमे टू, फ्रोम, इन, बाइ आदि पूर्वसर्ग सज्ञा तथा सर्वनाम दोनो से अलग लिखे जाते हैं। १८०० ई० के पूर्व हिन्दी मे भी पूरा वाक्य या छन्द का एक चरण मिलाकर एक साथ लिखा जाता था। १८५० ई० तक आते-आते सज्ञा से मिलाकर और सर्वनाम से अलग लिखने की परम्परा चली, जो अबतक है। किन्तु दोनो से अलग करके लिखने की पद्धति अधिक वैज्ञानिक होगी।

शब्दरूप सम्बन्धी एकरूपता .—हिन्दी-लेखन मे शब्दरूप सम्बन्धी अनेकरूपता की भी भरमार है उदाहरणार्थ सख्या मे इक्किस-इक्कीस, पच्चिस-पच्चीस, सताइस-सत्ताईस, पचपन-पिचपन, पच्चावन-पचावन, पचहत्तर-पिचहत्तर आदि रूप-भेद मिलते हैं। इसी तरह चपरासी-चपडासी, घबराना-घबड़ाना आदि अनेक रूप-भेद प्रचलित है। इनकी सूची बनाकर युग्म या त्रिक मे से एक रूप को मानक मान लेना आवश्यक है।

प्रयोग सम्बन्धी एकरूपता .—हिन्दी मे प्रयोग सम्बन्धी अनेकरूपताएँ भी कम नही है, जैसे—धन्यवाद देना या धन्यवाद करना, दरअसल या दरअसल मे, दरहकीकत या दरहकीकत मे, मेज के बाईं ओर या मेज की बाईं ओर, दुपट्टा गले मे या दुपट्टा गले पर आदि। इन अनेकरूपताओ का निराकरण भी आवश्यक है।'

श्री राजेन्द्र द्विवेदी

'भाषा', १९६१ ई० के नवम्बर अङ्क मे श्री राजेन्द्र द्विवेदी ने ध्वनि अनुरूप लेखन का समर्थन करते हुए लिखा था कि 'हिन्दी मे आज अनेक शब्दो की वर्तनी ध्वन्यनुकूल नही रह गयी है। वैज्ञानिकता की यह माँग है कि हम ऐसे शब्दो की वर्तनी सुधार लें।' उन्होने ऋ, ष, ज्ञ को हिन्दी-लेखन की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीक माना था तथा भाँग के लिए भाङ्, सीग के लिए सीङ् आदि रूपो का समर्थन किया था। उनके कुछ अन्य सुझाव निम्नलिखित है —

मध्य स्वर लोप—सक्ता, लग्ना, कर्के, इम्ली, जित्ना आदि।
अन्त्य स्वर लोप—मन्, घर्, विलास्, केवल् आदि।
आदि स्वरागम—इस्कूल, अस्तुति, अस्थान आदि।
व्यंजन विपर्यय—ब्रम्हा, चिन्ह, ब्राम्हण आदि।
व्यजन का बदल जाना—भूक, झूट आदि।
व्यजन का उड जाना—कर्ता, अर्ध, उज्वल आदि।

श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा

'भाषा', १९६३ ई० के सितम्बर अङ्क मे उच्चारण और वर्तनी के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा ने लिखा था कि 'उच्चारण कोई भी दोषपूर्ण नही होता, क्योकि कोई भी दो व्यक्ति समान उच्चारण वाले प्रस्तुत नही किए जा सकते। इसका अर्थ है कि यदि एक भी व्यक्ति गलत उच्चारण वाला माना गया तो हर व्यक्ति का उच्चारण गलत होगा। लेकिन पढे-लिखे लोगो का चूँकि शिक्षा पर स्वाधिकार होता है, इसलिए वे भाषा के हर अग को अपने अनुकूल ढालना चाहते है, अपने द्वारा प्रयुक्त रूपो को अधिक शिष्ट मानते हैं और उच्चारण और अन्य प्रयोगो मे प्रामाणिकता निकाला करते है, जिसका कारण स्पष्ट यही है कि वे उच्चरित होते ही गायब होने वाले' उच्चारण का स्थिरीकरण चाहते है—उसे सँजोने के लिए, भविष्य मे भी उससे अपने काम निकालने के लिए।

यदि वर्तनी के अनुसार ध्वनि को निश्चित करना सही और सरल होता, तो किसी भी लिखित भाषा मे कोई परिवर्तन न हुआ करता, क्योकि सब पढे-लिखे लोग भाषा के लिखित रूप को यथावत् उच्चरित करते रहते। लेकिन नही कालिदास की सस्कृत आज जीवित नही, शेक्सपियर की अग्रेजी की वर्तनी आज की अग्रेजी के लिए बेकार हो चुकी हैं। स्पष्ट है कि समस्या वर्तनी को काफी बदले हुए उच्चारण के अनुरूप ढालने की होती है, वर्तनी के अनुरूप उच्चारण को लौटाना, भाषा के विकास मे अडगा लगाने का दुष्परिणामपूर्ण प्रयास है।

वर्तनी मे भी अनिवार्य परिवर्तन विना किसी विशेष प्रयत्न के स्वयमेव होते चलते हैं, लेकिन अपेक्षाकृत बहुत धीमी गति से। ज्ञ वर्तनी से साफ हो गया, लाया का लाए, लाई रूप प्रचलित है। लायेगा का लाएगा। अँगुली से उँगली, तैल से तेल, बाधा से बाबा, भैया से भइया—सभी इसी तथ्य को उद्घोषित कर रहे हैं कि वर्तनी उच्चारण की अनुगामिनी होती है।

उच्चारण की अनेकरूपता असन्दिग्ध है। इसलिए वर्तनी की एकरूपता के लिए हमे किसी विशिष्ट वर्ग के भी विभिन्न उच्चारणो के 'एक निचोड़' उच्चारण को आधार मानकर चलना होगा। चूँकि लिखित भाषा पढे लिखे लोगो के काम की वस्तु है, इसलिए पढे-लिखे लोगो का उच्चारण ही इसके लिए उपयुक्त है। अब यदि पढे-लिखे लोगो के उच्चारण मे—स्कूल, इस्कूल, अस्कूल कई रूप प्रचलित है, तो उनमे से सर्वाधिक हिन्दीभाषियो द्वारा मान्य रूप को मान्यता दी जानी चाहिए।

अब यदि अधिकाश लोगो ने चिह्न की जगह चिन्ह लिखना शुरू कर दिया है तो कोई तूफान नही आ गया और यदि ब्राह्मण का अधिक प्रचलित उच्चारण ब्राम्हण हो जाए और इसे अधिकाश लोग इसी प्रकार एकरूपता के साथ लिखना आरम्भ कर दे तो कोई पाप नही होगा। प्रगति के लिए पुरातनता और जिद छोड़नी ही पडती है।

जब हम सस्कृत का व्याकरण आज की हिन्दी पर ज्यो का त्यो घटित करके नही दिखा सकते, तो फिर उसकी वर्तनी और उच्चारण को इस वक्त की हिन्दी पर थोपने को क्यो परेशान है ?

हर दृष्टि से अच्छी वर्तनी वह है जो रटनी न पडे, अर्थात् उच्चारण से जैसे-जैसे ध्वनि तत्त्व निकलते जाएँ, वैसे ही वैसे एक-एक के लिए एक-एक लिपि-चिह्न लिख दिया जाए। देवनागरी को हिन्दी के लिए ऐसा बनाने के लिए हमे त्याग करना ही पडेगा, हमे बेकार के लिपि-चिह्नो की बलि देनी ही पडेगी, हमे अनेक शब्दो के लिखित रूप को बदलना ही पडेगा।

डॉ० सियाराम तिवारी

'परिषद् पत्रिका' १९६१ ई० के अप्रिल अङ्क मे श्री सियाराम तिवारी ने वर्तनी की एकरूपता पर विचार करते हुए लिखा था कि 'सघ, परिषद् एवं अन्य विद्वानो के विचारो को देखने पर उनकी मूलभूत धारणा स्पष्ट हो जाती है। सबका ध्यान प्रथमत. और सर्वांशत लेखन-मुद्रण की सुगमता पर है।

किसी भाषा की वर्तनी की योजना उस भाषा की तमाम ध्वनियो को ठीक-ठीक उच्चरित कर लेने के लिए ही होती है। जिस भाषा की वर्तनी मे अपनी भाषा के साथ-साथ अन्य भाषाओ की ध्वनियो को पकड पाने की जितनी ही अधिक क्षमता होगी, उसकी वर्तनी पूर्णता की ओर उतना ही अधिक अग्रसर होगी। इसी तरह वर्तनी उच्चारण के जितना ही निकट होगी, उसकी वैज्ञानिकता उतनी ही अधिक होगी। अत , लेखन-मुद्रण की एकरूपता हो जाने पर यदि वर्तनी उच्चारण से रचमात्र भी दूर हो गई तो यह सिद्धि दूषित हो जायगी। उदाहरण के लिए अनुनासिक वर्णो को, विशेषत उनके अर्द्ध रूपो को लिया जा सकता है। उच्चारण के अतिरिक्त अन्य किसी भी नियम से उन्हे अनुशासित करने पर उच्चारण-भेद की पूर्ण सम्भावना है। इस सम्भावना का अनुमान हम इसलिए नही कर पाते कि हमारी दृष्टि केवल हिन्दी भाषियो तक सीमित है। सर्वथा भिन्न परिवार की भाषाएँ

बोलने वाले भी हिन्दी सीखेंगे और सीखते हैं। उनकी कठिनाई का अनुमान नही किया जा रहा है। हिन्दी प्रकाशक सघ के विचार को मानकर अगर 'पंगु' और 'अकिंचन' दोनो की अनुनासिकता को अनुस्वार से अभिव्यक्त करें तो क्या यह आशंका नही है कि कोई अहिन्दी भाषी 'पगु' को 'पन्गु' या 'अकिंचन' को 'अकिङ्चन' पढ ले ? इसी तरह 'सम्बन्ध' और सवर्धन मे क्रमश 'म' और 'अनुस्वार' का प्रयोग क्या यह प्रश्न नही खडा करेगा कि एक ही ध्वनि के लिए एक स्थान पर 'म' और दूसरे स्थान पर अनुस्वार कैसे हो गया ? हिन्दी भाषी 'पगु', 'अकिंचन', 'सवध', 'सवर्धन' की ध्वनियो से परिचित हैं, अत हिन्दी मे ये किसी भी रूप मे लिखे जायँगे तो हिन्दीवाले ठीक ही पढेंगे। हिन्दी-भाषियो के लिए वर्तनी मे एकरूपता लाने का प्रश्न केवल एक अव्यवस्था को मिटाने का प्रयास है, लेकिन हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषा-भाषियो को भी ध्यान मे रखकर देखने पर यह लिपि और भाषा की सुगमता एव वैज्ञानिकता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न हो जाता है। अगर एकरूपता निर्धारण मे उच्चारण की अवज्ञा कर दी जायगी, तो अहिन्दी भाषियो के लिए हिन्दी सुगम के बदले दुरूह हो जायगी। जब 'पगु' और 'अकिंचन' को एक ही ढंग से लिखा जायगा, तो जिनकी मातृभाषा मे ये दोनो शब्द नही हैं, वे अगर हिन्दी सीखें, तो इन दोनो शब्दो की भिन्न-भिन्न ध्वनियो को कैसे पकड पायेंगे ? अतएव, केवल लेखन-मुद्रण की सुविधा के लिए वर्तनी की एकरूपता का प्रयास अनपेक्षित ही नही, अहितकर भी है।

यत्र की सुविधा इतना लचर आधार है कि इसके अनुसार की गई कोई भी व्यवस्था चिरस्थायी नही हो सकेगी। इससे मुद्रण मे एकरूपता आये तो आये, लेखन मे समानता कभी सभव नही होगी। व्यक्तिगत अभ्यास, रुचि एव सौकर्य के कारण अनेकरूपता के लिए सदा द्वार खुला रहेगा। इसीलिए, एकरूपता को किसी नियम के सूत्र मे ग्रथित करना ही होगा। और, यह नियम भाषा के लिखित रूप के मामले मे उच्चारण के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता, क्योंकि भाषा का मूलरूप उच्चरित रूप ही होता है। उसी उच्चरित रूप को स्थान एव काल की सीमा से मुक्त कर देने का प्रयत्न उसके लिखित रूप का अन्वेषण है। स्थान और समय के साथ भाषा अगर मूल उच्चारण से भी मुक्त हो गई, तब तो एक ही भाषा का लिखित और उच्चरित रूप भिन्न-भिन्न हो जायगा।

वर्तनी सबधी अन्य प्रसगो मे यंत्र की सुविधा का स्थान किसी तरह कुछ हद तक हो भी सकता है, लेकिन अनुनासिकता के सबध मे सुविधा का ख्याल करने पर हमारी भाषा अवश्य त्रुटिपूर्ण हो जायगी। अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु तथा पचमाक्षरो

के अर्द्ध रूप परस्पर उलझ गये हैं। इनका उच्चारण अवश्य ही अपने निजी रूप मे है, क्योकि उच्चारण के प्राकृतिक होने के कारण वहाँ प्रमाद के लिए अवकाश नही है। उनका लिखित रूप तभी सुलझ पायगा, जब उसका आधार उच्चारण होगा, न कि मुद्रण, लेखन और टकन की सुगमता। हँसना और हंस मे अनुनासिकता समान नही है। अत 'हँसना' और 'हस' दोनो की अनुनासिकता को अनुस्वार से व्यक्त करना ध्वनि और लिपि का सम्बन्ध-विच्छेद करना है। **चन्द्र-बिन्दु और अनुस्वार का पृथक अस्तित्व अनिवार्य है।**

फिर, अगर 'दम्पति' और 'अङ्क' दोनो मे अनुस्वार का ही प्रयोग करें और पढनेवाला अगर इनका उच्चारण 'दन्पति' और 'अन्क' करता है, तो दोष किसके मत्थे जायगा, यह विचारणीय है। सभी पचमाक्षरो का उच्चारण कदापि एक नही है। फिर सभी के अर्द्ध रूप के लिए अनुस्वार का प्रयोग वाछनीय नही कहा जा सकता। 'ञ्' और 'ण्' के अर्द्धांश 'न्' के सदृश् हो गये है, 'कुञ्ज' और 'पण्डित' दोनो क्रमश कुन्ज और पन्डित ही उच्चरित होते हैं। लेकिन 'ङ्' का उच्चारण न् से बिल्कुल भिन्न है। 'अङ्क', 'सङ्ग' को 'अन्क', 'सन्ग' कभी नही पढते। इसीलिए, पचमाक्षरो के अर्द्ध रूप लिखते समय 'ञ्' 'ण्' और **'न' को मिला दिया जा सकता है लेकिन ङ् और 'म' को पृथक्-पृथक् रखना ही होगा।** इनमे 'ङ्' के उच्चारण मे अनुनासिकता चन्द्रबिन्दु से कुछ अधिक और 'न' से कुछ कम है। इस तरह इसके लिए न तो चन्द्रबिन्दु का व्यवहार किया जा सकता है और न अनुस्वार का। उसमे हल् लगाकर या उसके नीचे अन्य वर्ण को मिलाकर लिखा जा सकता है। **हल् लगाकर लिखना मुद्रण के लिए सुविधाजनक होगा।**

अब सोचना यही है कि अनुस्वार और 'न' का सम्बन्ध क्या हो। अगर दोनो को एक मान लेते है, तो विचारना पडेगा कि 'मैं' मे अनुस्वार लिखना कहाँ तक उचित है तथा कन्या को क्या 'कया' लिख सकते है। 'मैं' मे अनुनासिकता 'न' के बराबर बिल्कुल नही है, वह चन्द्रबिन्दु के बराबर है। अत वैसे सभी शब्दो मे चन्द्रबिन्दु **का ही प्रयोग** किया जाना चाहिए—'मैं', 'रहें', 'उन्हें' आदि **मे अनुस्वार के स्थान पर** चन्द्रबिन्दु **का ही प्रयोग उचित होगा।** यह मत अव्यावहारिक **एवं नवीन नहीं है।** कई पुस्तको मे सफलतापूर्वक इसका प्रयोग हो चुका है और उसकी छपाई सफाई अपेक्षया किसी भी तरह हीन नही है। 'कुञ्ज' और 'कुण्ड' मे अनु-नासिकता तो बराबर है ही, उसका उच्चारण भी 'न' के समान ही होता है। अतः दोनो की अनुनासिकता को 'न' से व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'ण्' को अगर एक स्थान पर 'न' कर देते है तो क्यो नही 'पुण्य'

को 'पुन्य' लिखा जाय। किंतु थोड़ा गौर करने पर यह प्रश्न निराधार ठहरता है। 'ण' अपने पूर्ण रूप मे रहने पर तो अपने मूल रूप मे उच्चरित होता ही है, अपने अर्द्ध रूप मे वह किसी स्वर का पूर्ववर्ती होकर भी अपने मूल उच्चारण मे हटता नही है। इसलिए 'कुण्ड' मे 'न' को स्वीकार कर लेने पर भी 'पुण्य मे 'ण' को अक्षुण्ण रखने पर नियम का व्यतिक्रम नही होता है। उच्चारण के आधार पर ही यह व्यवस्था दी जा रही है और उच्चारण यहाँ खंडित नही होता। इसी तरह 'कन्या' और 'कंज' मे जो अनुनासिकता है, उसकी मात्रा मे सूक्ष्म अतर विद्यमान है। 'कन्या' मे, स्वरान्त होने के कारण 'न' के उच्चारण मे अधिक बल पडता है, जबकि 'कन्ज' मे 'न' का परवर्ती व्यजन उसके उच्चारण को अधिक फैलने न देकर दबा देता है। अत, क्या हर्ज है कि स्वरात शब्दो मे 'न' और 'ण लिखे तथा शेष जगहो मे अनुस्वार का प्रयोग करें? इस स्थिति मे 'म' का लोप कर अनुस्वार का प्रयोग युक्तिसगत नही कहा जायगा। 'दम्पति', 'सम्बल' आदि मे 'म' ही शुद्ध है, अनुस्वार का प्रयोग भ्रान्त है।

एक दूसरी अव्यवस्था है 'ये' और 'ए' तथा 'यी' और 'ई' के सम्बन्ध मे। ये 'य' और 'अ' क्रमश अर्द्धस्वर और स्वर के ही अन्यरूप है। इन दोनो के स्वरूप मे मात्रा का ही अन्तर होने के कारण इनके विकृत रूपो का उदाहरण परस्पर उलझ जाता है। 'नयी' का उच्चारण 'नई' नही होता है, ऐसा कोई नही कह सकता। अत यहाँ उच्चारण के आधार पर कोई व्यवस्था सम्भव नही है। जहाँ उच्चारण का कोई निश्चित और पृथक् अस्तित्व ही नही रह गया है, वहाँ उसे आधार कैसे बनाया जा सकता है? यहाँ यह नियम बनाया जाय कि जिस शब्द के एकवचन के रूप मे जिस वर्ण का प्रयोग हो उसके अन्य रूपो मे उसी वर्ण के विकृत रूपो का प्रयोग हो, यथा 'नया'-'नये'-'नयी', 'हुआ'-'हुए'-'हुई'। कुछ ऐसी भी क्रियाएं है, जिनके मूल रूप मे 'अ' अथवा 'य' नही होता, लेकिन उनके विकृत रूपो मे इनका समावेश हो जाता है, यथा जाना क्रिया के अन्य रूप 'जाओ' 'जाए', 'जाएँगे, तथा लेना क्रिया के 'लिया', 'लिये' हो जाते हैं। इस प्रसग मे कोई एक नियम बनाना सम्भव नही प्रतीत होता। इसमे यही किया जा सकता है कि विकृत रूपों मे जो रूप स्थिर हैं, उसी के अनुसार अन्य रूपों को स्थिर किया जाय। 'जाना' का 'जाओ' रूप स्थिर है, इसको 'जायो' कोई नही लिखता। अत 'जाए', 'जाएँगे' को इसी रूप मे लिखना चाहिए। इसी तरह 'लेना' का 'लिया' रूप स्थिर है, अत 'लिये' ही होना चाहिए 'लिए' नही। 'लिए' कारक-चिन्ह है। लोग इस साधारण बात को असावधानी से नहीं समझ पाते। जिस

'लिए' के पूर्व 'के' हो, वह सम्प्रदान कारक की विभक्ति है और उसमे 'ए' ही उचित है, लेकिन इसके क्रियारूप में होने पर इसमे 'ये' होना ही चाहिए। 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखनेवाले भी कम नहीं हैं। यह अव्यय है। इसमे 'ए' लिखना ही संगत लगता है, जो उच्चारण से भी समर्थित है।

आज वतनी की एकरूपता का जो प्रश्न उठा है, वह मुद्रण सम्बन्धी असुविधाओ के कारण ही, अन्यथा स्वच्छन्दताप्रिय हिन्दी भाषियो के ध्यान मे शायद ही यह बात आती। इस तरह, इस पर विचार करते हुए अनेक ऐसे प्रश्न भी आते है, जिन पर मुद्रण की दृष्टि से ही अधिक विचार करना अपेक्षित है। उदाहरणार्थ हाइफन के प्रयोग को लिया जा सकता है। हाइफन पूर्णत· अर्थयुक्त है, इसलिए उचित तो यह है कि चाहे दो पदो को समस्त किया जाय अथवा दस को, उनके मध्य हाइफन का प्रयोग आवश्यक है। लेकिन दो से अधिक शब्दो को समस्त करने पर उनके बीच हाइफन देना असुविधाजनक है। इसलिए, दो पदों को समस्त करने पर हाइफन का प्रयोग किया जाय और दो से अधिक पदो की स्थिति मे इन्हे अलग-अलग लिखा जाय। शब्द-चमत्कार और राम-कृष्ण को शब्द चमत्कार और रामकृष्ण लिखने से अर्थ-भ्रम की सम्भावना है, अत दो पदो के बीच अवश्य हाइफन दिया जाय। भारतीय हिन्दी परिषद् के प्रारूप मे जो यह कहा गया है कि द्वन्द्व समास की स्थिति मे भी शब्दो को (कौमा देकर) अलग-अलग रखना उचित है, उममे भी यह सशोधन आवश्यक है कि जब दो पद हो तो अर्द्ध विराम देकर लिखा जाय। 'प्रति', 'हर' 'वाला', 'जी', पूर्वकालिक क्रियाओ का 'कर' एव सारे परसर्ग सर्वनाम तथा सज्ञा, दोनो मे अलग लिखे जाने चाहिए। इससे अर्थ मे कोई बाधा भी नही होती और मुद्रण मे सौन्दर्य भी होगा। भारतीय हिन्दी परिषद् के प्रारूप मे भी यही कहा गया है।

इस सन्दर्भ मे अन्तिम विचारणीय बात है सस्कृत शब्दो और विदेशी ध्वनियो को लेने की। सस्कृत तत्सम शब्दो को' जैसा भारतीय हिन्दी परिषद् के प्रारूप में कहा गया है, मूलरूप मे ही लिखना उचित है। लेकिन विदेशी ध्वनियो का समावेश अनर्गल है। हर भाषा की निजी ध्वनियाँ होती है। उनमे परिवर्तन होता रहता है, लेकिन उसका कारण आन्तरिक होता है, बाह्य नही। अत विदेशी ध्वनियो को ग्रहण कर लेने पर उन्हे हमारी भाषा पचा नही सकेगी। हमारी भाषा पर भारस्वरूप लदी रहेगी। इस तरह विदेशी ध्वनियाँ सर्वथा त्याज्य है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि वर्तनी की एकरूपता की समस्या को व्याकरण के स्तर पर हल करना होगा, मुद्रण सम्बन्धी सुविधा का ध्यान रखा भी जायगा, तो

वहीं, जहाँ व्याकरण की अल्प अवज्ञा हो और अर्थ-भ्रम या उच्चारण भ्रम की सम्भावना विल्कुल नही हो। यह परम चिन्ता की वात है कि हम अपनी भाषा और लिपि के अनुरूप नया यंत्र तैयार कराने की बात न सोचकर, दूसरो ने अपने लिए जो यंत्र वनाया है, उसी मे अपनी भाषा और लिपि को काट-छाँट कर फिट कर देना चाहते हैं।

डॉ० गोपाल राय

'समीक्षा' के सम्पादक डॉ० गोपाल राय ने अपनी पत्रिका के अक्टूबर, १९७० ई० तथा जुलाई, १९७१ ई० के अङ्को के 'सम्पादकीय' मे क्रमश हिन्दी मे 'हाइफन' (योजक चिह्न) तथा 'बिन्दी' के प्रयोग के सम्बन्ध मे विस्तार पूर्वक अपने विचार व्यक्त किये हैं, जो इस प्रकार हैं —

हाइफन मूलत लैटिन शब्द है जिसका अर्थ 'एक साथ करना' या 'जोड़ना' होता है। ग्रीक वैयाकरण 'हाइफन' के लिए चन्द्राकार चिह्न (˘) का प्रयोग करते थे जो किसी समस्त पद के नीचे इस आशय से लगाया जाता था कि उसे दो शब्दो के रूप मे न पढ़ा जाए। अँगरेजी मे इसके लिए छोटी पडी पाई (-) का प्रयोग होता है। मुख्यत दो शब्दो को समस्त पद के रूप मे जोडने के लिए उनके वीच मे हाइफन (-) का प्रयोग किया जाता है। हाइफन का प्रयोग पंक्ति के अन्त मे किसी शब्द के अधूरे रह जाने पर उसके अलग हो गये अक्षरो को जोडने के लिए भी होता है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति समझाने या इस तरह के किसी अन्य उद्देश्य से शब्द को कई भागो मे बाँटने के लिए भी हाइफन का प्रयोग प्रचलित है।

हिन्दी मे हाइफन का प्रयोग अँगरेजी के प्रभाव से आया है, यह निर्विवाद है। इसका प्रयोग कब से आरम्भ हुआ, यह शोध निवन्ध का रोचक विषय है, पर अठारहवी शताब्दी तक हिन्दी का लेखक निश्चित रूप से इस प्रयोग से अपरिचित था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे, सम्भवत:, इसका प्रयोग हिन्दी मे शुरू हुआ। और आज यह हिन्दी का एक अत्यन्त प्रचलित सामान्य प्रयोग वन गया है। जहाँ तक इसके अन्तिम दो प्रयोगो का सम्बन्ध है, वहाँ स्थिति सामान्य है, पर समस्त पद बनाने के लिए हाइफन का प्रयोग वहुत ही अविचारित रूप मे होने लगा है। सामान्य लेखको की वात तो जाने दें, हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक और शैलीकार भी हाइफन के प्रयोग में सावधानी नही वरतते। हमारे सामने जो छपी किताबें आती हैं, उनमे हम पाते हैं कि एक ही लेखक एक ही समस्त पद मे कही तो हाइफन (-) लगाता है, कहीं हाइफन का प्रयोग नहीं करता और कही उन्हे सटाकर लिखता

है। कुछ लेखक जो लिखने मे विशेष सावधानी बरतते है अधिकतर समस्त पदो का निर्माण हाइफन लगाकर करते है। यथा शोध-प्रबन्ध, प्रकाशन-व्यवसाय, पाठक-वर्ग, सर्व-सुलभ, शिक्षा-हीन, जन-सानान्य, पुस्तक-संग्रह, पाँच-दस, आने-जाने, सास्कृतिक-बौद्धिक, साहित्य-सर्जन, विहित-अविहित, सस्थापन-व्यय, ज्ञान-निरपेक्ष, माता-पिता, पठन-पाठन, शिक्षा-दीक्षा, हो-हल्ला, तुक-साम्य, कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध, हिन्दी-भाषियो, कुछ-न-कुछ, आदि। ये ही लेखक जब हाइफन का प्रयोग नही करते तो दो शब्दो को मिलाकर लिखते है। जैसे अविद्याव्यसनी, विक्रीकर, आयकर, तबतक, समाजवाद, सन्तोपप्रद, शिक्षासम्बन्धी, दृष्टिकोण, व्यस्तताजन्य, देखभाल, निराशाजनक, कष्टप्रद, असन्तोषजनक, आपत्तिमुक्त, हतप्रभ, अकल्पितपूर्व, दृष्टिगोचर, अन्तरिक्षयात्राओ आदि।

इन उदाहरणो के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनमे हाइफन-प्रयोग के किसी निश्चित नियम का पालन नही किया गया है। यह दोष लेखको का है या मुद्रको का, यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि हिन्दी मे हाइफन के प्रयोग के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है।

इस अव्यवस्था का कारण हिन्दी पर दो भाषाओ का प्रभाव है। एक तरफ हिन्दी सस्कृत का विकास है तो दूसरी तरफ उस पर अँगरेजी का भी प्रभाव पडा है। सस्कृत मे समस्त पदो को सटाकर ही लिखने की परिपाटी है। अँगरेजी से हाइफन (-) के आयात के बाद समस्त पदो को सटाकर लिखने के बदले उनके बीच हाइफन (-) का प्रयोग प्रचलित हुआ। यह प्रयोग भाषा या व्याकरण के सरलीकरण की प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम था। कुछ इस कारण से और कुछ नवीनता के प्रति स्वाभाविक झुकाव के कारण हाइफन का प्रयोग बढता गया, उधर पुरानी पद्धति भी अपनी जगह पर कायम रही। इसका परिणाम यह हुआ कि कहाँ शब्दो को सटाकर लिखा जाए और कहाँ उनके बीच हाइफन का प्रयोग किया जाए इस सम्बन्ध मे कोई नियम नही रह गया है।

हिन्दी मे समस्त पदो के निर्माण मे हाइफन का प्रयोग किस सीमा तक युक्ति संगत है, इस पर विचार करने के पूर्व हमे अँगरेजी मे हाइफन की स्थिति पर विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि हाइफन अँगरेजी भाषा से आया है, पर किसी अँगरेजी पुस्तक को आप उलटें तो आपको बहुत ढूँढने पर हाइफन का प्रयोग मिलेगा। अँगरेजी का लेखक school boy, ballad poetry, school master, arts graduate, mass revolution, library building, city fathers, income tax, college girl, town dwellers, village inn, town hall, school fee, reve-

nue stamp, horse back, horse cloth, horse course, horse fair, house wife, आदि अनेक समस्त शब्दों के बीच हाइफन का प्रयोग नहीं करता और ये शब्द सटाकर भी नहीं लिखे जाते। वस्तुत अँगरेजी मे हाइफन किसी समस्त पद की आयु का परिचायक है। जो समस्त पद अत्यन्त रूढ या प्रचलित हो जाते हैं उनसे हाइफन अपने आप उठ जाता है। जब तक दो शब्दो का सम्बन्ध कच्चा होता है तब तक हाइफन उन्हे जोडने का काम करता है और जब यह सम्बन्ध पक्का और स्वाभाविक हो जाता है तो हाइफन फालतू हो जाता है। जैसे, शल्यक्रिया के बाद शरीर के दो कटे हिस्सो को धागे से सी दिया जाता है और सीयन की उपयोगिता तभी तक रहती है जब तक दोनों अग आपस मे जुट नही जाते। अगो के आपस मे जुट जाने के बाद धागा काट दिया जाता है। हाइफन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। बहुत से अँगरेजी शब्दो मे पहले हाइफन का प्रयोग होता था पर अब नही होता। बहुत से अँगरेजी शब्द ऐसे हैं—जैसे non-bailable, balled-region, god-like, neo-classical, fairy-tale आदि—जिनमे हाइफन का प्रयोग आज भी होता है। कुछ समस्त पद ऐसे मिलेगे जिनसे हाइफन लुप्त होने की प्रक्रिया मे है, यानी कुछ लोग उनमे हाइफन का प्रयोग करते हैं, कुछ लोग नही करते। अँगरेजी मे हाइफन का प्रयोग वही होता है, जहाँ उसके बिना काम नही चलता। ३ फरवरी १८९४ के 'सडे स्कूल टाइम्स' (फिलाडेलफिया) ने लिखा था कि सिद्धान्तत जब तक नितान्त आवश्यक न हो, दो शब्दो के बीच हाइफन का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उससे भी पहले १८८४ ई० मे 'न्यू इगलिश डिक्शनरी' के सम्पादकीय मे कहा गया था कि अनेक विशेषीकृत समासो मे प्राय. हाइफन का प्रयोग नही होता। यह इस बात का परिचायक है कि अँगरेजी मे हाइफन का प्रयोग बहुत सयम के साथ होता है। जैसा हम देख चुके है, हिन्दी मे स्थिति इससे भिन्न है।

अब हम हाइफन के प्रयोग के औचित्य पर विचार करें। मितव्ययिता का यह सामान्य सिद्धान्त है कि जो वस्तु अनावश्यक हो, उसे त्याग दिया जाए। जिस वस्तु के बिना भी हमारा काम सुचारु रूप से चल जाए उसे ढोने से क्या लाभ ? यह सिद्धान्त हाइफन के प्रयोग मे भी लागू होना चाहिए। हाइफन लिखने मे हमे कम से कम आधा अक्षर लिखने के बराबर श्रम तो पडता ही है। वह आधे अक्षर के बराबर स्थान भी घेरता है। मुद्रण मे हाइफन के लिए भी एक टाइप का खाना रखना पडता है। इस प्रकार हाइफन को बनाये रखने मे जो गैलनो स्याही, रीमो कागज और टनो टाइप तथा अपरिमित मानव श्रम का दुरुपयोग होता है, उसका कोई औचित्य नहीं दीखता।

अत मेरे विचार से दो तत्सम शब्दो के मेल से बने समस्त पदो को सटाकर ही लिखा जाना चाहिए। मेरा अनुभव है कि हिन्दी मे छह अक्षरो तक का समस्त पद नही खटकता। उदाहरणार्थ 'शोधप्रबन्ध', 'पाठकवर्ग', 'सर्वसुलभ', 'जनसामान्य', 'असन्तोपजनक', 'निराशाजनक', 'वशपरम्परा', 'साहित्यसर्जन', 'ज्ञाननिरपेक्ष' जैसे शब्द बिना हाइफन का प्रयोग किये सुविधाजनक रूप से लिखे जा सकते है। इससे अधिक अक्षरोवाले समस्त शब्द कदाचित् खटक सकते हैं, जैसे, 'प्रकाशन-व्यवसाय', सस्थापनव्यय विश्वविद्यालयपरीक्षा, अर्थशास्त्रसम्मेलन, राज्याध्यक्ष-सम्मेलन आदि। ऐसे शब्दो के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की जा सकती है कि या तो इनके बीच हाइफन (-) का प्रयोग किया जाए अथवा इन्हे अलग अलग बिना हाइफन के ही लिखा जाए।

असली कठिनाई वहाँ पैदा होती है जहाँ दो से अधिक शब्दो के मेल से समस्त पद बनाने की आवश्यकता पडती है। मान लीजिए लिखना है, 'देशकाल निरपेक्ष', 'बालवृन्द समागम', 'भारतीय हिन्दी परिषद् अधिवेशन', 'बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी', 'दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय सघ' आदि। ऐसे शब्दो को एक साथ मिलाकर नही लिखा जा सकता, हिन्दी समस्त पदो का इतना वजनी अलकरण नही सँभाल पाती। तब हमारे सामने दो विकल्प बचते है या तो इन के बीच हाइफन (-) लगाये जाएँ या इन्हे बिना हाइफन (-) लगाये ही लिखा जाए। कुछ लोग 'भारतीय-हिन्दी-परिषद्-अधिवेशन' के प्रत्येक शब्द के बीच हाइफन लगाने के पक्षपाती है, पर अब बहुमत इसे बिना हाइफन लगाये लिखने के पक्ष मे हो गया है। वाक्य मे दो शब्दो या व्याकरणिक कोटियो का सम्बन्ध दिखाने के लिए हाइफन लगाना जरूरी नही होता। उनका साथ साथ रहना ही उनमे सम्बन्ध स्थापन के लिए पर्याप्त होता है। सस्कृत मे विभक्तियाँ शब्दो से सटा सटा कर लिखी जाती हैं। हिन्दी मे आज विभक्तियाँ शब्दो से अलग हो गयी है और उनके बीच सम्बन्ध दिखाने के लिए हाइफन का प्रयोग नही होता। यही बात समस्त पदो के साथ क्यो नही हो सकती? अत यदि 'देशकाल निरपेक्ष', 'बालवृन्द समागम', 'महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार सभा' मे हाइफन का प्रयोग किये बिना ही उनके खडो को अलग अलग लिखा जाए तो कोई हानि नही होगी। सच पूछे तो यही बात, 'पाँच दस', 'आने जाने', 'विहित अविहित', 'माता पिता', 'हो हल्ला', 'कुछ न कुछ', 'चाँद सा', 'कोई न कोई', 'बार बार', 'धीरे धीरे', आदि शब्दो के बारे मे भी सही हो सकती है। इन शब्दो के बीच हाइफन का प्रयोग न कर यदि उन्हे अलग अलग ही—पर बहुत दूर दूर पर नही—लिखा जाए तो अर्थबोध मे कोई बाधा पडने की सम्भावना नही होगी।

इसका यह मतलब कदापि नही कि हिन्दी से हाइफन (-) को बिल्कुल निष्कासित कर दिया जाना चाहिए। मेरी सिफारिश केवल इतनी भर है कि इसका प्रयोग अविचारित रूप मे मनमाने तौर पर न किया जाए। इससे दो नुकसान होते हैं। प्रथम, लेखन मे अनेकरूपता आती है, जो किसी भी परिनिष्ठित भाषा के लिए शोभनीय नही है। दूसरे, हाइफन के रूप मे श्रम और अर्थ का दुरुपयोग होता है। लिखने और कम्पोजिग करने से लेकर प्रूफ देखने तक मे समय का कितना दुरुपयोग होता है, इस की तो बात ही छोड दें। अत. हाइफन का प्रयोग वही होना चाहिए जहाँ या तो दो भिन्न भाषाओ के शब्द मिलते हो या जहाँ अगल बगल के शब्दो के कारण अर्थबोध मे बाधा उत्पन्न होती है। जहाँ दो विभिन्न भाषाओ के शब्दो के मेल से किसी समस्त पद के निर्माण की आवश्यकता पडे, वहाँ शुरू मे सम्भवत. हाइफन का प्रयोग आवश्यक होगा। जैसे 'टेलीफोन-केन्द्र', 'रेल-पथ', 'सिनेमा-टिकट', 'राकेट-यान', 'अपोलो-अभियान, राडार-केन्द्र, आदि। पर यह भी शब्द-निर्माण की शुरुआत मे ही। हाइफन उन शब्दो को जोडने का काम करे जो प्रकृतितः एक दूसरे से भिन्न है। जब वे जुट जाएँ तो हाइफन को उनके बीच से विदा ले लेनी चाहिए।

'हिन्दी मे बिन्दी' के प्रयोग पर विचार करते हुए डॉ० राय ने लिखा है कि हिन्दी मे बिन्दी के प्रयोग की बाढ सी आयी दीखती है। टाइम्स ऑफ इंडिया से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओ के द्वारा यह बिन्दी की बीमारी इतने जोरो से फैल रही है, और इससे निकट भविष्य मे हिन्दी का इतना बडा अहित होनेवाला है, जिसकी सम्भवत अभी कल्पना नही की जा सकती। एक तरफ जहाँ भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी अखिल भारतीय हिन्दी की सस्थाओ मे वर्तनी की एकरूपता पर बहस होती है और सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं वहाँ दूसरी तरफ पूँजीपतियो का एक सस्थान, सम्भवत अपने नफे के लिए, अपनी भीषण शक्ति का उपयोग करके हिन्दी लिपि का गला घोट रहा है। यह बीमारी पहले दिल्ली तक सीमित थी, पर धीरे-धीरे अपने मूल स्थान मे भयानक रूप धारण करने के बाद यह चारो ओर फैल रही है। हम यह स्वीकार करते हैं कि इस बडी पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ इस सम्बन्ध मे, हम कुछ नही कर सकते, पर हिन्दी के हित मे इसके खिलाफ आवाज उठाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

यों तो बिन्दी का विवेकशून्य प्रयोग बहुत दिनो से मन को सालता आ रहा था, पर कल जब ११ अक्टूबर १९७० के धर्मयुग मे कुबेरनाथ राय के लेख पर अचानक नजर पड गयी और उसे अनायास ही पढने लगा तो यह श्लोक पढकर

रोना आ गया . 'हसो यथा राजत पंजरस्थ सिहो यथा मदर कदरस्थ / वीरो यथा गर्वित कु जरस्थचद्रोपिभ्राज तथाऽम्बरस्थ ।' इस उद्धरण मे सस्कृत की कैसी फजीहत की गयी है, यह बताने की जरूरत नही। 'पजर', 'मदर', 'कदर', 'कु जर' तथा 'चंद्र' क्या सस्कृत मे ऐसे ही लिखे जाते है ? और इसी श्लोक मे 'तथाऽबरस्थ:' न छापकर 'तथाऽम्बरस्थ' अपने शुद्ध रूप मे क्यो मुद्रित किया गया है ? ऐसी अराजकता क्यो ? यही नही, टाइम्स ऑफ इ डिया वालो ने अपने प्रकाशनो से पूर्ण विराम (।) को धक्का देकर निकाल दिया है और उसके स्थान पर अँगरेजी के फुल स्टॉप (.) को प्रतिष्ठित कर दिया है । उनकी रोटी तोडनेवाले हिन्दी के तथाकथित महारथी अपनी नाक के नीचे यह अनर्थ होते देखते रहे और उनके कान पर जू ँ तक नही रेंगी, विरोध करने की बात तो अलग रहे । आज हालत यह है कि यह प्रयोग आज टाइम्स ऑफ इ डिया के प्रकाशनो तक सीमित न रहकर आसपास और दूर तक फैलने लगा है । अक्षर प्रकाशन की एक पुस्तक (परत दर परत) मे पूर्णविराम के रूप मे बिन्दी का प्रयोग हुआ है । वाराणसी से निकलनेवाली कहानी-पत्रिका 'कहानीकार' भी इसका अनुकरण कर रही है । और तो और, आर० डी० ऍड डी० जे० कॉलेज मु गेर की वार्षिक मैगजिन मे इसी पद्धति का अनुकरण किया गया है । यह बडी भारी चिन्ता का विषय है, क्योकि हिन्दी के किशोर पाठक और छात्र इस पद्धति का अनुसरण करेंगे और फलस्वरूप हिन्दी-लेखन मे अनेक समस्याए ँ पैदा होगी ।

पहले हम शब्दो के ऊपर बिन्दी के प्रयोग के औचित्य पर विचार करे । बिन्दी का प्रयोग आज प्राय छह ध्वनियो (ङ्, ञ्, ण्, न्, म् और चन्द्रबिन्दु) के स्थान पर होने लगा है । यह स्वय मे एक अवैज्ञानिक बात है कि जहाँ पहले छह ध्वनियो के लिए छह वर्ण थे वहाँ उनका काम एक चिह्न से चलाया जाए । आखिर इसकी जरूरत क्यो आ पडी ? उधर से तर्क पेश किया जायगा कि इतने अधिक वर्णो का समावेश वर्तमान मुद्रण और टकन यन्त्रो मे सम्भव नही है । माना कि यह बात कुछ हद तक सही है, पर जहाँ तक उपर्युक्त छह ध्वनियो के स्थान पर बिन्दी के प्रयोग की बात है, यह तर्क बहुत विश्नसनीय नही है । आधा ण (ण), आधा म (म) और आधा न (न) तो हिन्दी मे बहुत आसानी से बन जाते है और यदि अन्य वर्णो के आधे रूप समस्या नही पैदा करते तो ण, म और न के आधे रूप भी कोई समस्या नही खडी करते । अब रह गये ङ् और ञ् के आधे रूप । यद्यपि इनमे भी हलन्त लगाकर इनके आधे रूप बनाये जा सकते है, पर इनकी बनावट कुछ गड़बड़ है, और चू ँकि मुद्रण और हस्तलेखन मे हलन्त दिक्कतें

पैदा करता है, अत इन्हें हटाने की बात सोची जा सकती है। इनके स्थान पर यदि बिन्दी का प्रयोग किया जाए तो कोई विशेष हानि नही है। आखिर संस्कृत मे भी 'म्' के स्थान पर विकल्प के रूप मे अनुस्वार का प्रयोग होता ही है। इसी को थोडा और ढीला करके हम उसका प्रयोग ङ् और ञ् के लिए भी करें तो नुकसान की तुलना मे फायदा ज्यादा है। आधा ञ् का उच्चारण तो अनुस्वाररूप में होता भी है, हाँ ङ् की उच्चारणशुद्धता अल्प मात्रा मे जरूर बाधित होगी। हम चाहे तो 'ण' के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग की छूट भी ले सकते हैं। क्योंकि 'पण्य', 'कण्व' आदि शब्दो मे तो 'ण' का उच्चारण होता है, पर 'कण्टक', 'ठण्ड' आदि मे उसका उच्चारण अनुस्वार या न् के रूप मे ही होता है। अतः हमारे विचार मे ङ्, ञ् और ण के स्थान पर बिन्दी का प्रयोग स्वीकार किया जा सकता है, पर न् और म के स्थान पर इसका प्रयोग बिलकुल नासमझी का द्योतक है। हिन्दी मे 'न्' और 'म्' की ध्वनियाँ बिलकुल सुरक्षित है और उनके आधे रूप भी बडी आसानी से बन जाते हैं। जहाँ ङ्, ञ्, और 'ण' के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से हमे प्रयत्नलाघव का लाभ मिलता है वहाँ न् और म् के स्थान पर बिन्दी के प्रयोग से हमे लाभ तो कुछ नही होता, उलटे दो प्रकार के नुकसान अवश्य होते हैं। प्रथमत. 'न' और 'म' ध्वनियो का भेद मिट जाता है और दूसरे मुद्रण की प्रक्रिया मे अनुस्वार के टूट जाने का डर बराबर बना रहता है। अत. न् और म् के स्थान पर बिन्दी के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं दीखता। निरुद्देश्य एकरूपता के नाम पर भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता को नष्ट कर डालना बुद्धिमानी की बात नहीं है।

इसी प्रकार चन्द्रबिन्दु (ँ) के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय है। अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु सर्वथा दो ध्वनियो के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं और हिन्दी मे अभी तक ये दोनो ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। माँग, चाँद, गाँठ आदि की अनुनासिक ध्वनि के लिए 'चन्द्रबिन्दु' का तथा संसार, संयम, संवत् आदि की अनुनासिक ध्वनि के लिए अनुस्वार का प्रयोग होता रहा है। यदि हम चन्द्रबिन्दु के बदले मे अनुस्वार का प्रयोग करते हैं तो कालान्तर मे माँग, चाँद, गाँठ, हँसी आदि 'मान्ग', 'चान्द', 'गान्ठ', 'हन्सी' आदि की तरह उच्चरित होने लगेंगे। यह खतरा क्यो मोल लिया जाए, यह समझ मे नही आता। सुविधा? पर सुविधा लेने की भी एक सीमा होती है। सुविधा के लिए अपने अस्तित्व को नष्ट या विकृत कर देना बुद्धिमानी की बात नहीं है। अनुस्वार की तुलना में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग थोडा असुविधाजनक जरूर होता है, पर अनुनासिक ध्वनि की रक्षा के लिए इसे बनाये रखना नितान्त आवश्यक है।

ऊपर हमने बार बार 'सुविधा' और 'असुविधा' की चर्चा की है। यह बात विचारणीय है। ङ्, ञ्, ण, न, म और ँ की तुलना मे ं लिखना निश्चित रूप से प्रयत्नलाघव की दृष्टि से सुविधाजनक है। पर मुद्रण मे ण, न, म, ँ, मे कोई फर्क नही पडता। इन सभी के लिए अलग अलग टाइप होते है और कम्पोजीटर को अनुस्वार लगाने मे उतना ही प्रयत्न करना पड़ता है जितना ण, न, म या अनुस्वार मे। बल्कि अनुस्वार की एक असुविधा यह है कि छोटा होने के कारण छपने के क्रम मे अनुस्वार का टाइप टूट जाता है और वह उग नही पाता। अत कम से कम मुद्रण मे ण, न, म और ँ के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से कोई भी सुविधा नही होती। हाँ 'ङ्' और 'ञ्' के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग से सुविधा अवश्य होती है क्योकि 'ङ्' और 'ञ्' के आधे रूप विना हल् लगाये नही बन पाते और जिस वर्ण के साथ ये सयुक्त होते है और उसके लिए अलग ही टाइप ढालना पडता है। इस प्रकार टाइपो की सख्या बढने से कम्पोजीटरो का श्रम भी बढ जाता है।

अतः मेरे विचार से सभी पचमाक्षरो के आधे रूपो तथा चन्द्रबिन्दु के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग वाछनीय नही है। न, म, और ँ के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग हरगिज नही होना चाहिए। ङ्, ञ् और ण के स्थान पर अनुस्वार का विकल्प स्वीकार किया जा सकता है, पर सस्कृत के उद्धरणो मे इसे मान्यता नही दी जा सकती।

अब बात रह गयी पूर्ण विराम के स्थान पर बिन्दी के प्रयोग की। समझ मे नही आता कि यह किसके दिमाग का फितूर है, और इससे क्या लाभ है? हम चाहेगे कि कोई इसका फायदा हमे बताए। यदि यह अँगरेजी की शुद्ध नकल है तो हम केवल इतना ही पूछेंगे कि अगरेजो के शासनकाल मे इसकी आवश्यकता किसी को नही जान पडी, पर आज क्यो ऐसा करना जरूरी हो गया? फिर पूरी तौर से नकल भी कहाँ हुई? अँगरेजी का प्रत्येक नया वाक्य फुलस्टॉप ( ) के बाद कैपिटल लेटर से आरम्भ होता है। हिन्दी मे फुलस्टॉप की नकल की गयी और 'कैपिटल लेटर' की नही, यह भी अजीब बात है! इस नकल से होने वाला नुकसान साफ है। मुद्रण मे तो खैर किसी प्रकार बिन्दी से काम चल जायगा, पर हस्तलेखन मे किसी वाक्य की समाप्ति और दूसरे वाक्य के आरम्भ का पता बिन्दी से जल्दी नही चलेगा। बिन्दी के अस्पष्ट होने, टूट जाने या टेढी होकर अर्धविराम बन जाने की पूरी सम्भावना है। अंगरेजी मे नये वाक्य के आरम्भ मे कैपिटल लेटर देने का नियम होने के कारण बिन्दी से कोई दिक्कत नही होती, पर हिन्दी

मे ऐसा नियम न होने से बहुत कठिनाई पैदा हो जायगी। वस्तुत. 'धर्मयुग', 'दिनमान,' 'नवभारत टाइम्स' आदि पढते समय दिक्कत महसूस होती है, पर हम कर ही क्या सकते है ? इन पत्रो का प्रकाशन बड़े पैमाने पर होता है और हमे झख मारकर इन्हे पढना ही होता है।'

उपसंहार :

हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण की दिशा मे विगत सौ वर्षों से अद्यावधि भिन्न-भिन्न विद्वानो, संस्थाओ एवं सरकार के द्वारा जो प्रयत्न हुए है, सबका सार-सक्षेप यथासाध्य प्रामाणिक रूप मे ऊपर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उपर्युक्त विवरण निश्चय ही अपेक्षित रूप से पूर्ण नही है, क्योंकि वर्तनी के सम्बन्ध मे और भी अनेकानेक विद्वान भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे अपने विचार व्यक्त करते रहे हैं, जिन सबका उल्लेख अनेक कारणो से सम्भव नही हो सका। फिर भी विवेच्य विषय पर अद्यावधि प्रकाशित उल्लेखनीय अधिकाश मतमतान्तर इसमे आ गये हैं। अगले अध्याय मे इन मतमतान्तरो के आलोक मे हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण के लिए एक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक मसविदा प्रस्तुत किया जायगा।'



अध्याय

: १६ :

हिन्दी-वर्तनी का प्रतिमानीकरण : एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक समाधान

सामान्य परिचय —

हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण की दिशा मे लगभग विगत सौ वर्षो से निरन्तर प्रयत्न होते आये है, जिनमे विभिन्न विद्वानो के वैयक्तिक प्रयत्नो से लेकर नागरी प्रचारिणी सभा, अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सङ्घ, भारतीय हिन्दी परिषद् तथा भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय तक के प्रयत्न भी शामिल हैं। फिर भी, आजतक इसका कोई ऐसा मानक रूप निर्धारित नही हो सका, जो सभी दृष्टियो से वैज्ञानिक, व्यावहारिक, सर्वाङ्गीण एवं सर्वमान्य हो। इसका प्रधान कारण यह रहा है कि इस दिशा मे अभी तक भिन्न-भिन्न विद्वानो, पत्र-पत्रिकाओ, साहित्यिक अथवा प्रकाशन सस्थाओ तथा सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न, एक साथ सामूहिक रूप से तथा सुनियोजित एव सुविचारित ढङ्ग से न होकर, पृथक्-पृथक् और प्राय. अपूर्ण एवं अव्यवस्थित रूप से होते आये हैं, जिनमे निर्णयो के प्रतिमान भी प्रायः अलग-अलग ही रहे है। किसी एक ही शब्द की वर्तनी के सम्बन्ध मे यदि एक ने अपना निर्णय प्रचलित उच्चारण के आधार पर दिया है तो दूसरे ने परम्परागत प्रयोग के आधार पर, तीसरे ने मुद्रणादिक सुविधा के आधार पर और चौथे ने अपनी वैयक्तिक मान्यता के आधार पर। आज तक कोई भी ऐसा प्रयत्न सामने नही आया, जिसमे अपेक्षित गम्भीरता के साथ, आद्यन्त हिन्दी की प्रकृति एव प्रवृत्ति को ध्यान मे रखकर, शुद्ध वैज्ञानिक एव व्यावहारिक दृष्टि से एतद्विषयक सारे सम्भव प्रश्नो पर दो टूक निर्णय दिये गये हो।

दूसरे, आजतक न तो सरकार ने और न ही किसी साहित्यिक या प्रकाशन सस्था ने इस विषय से सम्बद्ध अबतक के सारे प्रस्तावो, सुझावो एव निर्णयो को एक

माथ सामने रखकर, इस विषय मे रुचि रखने वाले सभी क्षेत्र के विद्वानो की सम्मिलित सभा के द्वारा वैज्ञानिक एव व्यावहारिक दृष्टि से उनमे से सर्वमान्य अश के चुनाव का या उनके समन्वयात्मक समाहार का कोई आयोजन किया है। ऐसी स्थिति मे आज यदि हिन्दी-लेखन मे वर्तनी के धरातल पर हिन्दी के लेखक, प्रकाशक, सरकार एवं सामान्य जनता, सभी अलग-अलग अपनी डफली और अपना ही राग अलाप रहे हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नही।

आज हिन्दी मे वर्तनी विषयक अराजकता किस सीमा तक पहुँची हुई है और उसके कारण समझदारो की कैसी मौत हो रही है, इसका एक अच्छा परिचय 'समीक्षा', दिसम्बर १९७२ ई० के अङ्क के 'सम्पादकीय' मे आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने दिया है, जो इस प्रकार है—"हिन्दी के एक नवप्रकाशित उपन्यास के मुद्रण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए डॉ० कामिल बुल्के ने एक पत्र लिखा है। उसमे उनका एक वाक्य है 'मैंने कुछ ही पृष्ठ पढे और ऐसी वितृष्णा हुई कि आगे पढने का उत्साह समाप्त हो गया।' डॉ० बुल्के की यह कडवी टिप्पणी हिन्दी की वर्तनी विषयक तथा प्रयोग विषयक अराजकता को लेकर है। डॉ० बुल्के ने अपने कथन के समर्थन में पुस्तक से बीसो उदाहरण दिये हैं। एक ही शब्द मे कही अनुस्वार का प्रयोग है तो कही चन्द्रबिन्दु का, कही हलन्त का तो कही सस्वर का। सन्धि के नियम यादृच्छिक है, जैसे कही 'बहिर्चेतना' है तो कही 'अन्तश्चेतना', 'अन्तर्पट' और 'मनोपीडा' सन्धि के समस्त नियमो का अतिक्रमण करके ही निष्पन्न हो सकते हैं। 'अन्तर्दृष्टि', अनेकत्र 'अर्तदृष्टि' मुद्रित है। अन्त मे डॉ० बुल्के लिखते हैं कि 'इस युग मे एक नवीन महावीर प्रसाद द्विवेदी की अत्यन्त आवश्यकता है।"

डॉ० बुल्के के कथन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शर्मा जी ने लिखा है कि 'मेरी धारणा है कि इस युग मे महावीर प्रसाद द्विवेदी भी होते तो उनकी बात कोई नही सुनता। जिस भाषा मे शुद्धि और संस्कार महत्त्वहीन हो, जिस भाषा मे प्रत्येक व्यक्ति अपने को भाषा का नियामक माने, जिस भाषा मे वर्णमाला के वर्णों की ठीक-ठीक सख्या बताने मे असमजस का अनुभव करने वाले अपने को लिक्खाड समझ बैठें, जिस भाषा मे भाषिक परम्परा, इतिहास, विकास एव स्वरूप मे अनवगत प्रकाशन-सस्थाएँ अपनी-अपनी मरजी और सुविधा के अनुसार वर्तनी निर्धारित करलें, उस भाषा मे व्याप्त अराजकता महज अनुमेय है। आज महावीर प्रसाद द्विवेदी होते भी तो कुछ नही कर पाते। महावीर प्रसाद द्विवेदी की उपलब्धि मे जितना श्रेय उनका है, उससे अधिक श्रेय उस युग के लेखको का है, जिन्होने द्विवेदी जी के द्वारा किये गये भाषागत परिवर्तन-परिमार्जन का स्वागत किया और

उनके सुझावो को स्वीकार किया। अभी तो स्थिति यह है कि भाषा विषयक सशोधन के सुझाव, चाहे कितने भी उपयोगी और सद्भावना से प्रेरित क्यो न हो, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे अवाञ्छनीय हस्तक्षेप कहकर ठुकरा दिये जाते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की यह परिभाषा हिन्दी के अतिरिक्त और किसी भाषा मे देखने को नही मिलती।"

शर्मा जी का क्षोभ वाजिब है। निश्चय ही हिन्दी की वर्तनी तथा प्रयोग विषयक अनेकरूपता का बहुत कुछ दायित्व आज के उन अहम्मन्य लेखकों पर भी है, जो साहित्य की तरह भाषा मे भी वैयक्तिक प्रयोग का समर्थन कर उसकी ओट मे अपने भाषाविषयक अज्ञान को छिपाने का प्रयत्न करते है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम इसीलिए निराश होकर हिन्दी मे वर्तनी विषयक एव प्रयोग विषयक अराजकता को रोकने का प्रयत्न छोड दें और अराजकता को ही अपनी भाषा के लिए इस युग का स्वीकृत सिद्धान्त मान लें ? ऐसा सोचना या करना निश्चय ही उचित नही कहा जा सकता। जब किसी भाषा के विकास की या उसके प्रचार एवं प्रसार की गति तीव्र होती है तो उस प्रक्रिया मे ऐसी स्थितियो का उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात रहती है। आज हिन्दी जिस गति से विकसित हो रही है और उसके साहित्य का जिस गति से प्रचार और प्रसार हो रहा है, उसमे भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक-रूपताओ की प्रवृत्ति का जन्म अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे आवश्यकता इस बात की है कि इस भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति का सूक्ष्म ज्ञान रखनेवाले अधिकारी विद्वान, साहित्यिक सस्थाएँ, प्रकाशन सस्थाएँ एव सरकार, सब मिलकर सामूहिक रूप से इसमे व्याप्त अनेकरूपता और अराजकता को रोकने के लिए इसकी वर्तनी तथा प्रयोगादि सम्बन्धी सर्वमान्य वैज्ञानिक एव व्यावहारिक नियमो का निर्धारण कर, सबके लिए, सभी क्षेत्रो मे उनके पालन को अनिवार्य घोषित करें तथा स्वयं भी उनके पालन को कृतसङ्कल्प हो। इस प्रकार आज के युग मे यह कार्य सामूहिक प्रयत्न से ही सम्भव हो सकता है, वैयक्तिक प्रयत्न से नही।

प्रकृत अध्याय मे हमारा उद्देश्य हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति पर अपेक्षित रूप से ध्यान रखते हुए, शुद्ध वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से, हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण की दिशा मे आजतक हुए सारे प्रयत्नो का समन्वयात्मक समाहार कर एक ऐसा मसविदा तैयार करने का है, जो हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की वैज्ञानिकता के अनुकूल हो, साथ ही व्यावहारिक भी हो।

हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण से सम्बद्ध समस्याएँ :

हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण से सम्बद्ध समस्याएँ अनेक प्रकार की हैं, जिन्हें विवेचन की सुविधा के लिए, उनके विषय के आधार पर, निम्नलिखित दस वर्गों में बाँटा जा सकता है।

१ नागरी-वर्णमाला से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
२ उच्चारण-भिन्नता से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
३ संस्कृत शब्दों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
४ विदेशी शब्दों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
५. परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
६. व्याकरण से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
७ ध्वनिशास्त्र से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
८ लेखन-पद्धति से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
९ रचना-शैली से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ
१०. वर्णेतर चिह्नों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ

विवेचन की स्पष्टता के लिए इनमें से प्रत्येक समस्या पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

(१) नागरी-वर्णमाला से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :

हिन्दी-लेखन में कुछ अनेकरूपताएँ ऐसी भी पायी जाती हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध नागरी की वर्णमाला से है। वे निम्नलिखित हैं —

(क) द्विरूप वर्ण —हिन्दी-लेखन के लिए प्रयुक्त नागरी वर्णमाला के अनेक वर्ण द्विविध रूप के हैं, जिनमें से कुछ तो पहले से प्रचलित हैं, और कुछ भारत सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा नागरी लिपि के लिए निर्धारित नयी नीति के परिणाम स्वरूप प्रचलित हो गये हैं। पहले से प्रचलित मुख्य द्विरूप वर्ण अ—ऋ, झ—ﬖ, ण—ण, तथा क्ष—क्ष हैं, और सरकारी निर्णय के फलस्वरूप उत्पन्न घ—ध और भ—भ हैं। इस समय हिन्दी में उक्त वर्णों के दोनों रूप प्रचलित हैं, जो एकरूपता की दृष्टि से उचित नहीं। अतः एकरूपता के लिए आवश्यक है कि इन द्विविध रूपों में से किसी एक को मानक मानकर दूसरे के प्रयोग को वर्जित कर दिया जाय। यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त रूपों में से किसको और किस आधार पर मान्य एवं अमान्य घोषित किया जाय? इसका निर्विवाद उत्तर होगा, उस रूप को जो अधिक प्रचलित, अधिक सरल और अधिक निर्भ्रान्त है। इस दृष्टि से उपर्युक्त शब्दों के प्रथम रूप को ही मान्यता मिलनी चाहिए। ध और भ से घ और म का भ्रम होने

की सम्भावना के आधार पर जो उनके भिन्न रूप सरकार के द्वारा मान्य ठहराये गये है, वे व्यर्थ है; क्योकि घ और भ का घ और म से अन्तर, विच्छिन्न शिरोरेखा से निभ्रान्त रूप मे प्रकट हो जाता है। इस सम्बन्ध मे सैकडो साल से आजतक कभी किसी को कोई भ्रान्ति नही हुई। अत. सरकार को ध और भ के सम्बन्ध मे अपने उक्त निर्णय को त्याग ही देना चाहिए। सामान्य जनवर्ग अपने प्रयोग मे ध और भ के भिन्न रूप को कभी स्वीकार नही करेगा।

(ख) हिन्दी की कतिपय ध्वनियो के लिए वर्णों एव मात्राओ का अभाव .—नागरी-वर्णमाला मे हिन्दी की अपनी कतिपय ध्वनियो के लिए स्वतन्त्र वर्ण नही है, जैसे—ह्रस्व स्वर ए, ओ, मूल स्वर ऐ, औ और महाप्राण व्यञ्जन न्ह, म्ह और ल्ह। परिणामत उक्त ध्वनियो का प्रयोग जिन शब्दो मे होता है, उनके लेखन मे अनेकरूपता पायी जाती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरणो से भली भाँति स्पष्ट हो जायगी।

(१) ह्रस्व 'ए' के लिए वर्ण एव मात्रा के अभाव के कारण वर्तनी की अनेकरूपता —

एकाई	—	इकाई
एग्यारह	—	इग्यारह
एक्कीस	—	इक्कीस
एकतालिस	—	इकतालिस
एक्कावन	—	इक्कावन
एकसठ	—	इकसठ
एखत्तर	—	इखत्तर (या इकहत्तर)
एक्यासी	—	इक्यासी
एक्यानवे	—	इक्यानवे
एकन्नी	—	इकन्नी
एक्का	—	इक्का
एकट्ठा	—	इकट्ठा
एकतरफा	—	इकतरफा
एकमुश्त	—	इकमुश्त
एकतारा	—	इकतारा
एकलौता	—	इकलौता
मेहमान	—	मिहमान

मेहरवानी	—	मिहरवानी
मेहनत	—	मिहनत
खेलाडी	—	खिलाडी आदि ।

इस प्रकार, हिन्दी-वर्णमाला मे ह्रस्व 'ए' के लिए स्वतन्त्र वर्ण नही रहने के कारण हिन्दी-लेखन मे उसके लिए या तो दीर्घ 'ए' के लिए निर्धारित वर्ण 'ए' और इसी की मात्रा ' े ' का प्रयोग होता है या हिन्दी वैयाकरणो के आदेशानुसार 'इ' और इसकी मात्रा ' ि ' का, जबकि दोनो ही स्थितियो मे प्रकृत उच्चारण ह्रस्व 'ए' का ही होता है। प्रश्न है कि इस अनेकरूपता का समाधान क्या हो सकता है ? एक समाधान हिन्दी वैयाकरणो का है—ह्रस्व 'ए' के स्थान पर 'इ' आदेश। किन्तु दुर्भाग्य से इस 'आदेश' से सर्वत्र हमारा काम नही चलता, जैसे—'खेलाना' को 'खिलाना' करने से अर्थभेद हो जायगा। दूसरी ओर खेतिहर, वेलना (सज्ञा), खेनारी, वेतिया, कॅकडा, आदि सज्ञाओ मे ह्रस्व 'ए' की जगह 'इ' आदेश का पालन किया ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति मे इसका एकमात्र वैज्ञानिक समाधान ह्रस्व ए के लिए स्वतन्त्र वर्ण एव मात्रा का विधान ही हो सकता है।

इस सम्वन्ध मे हमारा सुझाव यह है कि ह्रस्व 'ए' को यदि 'ए' के नीचे बिन्दी देकर 'ए' के रूप मे और इसकी मात्रा को शिरोरेखा के ऊपर खडी पाई देकर ' ꠱ ' के रूप मे सर्व स्वीकृति से मान्यता दे दी जाय तो इस समस्या का समाधान सहज ही हो जा सकता है और वर्तनी की एतद्विषयक अनेकरूपता भी सहज ही समाप्त हो सकती है। हमारे उपर्युक्त सुझाव को मान लेने पर हिन्दी-लेखन मे ह्रस्व 'ए' का रूप इस प्रकार का होगा —ए़कन्नी, ए़कतरफा, खलाडी, महमान, वनिया आदि। इस स्थिति मे दीर्घ 'ए' से ह्रस्व 'ए' की भिन्नता लेखन मे स्वत स्पष्ट हो जायगी, साथ ही, इसे समझना या समझाना भी कठिन नही होगा, क्योकि दोनो के रूप भिन्न होकर भी एकदूसरे के नितान्त निकट हैं।

(२) ह्रस्व 'ओ' के लिए वर्ण एव मात्रा के अभाव के कारण वर्तनी की अनेकरूपता —

ओढाना	—	उढाना
ओखली	—	उखली
ओसारा	—	उसारा
ओहार	—	उहार
ओहदा	—	उहदा (या वहदा)

ओछावन	—	उछावन
ओढनी	—	उढनी
सोहाग	—	सुहाग
सोनार	—	सुनार
लोहार	—	लुहार आदि ।

इस प्रकार, हिन्दी-वर्णमाला मे ह्रस्व 'ओ' के लिए स्वतन्त्र वर्ण नही रहने के कारण, हिन्दी-लेखन मे उसके लिए या तो दीर्घ 'ओ' के लिए निर्धारित वर्ण 'ओ' और इसी की मात्रा ' ो ' का प्रयोग होता है या हिन्दी वैयाकरणो के आदेशानुसार 'उ' और इसकी मात्र ' ु ' का, जबकि दोनो ही स्थिति मे प्रकृत उच्चारण ह्रस्व 'ओ' का ही होता है । ह्रस्व 'ए' की तरह ही यहाँ भी, हिन्दी वैयाकरणो के ह्रस्व 'ओ' के स्थान पर 'उ' आदेश से हमारा काम सर्वत्र नही चलता, जैसे 'बोलाना' को 'बुलाना' या 'कोठार' को 'कुठार' कर देने से स्पष्ट ही अर्थ-भेद हो जाता है । ऐसी स्थिति मे ह्रस्व 'ए' की तरह ही ह्रस्व 'ओ' के लिए भी एकमात्र वैज्ञानिक समाधान स्वतन्त्र वर्ण एव मात्रा का विधान ही हो सकता है ।

अत इसके सम्बन्ध मे हमारा सुझाव यह है कि ह्रस्व 'ओ' को यदि 'ओ' के नीचे बिन्दी देकर 'ओ़' के रूप मे, और इसकी मात्रा को खडी पाई की शिरोरेखा के ऊपर भी खडी पाई ही देकर ' ┼ ' के रूप मे, सर्व स्वीकृति से मान्यता दे दी जाय तो इस समस्या का समाधान हो जायगा । इस सुझाव को मान लेने पर वर्तनी की एतद्विषयक अनेकरूपता भी स्वत समाप्त हो जायगी और हिन्दी-लेखन मे ह्रस्व 'ओ' का रूप इस प्रकार का हो जायगा —ओ़खली, ओ़सारा, ओ़हदा, कोतवाल, लोहार, कठफोरवा आदि । ऐसी स्थिति मे दीर्घ 'ओ' से ह्रस्व 'ओ' की भिन्नता लेखन मे स्वत स्पष्ट हो जायगी, साथ ही, इसे लोगो के लिए समझना एव समझाना भी कठिन नही होगा, क्योकि दोनो के रूप एक दूसरे से बहुत भिन्न भी नही पडते ।

(३) मूल एवं मिश्र स्वर 'ऐ' तथा 'औ' के लिए नागरी मे पृथक्-पृथक् वर्णों या मात्राओ के अभाव के कारण हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता :—हिन्दी-लेखन मे नागरी के 'ऐ' तथा 'औ' वर्णो का प्रयोग तीन-तीन विभिन्न ध्वनियो के लिए होता है, उदाहरणार्थ (क) मूल स्वरो के लिए, जैसे—ऐसा, ऐनक, ऐब, पैर, मैल, कै आदि मे तथा और, औसत, कौर, तौर, सुडौल, सौ, नौ, पौ आदि मे, (ख) मिश्र स्वरो के लिए, जैसे—ऐक्य, ऐश्वर्य, ऐयाश, ऐयार, वैद्य, दैत्य, सदैव आदि मे तथा औचित्य, औत्सुक्य, औद्योगिक, औपचारिक, शौर्य, बौद्धिक, मौर्य, भौगो-

नैलिक, लौकिक आदि मे तथा (ग) क्रमश. अइ एवं अउ सयुक्त स्वरो के लिए, जैसे—ऐया (अइया), भैया (भइया), मैया (मइया), दैया (दइया), गैया (गइया) आदि मे तथा औलिया (अउलिया), लौका (लउका), बौका (बउका), बौआ (बउआ), उठौआ (उठउआ), नौमी (नउमी) आदि मे। यह स्थिति लिपि की वैज्ञानिकता तथा वर्तनी की एकरूपता दोनो ही दृष्टियो से अवाञ्छनीय है। अत इनका निराकरण आवश्यक है।

प्रस्तुत समस्या के सम्बन्ध मे, हमारी समझ से एक मात्र वैज्ञानिक समाधान यही हो सकता है कि चूँकि हिन्दी मे मूल स्वर के रूप मे ऐ—औ का विकास नया है, इसलिए इनके लिए स्वतन्त्र वर्ण एव मात्राओ का विधान किया जाय। दूसरे, मिश्र स्वर 'ऐ'—'औ' के लिए नागरी के ऐ—औ वर्ण तथा इनकी प्रचलित मात्राओ का प्रयोग चूँकि प्राचीन काल से ही होता आया है, इसलिए इन्हे यथावत् रहने दिया जाय और तीसरे, सयुक्त स्वर 'अइ'—'अउ' के लिए 'ऐ'—'औ' के प्रयोग को वर्जित कर, सर्वत्र 'अइ—अउ' के प्रयोग को ही मान्यता दी जाय। ऐसा करने से लिपि की वैज्ञानिकता और वर्तनी की एकरूपता दोनो की रक्षा हो जायगी। तब प्रश्न रह जाता है मूल स्वर 'ऐ'—'औ' के लिए स्वतन्त्र वर्ण और मात्रा के विधान का। इस विषय मे हमारा सुझाव है कि इन मूल स्वरो के लिए नितान्त नये वर्णो का निर्माण न करके, 'ऐ'—'औ' के नीचे बिन्दी देकर ही काम चलाया जाय; यथा—'ऐ'—'औ', और 'ऐ' की मात्रा शिरोरेखा के ऊपर दो छोटी खड़ी पाइयो जैसे '॥' के रूप मे तथा 'औ' की मात्रा शिरोरेखा वाली खड़ी पाई के ऊपर दो छोटी खडी पाइयां, जैसे—'॥' के रूप मे मान ली जाय। ऐसा मान लेने से मिश्र स्वर ऐ—औ और मूल स्वर ऐ—औ के वर्णो एवं मात्राओ की भिन्नता तो स्पष्ट हो ही जायगी, साथ ही दोनो मे इतना साम्य भी बना ही रह जायगा कि समझने-समझाने मे अधिक कठिनाई न हो। इस प्रस्ताव को मान लेने पर हिन्दी-लेखन मे उक्त स्वरो के वर्ण एव मात्राओ के रूप निम्नलिखित प्रकार के होंगे —

मूल स्वर 'ऐ'—वर्ण के रूप मे : ऐसा, ऐनक, ऐत्र आदि मे।
मात्रा के रूप मे कसा, जसा, आदि मे।

मिश्र स्वर ऐ'—वर्ण के रूप मे ऐक्य, ऐश्वर्य, ऐयार आदि मे।
मात्रा के रूप मे मतैक्य, वैद्य, दैत्य आदि मे।

मूल स्वर 'औ'—वर्ण के रूप मे : और, औसत, औरत आदि मे।
मात्रा के रूप मे कार, तार, आदि मे।

मिश्र स्वर 'औ'—वर्ण के रूप मे औचित्य, औदार्य आदि मे ।
मात्रा के रूप मे : वौद्धिक, भौगोलिक आदि मे ।

इनके अतिरिक्त सयुक्त स्वर 'अइ' और 'अउ' सयुक्त स्वर के रूप मे ही लिखे जायँगे, यथा—अइया, मइया, भइया, दइया, गइया आदि के रूप मे तथा अउलिया, बउआ, कउआ, वउका, नउमी आदि के रूप मे ।

(४) हिन्दी के तीन नवकिसित मूल महाप्राण अनुनासिक व्यञ्जनो—'न्ह्', 'म्ह्' और 'ल्ह्' के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णो का अभाव है । हिन्दी-लेखने मे इनके लिए क्रमश. सयुक्त व्यञ्जन 'न्ह्', 'म्ह्' और 'ल्ह' का प्रयोग होता है, जबकि इन सयुक्त एवं मूल व्यञ्जनो के उच्चारण मे पर्याप्त भिन्नता है । यह वात निम्न-लिखित शव्दो के उच्चारण पर ध्यान देने से स्वत स्पष्ट हो जायगी :—

मूल व्यञ्जन 'न ह्'—उन्हे, जिन्हे, कन्हाई आदि मे ।
सयुक्त व्यञ्जन 'न्ह्'—नन्हाँ, चिन्ह आदि मे ।
मूल व्यञ्जन 'म़ह्'—तुम्हे, तुम्हारा, कुम्हार आदि मे ।
सयुक्त व्यञ्जन 'म्ह्'—व्रम्ह, व्रम्हा आदि में ।
मूल व्यञ्जन 'ल़ह्'—चूल्हा, दूल्हा, आल्हा, कोल्हू आदि मे ।
सयुक्त व्यञ्जन 'ल्ह्'—जल्हण, कल्हण आदि मे ।

नागरी मे मूल व्यञ्जन 'न ह्', 'म ह्' एव 'ल ह्' के लिए स्वतन्त्र वर्णो के अभाव के कारण कही-कही किसी-किसी शव्द की वर्तनी मे भी अनेकरूपता दृष्टि-गोचर होने लगी है, जैसे कन्हाई—कँधाई, जम्हाई—जँभाई, सम्हालना—सँभालना, कल्ह—कल आदि मे । अत. भाषा एव लिपि की वैज्ञानिकता तथा हिन्दी-वर्तनी की एकरूपता की रक्षा के लिए उपर्युक्त मूल व्यञ्जनो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्णो का विधान आवश्यक है ।

इस सम्वन्ध मे हमारा सुझाव यह है कि नागरी मे जवतक सर्वसम्मति से उपर्युक्त मूल महाप्राण अनुनासिक व्यञ्जनो के लिए स्वतन्त्र वर्णों का विधान नही हो जाता, तब तक संयुक्त व्यञ्जन 'न्ह्', 'म्ह्' और 'ल्ह्' से उनकी भिन्नता प्रकट करने के लिए इनके नीचे विन्दी के प्रयोग को मान्यता दी जाय, यथा—'न ह्', 'म़ह्' और 'ल ह् । इसे स्वीकार कर लेने पर हिन्दी-लेखन मे इनके रूप निम्नलिखित प्रकार के होगे :—

मूल व्यञ्जन 'न्‌ ह्' — उन्हे, जिन्हें, कन्हाई आदि ।
संयुक्त व्यञ्जन 'न्ह' — नन्हाँ, चिन्ह आदि ।
मूल व्यञ्जन 'म्ह' — तुम्हे, कुम्हार आदि ।
संयुक्त व्यञ्जत 'म्ह' — ब्रम्ह, ब्रम्हा आदि ।
मूल व्यञ्ज 'ल्‌ ह्' — चूल्हा, दूल्हा, कोल्हू आदि ।
संयुक्त व्यञ्जन 'ल्ह' — जल्हण, कल्हण आदि ।

(५) कुछ विद्वानो के अनुसार नागरी मे 'अ' स्वर के लिए कोई मात्रा निर्धारित नही रहने के कारण भी हिन्दी-लेखन की वैज्ञानिकता को कुछ आँच आती हैं। उदाहरणार्थ; डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार हिन्दी मे 'क' का मूल्य कही क्+अ है, जैसे 'कमल' मे तो कही केवल क्, जैसे 'किताब' मे। इस आधार पर उन्होंने यह लिखा है कि अन्य स्वरो की तरह यदि 'अ' के लिए भी कोई स्वतन्त्र मात्रा होती तो अच्छा होता।

इस विषय मे उपर्युक्त विचार रखने वाले विद्वानो से मेरी पूर्णत असहमति है। नागरी मे स्वरो का मात्रा-विधान सभी दृष्टियो से पूर्ण वैज्ञानिक है और इसमे 'अ' के लिए मात्रा के विधान का कोई प्रश्न ही नही उठता। यह बात नागरी के मात्रा-विधान और उसके अक्षरात्मक स्वरूप की वैज्ञानिकता सम्बन्धी निम्नलिखित बातो पर सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान देने से स्वत स्पष्ट हो जायगी।

यह सभी जानते हैं कि नागरी मे किसी व्यञ्जन को स्वर-रहित रूप मे उपस्थित करने के लिए उसके नीचे हल् चिह्न (्) का प्रयोग होता है। यह चिह्न उस स्थिति मे लुप्त हो जाता है, जब व्यञ्जन मे किसी स्वर की उपस्थिति दिखलाने के लिए उस वर्ण के साथ स्वर की मात्रा लगायी जाती है। नागरी के मात्रा-विधान की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमे किसी भी व्यञ्जन वर्ण के साथ एक से अधिक स्वर की मात्रा का एक साथ प्रयोग नही किया जा सकता और उसमे जिस स्वर की मात्रा का प्रयोग किया जाता है, उस स्वर की उपस्थिति व्यञ्जन के अन्त मे मानी जाती है। इन नियमो के आलोक मे अब हमे यह देखना है कि नागरी के आविष्कर्ताओ ने अन्य स्वरो की तरह 'अ' के लिए स्वतन्त्र मात्रा का निर्धारण क्यो नही किया ?

इस विषय पर सूक्ष्म व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्वत स्पष्ट हो जायगा कि नागरी के आविष्कारको ने जहाँ अन्य स्वरो के लिए प्रत्यक्ष मात्राओ यथा— ा, ि, ी, आदि का विधान किया, वहाँ 'अ' के लिए अप्रत्यक्ष मात्रा

निर्धारित की, जिसका रूप शून्य माना जा सकता है। व्यवहार मे इस (शून्य) अप्रत्यक्ष मात्रा पर भी वे ही सारे नियम घटित होते है, जो प्रत्यक्ष मात्राओ पर। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार किसी प्रत्यक्ष मात्रा के जुडने पर व्यञ्जन वर्ण के नीचे से हल् चिह्न का लोप हो जाता है, जैसे—का, कि, की आदि मे, उसी प्रकार 'अ' की शून्यमात्रा के जुडने पर भी, यथा—क, च, ट, त, प आदि मे। इस प्रकार यहाँ बिना कुछ चिह्न लगाये हल् चिह्न का लोप कर देने मात्र से ही व्यञ्जन मे 'अ' की उपस्थिति प्रकट करने का कार्य हो जाता है। इसके विपरीत यदि अन्य स्वरो की तरह 'अ' की भी कोई प्रत्यक्ष मात्रा होती तो अकारान्तता सूचित करने के लिए हल् चिह्न के लोप के अतिरिक्त अनावश्यक रूप से व्यञ्जन वर्ण के साथ उस मात्रा का प्रयोग भी अनिवार्य होता। यह अनावश्यक श्रम, अर्द्धमात्रा लाघव को पुत्रजन्म के समान आह्लादकर समझने वाले हमारे आचार्यों को भला कैसे स्वीकार्य होता ? यहाँ फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि उनलोगो ने शून्य मात्रा का विधान 'अ' के लिए ही क्यो किया ? इसका उत्तर है कि 'अ' आदि स्वर है, प्रथम स्वर है, इसीलिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नागरी मे 'अ' के लिए किसी प्रत्यक्ष मात्रा के स्थान पर शून्य मत्रा का विधान इसका दोष नही, अपितु इसकी पूर्ण वैज्ञानिकता का प्रमाण है। इस सम्बन्ध मे डॉ० सक्सेना का यह कथन कि 'क' का मूल्य कही क्+अ है, जैसे कमल के 'क्' मे और कही मात्र 'क' है, जैसे 'किताब' के 'कि' मे, उपयुक्त नही है। 'क' जहाँ कही भी मात्र 'क' के रूप मे हो, उसका मूल्य क+अ होगा, क्योकि शून्य मात्रा केवल 'अ' स्वर की है। किन्तु उसके साथ यदि कोई प्रत्यक्ष मात्रा होगी तो वहाँ 'क' के साथ केवल उस मात्रा से सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति मानी जायगी, किसी अन्य स्वर की नही, यथा—कि=क्+इ, कु=क्+उ, को=क्+ओ आदि। इसके विपरीत प्रत्यक्ष मात्रायुक्त व्यञ्जनाक्षरो मे, मात्रा के प्रयोग से एक स्वर की उपस्थिति का, और हल् चिह्न के लोप से दूसरे (अ) स्वर की उपस्थिति का, इस प्रकार एक ही व्यञ्जन मे एक साथ दो स्वरो की उपस्थिति के भ्रम होने का कोई यौक्तिक आधार नही है।

सक्षेप मे, इस सम्बन्ध मे नियम ये हैं कि (क) जब किसी व्यञ्जन वर्ण के साथ किसी प्रत्यक्ष मात्रा का प्रयोग होता है, तो वहाँ उस व्यञ्जन के साथ केवल उस मात्रा से सम्बद्ध स्वर की उपस्थिति मानी जाती है, (ख) जब व्यञ्जन मे किसी प्रत्यक्ष मात्रा का प्रयोग न हो और न हल् चिह्न का ही प्रयोग हो, तो वहाँ उस व्यञ्जन मे 'अ' स्वर की उपस्थिति होती है और (ग) जब व्यञ्जन वर्ण मे किसी प्रत्यक्ष मात्रा का प्रयोग न हो, पर हल् चिह्न का प्रयोग हो, तो वहाँ केवल उस

व्यञ्जन की ही उपस्थिति होती है। इस प्रकार नागरी में स्वरों का मात्रा-विधान इतना स्पष्ट और पूर्ण है कि उसमे 'अ' के लिए अलग से किसी प्रत्यक्ष मात्रा के निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) उच्चारण-भिन्नता से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

वर्तनी सिद्धान्तत उच्चारण का अनुगमन करती है। इस कारण, उन शब्दों की वर्तनी मे अनेकरूपता की सम्भावना प्राय कम होती है, जिनके उच्चारण स्थिर होते हैं, अर्थात् जिनके उच्चारण मे अनेकरूपता नही होती। इसके विपरीत, जिन शब्दो के उच्चारण मे अनेकरूपता होती है, उनकी वर्तनी मे अनेकरूपता आ जाना एक स्वाभाविक बात है।

हिन्दी का प्रयोग चूँकि एक ऐसे विस्तृत क्षेत्र के व्यापक जनसमुदाय के बीच होता है, जिसके अन्तर्गत हिन्दी-भाषी से लेकर अहिन्दी भाषी तक तथा शिक्षित से लेकर अशिक्षित तक, सभी प्रकार के लोग सम्मिलित हैं, इसलिए स्थान-भेद, व्यक्ति-भेद तथा अनेकों अन्यान्य कारणो से इसके अनेकानेक शब्दो के उच्चारण में द्विरूपता या बहुरूपता श्रुतिगोचर होती है। इसका प्रभाव स्वाभावत हिन्दी-लेखन पर भी पडा है, जिसके फलस्वरूप आज हिन्दी-लेखन मे सैंकडो शब्दो की वर्तनी मे अनेकरूपता दिखाई देती है, उदाहरणार्थ अमेरिका—अमरिका—अमरीका, रूस—रसा—रसिया, चीन—चाइना, सोवियत—सोवियट—सोभियट, स्तालिन—स्टालिन, इलाहाबाद—एलाहाबाद—अलाहाबाद, कलकत्ता—कैलकटा, केरल—केरला—केराला, तिरुवाङ्कूर—ट्रावनकोर—त्रावनकोर, टाटा—ताता, पहला—पहिला, उँगली—अँगुली, पचपन—पच्चावन, छह—छौ—छै, पचहत्तर—पिचहत्तर—पच्तर—पिछत्तर, चपरासी—चपडासी, घबडाना—घबराना, दीवाल—दीवार, पीपल—पीपर आदि। सामान्य बोलचाल मे तो शब्दो के उच्चारण की यह भिन्नरूपता किसी तरह खप जाती है, किन्तु लेखन मे इस प्रकार की अनेकरूपता को प्रश्रय देना—खासकर जहाँ भाषा का प्रयोग साहित्यिक या शास्त्रीय विवेचन के माध्यम के रूप मे हो, श्रेयष्कर नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वर्तनी की अनेकरूपता न केवल विवेचन की स्पष्टता के लिए बाधक होती है, अपितु वह अनेक प्रकार के भ्रमों एवं अर्थभेदो का भी कारण बन जाया करती है। इसके विपरीत, अगर किसी भाषा के शब्दो की वर्तनी का रूप एक बार स्थिर हो जाता है तो उसका बहुत कुछ प्रभाव उच्चारण पर भी पडता है, जिससे धीरे-धीरे उस भाषा के बहुत सारे शब्दों के उच्चारण की भिन्नरूपता समाप्त हो जाती है। इसीलिए किसी भी व्यापक भाषा की वर्तनी उसके लिए सबसे अधिक महत्व की चीज मानी जाती है।

यहाँ प्रश्न यह है कि उच्चारण-भिन्नता के कारण आज हिन्दी मे जिन शब्दो की वर्तनी मे अनेकरूपता आ गयी है, उनके लिए मानक वर्तनी के निर्धारण का वैज्ञानिक एव व्यावहारिक आधार क्या हो सकता है ? इसका एकमात्र सही उत्तर होगा—शिष्ट उच्चारण अर्थात् किसी शब्द का वह उच्चारण, जो हिन्दी की प्रकृति एव प्रवृत्ति का समुचित ज्ञान रखने वाले अधिकाश विद्वानो को मान्य हो। उदाहरणार्थ, ऊपर जो कुछ थोडे से भिन्नरूप-वर्तनी वाले शब्द उपस्थित किये गये है; उनके विविध रूपो मे क्रमश अमेरिका, रूस, चीन, सोवियत, स्टालिन, इलाहाबाद, कलकत्ता, केरल, ट्रावनकोर, टाटा, पहला, उँगली, पच्चावन, छह, पचहत्तर, चपरासी, घबडाना, दीवाल तथा पीपल आदि की वर्तनी हिन्दी के अधिकाश विद्वानो के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण मानक रूप मे स्वीकार कर लेने के योग्य है। किन्तु, ऐसे भिन्नरूप-वर्तनी वाले शब्दो का सम्यक् प्रतिमानीकरण अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित हिन्दी विद्वानो के किसी महासम्मेलन के द्वारा ही सम्भव है, जो कोई बड़ी साहित्यिक सस्था, प्रकाशन सस्था या सरकार ही करा सकती है।

हिन्दी मे शब्दो की उच्चारण-भिन्नता के कारण वर्तनी-भिन्नता की समस्या बहुत से संस्कृत एव विदेशी तत्सम एव तद्भव शब्दो के कारण भी है, जिनका विवेचन आगे सस्कृत एव विदेशी शब्दो के प्रसङ्ग मे किया जायगा।

(३) सस्कृत शब्दों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

हिन्दी मे संस्कृत के शब्द मुख्यतः तीन रूपो मे प्रयुक्त होते हैं, तत्सम रूप मे, जैसे—महत्त्व, उज्ज्वल, प्राण आदि; अर्द्ध तत्सम रूप मे, जैसे—जमुना, जसोदा, प्रान, कारन, विकास, दस आदि तथा तद्भव रूप मे, जैसे—आँख, हाथ, घी, दही, हाथी आदि। इनमे जहाँ तक तद्भव रूप वाले शब्दो का प्रश्न है, वे मूलत हिन्दी के अपने शब्द है और लेखन मे उनकी वर्तनी प्राय: स्थिर हो चुकी है। इसलिए उनकी वर्तनी के सम्बन्ध मे अनेकरूपता की कोई जटिल समस्या प्राय. नही पायी जाती। किन्तु तत्सम एव अर्द्ध तत्सम शब्दो की वर्तनी के सम्बन्ध मे हिन्दी-लेखन मे अनेक प्रकार की समस्याएँ पायी जाती है, जिनका समुचित रूप से निराकरण नितान्त आवश्यक है।

(क) तत्सम शब्दो के सम्बन्ध मे एक समस्या उनके हिन्दी उच्चारण और वर्तनी की भिन्नता के कारण है। आज हिन्दी मे बहुत सारे तत्सम शब्दो का उच्चारण ठीक उसी रूप मे नही होता, जिस रूप मे वे लिखे जाते है या यो कहे कि उनकी जैसी परम्परागत संस्कृत-वर्तनी है, हिन्दी मे आज उनका वैसा उच्चारण

नही रह गया है। उदाहरणार्थ, हिन्दी मे सस्कृत के ऋतु, ऋषि, विष, कृपया, रक्षा, ज्ञान, महत्त्व, तत्त्व, उज्ज्वल, चिह्न, ब्राह्मण, दु ख, निःसङ्कोच आदि का उच्चारण वर्त्तमान समय मे अधिकाश लोगो के द्वारा क्रमश. रितु, रिशि, विश, क्रिपया, रच्छा, ग्याँन, महत्व, तत्व, उज्वल, चिन्ह, ब्राम्हण, दुख, निसङ्कोच आदि के रूप मे श्रुतिगोचर होता है। इसी आधार पर कुछ विद्वानो का यह प्रस्ताव है कि हिन्दी-लेखन मे उक्त कोटि के शब्दो की वर्तनी उनके तत्सम रूप की वर्तनी के समान न होकर हिन्दी उच्चारण के अनुरूप ही होनी चाहिए, जबकि अनेक अन्य विद्वान उन्हे तत्सम रूप मे ही लिखा जाना श्रेयष्कर मानते हैं।

इस विषय पर सूक्ष्मता पूर्वक ध्यान देने से पता चलेगा कि सस्कृत के ऐसे तत्सम शब्द, जिनकी वर्तनी से आज उनका हिन्दी-उच्चारण भिन्न हो गया है, मुख्यत तीन प्रकार के हैं—(१) वे शब्द, जिनसे सम्बद्ध कतिपय ध्वनियाँ हिन्दी मे लुप्त हो चुकी हैं और आज जिनका शुद्ध उच्चारण भी प्रायः विस्मृत हो चुका है। उदाहरणार्थ हम ऋषि, ज्ञान तथा रक्षा शब्द को लें। हिन्दी के अपने (तद्भव) शब्दो मे इन शब्दो के ऋ, ष्, क्ष् तथा ज्ञ् वर्ण से सम्बद्ध ध्वनियाँ नही मिलती। इसके अतिरिक्त इनके तद्रूप उच्चारण करनेवाले भी प्राय विरले ही मिलते हैं। अधिकांश लोग इनका उच्चारण क्रमश. रि, श्, च्छ् या क्श् तथा ग्यँ के रूप में करते हैं। ऐसी स्थिति मे उच्चारणानुरूप वर्तनी के सिद्धान्त के समर्थक यदि इनके तत्सम रूप मे लिखे जाने का विरोध करते हैं तो वह उचित ही है, किन्तु इसके सम्बन्ध मे अन्तिम निष्कर्ष देने के पूर्व कुछेक बातें और सोच लेने की हैं। एक तो यह कि हिन्दी मे अनेकत्र सस्कृत से उद्धरण दिये जाते हैं, जहाँ उक्त ध्वनियो से युक्त शब्दो की वर्तनी बदली नही जा सकती। दूसरी बात यह कि खडी हिन्दी के अब तक के परिनिष्ठित साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान के शास्त्रीय विवेचन मे उनका प्रयोग तत्सम रूप मे ही होता आया है। तीसरी बात यह कि परिनिष्ठित हिन्दी में तत्समता की ओर झुकाव की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति सी है और चौथी बात यह कि हिन्दी के अधिकाश विद्वान हिन्दी मे उपर्युक्त तत्सम शब्दो को तत्सम रूप में ही लिखे जाने के पक्षधर हैं। ऐसी स्थिति मे उक्त कोटि के शब्दो की तत्सम वर्तनी को मानक न मानकर उनके उच्चारणानुरूप वर्तनी को मानक रूप मे स्वीकार करना न तो व्यावहारिक होगा और न समीचीन ही। तब इतना अवश्य है कि जिन लोगों की भाषा-शैली तद्भवता एव आञ्चलिकता की ओर उन्मुख होगी, वे अपने लेखन मे उक्त कोटि के शब्दो को उच्चारणानुरूप वर्तनी मे ही ढालना पसन्द करेंगे और उन्हे वैसा करना भी चाहिए। क्योकि, तत्सम से तद्भव के विकास की यही

प्रक्रिया है और इसीलिए कवि एव लेखको को समाज ने 'पोयटिक लाइसेंस' भी दे रक्खा है। किन्तु जहाँ तक उक्त प्रकार के शब्दो की वर्तनी के प्रतिमानीकरण का प्रश्न है, अभी उनकी परम्परागत तद्रूप वर्तनी को ही मानक रूप मे स्वीकार करना पडेगा।

(२) उच्चारण और वर्तनी की भिन्नता वाले दूसरे प्रकार के सस्कृत तत्सम शब्द वे है, जिनमे व्यञ्जनद्वित्व पाया जाता है; जैसे—महत्त्व, तत्त्व, उज्ज्वल, कर्त्तव्य, कर्त्ता आदि। ऐसे शब्दो का उच्चारण हिन्दी के अधिकांश अधिकारी विद्वान अभी भी प्राय: तत्सम रूप मे ही करते है तथा लिखते भी तद्रूप ही है। किन्तु सामान्य शिक्षित जन तथा कुछेक शिष्ट विद्वान भी उक्त शब्दो का उच्चारण प्राय: महत्व, तत्व, उज्वल, कर्तव्य, कर्ता आदि के रूप मे करते है और इसीलिए, वे इन्हे लिखना भी प्राय: इसी रूप मे पसन्द करते हैं। इस सम्बन्ध मे हिन्दी की प्रवृत्ति पर ध्यान देने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जनजीवन मे हिन्दी की सामान्य प्रवृत्ति व्यञ्जनद्वित्व मे से एक के लोप की ओर है, जबकि परिनिष्ठित भाषण एवं लेखन मे इसकी प्रवृत्ति तत्समता के ही संरक्षण की ओर है। ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त शब्दो की वर्तनी के प्रतिमानीकरण मे जहाँ शिष्ट उच्चारण की दृष्टि से तत्सम रूपो को ही मानक रूप मे स्वीकार करना उचित है, वही भाषा की सामान्य प्रवृत्ति की दृष्टि से व्यञ्जनद्वित्व मे से एक के लोप वाले रूपो को भी शब्दान्तर के रूप में अर्द्ध तत्सम कहकर मान्यता देना आवश्यक है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है कि हिन्दी मे सस्कृत-स्रोत के तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव—तीनो प्रकार के शब्द प्रारम्भ से ही प्रचलित रहे है और तीनो को समान रूप से लेखको एव विद्वानो की मान्यता भी प्राप्त रही है। जहाँ तक उक्त तीनो प्रकार के शब्दो के प्रयोग का प्रश्न है, वह कुछ तो लेखक एव विद्वानो की रुचि एव शैली पर निर्भर करता है कि वे कहाँ किस प्रकार के शब्द का प्रयोग करे और कुछ विषय तथा सन्दर्भ पर भी निर्भर करता है। उदाहरणार्थ . कोई भी लेखक जिस प्रकार 'चन्द्रलोक' या 'चन्द्र-ग्रहण' को 'चाँदलोक' या 'चाँदग्रहण' कहना पसन्द नही करेगा, उसी प्रकार वह 'चन्दा मामा' या 'चाँद की चाँदनी' को 'चन्द्र मामा' या 'चन्द्र की चाँदनी' कहना या लिखना उचित नही समझेगा। किन्तु, अन्यत्र जहाँ ऐसी विषयगत या सन्दर्भगत बाध्यता नही होती, वहाँ लेखक या विद्वान को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी रुचि एव शैली के अनुसार चन्द्र एवं 'चाँद' मे से किसी का भी प्रयोग करे। इसी तरह यदि हम एकबार महत्व, तत्व, उज्वल आदि को क्रमश: महत्त्व, तत्त्व, उज्ज्वल, आदि से विकसित अर्द्धतत्सम रूप स्वीकार कर लेते हैं तो फिर यह लेखक एवं विद्वानो की रुचि, शैली, विषय एव सन्दर्भ आदि पर निर्भर करेगा कि

उक्त तत्सम एव अर्द्धतत्सम रूपो मे से कहाँ किसका प्रयोग हो। उस स्थिति मे यदि कोई लेखक 'महत्त्व' नही लिखकर 'महत्व' ही लिखेगा तो वहाँ वर्तनी की भिन्नता नहीं मानी जायगी, अपितु शब्दान्तर माना जायगा अर्थात् उस प्रयोग को 'अर्द्धतत्सम' प्रयोग कहा जायगा तथा उसकी व्युत्पत्ति समझाते समय यह स्पष्ट किया जायगा कि 'महत्व' अर्द्धतत्सम शब्द है, जिसका तत्सम रूप 'महत्त्व' है, जो 'महत्' के साथ 'त्व' प्रत्यय के योग मे बना है।

सक्षेप मे निष्कर्ष यह कि द्वित्व व्यञ्जन वाले ऐसे जितने भी तत्सम शब्द हैं, जिनके द्वित्व मे से एक के लोप वाले अर्द्धतत्सम रूप हिन्दी मे प्रचलित हो गये है, उनके तत्सम एव अर्द्धतत्सम दोनो रूपो की वर्तनी को हिन्दी-लेखन मे मानक रूप मे स्वीकृति मिलनी चाहिए, यथा, तत्सम—महत्त्व, तत्त्व, उज्ज्वल, कर्त्तव्य आदि और अर्द्धतत्सम—महत्व, तत्व, उज्वल, कर्तव्य आदि। यहाँ फिर यह कहने की आवश्यकता नही कि उक्त दोनो प्रकार के रूपो की वर्तनी की भिन्नता वस्तुत: शब्दान्तर के कारण है न कि वर्तनी की अनेकरूपता के कारण।

(३) हिन्दी में वर्तनी की भिन्नता वाले तीसरे प्रकार के संस्कृत शब्द वे हैं, जो तत्सम रूप मे हलन्त होते है, जैसे—विद्वान्, महान्, भगवान्, पृथक्, किञ्चित्, परिषद्, विराट् आदि। इन शब्दों का उच्चारण हिन्दी मे भी प्राय: वैसा ही होता है, जैसा सस्कृत मे। किन्तु, हिन्दी-लेखन मे जहाँ सस्कृतनिष्ठ विद्वान इन्हे तद्रूप लिखना पसन्द करते है, वहाँ अन्यान्य विद्वान इन्हे अकारान्त रूप मे लिखना उचित समझते है, जैसे—विद्वान, महान, भगवान, पृथक, किञ्चित, परिषद, विराट आदि। तत्सम रूप में लिखने वालो का सीधा सा तर्क यह है कि चूँकि ये शब्द संस्कृत में हलन्त हैं, अत. हिन्दी लेखन मे भी इनका प्रयोग तद्रूप ही होना चाहिए। इसके विपरीत इन्हें अकारान्त रूप मे लिखने वालो का तर्क यह है कि जब उच्चारण की दृष्टि से इन्ही के वजन के धान, पान, मकान, अथक, सिञ्चित, हरिपद, ललाट आदि शब्द अकारान्त रूप मे लिखे जाते हैं तो फिर विद्वान, महान, भगवान, पृथक, किञ्चित, परिषद, विराट आदि को हलन्त रूप मे क्यो लिखा जाय ?

कुछ लोग इस सम्बन्ध मे एक व्यावहारिक कठिनाई यह भी बताते हैं कि यदि उक्त तत्सम शब्दो को हलन्त रूप मे लिखा जायगा तो उनके साथ परसर्ग या प्रत्यय जुडने पर जो रूप बनेंगे, वे हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं होगे और न वे जनग्राह्य ही हो सकेंगे, यथा—विद्वान्+ने=विद्वान्ने, विद्वान्+को=विद्वान्को, विद्वान्+मे=विद्वान्से, महान्+ता=महान्ता, पृथक्+ता—पृथक्ता आदि। दूसरी ओर, हलन्त रूप के प्रयोग का समर्थन करने वाले यह तर्क देते है कि हिन्दी मे

चूँकि अपने अकारान्त शब्दो का उच्चारण भी हलन्त रूप मे ही होता है, इसलिए उचित तो यह होता कि हिन्दी के अपने अकारान्त शब्दों को भी हलन्त रूप मे ही लिखा जाता। किन्तु, यदि यह सम्भव न हो, तो कम से कम सस्कृत के हलन्त शब्दो के तत्समत्व की रक्षा तो होनी ही चाहिए।

अब हम उपर्युक्त दोनो पक्षो के तर्कों पर तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि से एक-एक कर विचार करे। पहले हम हलन्त रूप के समर्थको के तर्कों को लें। इस पक्ष के लोगो का यह कहना कि चूँकि उपर्युक्त शब्द सस्कृत मे हलन्त हैं, इसलिए हिन्दी-लेखन मे भी उनका तत्सम प्रयोग ही होना चाहिए, समीचीन नही प्रतीत होता। कारण यह है कि हिन्दी मे सस्कृत के शब्द तत्सम,अर्द्धतत्सम तथा तद्भव—तीनो ही रूपो मे प्रचलित है और हिन्दी के लिए ऐसा कोई बन्धन नही कि वह उनमे से किसी एक रूप को ले और दूसरे रूप को नही ले। जैसा पहले बताया जा चुका है कि यह लेखक की रुचि, शैली, विषय, सन्दर्भ आदि पर निर्भर करता है कि वह तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव मे से कहाँ किस रूप का प्रयोग करे। सस्कृत हलन्त शब्दो के अकारान्त रूप हिन्दी मे अर्द्धतत्सम या तद्भव माने जा सकते है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी मे लेखको को इस बात की पूरी छूट देनी ही पडेगी कि वे अपनी रुचि एव शैली के अनुसार उक्त तत्सम एव अर्द्धतत्सम रूपो मे से जिसका भी चाहे प्रयोग करें।

हलन्त रूप के समर्थको का यह दूसरा तर्क भी निर्बल ही है कि हिन्दी में चूँकि अकारान्त शब्द हलन्त उच्चरित होते है, इसलिए उचित यह है कि उन्हे भी हलन्त रूप मे ही लिखा जाय और यदि वह सम्भव न हो तो कमसे कम संस्कृत के हलन्त शब्दो को हिन्दी मे अनिवार्य रूप से हलन्त रहने दिया जाय। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि हिन्दी के अकारान्त शब्द हलन्त रूप मे उच्चरित होते ही नही। हाँ, इतना अवश्य है कि उनके अन्त मे उच्चरित होनेवाला 'अ' अति ह्रस्व और निर्बल रहता है, पर वह रहता अवश्य है। ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से प्राय. यही स्थिति हिन्दी मे प्रयुक्त सस्कृत के हलन्त शब्दो की भी होती है, जहाँ उनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता है। ऐसी स्थिति मे सस्कृत के हलन्त शब्दो को भी हिन्दी के अकारान्त शब्दो की तरह यदि अकारान्त रूप मे ही लिखा जाय तो ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से इसे अनुचित नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से हलन्त शब्दो को अकारान्त रूप में लिखे जाने की सिफारिश करने वालो की यह युक्ति निश्चय ही ध्यान देने योग्य है कि मकान की तरह महान, अथक की तरह पृथक, सिञ्चित की तरह किञ्चित तथा ललाट या सपाट की तरह विराट आदि जैसे समान वजन वाले

शब्दो मे से एक अकारान्त रूप मे और दूसरे को हलन्त रूप मे लिखना भला ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से कैसे समीचीन माना जा सकता ? आशय यह कि हिन्दी मे संस्कृत के हलन्त शब्दो को अकारान्त रूप मे लिखने मे कोई भाषा शास्त्रीय बाधा नही है।

किन्तु, जो लोग हलन्त शब्दो को हिन्दी मे तद्रूप ही लिखते हैं, निश्चय ही इनपर वैसा न करने का कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता, क्योकि हिन्दी मे सस्कृत के तत्सम शब्दो के तद्वत् लेखन को मान्यता प्राप्त है। फिर, जहाँ तक उनके साथ प्रत्यय और परसर्गादि लगाने मे व्यावहारिक कठिनाई की बात है, वह निराधार है। हिन्दी मे परसर्ग सज्ञा से अलग लिखे जाते है, इसलिए 'विद्वान् ने' आदि रूपो को 'विद्वान्ने' आदि जैसे रूपो मे बदल जाने का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसी प्रकार 'महानता' 'पृथकता' आदि जैसे शब्दो के सम्बन्ध में यह स्वत स्पष्ट है कि ये शब्द अर्द्धतत्सम 'महान' एव 'पृथक' के साथ हिन्दी के अपने 'ता' प्रत्यय के योग से बने हैं, न कि तत्सम महान् एवं पृथक् के साथ 'ता' के योग से।

निष्कर्षत उपर्युक्त विवेचन का साराश यही है कि हिन्दी मे महान, विद्वान पृथक, विराट आदि को क्रमश. महान्, विद्वान्, पृथक्, विराट् आदि का अर्द्ध-तत्सम रूप माना जाना चाहिए और हिन्दी लेखन मे उक्त दोनो ही रूपो को शब्दान्तर के रूप मे मान्यता मिलनी चाहिए। उस स्थिति मे उक्त रूप मे वर्तनी की भिन्नता को वर्तनी की अनेकरूपता न कहकर, शब्दान्तर अर्थात् तत्सम-अर्द्धतत्सम की भिन्नता कहा जायगा जैसे, कारण—कारन, यशोदा—जसोदा, विकाश—विकास, दश-दस, आदि के सम्बन्ध मे कहा जाता है।

(४) विदेशी शब्दों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ —

हिन्दी मे सस्कृत के अतिरिक्त अरबी, फारसी, अँगरेजी, पोर्तुगीज, आदि कतिपय विदेशी भाषाओ के शब्द भी अपने तत्सम तथा तद्भव रूप मे प्रयुक्त होते हैं। जहाँ तक विदेशी तद्भव शब्दो का प्रश्न है, उनकी वर्तनी हिन्दी की ध्वनि-प्रक्रिया के अनुरूप हो जाने के कारण प्राय. स्थिर हो गयी है, जैसे—लालटेन, कोतवाल, ताकिया, पैटमैन, लाटसाहब, कचहरी, जिला आदि। इसी प्रकार विदेशी तत्सम शब्दो मे भी, जिनकी सभी ध्वनियाँ हिन्दी मे उपलब्ध हैं, उनकी वर्तनी में अनेकरूपता प्राय नही पायी जाती, जैसे—स्कूल, बस, क्लास,रूम, कोट, टेबुल, पाउडर, स्नो, रेल, ट्रेन आदि। किन्तु हिन्दी में सैकडो विदेशी तत्सम शब्द ऐसे भी प्रचलित हैं, जिनकी कुछ ध्वनियाँ हिन्दी मे नहीं पायी जाती और न जिनके

लिए नागरी मे पहले से स्वतन्त्र वर्ण ही है। हिन्दी मे इसी प्रकार के विदेशी शब्दों की वर्तनी मे प्राय: अनेकरूपता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि कुछ लोग, जो उन शब्दो का उच्चारण तत्सम रूप मे करते है, उन्हे तद्रूप लिखने के लिए कतिपय वर्णों के साथ बिन्दी (नुक्ता), अर्द्धचन्द्र आदि विशेष चिन्हो का प्रयोग करते है और जो लोग उनका उच्चारण तत्सम से भिन्न रूप में हिन्दी की अपनी ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप करते हैं, वे उन्हे लिखना भी अपने उच्चारणानुरूप ही पसन्द करते है। इस प्रकार एक ही शब्द की वर्तनी के दो, और कभी-कभी दो से भी अधिक रूप हो जाते हैं; जैसे, कॉलेज—कौलेज—कालेज, डॉक्टर—डौक्टर—डाक्टर, ताकत—ताकत, अख़बार—अखबार, ग़रीब—गरीब, ज़ालिम—जालिम, फ़ारसी—फारसी आदि।

उपर्युक्त कोटि के विदेशी शब्दो की वर्तनी मे एकरूपता लाने के लिए कुछ विद्वानो का सुझाव यह है कि उन्हे तत्सम रूप मे ही लिखा जाय और उस रूप मे लिखने के लिए उन शब्दो की जिन ध्वनियो के लिए नागरी मे स्वतन्त्र वर्ण नहीं हैं, उनकी समकक्ष ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णों के साथ विशेष चिह्नो, यथा व्यञ्जन के नीचे बिन्दी (नुक्ता) और स्वर के ऊपर अर्द्धचन्द्र का प्रयोग किया जाय, जैसे—ऑडर, कॉलर, डॉक्टर, ताक़त, अख़बार, ग़रीब, गजट, नफ़ीस आदि।

इसके विपरीत कतिपय अन्य विद्वानो का सुझाव यह है कि विदेशी शब्दो को उनके तत्सम रूप मे लिखने का झमेला मोल न लिया जाय अर्थात् उन्हे तद्रूप लिखने के लिए जिन विदेशी-ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण नही हैं, उनकी समकक्ष ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णों के साथ विशेष चिह्नो—नुक्ता, अर्द्धचन्द्र आदि का प्रयोग न किया जाय, अपितु उन्हे हिन्दी के सामान्य उच्चारण के अनुरूप ही लिखा जाय, जैसे—कालेज, डाक्टर, ताकत, अखबार, गरीब, गजट, नफीस आदि।

इस सम्बन्ध मे सोचने की बात यह है कि यदि हिन्दी के कुछ विद्वान विदेशी शब्दो का उच्चारण शुद्ध तत्सम रूप मे करते है और उन्हे हिन्दी मे तद्वत ही लिखना भी पसन्द करते है तो निश्चय ही वे कोई अपराध नही करते कि उनको वैसा करने से रोका जाय। बल्कि हिन्दी मे तो कतिपय विदेशी शब्द ऐसे स्वल्पान्तर युग्म वाले भी है, जिन्हे यदि शुद्ध तत्सम रूप मे न बोला-लिखा जाय तो अर्थभेद और कहीं-कही तो अर्थ का अनर्थ भी हो जा सकता है। यहाँ नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जा रहे है :—

ऑ—आ :	कॉल=पुकार	—	काल=समय
	बॉल=गेंद	—	बाल=केश

	हॉल – बडा कमरा	—	हाल = समाचार
क़–क :	क़तरा = बूँद	—	कतरा = फाँक
	क़दम = चरण	—	कदम = कदम्ब
	क़रार = चैन, धीरज	—	करार = कगार
	क़ालीन = गलीचा	—	कालीन = काल संबंधी
	क़ौल = प्रतिज्ञा	—	कौल = शाक्त, वाममार्गी
ख़–ख	ख़र = गदहा	—	खर = तृण
	ख़सरा = हिसाब का कच्चा चिट्ठा	—	खसरा = एक तरह की खुजली
	ख़ान = सरदार	—	खान = खजाना
	ख़ाना = स्थान, घर	—	खाना = भोजन
ग़-ग	ग़रज़ = प्रयोजन	—	गरज = ऊँची आवाज
	ग़ुल = शोर	—	गुल = फूल
	ग़ोल = झुण्ड	—	गोल = वृत्ताकार
	ग़ौर = ध्यान	—	गौर = शुभ्र, गोरा
ज़–ज	ज़रा = थोडा	—	जरा = वृद्धावस्था
	ज़लील = नीच	—	जलील = श्रेष्ठ
	सज़ा = दण्ड	—	सजा = सुसज्जित
फ़–फ	फ़न = हुनर	—	फन = सर्प का फैला सिर
	फ़लक = आकाश	—	फलक = तीर की गाँसी आदि
	दफ़ा = दूर करना	—	दफा = वार, कानून की धारा

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि अर्थभ्रम से बचने के लिए हिन्दी मे अनेक विदेशी शब्दो का शुद्ध तत्सम रूप मे प्रयोग आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे जिन विदेशी ध्वनियो के लिए नागरी मे वर्ण नही है, उनके लेखन के लिए यदि उनकी समकक्ष ध्वनियो के लिए निर्धारित वर्णो के साथ विशेष चिह्नो—यथा नुक्ता, अर्द्ध-चन्द्र आदि का प्रयोग किया जाता है, तो उसे अनुचित या अनावश्यक नही कहा जा सकता।

किन्तु, दूसरी ओर यह भी सत्य है कि हिन्दी मे अधिकाश लोग उक्त कोटि के विदेशी शब्दो का उच्चारण तत्सम रूप मे न करके हिन्दी की अपनी ध्वनि-

प्रणाली के ही अनुरूप करते हैं; यथा कॉल को कौल या काल, जरूर को जरूर, अखवार को अखवार, गरीब को गरीव, फारसी को फारसी आदि, और उन्हे अपने ही उच्चारणानुरूप लिखना भी पसन्द करते हैं। यहाँ भी, न तो यह सम्भव है और न उचित ही होगा कि ऐसे सभी लोगो को विदेशी शव्दो को शुद्ध तत्सम रूप मे ही वोलने और लिखने को वाध्य किया जाय।

तव प्रश्न यह उठता है कि यदि हिन्दी मे विदेशी शव्दो को शुद्ध तत्सम रूप मे वोलना और लिखना भी उचित है और उन्हे हिन्दी की अपनी ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप वोलना और अपने ही उच्चारणानुरूप लिखना भी उचित है, तो फिर दोनो का भाषा शास्त्रीय औचित्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है और दोनो की वर्तनी की भिन्नता का समर्थन कैसे और किस आधार पर किया जा सकता है ?

हमारी समझ से इसका एक मात्र व्यावहारिक समाधान यही सम्भव है कि हम हिन्दी मे सस्कृत शव्दो की तरह विदेशी शव्दो के भी तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव तीन वर्ग मान लें और जिस प्रकार हिन्दी लेखको को सस्कृत के उक्त तीनो ही प्रकार के शव्दो के प्रयोग की स्वतन्त्रता है, उसी प्रकार उक्त तीनो प्रकार के विदेशी शव्दो के प्रयोग को भी मान्यता दे दे; फिर यह लेखक की रुचि, शैली, विपय, सन्दर्भ, अभिज्ञता आदि पर निर्भर होगा कि वह विदेशी तत्सम, अर्द्धतत्सम एव तद्भव शव्दो मे से कहाँ किसका प्रयोग करे। विदेशी अर्द्धतत्सम से हमारा तात्पर्य हिन्दी मे प्रयुक्त उन विदेशी शव्दो से है, जिनके रूप मे तत्सम से नाम मात्र का अन्तर पाया जाता है, यथा अखवार से अखवार मे, ग़रीव से गरीव मे, ज़रूर से जरूर आदि मे। फिर विदेशी तद्भव से हमारा तात्पर्य उन विदेशी शव्दो से है, जिनके रूप मे तत्सम से पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, जैसे लैण्टर्न से लालटेन, प्वायण्ट्समैन से पैंटमैन, लाइवरी वैटन से लिवरी वर्तन, फेहरिश्त से फिरीस्त, जियादह से ज्यादा, दारोगह से दरोगा आदि मे।

हमारी समझ से हिन्दी मे यदि विदेशी शव्दो के सम्बन्ध मे उपर्युक्त व्यवस्था को मान्यता दे दी जाय तो उनकी वर्तनी की भिन्नता को वर्तनी की अनेकरूपता नही, अपितु शव्दान्तर अर्थात् तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव का अन्तर कहा जायगा और इस प्रकार वर्तनी के एतद्विषयक विवाद का अन्त हो जायगा। यह व्यवस्था हिन्दी के विकास की प्रक्रिया को स्वाभाविक गति के संरक्षण एवं पोषण की दृष्टि से भी आवश्यक है।

(ख) हिन्दी मे कतिपय विदेशी शव्द ऐसे भी पाये जाते हैं, जिनके मध्य मे **आने वाले 'र' तथा 'ल'** की अकारान्तता सन्दिग्ध सी लगती है, जैसे सरद—सर्द,

गरम—गर्म, शरम—शर्म, वरफ़—वर्फ़, हलका—हल्का, उलटा—उल्टा आदि। 'प्रकाशक-सङ्घ' तथा 'परिषद्' ने ऐसे शब्दो को पूरे अक्षर से लिखे जाने की सिफारिश की है जैसे—शरम, वरफ, गरदन, वरतन, फुरसत हलका आदि। हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल होने के कारण यह प्रस्ताव मान लेने योग्य अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु व्यवहार मे निरपवाद नियम के रूप मे इसका सर्वत्र पालन सम्भव नही है। इसका एक कारण तो यह है कि उपर्युक्त श्रुतिसम शब्दो मे से अनेक का प्रयोग अब हिन्दी मे प्राय. भिन्नार्थक शब्दो के रूप मे भी होने लगा है, जैसे—'सरद' का प्रयोग संज्ञा के रूप मे 'शरद् ऋतु' के अर्थ मे तथा 'सर्द' का विशेषण के रूप मे 'ठढा' के अर्थ मे, 'हल्का' का विशेषण के रूप मे 'कम भारी' के अर्थ मे और 'हलका' का हलका अर्थात् महल्ले के अर्थ मे, 'उलटा' का भूतकालिक क्रिया के रूप मे और 'उल्टा' का विशेषण के रूप मे, आदि। दूसरे, कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके प्रयोग रूढ से हो गये हैं; जैसे 'उसका शरीर भय से सर्द पड गया' मे 'सर्द' के स्थान पर 'सरद' प्रयोग नही चल सकता। तीसरे, कुछ शब्दो मे उक्त प्रकार के रूपान्तर से उनके शब्दान्तर का बोध होता है, जैसे—शर्म तत्सम और 'शरम' तद्भव, फलत. 'शर्म' का प्रयोग अधिक शिष्ट जैसा और 'शरम' का प्रयोग कम शिष्ट जैसा लगता है; उदाहरणार्थ—'उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया' के स्थान पर 'उसका चेहरा शरम से लाल हो गया' कहना या लिखना कम शिष्ट प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दृष्टियो से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध मे 'प्रकाशक सङ्घ' तथा परिषद्' का यह सुझाव कि 'उक्त प्रकार के विदेशी शब्दो को पूरे अक्षर से ही लिखना चाहिए', हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के अनुकूल होकर भी पूर्णत व्यवहारिक नही है। इसलिए, हमारी समझ से उपर्युक्त प्रकार के विदेशी शब्दो के रूप-भेद को भी शब्दान्तर मानकर उनके प्रयोगो को लेखको की रुचि, शैली, विषय एव सन्दर्भ आदि पर ही रहने देना अधिक उपयुक्त होगा।

(५) परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

(क) परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की एक समस्या नागरी के ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, स्वर वर्णो को लेकर है। इनसे सम्बद्ध ध्वनियो का हिन्दी मे लोप हो चुका है और ये सब क्रमश. रि, री लि, ली के रूप मे उच्चरित होते हैं। इनमे अन्तिम तीन से युक्त शब्दो का प्रयोग हिन्दी मे प्राय नहीं होता, किन्तु ऋ से युक्त शब्द पर्याप्त सख्या मे मिलते हैं, यथा—ऋतु, ऋषि, कृपा, कृष्ण आदि। ये शब्द हिन्दी में क्रमश. रितु, रिशि, क्रिपा, क्रिश्न आदि के रूप मे बोले जाते हैं।

इसी आधार पर कुछ लोगों का यह कहना है कि जब वर्तना का कार्य उच्चारण का अनुगमन करना है, तो फिर उपर्युक्त शब्दो को भी आधुनिक उच्चारण के अनुरूप ही लिखा जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे यहाँ सर्वप्रथम यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि सिद्धान्ततः वर्तनी का कार्य शिष्ट उच्चारण का ही अनुगमन करना है; किन्तु व्यवहार मे कही-कही अनेक कारणो से परम्परा का अनुसरण भी अनिवार्य हो जाया करता है। इसके सैकडों उदाहरण अँगरेजी भाषा मे भरे पड़े हैं। हिन्दी मे ऋ वर्ण से युक्त शब्दो की वर्तनी को परम्परागत रूप मे बनाये रखना इसलिए आवश्यक है कि वे सारे शब्द सस्कृत-स्रोत के है, जो हिन्दी का मूलस्रोत है। आज यदि उक्त शब्दो की वर्तनी को आधुनिक उच्चारणानुरूप ढांचे मे ढाल दिया जाय तो हिन्दी के लिए ॠ की ध्वनि की तरह ही यह वर्ण भी विस्मृत होकर अपरिचित हो जायगा, और तब हिन्दी विद्वानो के लिए प्राचीन वाङ्मय मे प्रयुक्त इस वर्ण से सम्बद्ध सारे के सारे शब्द भी अपरिचित हो जायँगे। इसीलिए उपर्युक्त शब्दो की वर्तनी को आधुनिक उच्चारणानुरूप न बनाकर परम्परागत रूप मे ही रहने देना आवश्यक है।

(ख) परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की दूसरी समस्या हिन्दी के नवविकसित मूल स्वर ह्रस्व ए—ओ तथा दीर्घ ऐ—औ एव सयुक्त स्वर ऐ—औ की लेकर है। इन सबका विस्तृत विवेचन 'नागरी-वर्णमाला से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ' के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है तथा सबके लिए समाधान भी उपस्थित किये जा चुके हैं। अत यहाँ उसकी आवृत्ति अनावश्यक है।

(ग) परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की तीसरी समस्या मिश्र व्यञ्जन क्ष् और ज्ञ् को लेकर है। इनका उच्चारण अधिकाश लोग आजकल क्रमशः क्छ् या क्श् तथा ग्यँ, ग्य या ज्यँ के रूप मे करते है और इसी आधार पर कुछ लोग इनकी वर्तनी को आधुनिक उच्चारणानुरूप ढाँचे मे ढालने की भी बात करते है। किन्तु, एक तो इन वर्णों से युक्त शब्द सस्कृतस्रोत से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन वाङ्मय मे भरे पड़े है, जिन्हें विस्मृत करना हितकर नही हो सकता, दूसरे, उक्त वर्णों के आधुनिक उच्चारण मे एकरूपता भी नही है, और तीसरे, अनेक अधिकारी विद्वान उक्त वर्णों का उच्चारण शुद्ध मिश्र व्यञ्जन के रूप मे भी करते है। ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त वर्णो से युक्त शब्दो की वर्तनी को आधुनिक उच्चारणानुरूप बनाने की अपेक्षा परम्परागत रूप मे ही बनाये रखना श्रेयष्कर है।

(घ) परम्परागत लेखन से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की चौथी समस्या नवविकसित मूल महाप्राण व्यञ्जन न्.ह्, म्.ह और ल्.ह को लेकर है, जिनका उच्चारण

तो मूल व्यञ्जन की तरह होता है, किन्तु जो लिखे जाते है सयुक्त व्यञ्जन की तरह। इनका विस्तृत विवेचन 'नागरी-वर्णमाला से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ' शीर्षक के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है तथा वहाँ इनके लिए समाधान भी उपस्थित किये जा चुके है। अत यहाँ उनकी आवृत्ति करना आवश्यक नही है।

(९) व्याकरण से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याए :—

हिन्दी-लेखन मे कतिपय शब्दो की वर्तनी की अनेकरूपता के मूल मे प्राय. लेखको का व्याकरण सम्बन्धी अपर्याप्त ज्ञान भी हुआ करता है, जिसका निराकरण व्याकरण के सम्यक् ज्ञान तथा भाषा की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा ही सम्भव है। व्याकरण के अपर्याप्त ज्ञान के परिणामस्वरूप पायी जानेवाली वर्तनी की कतिपय भूलो एव अनेकरूपताओ के कुछ उदाहरण निम्नलिखित है :—

अशुद्ध		शुद्ध
राम को लडका हुआ है	—	राम के लडका हुआ है
गीता की लडकी हुई है	—	गीता के लडकी हुई है
राम की वगल मे श्याम था	—	राम के वगल मे श्याम था
हिन्दी शिक्षा का माध्यम वनेगा	—	हिन्दी शिक्षा का माध्यम वनेगी
हमे कुछ पुस्तकें चाहिएँ	—	हमे कुछ पुस्तकें चाहिए
मैं ने लिया हुआ हूँ	—	मैं लिये हुआ हूँ
हमने खाया हुआ है	—	हम खाये हुए हैं
राष्ट्रिय	—	राष्ट्रीय
अन्तर्राष्ट्रीय	—	अन्तरराष्ट्रीय
लिये (अव्यय के रूप मे)	—	लिए (अव्यय के रूप मे)
इसलिये	—	इसलिए
चाहिये (अव्यय)	—	चाहिए
शरद्चन्द्र	—	शरच्चन्द्र
अन्तर्चेतना	—	अन्तश्चेतना
अर्न्तदृष्टि	—	अन्तर्दृष्टि
अन्तर्पट	—	अन्त पट
वशर्ते कि	—	वशर्ते
दरअसल मे	—	दरअसल
भाइयो! (सम्बोधन)	—	भाइयो! (सम्वोधन)

हिन्दी में अनेकत्र वैयाकरणो के बीच मत-मतान्तर के कारण भी वर्तनी की प्रयोगगत भिन्नता मिलती है, जिसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

राजनैतिक	—	राजनीतिक
ऐतिहासिक	—	इतिहासिक
भौगोलिक	—	भूगोलिक
आगरे से	—	आगरा से
आपकी आज्ञानुसार	—	आपके आज्ञानुसार
अपनी इच्छानुसार	—	अपने इच्छानुसार
राम के दाहिनी ओर	—	राम की दाहिनी ओर
राम के बगल मे श्याम	—	राम की बगल मे श्याम
पुस्तके छात्र की सच्ची मित्र है	—	पुस्तकें छात्र के सच्चे मित्र है
रिहा करना मूर्खता होगी	—	रिहा करना मूर्खता होगा
झूठ बोलना उसकी आदत थी	—	झूठ बोलना उसकी आदत था

इन प्रयोगो के पक्षधर के यो तो अपने-अपने अलग-अलग तर्क है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर उपर्युक्त पहली कतार के प्रयोग ही अधिक उपयुक्त कहे जा सकते है ।

व्याकरण सम्बन्धी हिन्दी वर्तनी की एक अन्य मुख्य समस्या यकारान्त तथा याकारान्त शब्दो के लिङ्ग-वचनादि सम्बन्धी रूपान्तरो से सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ; कुछ लोग 'गाय' का बहुवचन 'गायें' और कुछ लोग गाएँ लिखते हैं । कुछ लोग 'नया' विशेषण के बहुवचन मे 'नये' और स्त्रीलिङ्ग मे 'नयी' रूप को शुद्ध मानते है तथा कुछ लोग 'नए' तथा 'नई' को । इसी प्रकार कुछ विद्वान 'आया', 'गया' आदि कृदन्तो के क्रमशः 'आये-आयी' तथा 'गये-गयी' रूपो को और कुछ विद्वान 'आए-आई', 'गए-गई' रूपो को सही ठहराते हैं । इस तरह हिन्दी-लेखन में उक्त कोटि के शब्दों की वर्तनी में सर्वत्र अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है । इस विषय मे 'प्रकाशक-सङ्घ', 'परिषद्' तथा 'शिक्षा-मन्त्रालय' के निर्णय भी परस्पर मेल नही खाते और न भिन्न-भिन्न विद्वानो के मतों मे ही सामञ्जस्य दीखता है । हिन्दी मे ऐसे शब्द सज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय—चार वर्गों के हैं । अतः यहाँ प्रत्येक पर अलग-अलग विचार करना उपयुक्त होगा ।

१. संज्ञा .—हिन्दी मे यकारान्त संज्ञाएँ बहुत कम हैं, जैसे—गाय, राय, निकाय आदि । इनके मूल तथा तिर्यक बहुवचन रूप क्रमशः गायें—गायो, रायें—रायो तथा निकायें—निकायो होते है, जो उच्चारणानुरूप तथा व्याकरण सम्मत भी

हैं। इनके स्थान पर गाएँ, राएँ, निकाएँ आदि रूप शुद्ध नही माने जा सकते। हाँ, गौ का बहुवचन अवश्य गौएँ—गौओ होगा।

हिन्दी मे इकारान्त तथा ईकारान्त सज्ञाओ के साथ जब बहुवचन प्रत्यय—आँ या ओ जुड़ता है, तो पूर्वस्वर 'इ' या 'ई' के प्रभाव से 'आँ' के स्थान पर 'याँ' तथा 'ओ' के स्थान पर 'यो' हो जाता है; साथ ही, हिन्दी के सन्धि-नियम के कारण दीर्घ 'ई' स्वर ह्रस्व 'इ' मे परिवर्तित हो जाता है, जैसे—छवि+आँ=छवियाँ, नदी+आँ=नदियाँ, लड़की+ओ=लड़कियो, साथी+ओ=साथियो आदि। इस प्रकार के शब्दो को भी छविआँ, नदिआँ, लडकिओ, साथिओ आदि के रूप मे लिखना शुद्ध नही माना जा सकता।

हिन्दी मे कुछ शब्द आकारान्त भी है, जैसे—जुआ, पुआ, कुआँ आदि। इनके बहुवचन रूप जुए, पुए, कुएँ ही माने जायँगे, जुये, पुये, कुयें नही, क्योकि इनकी प्रकृति तथा प्रत्यय मे से किसी मे भी 'य' की उपस्थिति नही है।

२. विशेषण :—हिन्दी मे 'नया' विशेषण का बहुवचन 'नये' हो या 'नए' तथा स्त्रीलिङ्ग रूप 'नयी' हो या 'नई', इसपर विद्वानो मे मतभेद है। हमारी समझ से किसी शब्द के रूपान्तर मे उसके मूल का जितना अधिक अंश सुरक्षित रहता है, वह उतना ही बोधगम्य होता है। इस दृष्टि से तथा शब्दरूपो की वर्तनी की एकरूपता की दृष्टि से भी नया के नये—नयी रूप निश्चय ही नए—नई की अपेक्षा अधिक ग्राह्य तथा मानक माने जाने योग्य हैं।

हिन्दी मे अनेक याकारान्त कृदन्तो का प्रयोग विशेषण के रूप मे भी होता है। उनके रूपान्तरो मे भी एकरूपता तथा सुबोधता की दृष्टि से 'या' की जगह 'ये—यी' रूपो को ही मानक रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए, 'ए—ई' को नही। उदाहरणार्थ :—

खोया लडका	खोये लडके	खोयी लडकी
गया वक्त	गये दिन	गयी सम्पत्ति
सोया बच्चा	सोये बच्चे	सोयी बच्ची
रटाया ग्रन्थ	रटाये उत्तर	रटायी बातें आदि।

इन रूपो मे से य का लोप करके उन्हे खोए—खोई, गए—गई आदि रूपो मे मान्यता देने का कोई व्याकरणगत औचित्य नही है।

३. क्रिया :—हिन्दी मे केवल 'हो' तथा अकारान्त धातुओ, जैसे—पढ, लिख, उठ, बैठ आदि को छोड कर शेष सभी धातुओ के भूतिकालिक कृदन्त रूप याकारान्त

होते हैं, जैसे—आया, गया, लाया, दिया, लिया, पिया, सिया, जिया, सोया, रोया, खोया आदि। अकारान्त मे भी 'कर' का रूप 'किया' होता है। इन याकारान्त कृदन्त क्रियाओ मे से जिनमे 'या' के पूर्व 'इ' स्वर होता है, उनमे स्त्री-प्रत्यय 'ई' के जुडने पर ध्वनिवैज्ञानिक कारणो से 'य' का लोप हो जाता है और दोनो स्वरो मे हिन्दी के पूर्वस्वर लोपी स्वरसन्धि के अपने नियम के अनुसार सन्धि हो जाती है, जैसे—किया + ई = कियी = की, लिया + ई = लियी = ली, पिया + ई = पियी = पी, दिया + ई = दियी = दी आदि।

अन्य याकारान्त कृदन्त क्रियाओ मे उपर्युक्त ध्वनिवैज्ञानिक स्थिति नही होने के कारण उनके साथ बहुवचनसूचक प्रत्यय 'ए' तथा स्त्री प्रत्यय 'ई' के जुडने पर 'य' के लोप का कोई प्रश्न ही नही उठता। इन प्रत्ययो के जुडने पर हिन्दी के पूर्वस्वर लोपी स्वरसन्धि के नियमानुसार 'या' के केवल 'आ' स्वर का लोप होता है और 'य्' अपने आगे के स्वर मे मिल जाता है, जैसे—आया + ए = आये, आया + ई = आयी, गया + ए गये, गया + ई गई आदि। इस प्रकार याकारान्त कृदन्त क्रियाओ के रूपान्तरो मे ये—यी के स्थान पर ए—ई के प्रयोग का प्रस्ताव नितान्त भ्रामक, अविवेकपूर्ण एवं व्याकरणविरुद्ध है। इस सम्बन्ध मे उच्चारण की दुहाई देनेवाले जो लोग 'य' का लोप कर ए-ई वाले रूपो का समर्थन करते हैं, वे निश्चय ही भ्रम मे हैं, क्योकि उच्चारण की दृष्टि से भी यह कहना कि आये—आयी, गये—गयी आदि का उच्चारण निभ्रान्त रूप से सभी हिन्दी विद्वान आए—आई, गए—गई ही करते हैं, सही नही माना जा सकता।

अत हिन्दी-वर्तनी के प्रतिमानीकरण की दृष्टि से याकारान्त कृदन्त क्रियाओ के रूपान्तरो मे ये—यी वाले रूपो को ही मानक माना जाना चाहिए, यथा—आया—आये—आयी, गया—गये—गयी आदि।

हिन्दी-लेखन मे मध्यमपुरुष आदरार्थक क्रियाओ की द्विधावर्तनी प्रचलित है, जैसे—आइये—आइए, खाइये—खाइए, लीजिये—लीजिए, चलिये—चलिए, बैठिये—बैठिए, साइये—साइए आदि। इन क्रियाओ के उक्त द्विविध रूपो मे से कौन रूप शुद्ध है और कौन अशुद्ध, इसका उत्तर इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर है कि उपर्युक्त क्रियाओ मे धातुओ के साथ जुडनेवाला प्रत्यय—'इये' है या 'इए'? यदि वैयाकरणो के अनुसार उपर्युक्त आदरार्थक क्रियाओ मे जुडनेवाला प्रत्यय—'इय' है तो आइये, जाइये, बैठिये आदि रूप शुद्ध माने जायँगे, और यदि उनके साथ जुडने वाला प्रत्यय—'इए' है तो आइए, जाइए, खाइए, सोइए आदि रूप। हमारी समझ से उपर्युक्त रूपो मे जुड़ने वाला प्रत्यय—'इये' ही हो सकता है;

क्योकि अपभ्रंश मे किज्जिय, करिज्जिय आदि रूप ही मिलते है, जिनके 'इये' का हिन्दी मे 'इये' के रूप मे विकास सहज ही बोधगम्य है। इस दृष्टि से हिन्दी-लेखन मे आदरार्थक क्रियाओ के 'इये' वाले रूपो को ही मान्यता मिलनी चाहिए, जैसे—आइये, खाइये, बैठिये, रहिये आदि।

इस प्रसङ्ग मे यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी मे अनेक कृदन्त अव्यय भी होते हैं, जिनके रूप का आदरार्थक क्रिया रूप से साम्य होता है। किन्तु दोनो के प्रत्यय पृथक्-पृथक् हैं। आदरार्थक क्रिया का प्रत्यय—'इये' है और कृदन्त अव्यय का—'इए'। इसे जान लेने पर दोनो की भिन्नता को समझने मे कठिनाई की सम्भावना नही रह जाती। उदाहरणार्थ, 'चाह' धातु मे—'इये' प्रत्यय लगने पर जो 'चाहिये' रूप बनता है, वह आदरार्थक क्रिया का है, जैसे—'आप चाहिये या न चाहिये, मैं तो चाहूँगा ही'। फिर 'चाह' धातु मे—'इए' प्रत्यय लगकर जो 'चाहिए' रूप बनता है, वह अव्यय का है, जैसे—किसी को अधिक रुपये चाहिए, किसी को सुन्दर लडकी चाहिए और किसी को धन या रूप नही, केवल लडकी का गुण चाहिए।' इन प्रयोगो को ध्यानपूर्वक देखने पर यह समझना कठिन नही कि हिन्दी मे आदरार्थक क्रिया तथा कृदन्त अव्यय, जो प्राय. क्रिया के रूप मे ही व्यवहृत होते हैं, पृथक्-पृथक् वर्ग के तथा पृथक्-पृथक् अर्थ के शब्द हैं। इसलिए उनकी वर्तनी की उपर्युक्त भिन्नता को, जो मूलत पृथक्-पृथक् प्रत्ययो के कारण है, हिन्दी मे बनाये रखना नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी की मध्यमपुरुष आदरार्थक क्रियाओ मे जुडनेवाले प्रत्यय का रूप निर्णीत हो जाने पर आदरार्थक भविष्य के रूपो की वर्तनी के सम्बन्ध मे कोई कठिनाई नही रह जाती। क्योकि मध्यमपुरुष आदरार्थक रूप मे भविष्य-सूचक 'गा' जोड देने मात्र से मध्यम पुरुष पुल्लिङ्ग आदरार्थक भविष्य का रूप बन जाता है। उदाहरणार्थ, जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि हिन्दी मे आदरार्थक क्रिया का प्रत्यय —'इये' है, जिसके जुडने पर आइये, बैठिये आदि जैसे रूप बनते हैं। इनमे 'गा' जोड देने मात्र से जो रूप बनेगा वही अन्य पुरुष पुल्लिङ्ग भविष्य आदरार्थक का रूप होगा,—आइयेगा, बैठियेगा आदि। हाँ, यदि आदरार्थक प्रत्यय—'इये' नही मानकर 'इए' माना जाय तो उस स्थिति मे आइएगा, बैठिएगा जैसे रूप ही मानक होगे।

हिन्दी मे मध्यम पुरुष स्त्रीलिङ्ग आदरार्थक भविष्य का रूप अन्यपुरुष स्त्री के समान होता है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

हिन्दी-लेखन मे अन्यपुरुष सम्भावना या आज्ञादि के क्रियारूपो की वर्तनी के चार रूप प्रचलित है, जैसे—आय-आये-आए-आवे, लाय-लाये-लाए-लावे, सोय-सोये-सोए-सोवे, जाय-जाये-जाए-जावे आदि। इनके आदरार्थक रूप भी इसी तरह चार प्रकार के मिलते है, जैसे—आयँ-आये-आएँ-आवे, लायँ-लाये-लाएँ-लावें आदि।

व्याकरण की दृष्टि से सम्भावनादि मे धातु के साथ—'ए' प्रत्यय और आदरार्थक मे—एँ प्रत्यय होता है। इसकी पुष्टि अकारान्त धातुओ से बने रूपो को देखने से स्वत. हो जाती है, जैसे करे-करें, पढे-पढें, उठे-उठें, देखे-देखे आदि। अत व्याकरण की दृष्टि से अकारान्तेतर धातुओ से बने रूपो मे भी ए-एँ का ही प्रयोग होना चाहिए। जैसे—आए-आएँ, होए-होएँ आदि। किन्तु वर्तमान समय मे इन रूपो मे से कुछ के उच्चारण आय-आयँ, जाय-जायँ, सोय-सोयँ, रोय-रोयँ जैसे भी होने लगे हैं। इसलिए यदि उच्चारणानुरूप वर्तनी का ही आग्रह हो, तो उक्त रूपो को ही मानक माना जा सकता है। किन्तु, उक्त उच्चारण वाले रूप सभी धातुओ मे समान नही है, जैसे—पिए-पिएँ को पिय-पियँ कोई नही बोलता और न लिखता ही है। इसके अतिरिक्त जो एकारान्त धातु है, उनमे ए-एँ जुडने पर हिन्दी की पूर्व स्वरलोपी स्वरसन्धि के नियमानुसार पूर्वस्वर का लोप हो जाता है और उनके रूप ले-लें, दे-दे जैसे हो जाते है।

कुल मिलाकर उपर्युक्त सभी रूपो मे ए-एँ वाला रूप ही मानक बनने के अधिक उपयुक्त प्रतीत होता हैं, यद्यपि लेखन मे उच्चारणानुरूप वर्तनी का ही विशेष प्रचलन है।

हिन्दी मे भविष्यत् के रूप सम्भावनार्थक तथा आदरार्थक रूपो के साथ भविष्यत् सूचक प्रत्यय—'ग' के रूपान्तरो के योग से बनते हैं। अत. सम्भावना तथा आदर के लिए जो क्रियारूप मानक माने जायँगे, वे ही रूप भविष्यत् के लिए मानक रहेगे, यथा—आयगा या आएगा, आयँगे या आएँगे आदि।

(४) अव्यय .—हिन्दी मे लिए, किए, पिए, जिए, दिए आदि कृदन्त अव्यय है, जो भूतकालिक कृदन्त क्रियाओ के बहुवचन रूपो, यथा—लिये, किये, पिये, जिये, दिये आदि से नितान्त भिन्न है। कृदन्त क्रिया के रूप मे लिङ्ग-वचनादि के कारण विकार होता है, जैसे—लडका आया, लडके आये, लडकी आयी, लडकियाँ आयी आदि। किन्तु कृदन्त अव्यय के रूप मे किसी भी स्थिति मे कोई विकार नही होता; जैसे—

लडका शराब पिए जा रहा था।
लडके शराब पिए जा रहे थे।

लडकी शराव पिए जा रही थी ।
लडकियाँ शराव पिए जा रही थी ।

हिन्दी मे कृदन्त अव्ययो का प्रयोग अनेक रूपो मे होता है । उदाहरणार्थ; (क) सयुक्त क्रिया की मुख्य क्रिया के रूप मे; जैसे—लडका काम किए ही जा रहा है, लड़की काम किए ही जा रही है, लड़के काम किए ही जा रहे हैं, लड़कियाँ काम किए ही जा रही है आदि । (ख) क्रियाविशेपण के रूप मे, जैसे—लड़का विना खाए चला गया, लड़की विना खाए चली गयी, लडके विना खाए चले गये, लडकियाँ विना खाए चली गयी आदि । (ग) 'लिए' अव्यय का सम्प्रदान के परसर्ग के रूप मे भी प्रयोग होता है; जैसे—मेरे लिए, अपने लिए, राम के लिए, सीता के लिए आदि । 'लिए' के पूर्व ही इस, किस, जिस आदि लगाकर इसलिए, किसलिए, जिसलिए आदि वनते हैं । इसीलिए, उक्त शव्दो को भी इसलिये, किसलिये, आदि जैसे रूपो मे लिखना उचित नही है । (घ) 'चाहिए' अव्यय का प्रयोग विधि के रूप मे होता है; जैसे—उसे पढ़ना चाहिए, चाहिए तो यह था कि वह सुलह कर ले, आदि ।

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि हिन्दी मे उपर्युक्त कृदन्त अव्ययो के रूप पूर्णत स्थिर हैं, और उनसे भूतकालिक कृदन्त क्रियाओ के वहुवचन रूप भिन्न हैं । अत. अव्ययो को लिए, किए, पिए, जिए, दिए, आदि एकारान्त रूपो में, तथा भूतकालिक कृदन्त क्रियाओ के वहुवचन रूपो को लिये, किये, पिये, जिये, दिये, आदि येकारान्त रूप मे मानक माना जाना चाहिए ।

(७) ध्वनिशास्त्र से सम्वद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

अ हिन्दी-वर्तनी मे ध्वनिशास्त्र से सम्वद्ध मुख्य समस्या अनुनासिक व्यञ्जन, अनुस्वार एव स्वरानुनासिकता के चिह्न चन्द्रविन्दु के अविचारित प्रयोग को लेकर है । इस समय हिन्दी-लेखन मे इनके प्रयोग मे चारो ओर घोर अराजकता दिखाई देती है । उस अराजकता को दूर करने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, प्रकाशक-सङ्घ, हिन्दी परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय तथा भिन्न-भिन्न विद्वानो ने आजतक जो सुझाव या प्रस्ताव दिये हैं, उनमे से कोई भी प्रस्ताव ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः सुविचारित नही है । अत अनुस्वरादि के प्रयोग के प्रतिमानीकरण के लिए सर्वप्रथम उनमे से प्रत्येक के ध्वनिशास्त्रीय स्वरूप को सम्यक् रूप से समझ लेना आवश्यक है ।

(क) अनुनासिक व्यञ्जन :—हिन्दी मे—ङ्, ञ्, ण्, न् और म्—ये पाँच अनुनासिक व्यञ्जन हैं, जिनके ध्वनिशास्त्रीय स्वरूप निम्नलिखित प्रकार के हैं ।

(१) ङ्—यह हिन्दी का अल्पप्राण घोष कोमलतालव्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन है। यह शब्दो के प्रारम्भ मे नही आता। मध्य मे यह एक तो स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है, जैसे—शङ्कर, पङ्ख, सङ्गम तथा सङ्घ आदि मे। दूसरे, न् एवं म् के पूर्व आता है, जैसे—वाङ्मय, दिङ्नाग आदि मे और तीसरे, तद्भव शब्दो मे जब ग् के पूर्व कोई अनुनासिक स्वर रहता है, जैसे—पलँग-पलङ, लौंग-लौङ, माँग-माङ, ताँगा-ताङा आदि मे। किन्तु लेखन मे अभी उपर्युक्त दूसरे रूपो को मान्यता नही मिल पायी है। शब्दान्त मे यह प्रायः नही आता।

लेखन एवं मुद्रणादि मे अनुस्वार का स्वरूप ङ् की अपेक्षा अधिक सुविधा-जनक होने के कारण, लोग ङ् के स्थान पर, उस स्थिति मे जहाँ वह स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है, प्रायः अनुस्वार का ही प्रयोग करते है, जैसे—रक, पंख, गगा, सघ आदि मे। इससे लेखन-मुद्रणादि मे चाहे सुविधा जितनी होती हो, किन्तु लिपि एव वर्तनी की वैज्ञानिकता नष्ट हो जाती है, क्योकि ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से ङ् एव अनुस्वार (ं) दो नितान्त भिन्न ध्वनियो के सूचक वर्ण हैं।

(२) ञ्—यह अल्पप्राण घोष तालव्य स्पर्श-घर्षी व्यञ्जन है। यह शब्द के प्रारम्भ मे नही आता। मध्य मे केवल स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है; जैसे—चञ्चल, लाञ्छन, मञ्जन, झञ्झा आदि मे और शब्दान्त मे केवल कुछेक संस्कृत शब्दो मे, जैसे—नञ्, घञ् आदि मे। हिन्दी के अनेक विद्वानो ने ञ् को स्वनिम न मानकर न् का ही एक सस्वन मान लिया है। किन्तु इन दोनो मे स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से इतनी भिन्नता है कि इन्हे एक स्वनिम-वर्ग मे सम्मिलत किया जाना उचित नही कहा जा सकता। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से दो पूर्णत. असमान ध्वनियाँ एक स्वनिम-वर्ग की नही हो सकती। इसलिए ञ् एव न् मे पूरक वितरण की स्थिति होने पर भी दोनो को अलग-अलग स्वनिम मानना ही उचित है।

हिन्दी-लेखन मे ञ् की अपेक्षा अनुस्वार का स्वरूप सुविधाजनक होने के कारण लोग प्राय. ञ् के स्थान पर, जहाँ वह स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता हैं, अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं, जैसे—चचल, लाछन, मजन, झझा आदि मे। किन्तु, इससे नागरी लिपि और हिन्दी-वर्तनी दोनो की वैज्ञानिकता नष्ट होती है, क्योकि ञ् एव अनुस्वार ( ) दो भिन्न ध्वनियो के सूचक वर्ण हैं।

(३) ण्—अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य प्रतिवेष्टित स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन है। किन्तु, यह जब स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है, तो इसका प्रतिवेष्टित उच्चारण नही होता। यह शब्द के प्रारम्भ मे नही आता। मध्य मे (क) दो स्वरो के बीच; जैसे—प्राण, प्रणाम, क्षणिक, प्रणीत, प्राणी, रेणु, प्रणेता आदि मे, (ख) स्वर एवं

अन्तस्थ के बीच, जैसे—पुण्य, अरण्य, कण्व आदि मे। (ग) स्वर एव अनुनासिक व्यञ्जन के बीच, जैसे—षण्मुख, विपण्ण आदि मे, (घ) स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व, जैसे—कण्टक, कण्ठ, पण्डित आदि मे। शब्दान्त मे यह प्राय नही आता।

हिन्दी-लेखन मे ण् की अपेक्षा अनुस्वार का स्वरूप अधिक सुविधाजनक होने के कारण, लोग ण् के स्थान पर, जहाँ वह स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है, अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं, जैसे—कटक, कठ, भडार आदि मे। इससे लेखन मे सुविधा तो होती है, किन्तु लिपि एव वर्तनी की वैज्ञानिकता को आघात लगता है; क्योकि ण् एव अनुस्वार ( ) दो नितान्त भिन्न ध्वनियो के सूचक वर्ण हैं।

(४) न्—यह अल्पप्राण घोष दन्त्य-वर्त्स्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन है। यह शब्द के प्रारम्भ मे स्वर एवं य् के पूर्व आता है, जैसे—नगर, नारी, निर्माण, नीति, नुकीला, नूतन, नेता, नैया, नोक, नौकर, न्याय आदि मे। मध्य मे—(क) दो स्वरो के बीच, जैसे—अनल, अनार, सुनीता, अनेक आदि मे, (ख) स्वर एवं अन्तस्थ के बीच, जैसे—अन्याय, अन्वय आदि मे, (ग) स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व; जैसे—चिन्ता, मन्थन, मन्दिर, अन्धा, पन्ना आदि मे, (च) म् के पूर्व; जैसे—चिन्मय, जन्म आदि मे और (ङ) व्यञ्जन एव स्वर के बीच, जैसे—अग्नि, विघ्न, यत्न, चिह्न आदि मे। अन्त मे यह केवल सस्कृत शब्दो मे आता है, जैसे—विद्वान्, महान् आदि मे।

हिन्दी-लेखन मे अनुस्वार का स्वरूप न् की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होने के कारण लोग न् के स्थान पर, जहाँ वह स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आता है, अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं। किन्तु इससे सुविधा चाहे जितनी हो, लिपि एवं वर्तनी की वैज्ञानिकता बाधित होती है, क्योकि न् एव अनुस्वार (ं) दो नितान्त भिन्न ध्वनियो के सूचक वर्ण हैं।

(५) म्—यह अल्पप्राण घोष ओष्ठ्य स्पर्श अनुनासिक व्यञ्जन है। शब्दों के प्रारम्भ मे यह स्वर अथवा अन्तस्थ के पूर्व आता है, जैसे—मन, माला, मिलन, मीत, मुक्ति, मूक, मेला, मैल, मोल, मौलवी, मृत्यु, म्यान, म्रियमाण, म्लान आदि मे। मध्य मे—(क) दो स्वरो के बीच, जैसे—कमल, समान आदि मे, (ख) स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व, जैसे—चम्पा, डम्फ, चुम्बक, गम्भीर, सम्मान आदि में; (ग) अन्तस्थ, ह और न के पूर्व, जैसे—सम्यक्, सम्राट्, अम्लान, ब्रम्ह, समाम्नाय आदि मे। अन्त मे केवल सस्कृत शब्दो मे ही आता है।

हिन्दी-लेखन मे म् की अपेक्षा अनुस्वार का स्वरूप लेखन की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक होने के कारण, लोग म् के स्थान पर, जब वह स्ववर्गीय व्यञ्जनो के

पूर्व आता है, प्राय अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं। इससे, लेखन मे चाहे जो भी सुविधा होती हो, नागरी लिपि और हिन्दी-वर्तनी की वैज्ञानिकता नष्ट होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी मे ङ्, ञ्, ण्, न् और म् पृथक्-पृथक् अनुनासिक व्यञ्जन हैं, जिनके लिए नागरी मे अलग-अलग स्वतन्त्र वर्ण है। अत इनमे से किसी के भी स्थान पर किसी अन्य ध्वनि के सूचक वर्ण का प्रयोग उचित नही कहा जा सकता और न इनमे से किसी के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग उचित माना जा सकता है, जो आगे अनुस्वार के ध्वनिवैज्ञानिक स्वरूप के विवेचन से स्पष्ट होगा।

(ख) **अनुस्वार ( )**.—यह अल्पप्राण घोष नासिक्य अयोगवाह है। इसे अयोगवाह कहने का कारण यह है कि इसमे स्वर, व्यञ्जन तथा अन्त स्थ मे से किसी के लक्षण पूर्णत घटित नही होते। स्वर-व्यञ्जनादिक के उच्चारण मे उनके पूर्व स्वर की उपस्थिति अनिवार्य नही, किन्तु अनुस्वार के उच्चारण के लिए उसके पूर्व स्वर की उपस्थिति अनिवार्य होती है। दूसरे, स्वर-व्यञ्जनादिको का तो परस्पर संयोग होता है, किन्तु अनुस्वार का किसी से सयोग नही होता। इन्ही कारणो से अनेक प्राचीन आचार्यों ने इसे और विसर्ग को स्वर-व्यञ्जनादिक से अलग अयोग-वाह सज्ञक एक पृथक् ध्वनिवर्ग मे स्थान दिया था। पर अनेक भाषाशास्त्रियो ने अनुस्वार को भी व्यञ्जन ही माना है, क्योकि उनके अनुसार यह व्यञ्जन का ही प्रतिनिधित्व करता है।

अनुस्वार का प्रकृत उच्चारण स्वर तथा अन्त.स्थ या ऊष्म व्यञ्जनो के बीच होता है, किन्तु इसका सयोग न तो अपने पूर्ववर्ती स्वर से होता है और न परवर्ती किसी ध्वनि से ही। यही इसके 'अयोगवाह' नाम की सार्थकता है।

हिन्दी मे भी अनुस्वार का प्रकृत क्षेत्र स्वर के उपरान्त तथा य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स् एव ह् के पूर्व ही है। इसके अतिरिक्त इसका अपनी पूर्ववर्ती या पर-वर्ती ध्वनियो से सयोग भी नही होता। किन्तु, इसके उच्चरित स्वरूप पर परवर्ती ध्वनियो का यत्किञ्चित् प्रभाव पडता अवश्य है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न परिवेश मे इसके उच्चारण मे पाँच प्रकार की भिन्नताएँ श्रुतिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, ह् के पूर्व इसका उच्चारण प्राय ङ् के समान, य् एव श् के पूर्व ञ् के समान, ष् के पूर्व प्राय ण् के समान, र्, ल्, व्, और स् के पूर्व प्राय. न् के समान तथा व् के पूर्व प्राय म् के समान होता है। इसके उच्चारण की इसी भिन्नरूपता तथा वर्गीय पञ्चमो से किञ्चित् साम्य के कारण प्राचीन काल मे ही स्ववर्गीय स्पर्श से पूर्व आने वाले अनुनासिक व्यञ्जनो के स्थान पर भी विकल्प से

इसका प्रयोग होने लगा था। इस सम्बन्ध मे अनुस्वार को वैकल्पिक अधिकार देने वाले पाणिनीय सूत्रो (८-३-४, ८-४-५९) ने अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया। आगे चलकर प्राकृत वैयाकरणो ने तो स्वरो से पूर्व भी अनुस्वार का विधान कर दिया।[1]

अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र के दिनानुदिन विस्तार का मुख्य कारण लेखन की दृष्टि मे उसके चिह्न का अन्य अनुनासिक व्यञ्जन वर्णो की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होना ही रहा है। इसलिए हिन्दी-लेखन मे भी अनेको विद्वान इसका प्रयोग उन स्थितियो मे वर्गीय अनुनासिको के स्थान पर भी करते आये हैं, जहाँ वे स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आते है। किन्तु शुद्ध ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से, साथ ही, लिपि एव वर्तनी की वैज्ञानिकता की रक्षा की दृष्टि से भी, उक्त प्रयोग नितान्त चिन्त्य हैं, क्योकि अनुस्वार एव अनुनासिक व्यञ्जन मे ध्वनिविज्ञान के आधार पर अभिन्नता स्थापित करना सम्भव नही। इसके अतिरिक्त लेखन मे उनके प्रयोग-क्षेत्र भी इस प्रकार स्पष्ट हैं कि उनमे भ्रान्ति की कही कोई सम्भावना ही नही। ऐसी स्थिति मे मात्र थोडी सुविधा के लिए भाषा एव लिपि की वैज्ञानिकता को नष्ट करना श्रेयस्कर नही हो सकता।

इसी प्रकार अनुस्वार एव स्वरानुनासिकता की ध्वनिवैज्ञानिक भिन्नता मे भी कही शङ्का या विकल्प के लिए स्थान नही है, जो आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

(ग) अनुनासिकता और उसका चिह्न चन्द्रबिन्दु (ँ)—अनुनासिकता स्वर-सम्बद्ध गुण है, कोई स्वतन्त्र ध्वनि नही। स्वरो के निरनुनासिक तथा अनुनासिक दो भेद होते हैं, यथा अ, आ, इ, ई आदि निरनुनासिक स्वर है और अँ, आँ, इँ, ईँ आदि अनुनासिक स्वर। निरनुनासिक तथा अनुनासिक स्वरो मे भिन्नता केवल इतनी होती है कि निरनुनासिक स्वरो के उच्चारण मे कोमलतालु ऊपर उठा होता है, जिसके फलस्वरूप नासिकाविवर बन्दप्राय हो जाता है और पूरी हवा मुखविवर के मार्ग से ही बाहर निकलती है, जबकि अनुनासिक स्वरो के उच्चारण में कोमल तालु के कुछ नीचे झुक आने से नासिकाविवर भी कुछ खुल जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ हवा उस मार्ग से भी बाहर निकलती है, जिससे स्वर मे अनुनासिकता का समावेश हो जाता है। हिन्दी मे निरनुनासिक तथा अनुनासिक स्वर परस्पर अर्थभेदक मूल्य रखते हैं, जैसे—आधी—आँधी, काटा—काँटा, गोद—गोंद आदि मे।

---

१ डॉ० रामगोपाल, वै० व्या०, पृ० ४०।

नागरी मे अनुनासिकता सूचित करने के लिए स्वरों तथा उनकी मात्राओ के ऊपर चन्द्रबिन्दु के प्रयोग का विधान है। हिन्दी-लेखन मे चन्द्रबिन्दु के प्रयोग के सम्बन्ध मे प्रचलित नियम यह है कि जिन स्वरो की मात्राएँ ऊपर नही लगती है, उनमे पूरे चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता है, जैसे—अँधेरा, हँसी, आँधी, काँटा, उँचाई, ऊँट, पूँछ आदि मे, किन्तु जिनकी मात्राएँ ऊपर लगती है, उनमे केवल बिन्दु का प्रयोग होता है, जैसे—हिंचकी, ईंख, सींचना, कोंकड़ा, मे, मैं, चोंच, औंधा, चौंकना आदि मे। उक्त स्थिति मे चन्द्रबिन्दु के स्थान पर मात्र बिन्दु के प्रयोग के मूल मे केवल सुविधावादी दृष्टिकोण है, वैज्ञानिकता नही। बिन्दु और अनुस्वार के स्वरूप मे मूलत किसी प्रकार की भिन्नता नही होने के कारण बिन्दु से अनुस्वार का बोध होना ही अधिक स्वाभाविक है, चन्द्रबिन्दु का बोध होना नही। इसीलिए अनेक पुराने लेखक चन्द्रबिन्दु के स्थान पर वहाँ भी चन्द्रबिन्दु का ही प्रयोग करते थे, जहाँ स्वरो की मात्राएँ ऊपर लगती है, जैसे—मेँ, मैँ, चोँच, आदि मे। इसके विपरीत वर्त्तमान समय मे कतिपय पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक तथा लेखक चन्द्रबिन्दु के स्थान पर सर्वत्र बिन्दु अर्थात् अनुस्वार चिह्न का ही प्रयोग करने लगे है, जो भाषा, लिपि तथा वर्तनी—तीनो के लिए अहितकर है।

हिन्दी के कतिपय नवीन भाषाशास्त्रियो[1] ने अनुनासिकता की तरह ही अनुस्वार को भी हिन्दी का स्वर-सम्बद्ध उपरिखण्डीय स्वनिम ही मान लिया है, जो सही नही है। अनुनासिकता स्वर मे अन्तर्लीन होकर उच्चरित होनेवाला एक विशेष गुण मात्र है, जबकि अनुस्वार स्वर एव व्यञ्जन दोनो से पृथक् एक विशिष्ट ध्वनि है। यह सही है कि अनुस्वार का उच्चारण बिना उसके पूर्व स्वर रहे सम्भव नही होता, किन्तु अनुस्वार उस स्वर का अङ्ग बनकर स्वतन्त्र ध्वनि के रूप मे उच्चरित होता है, न कि अनुनासिकता की तरह स्वर के गुण के रूप मे। इस प्रकार अनुनासिकता एव अनुस्वार मे ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट भिन्नता होने के कारण लेखन मे अनुनासिकता के चिह्न चन्द्रबिन्दु के स्थान पर किसी भी स्थिति मे अनुस्वार के चिह्न बिन्दु के प्रयोग को उचित नही कहा जा सकता।

निष्कर्ष .—उपर्युक्त विवेचन का साराश यही है कि ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से अनुनासिक व्यञ्जन, अनुस्वार एव अनुनासिकता मे परस्पर स्पष्ट भिन्नता है। इसलिए लेखन मे वैज्ञानिकता की रक्षा के लिए इनमे से किसी एक के लिए निर्धारित वर्ण या चिह्न का प्रयोग किसी भी स्थिति मे दूसरे के लिए नही होना चाहिए और

---

१ डॉ० मुरारीलाल उप्रैति, हिन्दी में प्रत्ययविचार, पृ० ७।

न इनके प्रयोग मे कही किसी प्रकार के विकल्प को ही स्थान दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त दृष्टि से हिन्दी-लेखन मे अनुनासिक व्यञ्जन, अनुस्वार एवं अनुनासिकता से सम्बद्ध शब्दो की वर्तनी के वैज्ञानिक प्रतिमानीकरण के लिए निम्न-लिखित नियमो का पालन आवश्यक है—

१ अनुनासिक व्यञ्जन ङ्, ञ्, ण्, न और म् के स्थान पर तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी सभी प्रकार के शब्दो मे सर्वत्र सभी स्थितियो मे—उस स्थिति मे भी जबकि वे स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आयँ—क्रमश. ङ्, ञ्, ण्, न्, और म् का ही प्रयोग होना चाहिए, जैसे—रङ्क, पङ्ख, ढङ्ग, सङ्घ, चञ्चल, लाञ्छन, अञ्जन, झञ्झा, कण्टक, कण्ठी, टण्डन, ठण्ढा, कन्त, पन्थ, छन्द, अन्धा, पम्प, डम्फ, कदम्ब, रम्भा आदि मे।

इस सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का यह सुझाव कि ङ्, ञ् और ण् जब स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आयँ, तो उनके स्थान पर अनुस्वार का और न् तथा म् जब स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व आयँ, तो उनके स्थान पर क्रमश न् और म् का ही प्रयोग होना चाहिए, समीचीन नही है। क्योकि जिन कारणो से स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व न् और म् के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग नही होना चाहिए, उन्ही कारणो से स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व ङ्, ञ् और ण् के स्थान पर भी अनुस्वार का प्रयोग अनुचित है। मात्र सुविधा के लिए लिपि तथा वर्तनी की वैज्ञानिकता को नष्ट करना श्रेयस्कर नही हो सकता।

इसी प्रकार, कुछ विद्वानो का इस सम्बन्ध मे यह सुझाव भी ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नही है कि तत्सम शब्दो मे स्ववर्गीय व्यञ्जनो के पूर्व अनुनासिक व्यञ्जनो के स्थान पर अनुनासिक व्यञ्जनो का ही, किन्तु तद्भव, देशी तथा विदेशी शब्दो मे उक्त स्थिति मे अनुस्वार का प्रयोग होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से जो स्थिति तत्सम शब्दो की है, वही तत्समेतर शब्दो की भी है। उदाहरणार्थ—अङ्कन और अङ्कल मे ङ्, अञ्जन और इञ्जिन मे ञ्, कुण्डल और वण्डल मे ण्, सुन्दर और सन्दूक मे न् तथा चम्पक और पम्प मे म् के उच्चारण मे ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से कोई भिन्नता नही है। ऐसी स्थिति मे कोई कारण नही है कि तत्सम शब्दो मे उक्त स्थितियो मे अनुनासिक व्यञ्जन वर्णों का और तत्समेतर शब्दो मे उनके स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार चिह्न का प्रयोग किया जाय। हाँ, इतना सत्य है कि वर्तमान समय मे तत्समेतर शब्दो मे उक्त स्थितियो मे सर्वत्र अनुस्वार चिह्न के प्रयोग का ही प्रचलन है। इसलिए उनमे अनुस्वार के स्थान पर अनुनासिक व्यञ्जनों का प्रयोग लोगो को असुविधाजनक तथा अटपटा लगेगा; किन्तु भाषा,

लिपि एव वर्तनी की वैज्ञानिकता के प्रति जागरूक विद्वान जब उनका प्रस्तावित रूप से प्रयोग करने लगेंगे, तो धीरे-धीरे अन्य लोगो के लिए भी वे प्रयोग अजनबी नही रह जायँगे।

अनुनासिक व्यञ्जन वर्णो मे ञ्, ण्, न्, तथा म् के सयोगी रूप है, यथा—ञ, ण, न, म, किन्तु ङ् का सयोगी रूप नही है। इसलिए इसके साथ व्यञ्जनो का सयोग ऊपर-नीचे के क्रम मे होता है, जैसे—अङ्गद, सङ्घ आदि मे। इस प्रकार की सयोगपद्धति निश्चय ही असुविधाजनक होती है। अत टङ्कन-मुद्रणादि मे सुविधा के लिए इस बात की छूट दी जा सकती है कि ङ् के साथ अन्य व्यञ्जन का सयोग आगे पीछे के क्रम मे किया जाय, जैसे—रङ्क के स्थान पर रङ्क, सङ्ग्रह के स्थान पर सङ्ग्रह, सङ्ख्या के स्थान पर सङ्ख्या आदि।

(२) अनुस्वार-चिह्न का प्रयोग केवल—य्, र्, ल्, व्, श्, ष् स् तथा ह् के पूर्व अयोगवाह नासिक्य ध्वनि के लिए हो, यथा—सयम, सरचना, सलाप, सवाद, सशय, दष्ट्राल, सहार, सिह आदि मे।

(३) अनुनासिकता के चिह्न चन्द्रबिन्दु का प्रयोग सर्वत्र सभी स्थितियो मे—उस स्थिति मे भी जहाँ स्वरो की मात्राएँ ऊपर लगती है—पूरे चन्द्रबिन्दु के रूप मे ही होना चाहिए, जैसे—मेँ, मैँ, केँकडा, कैँची, खोँच, चौँकना आदि मे।

किन्तु, जिन स्वरो की मात्राएँ ऊपर लगती है, उनके साथ पूरे चन्द्रबिन्दु का प्रयोग कुछ असुविधाजनक अवश्य होगा, साथ ही, चन्द्रबिन्दु के चन्द्र अश से लेखन मे एकार की मात्रा का भ्रम भी सम्भव है। इन कारणो से विद्वानो को ऊपर मात्रा वाले स्वर वर्णों के साथ पूरे चन्द्रबिन्दु का प्रयोग यदि नितान्त अमान्य हो, और वहाँ चन्द्रबिन्दुसूचक बिन्दु का प्रयोग ही अभीष्ट हो, तो अनुस्वारसूचक बिन्दु से उसकी भिन्नता प्रकट करने के लिए हमारा दूसरा प्रस्ताव यह है कि चन्द्रबिन्दु सूचक बिन्दु का प्रयोग ऊपरवाली मात्रा के ऊपर तथा अनुस्वारसूचक बिन्दु का प्रयोग ऊपर की मात्रा से हटाकर उसकी बगल मे—दो वर्णों के बीच—किया जाना चाहिए, जैसे—हिंचकी—हिंसक, सिंचाई—सिंह आदि मे। किन्तु वह व्यवस्था केवल ऊपर मात्रा वाले स्वरो के लिए ही हो, अन्यत्र चन्द्रबिन्दु के स्थान पर पूरे चन्द्रबिन्दु का ही प्रयोग होना चाहिए, जैसे—हँसी, फाँसी आदि मे।

हिन्दी मे चूँकि अनुनासिकता तथा अनुस्वार परस्पर अर्थभेदक हैं, जो सँवार—सवार, हँसी—हसी आदि जैसे स्वल्पान्तर शब्दयुग्मो से स्पष्ट है, इसलिए चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार-चिह्न का प्रयोग पूर्णत अवैज्ञानिक होने के कारण सर्वथा वर्जित माना जाना चाहिए।

अगर हिन्दी-लेखन मे अनुनासिक व्यञ्जन, अनुस्वार तथा अनुनासिकता सम्बन्धी उपर्युक्त प्रस्तावो को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाय तो एतद्-विषयक वर्तनी की सारी अनेकरूपताएँ स्वत समाप्त हो जायेंगी तथा हिन्दी-लेखन मे अधिक परिष्कार एव वैज्ञानिकता का समावेश हो जायगा।

(८) लेखन-पद्धति से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनो की समस्याएँ —

हिन्दी मे एक से अधिक खण्डवाले अनेकानेक शब्दो तथा पदो की लेखन-पद्धति के सम्बन्ध मे इस प्रश्न पर विद्वानो मे मतैक्य नही है कि उन्हे एक साथ सश्लिष्ट रूप मे अर्थात् एक शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखा जाय या पृथक्-पृथक् विश्लिष्ट रूप मे लिखा जाय या उनके बीच योजक चिह्न (हाइफन) देकर लिखा जाय। 'प्रकाशक-सङ्घ' तथा 'भारतीय हिन्दी परिषद्' ने इस प्रकार की समस्याओ को 'सयुक्त तथा वियुक्त शब्दो की समस्याएँ' कहा है। ये कई प्रकार की है, अतः इनके सम्बन्ध मे यहाँ अलग-अलग ही विचार करना उचित होगा।

(क) **परसर्गों के लेखन की पद्धति**:—हिन्दी मे परसर्गों को सज्ञाओ मे अलग लिखा जाय या साथ-साथ, यह विवाद बहुत पुराना है। पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण मे प० अम्बिका दत्त व्यास ने देश के तत्कालीन अधिकाश विद्वानो की सम्मति लेकर अपना यह निर्णय दिया था कि परसर्गों को संज्ञाओ से अलग और सर्वनामो के साथ मिलाकर लिखना उचित है। तब से अधिकाश विद्वान प्राय' उक्त नियम का ही पालन करते आये है। किन्तु इसके विपरीत कतिपय विद्वान् सस्कृत विभक्तियो की तरह हिन्दी परसर्गों को सज्ञा एव सर्वनाम, दोनो से मिलाकर ही लिखना उचित मानते आये है। इधर कुछेक दशाब्दियो मे अनेक विद्वान हिन्दी परसर्गों को सज्ञा एव सर्वनाम—दोनो ही मे अलग लिखे जाने की बात पर जोर देते आ रहे हैं। इस प्रकार परसर्गों की लेखन-पद्धति के सम्बन्ध मे कुल मिलाकर तीन प्रकार के मत मिलते है, यथा—(१) सज्ञा से अलग सर्वनाम मे मिलाकर, (२) दोनो से मिलाकर तथा (३) दोनो से अलग।

उपर्युक्त मतो मे से पहले को बहुत पहले से 'नागरी प्रचारिणी सभा' का समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त कुछ अपवादो के साथ उसे 'प्रकाशक-सङ्घ' तथा 'शिक्षामन्त्रालय' ने भी अपनी मान्यता दे रक्खी है। इसी प्रकार तीसरे मत को 'भारतीय हिन्दी परिषद्' का समर्थन प्राप्त है। किन्तु दूसरे मत को आजतक किसी सस्था विशेष का समर्थन नही मिला है। इस प्रकार कुल मिलाकर पहला और

तीसरा दो ही मत ऐसे हैं, जिन्हे अखिल भारतीय स्तर की सस्थाओ का समर्थन प्राप्त होने के कारण विचारणीय माना जा सकता है ।

उक्त दोनो ही मतो के समर्थक इस बात से सहमत है कि सज्ञाओ से परसर्गो को अलग ही लिखा जाना चाहिए, जैसे—राम ने, मोहन को, आँख से, सोहन के लिए, आलमारी से, आदि । इस प्रकार सज्ञा के सन्दर्भ मे परसर्गो की लेखन-पद्धति के सम्बन्ध मे कोई विवाद नही है । विवाद केवल सर्वनामो के सन्दर्भ मे है । अतः यहाँ उचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमे हिन्दी मे सर्वनामो की स्थिति पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए ।

कारकीय रूप-रचना की दृष्टि से हिन्दी मे सर्वनामो की स्थिति संज्ञाओ से यत्किञ्चित् भिन्न है । उदाहरणार्थ, हिन्दी मे सज्ञाओ के कारकीय रूपो की रचना के लिए जितने कारक-प्रत्ययो अर्थात् परसर्गो का उपयोग होता है, सर्वनामो के कारकीय रूपो की रचना मे उससे अधिक सख्या मे कारक-प्रत्यय प्रयुक्त होते है । इसके प्रमाण-स्वरूप हम सर्वनामो के कर्म तथा सम्बन्ध कारक के रूपो को ले सकते है । संज्ञाओ के साथ कर्म कारक मे केवल 'को' का प्रयोग होता है, जबकि सर्वनामो मे कर्म कारक के 'को' तथा—'ए' दो प्रकार के प्रत्यय मिलते है, जिनमे 'को' का रूप (विश्लिष्ट) परसर्ग का है और 'ए' का रूप (संश्लिष्ट) विभक्ति का । यही कारण है कि कर्म मे सर्वनामो के दो प्रकार के रूप बनते है, जैसे—मुझे-मुझको, हमे-हमको, उसे-उसको आदि इनमे से मुझको, हमको आदि 'को'—युक्त रूपो को 'मुझ को', 'हम को' जैसे विश्लिष्ट रूपो मे लिखा जा सकता है, क्योकि सज्ञाओ के साथ 'को' विश्लिष्ट रूप मे ही जुडता है, जैसे—राम को, लडके को आदि । किन्तु मुझे, तुझे आदि 'ए'-युक्त रूपो को कोई 'मुझ ए' 'तुझ ए' जैसे विश्लिष्ट रूपो मे लिखने की बात सोच ही नही सकता । इसमे स्पष्ट है कि हिन्दी मे सर्वनामो के कर्मकारकीय रूप सश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनो ही प्रकार के होते है । ऐसी स्थिति मे सर्वनामो के साथ कारकीय प्रत्ययो के योग की पद्धति के सम्बन्ध में कोई एक नियम—कि सभी कारकीय प्रत्ययो का योग सश्लिष्ट रूप मे ही हो या विश्लिष्ट रूप मे ही हो—बनाया ही नही जा सकता ।

हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि सम्बन्ध के रूपो से भी होती है । हिन्दी मे सम्बन्ध कारक का परसर्ग 'के' तथा सम्बन्धप्रत्यय का-के-की का प्रयोग संज्ञाओ के साथ सर्वत्र विश्लिष्ट रूप मे होता है, यथा—'राम के लडकी हुई है, राम का घर, राम के लडके, राम की लडकी आदि । अतः प्रयोग की एकरूपता के लिए सर्वनामो के साथ भी उक्त परसर्ग तथा प्रत्ययो का प्रयोग विश्लिष्ट रूप मे किया

जा सकता है, जैसे—'उस के लडकी हुई है' उस का घर, उस के लड़के, उस की लडकी आदि। किन्तु, सम्बन्धप्रत्यय रा-रे-री तथा ना-ने-नी को, जो केवल सर्वनामो मे जुडते हैं, जैसे—मेरा-मेरे-मेरी, अपना-अपने-अपनी आदि मे, यदि कोई मे रा—मे रे—मे री, अप ना—अप ने—अप नी आदि जैसे विश्लिष्ट रूपो मे लिखे जाने का प्रस्ताव करे, तो वह हास्यास्पद ही माना जायगा।

सक्षेप मे, उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि हिन्दी मे सर्वनामो के साथ कारकीय परसर्गो या प्रत्ययो के प्रयोग की लेखन-पद्धति के सम्बन्ध मे न तो यह मत व्यावहारिक है कि सबका प्रयोग विश्लिष्ट रूप मे ही होना चाहिए और न यह कि सबका प्रयोग सश्लिष्ट रूप मे ही होना चाहिए। इस विषय मे वस्तु स्थिति पर समुचित रूप से ध्यान देते हुए सज्ञाओ तथा सर्वनामो के लिए अलग-अलग नियमो का निर्धारण आवश्यक है। हमारी समझ से इस विषय मे निम्नलिखित व्यवस्था वैज्ञानिक एव व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से मानक मानी जा सकती है —(१) सज्ञाओ के साथ परसर्गो का प्रयोग सर्वत्र विश्लिष्ट रूप मे होना चाहिए, जैसे—मोहन ने, लडके को, हाथ से आदि। (२) सज्ञाओ के साथ प्रयुक्त होनेवाले परसर्गो का प्रयोग सर्वनामो के साथ भी विश्लिष्ट रूप मे ही होना चाहिए, जैसे—मैं ने, तुम को, उस से आदि, किन्तु जो कारकप्रत्यय केवल सर्वनामो के ही साथ आते हैं, सज्ञाओ के साथ नही, उनका प्रयोग संश्लिष्ट रूप मे ही किया जाना चाहिए, जैसे—मुझे, हमे, तुझे, तुम्हे, उसे, उन्हे आदि मे—'ए' का, अपना-अपने-अपनी मे 'ना-ने-नी' का तथा मेरा-मेरे-मेरी आदि मे 'रा-रे-री' का। (३) सज्ञा तथा सर्वनाम दोनो के साथ एक से अधिक परसर्गो का प्रयोग विश्लिष्ट रूप मे ही होना चाहिए, जैसे—'लडको मे से एक ने कहा', 'उन मे से एक ने कहा' आदि।

(ख) आदरसूचक शब्द —हिन्दी मे 'श्री' तथा 'जी' आदि आदरसूचक या माङ्गलिक शब्दो को सम्बद्ध सज्ञाओ से विश्लिष्ट रूप मे लिखे जाने का निर्णय हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल होने के कारण सर्वमान्य होने के योग्य है।

(ग) सयुक्त क्रिया —हिन्दी मे सयुक्त क्रियाओ के प्रत्येक खण्ड का अपना पृथक् एव सार्थक अस्तित्व भी होता है। अत हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को ध्यान मे रखकर उनके प्रत्येक खण्ड को अलग-अलग लिखना ही उचित है, जैसे—'वह खा चुका था', 'मैं देखता रह गया', 'शिकारी ने बाघ को मार डाला' आदि।

(घ) भविष्यत् सूचक कृदन्त गा-गे-गी :—हिन्दी मे भविष्यत् सूचक कृदन्त गा-गे-गी का कहीं भी स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। ये वस्तुत भविष्यत् सूचक प्रत्यय बन चुके है। अत इनका प्रयोग मुख्य क्रिया के साथ—हूँ, है, हो, है या था, थे, थी

के समान विश्लिष्ट रूप मे न होकर सश्लिष्ट रूप मे ही होना चाहिए; जैसे— जाऊँगा, करेंगे, पढ़ेगी अदि।

(ङ) **पूर्वकालिक क्रिया :**—पूर्वकालिक क्रियाओ मे 'कर' या 'के' का उच्चारण मुख्य क्रिया से पृथक् होता है, इसलिए उन्हे विश्लिष्ट रूप मे ही लिखना उचित है; जैसे—खा कर, पी कर, रो कर, पढ कर या खा के, पी के, रो के, पढ के आदि। इन्हे सश्लिष्ट रूप मे लिखने से अनेकत्र अर्थभ्रम हो सकता है, जैसे—सीकर, खाके आदि मे।

(च) **'सा' का प्रयोग**.—हिन्दी मे 'सा' के प्रयोग की दो स्थितियाँ पायी जाती है। एक स्थिति वह है, जहाँ सम्बद्ध शब्द से हिन्दी सन्धि के नियमानुसार उसकी सन्धि हो जाती है। उस स्थिति मे उसे विश्लिष्ट रूप मे लिखे जाने का प्रश्न ही नही उठता, जैसे—जिस+सा=जैसा, किस+सा=कैसा, उस+सा= वैसा, इस+सा=ऐसा आदि मे। दूसरी स्थिति वह है, जहाँ सम्बद्ध शब्द से उसकी सन्धि नही होती और वह पृथक् उच्चरित होता है। उस स्थिति मे उसे सर्वत्र विश्लिष्ट रूप मे ही लिखा जाना चाहिए, जैसे—मुझ सा, तुझ सा आदि मे। 'सा' के अन्य रूप 'सी' तथा 'से' के लेखन के सम्बन्ध मे भी उपर्युक्त व्यवस्था का ही पालन होना चाहिए, यथा—जैसा—जैसे—जैसी, कैसा—कैसे—कैसी, मुझ सा—मुझ से मुझ सी, तुझ सा—तुझ से—तुझ सी आदि।

(छ) **'वाला' प्रत्ययान्त शब्द** —व्युत्पादक प्रत्यय सामान्यत. शब्दो के साथ सश्लिष्ट रूप से ही जुडते है। 'वाला' भी चूँकि एक व्युत्पादक प्रत्यय है, इसलिए नियमत इसे भी शब्दो के साथ सश्लिष्ट रूप से ही जुडना चाहिए। किन्तु अन्य व्युत्पादक प्रत्ययो से इसमे यह भिन्नता पायी जाती है कि यह परसर्गों की तरह अनेक शब्दो के बाद एक बार ही अन्त मे प्रयुक्त होकर सबमे अपनी उपस्थिति का बोध करा देता है, जैसे—मैं ही गाने, बजाने और नाचने वाला हूँ', 'ईश्वर ही बनाने और मिटाने वाला है' आदि। इस तरह की योग्यता सामान्यत: अन्य व्युत्पाद प्रत्ययो मे नही पायी जाती। उदाहृत प्रयोगो मे 'वाला' को अन्तिम शब्द के साथ सश्लिष्ट रूप मे जोडे जाने मे कोई तुक नही। इसलिए एकरूपता की दृष्टि से सर्वत्र इसका प्रयोग विश्लिष्ट रूप मे ही किया जाना उचित है, जैसे— टोपी वाला, दौडने वाला, काबुली वाला आदि।

(ज) **उपसर्गों की लेखन-पद्धति**—सस्कृत की तरह ही हिन्दी मे भी उपसर्गों को शब्द से सश्लिष्ट रूप मे ही लिखना उचित है, जैसे—सुमार्ग, कुमार्ग, अनजान, अपरिचित, बाकायदा, दरअसल, बशर्ते' आदि। उपसर्ग किसी भी भाषा

मे शब्द से विश्लिष्ट रूप मे नही लिखे जाते। कारण यह है कि भाषा में उपसर्ग की धारणा मूलतः समीप-स्थापन की ओर ही इङ्गित करती है, जो उसके अपने अर्थ मे ही स्पष्ट है। शब्द से पृथक् उपसर्गो का न तो कोई मूल्य होता है और न कोई उपयोगिता ही।

(ख) सामासिक शब्दो की लेखन-पद्धति —समास की धारणा मूलतः एकाधिक शब्दो तथा उनके अर्थों को एकीभूत करने की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है। इसीलिए सस्कृत मे, जो कि एक योगात्मक वर्ग की भाषा है, सामासिक शब्दो को—चाहे वे जितने भी सङ्घटक खण्डो से निर्मित हो, एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखने की परम्परा रही है। इसके अतिरिक्त सस्कृत मे समासान्तर्गत सन्धि का घटित होना भी अनिवार्य माना गया है। ये बातें हिन्दी के समासो मे अनिवार्य नहीं है। इसका कारण मूलत सस्कृत से हिन्दी की आकृति-प्रकृति की भिन्नता मे निहित है। सस्कृत योगात्मक भाषा है और हिन्दी विश्लेषणात्मकता की ओर उन्मुख है। इसीलिए दोनो की समास-धारणा मे समानता होते हुए भी उनकी समास-रचना के स्वरूप मे किञ्चित् भिन्नता है। हिन्दी मे यदि कुछ सामासिक शब्दो के सङ्घटक खण्ड सस्कृत के सामासिक शब्दो की तरह एक शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखे जाते हैं, तो कुछ के सङ्घटक खण्ड पृथक्-पृथक् शिरोरेखाओ के अन्तर्गत भी, जहाँ वे खण्ड संयोजक चिह्न (हाइफन) से जुड़े होते है। हिन्दी के कुछ सामासिक शब्दो मे अपने सन्धि-नियम के अनुसार सन्धि होती है और कुछ मे नही भी होती। हिन्दी मे सस्कृत की तरह लम्बे-लम्बे समास भी प्राय नही बनते। इन बातो से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी की समास-रचना का स्वरूप सस्कृत से भिन्न है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी के सामासिक शब्दो की लेखन-पद्धति मे भी यदि सस्कृत से किञ्चित् भिन्नता पायी जाती है, तो वह स्वाभाविक ही है।

हिन्दी मे सामासिक शब्दो के लेखन की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनमे पहली है एक शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखने की और दूसरी है योजक चिह्न (हाइफन) देकर लिखने की। हिन्दी साहित्य परिषद् ने द्वन्द्व समास को अल्पविराम (कामा) देकर लिखे जाने का जो प्रस्ताव किया था, वह हास्यास्पद था। इसी प्रकार दो से अधिक सङ्घटक खण्ड वाले सामासिक शब्दो को बिना योजक चिह्न लगाये अलग-अलग लिखे जाने का प्रस्ताव भी समास की रूपगत धारणा की दृष्टि से भ्रामक है, क्योंकि उस स्थिति मे रूप के धरातल पर वाक्यांश और समास मे अन्तर करना सम्भव नही होगा। हाँ, यदि कोई नामवाची शब्द अनेक खण्डो का हो, तो वहाँ निश्चय ही प्रत्येक खण्ड को अलग-अलग लिखा जा सकता है।

जैसे—'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग', 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी', 'भारतीय हिन्दी परिषद्', 'अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सङ्घ' आदि। ऐसे नाम वस्तुत: व्यक्तिवाचक नामो की तरह होते है, जिनमे समास मानना आवश्यक नही और जिस प्रकार व्यक्तिवाचक नामो, जैसे—'महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी', श्रीकुमार राघवेन्द्र प्रसाद नारायण सिह' आदि के सभी खण्डो को एक शिरोरेखा मे या योजक चिह्न देखर लिखना आवश्यक नही माना जाता, उसी प्रकार उपर्युक्त सस्थाओ, समितियो या सभाओ के नामो के विभिन्न खण्डो को भी एक शिरोरेखा मे या योजक चिह्न देकर लिखना आवश्यक है। किन्तु, उक्त स्थितियो मे भी जहाँ समास अभीष्ट हो, वहाँ योजक चिह्न का प्रयोग होना ही चाहिए।

साराश यह कि हिन्दी के सामासिक शब्दो को, चाहे वे दो खण्डो के हो या दो से अधिक खण्डो के, शिरोरेखा अथवा योजक चिह्न से युक्त करके लिखना अनिवार्य है। तब प्रश्न यह रह जाता है कि सामासिक शब्दो के लेखन मे किन स्थितियो मे शिरोरेखा का प्रयोग होना चाहिए और किन स्थितियो मे योजक-चिह्न का ? इस प्रश्न पर अलग-अलग निर्देश देना उचित होगा।

(१) **एक शिरोरेखा का प्रयोग** .—हिन्दी मे प्रचलित अनेकानेक सामासिक शब्द ऐसे हैं, जिनकी सामासिकता मूलत. उनके रूप की सश्लिष्टता या अखण्डता पर निर्भर है। अतः उनके रूप की सश्लिष्टता या अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए उनके सङ्घटक खण्डो को एक शिरोरेखान्तर्गत लिखा जाना अनिवार्य है। ऐसे सामासिक शब्दो को सङ्घटक खण्डो के स्वरूप के आधार पर दो व्यापक वर्गों मे बाँटा जा सकता है, जो निम्नलिखित है .—

(अ) **विकारी संश्लिष्ट सामासिक शब्द** —जिस सामासिक शब्द के किसी सङ्घटक खण्ड के स्वरूप मे सन्धि के परिणामस्वरूप अथवा किसी अन्य कारण से किसी प्रकार का विकार पाया जाय, उसे हम विकारी सश्लिष्ट सामासिक शब्द कह सकते हैं। इस वर्ग के सामासिक शब्दो की एक शिरोरेखान्तर्गत सश्लिष्ट रूप मे लिखा जाना आवश्यक है, जैसे—हिन्दी के सामासिक शब्द '—हथकड़ी, कठपुतली, अधपका, भडभूजा, कनकटा, भिखमङ्गा, दुधमुहाँ, घुडदौड, पतझड, पनडुब्बी, मिठबोला, बहुरुपिया, इकन्नी, चौराहा, दुधारा, तिवारा, इकतारा, तिपाई, दुपट्टा, भगदड, हुडदङ्ग आदि। संस्कृत के सामासिक शब्द '—जगदीश, सज्जन, मिष्टान्न, विद्यालय, ज्ञानोदय, लम्बोदर, पीताम्बर, सूर्योदय, वाग्यन्त्र, महर्षि, मनोव्यथा, मनोविज्ञान, शिरोरेखा, दिग्गज, सन्मार्ग आदि।

(आ) अविकारी संश्लिष्ट सामासिक शब्द :—जिस सामासिक शब्द के सङ्घटक खण्डो मे किसी प्रकार का विकार न पाया जाय, किन्तु जिसका अभीष्ट सामासिक अर्थ उन खण्डो के सश्लिष्ट अर्थात् अखण्ड रूप पर ही आश्रित हो, उसे हम अविकारी सश्लिष्ट सामासिक शब्द कह सकते है। इस प्रकार के सामासिक शब्दो को भी एक शिरोरेखान्तर्गत ही लिखा जाना अनिवार्य है जैसे—हिन्दी के सामासिक शब्द —मोतीचूर, मक्खीचूस, गिरहकट, लट्ठधारी, सङ्कटमोचन, बैलगाडी, घोडागाडी, रसोईघर, घरजमाई, डाकघर, बगुलाभगत, मुँहमाँगा, कामचोर, गोबरगणेश, रामकहानी, कालाबाजार, एकसाथ, एकरस, इसलिए, बारहसिङ्घा, जन्मरोगी आदि। सम्कृत के सामासिक शब्द —अश्रुमुख, कार्यपटु, दशमुख, दृष्टिकोण, चन्द्रमुख, मुखचन्द्र, श्यामपट, घनश्याम, चरणकमल, कमलनयन, पाषाणहृदय, रोगग्रस्त, रससिक्त, ईश्वरदत्त, पदच्युत, वचनबद्ध, पथभ्रष्ट, भूदेव, प्राणप्रिय यथाशक्ति, आदि। विदेशी भाषाओ के सामासिक शब्द :—खुशकिस्मत, दिलफेंक, दिलजला, दस्तखत, राहखर्च, मालिकमकान, शाहजहाँ, गरीबनिवाज, हमउम्र, बदमिजाज, आइसक्रीम, फुटबॉल, मनीबैग, क्लासरूम, बाथरूम, न्यूजपेपर आदि।

(७) योजक चिन्ह (हाइफन) का प्रयोग —हिन्दी मे प्रचलित बहुत सारे सामासिक शब्द ऐसे भी है, जिनका समासगत अर्थवैशिष्ट्य उनके सङ्घटक खण्डों के एक शिरोरेखान्तर्गत अखण्ड रूप से लेखन पर ही अनिवार्यत. निर्भर नही करता। ऐसे सामासिक शब्दो के सङ्घटक खण्डो को अलग-अलग लिखकर उनके बीच मात्र योजक चिह्न का प्रयोग कर देने मे भी उनकी सामासिकता अक्षुण्ण बनी रह जाती है। यह पद्धति हिन्दी के विश्लेषणात्मक स्वरूप के अनुकूल भी पडती है, इसीलिए हिन्दी मे इस पद्धति का खूब प्रचलन भी है। किन्तु इस पद्धति, यानी सामासिक शब्दो के सङ्घटक खण्डो को पृथक्-पृथक् लिखकर उनके बीच योजक चिह्न देने की पद्धति—का उपयोग केवल उन्ही सामासिक शब्दो के लेखन मे किया जाना चाहिए जो सश्लिष्ट विकारी या सश्लिष्ट अविकारी वर्ग के नही हो, जिनका विस्तृत परिचय पहले ही दिया जा चुका है।

हिन्दी मे योजक चिह्न का प्रयोग केवल निम्नलिखित समासो तथा समासेतर स्थितियो मे किया जाना चाहिए —

(अ) द्वन्द्व समास मे योजक चिह्न का प्रयोग —द्वन्द्व समास की सामासिकता उसके सङ्घटक खण्डो की अविच्छिन्नता या अखण्डता पर आश्रित नही होती; क्योकि उसका प्रत्येक खण्ड अपने आप मे स्वतन्त्र तथा समान प्रधानता का

अधिकारी होता है। इसीलिए हिन्दी मे द्वन्द्व समास के सङ्घटक शब्दो को एक शिरोरेखा मे न लिखकर योजक चिह्न लगाकर लिखने का प्रचलन है, जो उचित भी है। द्वन्द्व के लेखन मे इसी पद्धति को मानक माना जाना चाहिए, जैसे—सुख-दुख, रात-दिन, पति-पत्नी, ऊपर-नीचे, आलू-मटर, नाच-गाना, भूत-प्रेत, भाई-बहन, माता-पिता, हाथ-पाँव आदि मे।

(आ) **षष्ठी अर्थात् सम्बन्ध तत्पुरुष मे योजक चिह्न का प्रयोग** :—हिन्दी मे षष्ठी तत्पुरुष के सङ्घटक खण्ड जहाँ अविकृत रहते हैं, वहाँ उनकी सामासिकता अविच्छिन्न शिरोरेखा पर आश्रित नही होती। इसलिए षष्ठी तत्पुरुष मे भी योजक चिह्न के प्रयोग की पद्धति को ही मान्यता मिलनी चाहिए, जैसे—सरस्वती-वन्दना, कर-निर्धारण प्रचार-कार्य, शोध-सस्थान, निर्वाचन-सूची, सैन्य-नियोजन, युद्ध-स्थान, जयद्रथ-वध, अधिकार-पत्र, क्षमा-याचना, भाषा-विज्ञान, हिन्दी-वर्तनी, ताप-नियन्त्रक, मुद्रा-स्फीति, गृह-निर्माण, सिगरेट-केस आदि मे।

(इ) **पुनरुक्त शब्दों के बीच योजक चिह्न** :—जहाँ किसी विशेष कारणवश किसी शब्द की पुनरुक्ति हो, वहाँ योजक चिह्न का प्रयोग अवश्य होना चाहिए, जैसे—धीरे-धीरे, रोज-रोज, बार-बार, गरम-गरम, कैसे-कैसे, नये-नये, हाय-हाय, तोबा-तोबा, सच-सच, रोम-रोम, कौडी-कौडी, जन-जन, जब-जब, तब-तब आदि मे।

(ई) **समानार्थक शब्दो के बीच योजक चिह्न** :—जहाँ प्राय एक ही अर्थ के दो शब्दो का प्रयोग एक साथ हो, वहाँ उनके बीच योजक चिह्न का प्रयोग आवश्यक है, जैसे—काला-स्याह, लाल-सूर्ख, पीला-जर्द, चिट्ठी-पत्री, हँसी-मजाक, धन-दौलत, बासन-बर्तन, साग-पात, जी-जान, कूडा-कचडा, कील-काँटा, काम-काज, नाते-रिश्ते आदि।

(उ) **सार्थक शब्दो के साथ उन्हीं के सादृश्य या वजन पर ढले निरर्थक प्राय शब्दों के आने पर उनके बीच योजक चिह्न** :—गलत-सलत, मेज-वेज, काम-वाम, होना-हवाना, टालना-टूलना, भागना-भूगना, टीम-टाम, ठीक-ठाक आदि मे।

(९) रचना-शैली से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

यदि 'वर्तनी' शब्द का प्रयोग 'लेख-नियम' या 'लेखन-विधान' के व्यापक अर्थ मे किया जाय, तो उसके अन्तर्गत लेखन की रचना-शैली भी आ जाती है। हिन्दी-लेखन की रचना-शैली से सम्बद्ध निम्नलिखित बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) सुलेख—हिन्दी-लेखन मे नागरी वर्णों के आकार को सर्वत्र समानुपातिक, स्पष्ट और सुडौल रहना चाहिए। सर्वत्र शिरोरेखा का समुचित प्रयोग होना चाहिए। दो शब्दो के बीच का अवकाश (दूरी) हमेशा समान रहना चाहिए। परसर्गो तथा 'ही' 'जी' जैसे अव्ययो को सम्बद्ध शब्दो के कुछ अधिक निकट लिखा जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के लेखन मे वर्णों का झुकाव उसकी अपनी रुचि तथा सुविधा के अनुसार ही हो, किन्तु वह एक ही ओर होना चाहिए। प्रत्येक परिच्छेद या सर्गादि के प्रारम्भ के शीर्षको तथा मध्य के उपशीर्षको एवं उनकी सख्या आदि की लेखन-पद्धति मे एकरूपता का निर्वाह होना चाहिए। लेखन, मुद्रण या टङ्कन मे उपर्युक्त बातो पर यदि समुचित रूप से ध्यान न दिया जाय, तो वाचन मे अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हो सकती हैं।

(ख) पाद-टिप्पणी :—हिन्दी मे पाद-टिप्पणी के लेखन मे भी एकरूपता नही पायी जाती। कुछ लोग लेखक का नाम पहले और पुस्तक का नाम बाद मे और कुछ पुस्तक का पहले और लेखक का ही बाद मे देते है। नाम मे भी कुछ लोग उपाधि पहले और मुख्य नाम बाद मे और कुछ लोग मुख्यनाम पहले और उपाधि बाद में देते हैं। इसी प्रकार पुस्तक का प्रकाशन वर्ष, संस्करण, प्रकाशक, मूल्य अध्याय, पृष्ठ-संख्या आदि के लेखन के पूर्वापर क्रम मे भी लोग एकरूपता नहीं बरतते। हमारी समझ से पाद-टिप्पणी मे उद्धरण सम्बन्धी उल्लेख्य सूचनाओ को निम्नलिखित क्रम मे लिखने का नियम होना चाहिए—लेखक-नाम, पुस्तक-नाम अध्याय या परिच्छेदादि का शीर्षक, पृष्ठ-सख्या, प्रकाशन-वर्ष, संस्करण, प्रकाशक, मूल्य। यो, यह विषय पूर्णत. लेखक के अपने विवेक, रुचि एवं इच्छा पर निर्भर होता है, इसलिए उन्हें किसी एक नियम से बाँधना सम्भव या उचित नहीं है। फिर भी लेखक का यह कर्त्तव्य तो है ही कि अपने लेख या ग्रन्थादि मे वह सर्वत्र क्रम की एकरूपता का निर्वाह करे।

(१०) वर्णेतर चिह्नों से सम्बद्ध हिन्दी-वर्तनी की समस्याएँ :—

हिन्दी-लेखन मे वर्णेतर चिह्नो के अन्तर्गत विराम-चिह्न तथा विरामेतर चिह्न आते है। इनमे से विरामेतर चिह्नो का हिन्दी मे कोई वाचिक या अर्थभेदक मूल्य नही होता। इस कारण वे प्राय. विकल्पात्मक होते हैं। इसके विपरीत विराम-चिह्न अर्थभेदक विरामो के लिखित दृश्य प्रतीक होने के कारण वाचिक एवं अर्थभेदक दोनो प्रकार के मूल्य रखते हैं। इसलिए, लेखन में वे वर्णो के समान ही महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य होते है। यहाँ उक्त दोनो प्रकार के वर्णेतर चिह्नो के स्वरूप एवं प्रयोगो का अलग-अलग विवेचन करना उचित होगा।

(क) **विराम-चिह्न** :—ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी मे विराम के मूल्य एवं उपयोगिता का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक मे पहले ही (पृ० २४० से २४२ तक) किया जा चुका हैं। अतः यहाँ उसकी आवृत्ति न करके केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि हिन्दी-लेखन की वैज्ञानिकता की दृष्टि से पूर्ण विराम एवं अल्प विराम के चिह्नो का प्रयाग मुख्य रूप से; तथा अर्द्ध विराम के चिह्न का प्रयोग गौण रूप से अनिवार्य माना जाना चाहिए।

(१) **पूर्ण विराम** :—भाषा का पूर्ण सार्थक खण्ड या इकाई वाक्य होता है, इसलिए उसके अन्त को सूचित करने के लिए जिस वर्णेतर चिह्न का प्रयोग किया जाता है, उसे पूर्ण विराम का चिह्न कहा जाता है। हिन्दी के वाक्य अर्थ या भाव की दृष्टि से मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—१. सामान्य विधिनिषेधात्मक वाक्य, २ प्रश्न बोधक विधिनिषेधात्मक वाक्य और ३. विस्मयादि बोधक विधिनिषेधात्मक वाक्य। इसीलिए, हिन्दी-लेखन मे उक्त तीनो प्रकार के वाक्यो की समाप्ति के सूचक पूर्ण विराम के चिह्न भी तीन प्रकार के हैं, यथा—सामान्य पूर्ण विराम—'।', प्रश्नबोधक—'?' और विस्मयादि बोधक—'!'।

सामान्य पूर्ण विराम का प्रयोग सामान्य विधि-निषेधात्मक वाक्यो के अन्त मे होता है; जैसे—'रावण मारा गया।' 'रावण नही मारा गया।' सामान्य पूर्ण विराम का यह चिह्न परम्परागत है और हिन्दी-लेखन के नितान्त उपयुक्त है। किन्तु, इधर कुछेक वर्षो से कई हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ मे तथा यत्र-तत्र अन्यत्र भी, इस परम्परागत पूर्णविराम-चिह्न (खडी पाई) के स्थान पर अँगरेजी के पूर्णविराम-चिह्न '.' के प्रयोग का प्रचलन दृष्टिगोचर होने लगा है, जो हिन्दी-लेखन के लिए नितान्त अनुपयुक्त एवं भ्रामक है। अँगरेजी-लेखन मे पूर्णविराम-चिह्न के रूप मे बिन्दु के प्रयोग से किसी प्रकार के भ्रम की सम्भावना नही रहती, क्योंकि यहाँ प्रत्येक वाक्य का प्रारम्भ 'कैपिटल लेटर' से होता है। दूसरे, रोमन मे किसी भी वर्ण के नीचे बिन्दु नही लगाना पडता जिसको देखकर पूर्णविराम-चिह्न का भ्रम हो। किन्तु, नागरी मे एक तो रोमन की तरह 'कैपिटल' और 'स्मॉल' दो प्रकार के वर्ण है ही नही, और दूसरे, हिन्दी-लेखन मे विदेशी ध्वनियो के सूचनार्थ नागरी के कतिपय वर्णों के नीचे बिन्दु के प्रयोग का भी प्रचलन है। इन कारणो से हिन्दी-लेखन की वैज्ञानिकता की दृष्टि से पूर्णविराम के रूप मे बिन्दु का प्रयोग नितान्त भ्रामक एव अनुपयुक्त है। इसलिए, हिन्दी मे पूर्णविराम के रूप मे बिन्दु के प्रयोग का विरोध होना चाहिए और पूर्णविराम के रूप मे परम्परागत चिह्न खड़ी पाई को ही मानक माना जाना चाहिए।

प्रश्नवोधक चिह्न '?' का प्रयोग प्रश्नवोधक विधि-निषेधात्मक वाक्यो के अन्त मे होता है, यथा—'क्या रावण मारा गया ?' 'क्या रावण नही मारा गया ?' इसके सम्बन्ध मे कोई विवाद नही है।

इसी तरह, विस्मयादिवोधक चिह्न '!' का प्रयोग विस्मयादिवोधक विधि-निषेधात्मक वाक्यो या शब्दो के अन्त मे होता है, यथा—'काश, आज गाँधी जी जीवित होते !' 'आश्चर्य, तू ने तो अपने भाई को भी नही पहचाना !' इसके सम्बन्ध मे भी कोई विवाद नही, किन्तु, कुछ लोग इसके स्थान पर प्राय सामान्य विराम-चिह्न का ही प्रयोग करते हैं, जो उचित नही है।

(२) **अल्पविराम ' , '**.—हिन्दी मे अल्प विराम का अर्थभेदक मूल्य है। अत लेखन मे यथास्थान इसके प्रयोग को अनिवार्य माना जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—(अ) जहाँ समुच्चयवोधक 'और', 'एवं' आदि का लोप अपेक्षित हो, और वहाँ समास नही करना हो, जैसे—'इस वर्ग मे राम, मोहन, सोहन और गणेश सज्जन छात्र हैं।' (आ) जहाँ विकल्प सूचक 'या', 'अथवा' आदि शब्द का लोप अपेक्षित हो, जैसे—'इस जमीन मे धान, गेहूँ, चना या अरहर, जो चाहो उपजा सकते हो।' (इ) वाक्याशो के वाद, जैसे—'तुम्हारा देर से उठना, रोज वाजार घूमना, पढने से जी चुराना, झूठ वोलना, सभी इस वात के प्रमाण हैं कि तुम तवाही और वर्वादी की राह पर वढ रहे हो।' (ई) संयुक्त तथा मिश्र वाक्यो मे वाक्य-खण्डो या उपवाक्यो के वाद; जैसे—'उसे रोको मत, जाने दो।' 'उसे रोको, मत जाने दो।' 'पुण्य तो किया ही नही, तो उद्धार कैसे होता।' 'पुण्य तो किया ही, नही तो उद्धार कैसे होता'।

उपर्युक्त स्थितियो तथा उन्ही के समान अन्य स्थितियो मे, जहाँ अल्पविराम के चिह्न के प्रयोग के विना अर्थभ्रम की सम्भावना हो, वहाँ उसका प्रयोग अनिवार्य माना जाना चाहिए। अन्यत्र अल्पविराम के प्रयोग को विकल्पात्मक माना जा सकता है।

(३) **अर्द्धविराम ' ; '**.—अर्द्ध विराम के चिह्न का प्रयोग हिन्दी-लेखन मे प्राय: विकल्पात्मक ही होता है; क्योंकि, अर्थभेदकता की दृष्टि से अल्पविराम से अर्द्ध विराम मे कोई भिन्नता नही होती। फिर भी, कुछेक स्थितियों मे इसके प्रयोग को आवश्यक माना जा सकता है। उदाहरणार्थ'—(अ) जहाँ सयुक्त वाक्य के प्रधान वाक्यो मे परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध नही हो, जैसे—'मैं क्या करूँ; वह तो मेरी कोई वात सुनता ही नही और न उसे घर की ही कोई चिन्ता है।' (आ) उन आश्रित वाक्यो के वाद, जो एक ही मुख्य वाक्य पर अवलम्वित हो, जैसे—जव

तक हमारे देश मे शिक्षा का समुचित प्रसार न होगा; यहाँ की पैदावार न बढेगी; लोगो के लिए आवास और वस्त्र की समुचित व्यवस्था न होगी, तब तक हमारी स्वतन्त्रता अधूरी मानी जायगी।' (इ) किसी स्थापना या नियम के बाद आने वाले उदाहरण सूचक 'जैसे', 'यथा' आदि शब्दो के पूर्व, जैसे—'दीर्घ ईकारान्त शब्द प्रायः स्त्रीलिङ्ग होते है, जैसे—नदी, पोथी, धोती आदि।' (ई) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन के वाक्यो के बीच, जैसे—'शिक्षक ने मुझसे कहा; "तुम पढते नहीं हो।" इसी प्रकार कुछ अन्य स्थितियो मे भी, जहाँ वैयाकरणो ने अर्द्धविराम के प्रयोग को आवश्यक माना है, या जहाँ लेखक उसके प्रयोग को आवश्यक समझता हो, उसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

(ख) विरामेतर चिह्न :—हिन्दी-लेखन मे प्रयुक्त होने वाले प्रमुख विरामेतर चिह्न निम्नलिखित हैं :—

१. उद्धरण-चिह्न— " "
२. अर्द्धोद्धरण-चिह्न—— ' '
३. निर्देशक रेखा —
४. द्विबिन्दुयुक्त निर्देशक रेखा :—
५. कोष्ठक—(क) वृत्याकार : छोटा—( )
(ख) वर्गाकार : बड़ा—[ ]
(द) धनुषाकार : मध्य—{ }
६ छूट-चिह्न (हसपद)— ^
७ अपूर्णतासूचक चिह्न— × × ×
८. पुनरुक्तिसूचक चिह्न— ,, ,,
९. तुल्यतासूचक चिह्न— =
१० पादाङ्कन-रेखा —

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, इन विरामेतर चिह्नो का हिन्दी मे कोई प्रत्यक्ष अर्थभेदक मूल्य नही है; इस कारण ये विकल्पात्मक हैं। फिर भी निर्दिष्ट स्थानो पर इनके प्रयोग से हिन्दी-लेखन मे अधिक वैज्ञानिकता का तथा अर्थबोध की दृष्टि से अधिक स्पष्टता का समावेश हो जाता है। अतः हिन्दी-लेखन मे इनका यथास्थान प्रयोग आवश्यक माना जाना चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और उनकी सङ्केत-तालिका

आ० सं०
आ० स० इ०
आ० स० रि० —आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की वार्षिक रिपोर्ट, ११०२-३।

आ० स० वे० इं—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया।

आ० स० स० इं०—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ सदर्न इण्डिया।

इं० ऐ०—इण्डियन ऐण्टिक्वेरी।

इ० मे०—इण्डिका ऑफ मेगास्थनीज।

उ० ति०, भा० रु०—डॉ० उदय नारायण तिवारी, भाषाशास्त्र की रूपरेखा।

उ० ति०, हि० उ० वि०—डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दीभाषा का उद्भव और विकास।

ए० इं०—एपिग्राफिआ इण्डिका।

एडवर्ड कलॉट—द हिस्ट्री ऑफ अल्फावेट।

ए० ब्रि०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।

ए० रि०—एशियाटिक रिसर्चेज

क०, आ० स० रि०—कनिङ्घम की आर्कियोलॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट।

क०, इ० ई०—कनिङ्घम, इण्डियन ईराज।

क०, क्वा० मि० इ०—कनिङ्घम, कवाइस ऑफ मिडिएवल इण्डिया।

क०, क्वा० ए० इं०—कनिङ्घम, कवाइस ऑफ एंसिएण्ट इण्डिया।

का० गु०, हि० व्या०—प० कामता प्रसाद गुरु, हिन्दी व्याकरण।

का० श०, हि० स०—कामेश्वर शर्मा, हिन्दी की समस्याएँ।

की०, लि० इ० स० इ०—कीलहॉर्न, लिस्ट ऑफ इंसक्रिपशस ऑफ सदर्न इण्डिया।

को०, मि० ए०—कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज।

प०, क्वा० ग्री० इं० वै० इ०—पर्सीगार्डनर, द क्वाइंस ऑफ ग्रीक ऐण्ड इण्डोसीथिक किंग्ज ऑफ वैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया।

गौ०, सो० प्रा० इ०—गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, सोलङ्कियों का प्राचीन इतिहास।

गौ०, प्रा० लि०—गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, प्राचीन भारतीय लिपिमाला।
ज० ए० सो० बं०—जर्नल ऑफ द एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बङ्गाल।
ज० ब० ए० सो०—जर्नल ऑफ द बम्बे ब्राञ्च ऑफ द रोआयल एशिआटिक सोसाइटी।
जो०, ति०, दे० लि०—डॉ० ना० चि० जोगलेकर, डॉ० भगवानदास तिवारी, देवनागरी लिपि स्वरूप, विकास और समस्याएँ।
आ० टे०, अ०—आइजक टेलर, अल्फावेट।
ट्रा० आ० सि०—ट्रावनकोर आर्कियोलोजिकल सिरीज।
ड०, क्रो० इं०—मिस डफ, क्रोनोलोजी ऑफ इण्डिया।
डे०, बु० इं०—राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया।
न्यु० क्रॉ०—न्युमिसमेटिक क्रॉनिकल।
दे० ना० श०, रा० स० स०—देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा, समस्याएँ और समाधान,
भा० भू०—भाषाविज्ञान की भूमिका।
प्रि० ए०—प्रिसेप, एण्टिक्विटीज।
प्रो० रि० आँ० स० वे० इं०—प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया।
फो०, ए० चं० स्टे०—फोगल, एण्टिक्विटीज ऑफ द चम्बा स्टेट।
फ्ली०, गु० इं०—फ्लीट, गुप्त इसक्रिपशन्स।
ब०, आ० स० वे० इ०— आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया।
ब०, सा० इं० पे०—बर्नेल, साउथ इण्डियन पेलियौग्राफी।
बा०, ए० इ०—बार्नेट, एण्टिक्विटीज ऑफ इण्डिया।
बा० स०, सा० भा० वि०—डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान।
बी०, बु० रे० वे० व०—सेम्युअल बील, बुद्धिस्ट रेकर्ड ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड।
बू०, इ० पे०,—बूलर, इण्डियन पेलियोग्राफी।
बू०, इं० स्ट०—बूलर, इण्डियन स्टडीज।
बे०, ज० ने०—सिसिल बण्डाल, जर्नी इन नेपाल।
बं० ग०—बम्बे गजेटियर।
बी० ब्लॉख, जी० एल० ट्रेगर—आउट लाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनेलायसिस।
भा० इ०—भावनगर, इंसक्रिपशन्स।
भो० ति०, भा० वि०—डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान।
भं० क० वो०—भण्डारकर कममेमोरेशन वोल्यूम।
मू०, रि० ए० इं० सी०—मूलर, रिपोर्ट ऑन एंसिएण्ट इंसक्रिपशन्स ऑफ सीलोन।

मैं०, हि० ए० स० लि०—मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ एसिएण्ट संस्कृत लिटरेचर ।
र०, ए० इ०—रप्सन, एसिएण्ट इण्डिया ।
रा०, ए० क०—राइस, एपिग्राफिआ कर्नाटिका ।
र०, कै० क्वा० आ०—रप्सन, कैटलग ऑफ द क्वाइस ऑफ द आन्ध्र डाइनेस्टी, द त्रैकूटक डाइनेस्टी एण्ड द बोधि डाइनेस्टी ।
रा० गो०, वै० व्या०—रामगोपाल, वैदिक व्याकरण ।
रि० रा० म्यू० अ०—रिपोर्ट ऑफ द राजपुताना म्यूजियम ऑफ अजमेर ।
वे०, इ० स्ट०—वेवर, इण्डिस्य स्टडिअन ।
सु०, ग० त०—सुधाकर द्विवेदी, गणक तरङ्गिणी ।
मैं०, से० बु० ई०—मैक्समूलर, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट ।
स्मि०, अ० हि० इ०—स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ।
स्मि० कै० क्वा० इ० म्यू०—स्मिथ, कैटलग ऑफ द क्वाइस इन द इण्डियन म्यूजियम ।
ह०, कै० पा०—हरप्रसाद शास्त्री, कैटलग ऑफ पामलीफ ऐण्ड सेलेक्टेड पेपर मैनुस्क्रिप्ट्स विलाङ्गिग टु द दरबार लाइब्रेरी नेपाल ।
हु०, सा० इ० इ०—हुल्श, साउथ इण्डियन इसक्रिपशन्स ।
ह्वा०, हु० क्वा० प० म्यू०—कैटलग ऑफ द क्वाइस इन द पञ्जाब म्यूजियम, लाहौर ।
पाणिनि—अष्टाध्यायी
पतञ्जलि—महाभाष्य
नारदस्मृति, छान्दयोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, ऐतरेय आरण्यक आदि ।

परिभाषिक शब्द

अकर्मक क्रिया	Intransitive Verb
अङ्क	Figure, Number
अक्षर	Syllable
अग्रागम	Prothesis
अघोष	Voiceless, Breathed
अतीतकाल	Past tense
अधिकरण कारक	Locative Case
अनाक्षरिक	Non Syllabic
अनिश्चयकारक	Indefinite
अनुक्रम	Sequence
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकता	Nasalisation
अनुलेखन	Transliteration
अन्तरराष्ट्रीय ध्वनिपरिषद्	International phonetie Association, I. P. A.
अन्तः प्रत्यय	Infix
अन्त स्थ	Sonant, Semivowel
अन्त्य	Final
अन्य पुरुष	Third person
अन्यापवर्गी	Exclusive
अपादान कारक	Ablative Case
अपूर्ण	Imperfect
अर्थविज्ञान	Semantics
अर्थवान तत्त्व	Meaningful element
अर्ध विवृत	Half open

अर्धविराम	Colon
अर्धसंवृत	Half closed
अल्पप्राण	Non aspirated
अल्प विवृति	Pausal juncture
अर्धस्वर	Semi vowel
अर्धोद्धरण-चिह्न	Semi Inverted commas
अलिजिह्वा	Uvula
अलिजिह्वीय	Uvular
अयोगात्मक	Isolating
आक्षरिक लिपि	Syllabic Script
आक्षरिक प्रणाली	Syllabic Pattern
आसन्न घटक	Immediate Constituent
उपसर्ग	Preposition, Prefix
उदात्त	Acute
उत्तम पुरुष	First person
उद्धरण	Qotation, citation
उद्धरण-चिह्न	Inuerted commas
उपालिजिह्वा	Pharynk
उच्चारण स्थान	Plauor point of articulation
उच्चारणावयव	Vocal organ
ऊष्म	Sibilant, Spirant
ऊष्मीकरण	Assibilation
एकवचन	Singular
एकाक्षर	Monosyllable
कर्म	Object
कर्म कारक	Accusative Case
कर्त्ता कारक	Nominattve Case
कर्तृवाचाक संज्ञा	Agent
क्लीव लिङ्ग	Neuter gender
कर्तरि प्रयोग	Active use
कर्मणि प्रयोग	Passive use

कण्ठ्य	Guttural
कृत् प्रत्यय	Primary suffix
कृदन्त	Participle
करण	Articulator
करण कारक	Instrumentul Case
कारक	Case
काल	Tense
काकल्य	Glottal
क्रम	Order
क्रिया	Verb
क्रिया विशेषण	Adverb
कीलाक्षर लिपि	Cuneiform script
कोष्ठक	Bracket
कौआ	Uvula
कोमल तालु	Velum
कोमल तालव्य	Velar
खण्डीयस्वनिम (ध्वनिग्राम)	Segmental phoneme
गठन	Structure
गुच्छ	Cluster
घटमान वर्त्तमान	Present progressive
घोष	Voiced
चित्र लिपि	Pictorial script, Picture writing
जिह्वाग्र	Front of the tongue
जिह्वान्त	Tip of the tongue
जिह्वाफलक	Blade of the tongue
जिह्वा मूल	Root of the tongue
ढाँचा	Structure
तालव्य	Palatal
तुमन्त	Infinitive
तुलनात्मक भाषाशास्त्र	Comparative philodogy
दन्त्य	Dental

दन्त्योष्ठ्य	Labio Dental
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
द्रव्यवाचक सञ्ज्ञा	Material Noun
द्वित्व	Reduplication
दीर्घता	Length
धातु	Root
ध्वनिग्राम (या स्वनिम)	Phoneme
ध्वन्यात्मक शब्द	Phonetic word
ध्वनिविज्ञान	Phonetics
ध्वनिलहर	Intonation
नव्य वैयाकरण	Neo grammarian
नपुंसक लिङ्ग	Common gender
नाम	Nouns
नामधातु	Nominal root, Denominative
नासिका विवर	Nasal Cavity
नासिक्यध्वनि	Nasal sound
निश्चयवाचक सर्वनाम	Definite Pronoun
निपात	Particle
निर्देशक रेखा	Dash
पदग्राम या पदिम	Morpheme
पदविज्ञान	Morphology
परसर्ग	Post position
पद-क्रम	Word-order
पार्श्विक	Lateral
परस्पर विनिमय	Metathesis
पारिभाषिक	Technical terms
परिपूरक वितरण	Complimentary distribution
पुरुष	Person
पुनर्निर्माण	Reconstruction
पुनरुक्ति	Repeatition
पुल्लिङ्ग	Masculine

पुराघटित वर्तमान	Present perfect
प्राग्भारोपीय	Proto Indo European
प्रत्यय	affix, Suffix
प्रतिमानीकरण, मानकीकरण	Standardisation
प्रयत्नलाघव	Economy of efforts
प्रेरणार्थक	Causative
पुरुषवाचक सर्वनाम	Personal pronoun
बलाघात	Stress
बहुवचन	Plural
बोली	Dialect
बोलीशास्त्र	Dialectology
भविष्यत् काल	Future tense
भाषाविज्ञान	Linguistics
भाषाशास्त्र	Philology
भाषाविद्	Linguist, philologist
भाषा-सर्वेक्षण	Linguistic Survey
भाववाचक संज्ञा	Abstract noun
भोजन-नलिका	Food pipe
महाप्राण	Aspirate
मात्रा	Length, Quantity
मानक रूप	Standard form
मानस्वर	Cardinal vowel
मिश्र स्वर	Diphthong, Mixed vowel
मुखविवर	Mouth cavity, Buccal Cavity, Oral cavity
मुक्त रूप	Free form
मुक्त परिवर्तन	Free variation
मुहावरे	Idioms
मूर्धन्य	Retroflex, Cerebral
मूर्धा	Cerebrum
योगात्मक	Agglutinative

रूप	Form
रूपरचनाशास्त्र	Morphology
रूप-साधन	Inflection
लघुतम इकाई	Minimum Unit
लिखित आलेख	Written Record
लिपि	Script
लुण्ठित	Rolled
लिङ्ग	Gender
लेख, लेखन, लिखावट, लेखनकला	Writing
लोप	Ilision
वचन	Number
वर्गाकार कोष्ठक	Square Bracket
वर्गीकरण	Classification
वर्ण	Letter
वर्णमाला	Alphabet
वर्णात्मक लिपि	Alphabetic Script
वर्त्स्य	Alveolar
वर्तमान काल	Present tense
वर्तनी	Spelling
व्यञ्जन	Consonant
व्यतिरेक	Contrast
व्यतिरेकी वितरण	Conarstive distribution
व्युत्पादक	Derivational
व्यवच्छेदक ध्वनि	Disjunctive sound
वाक्	Speech
वाक्य	Sentence
वाक्यांश	Phrase
वाक्य-विन्यास	Syntax
वागिन्द्रिय	Vocal organ
वाग्ध्वनि	Speech sound
विराम	Pause
विशेषण	Adjective

विश्लेषणात्मक	Analytic
विस्मयादि बोधक	Interjection
व्युत्पत्ति	Etymology
वृत्ति, प्रकार, अर्थ	Mood
विषमीकरण	Dissimilation
विस्मयादिबोधक	Interjection, Exclamation
विभक्ति	Inflexion
शब्द-क्रम	Word Order
शब्द-रूपावली	Paradigm
श्वास नालिका	Wind pipe, Tracheca
शिलालेख	Inscription
शून्य रूप	Zero morph
शिक्षा	Phonetics
श्लिष्ट	Inflexional
स्वन	Phone
स्वर	Vowel
स्वरतन्त्री	Vocal chord
स्वरयन्त्र	Larynx
स्वरयन्त्रावरण	Epiglottis
स्वर-लहर	Intonation
स्वर-क्रम	Vowel Sequence
सर्वनाम	Pronoun
सकर्मक क्रिया	Transitive Verb
सम्प्रदान कारक	Dative Case
समानाधिकरण	Apposition
सम्बन्ध कारक	Genitive Case
सम्बोधन कारक	Vocative Case
सजातीय कर्म	Cognate object
सहायक क्रिया	Auxiliary Verb
समापिका क्रिया	Finite Verb
समानाधिकरण	Apposition
समास	Compound

समस्त पद	Compound word
समीकरण	Assimilation
समूह वाचक	Collective
स्पर्श, स्पृष्ट	Plosive, stop, occlusive
स्पर्श सङ्घर्षी या घर्षी	Affricate
सहपद	Allomorph
सहस्वन	Allophone
संरचना	Construction
सङ्घर्षी	Fricative
सन्धि	Morphophonemics
सन्धि-विवृति	Juncture
सम्बन्ध कारक	Genitve case
संयोजक	Conjunction
संयोगात्मक भाषा	Inflecting language
संज्ञा	Noun
संवृत	Close
संश्लेषणात्मक भाषा	Synthetic language
सार्थ इकाई	Meaningful unit
सुर	Pitch
संख्या-चिह्न	Numberal Symbol
संयुक्त वाक्य	Compound Sentence
संयुक्त क्रिया	Compound Verb
समुच्चय बोधक	Conjunction
सम्प्रसारण	Extension
सार्वनामिक विशेषण	Pronomial adjective
स्पर्श संघर्षी	Affricate
स्वर भक्ति	Anaptyxis
स्वराघात	Pitch, Accent
स्वल्पान्तर युग्म	Minimal Pair